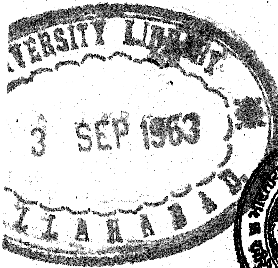
हिंदी साहित्य

प्रथम खण्ड

भूमिका

सम्पादक
धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)
व्रजेश्वर वर्मा (सहकारी)





भारतीय हिंदी परिषद्
प्रयाग

प्रथम संस्करण, २००० प्रतियाँ
विजयादशमी, सं० २०१९ वि०
९ अक्टूबर, १९६२ ई०

मूल्य : पंद्रह रुपए

प्रकाशक
डॉ० जगदीश गुप्त, कोषाध्यक्ष, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग
मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रस्तावना

भारतीय हिन्दी परिषद् की तीन खंडों में विभक्त हिंदी साहित्य के इतिहास की योजना के अन्तर्गत हिंदी साहित्य का आरंभ से सन् १८५० ई० तक का इतिहास 'हिंदी साहित्य–द्वितीय खंड' के रूप में सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत ग्रंथ 'हिंदी साहित्य–प्रथम खंड' उसी योजना का अंग है।

यद्यपि हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास गत एक हज़ार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है, परन्तु उसकी परम्पराएं अत्यन्त प्राचीन हैं। हिंदी भाषा का क्षेत्र वर्तमान राजस्थान से बिहार तथा हिमाचल प्रदेश और पूर्वी पंजाब से मध्यप्रदेश का विस्तृत भू-भाग है। प्रशासनिक आधार पर इसमें पंजाब (पूर्वी भाग), हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार—आठ अलग-अलग इकाइयां हैं, परन्तु भाषा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण क्षेत्र एक अविभाज्य इकाई है, जिसकी जनसंख्या लगभग बाईस करोड़ है। भाषा की इस इकाई को यदि हिंदी प्रदेश कहा जाय तो अनुचित न होगा। विस्तार और जनसंख्या में ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस हिंदी प्रदेश का विशेष महत्त्व रहा है। प्राचीन काल के बृहत्तर 'मध्यदेश' का ही यह आधुनिक भाषा क्षेत्र है, जिसे उत्तर भारत और अनेक अंशों में संपूर्ण भारत की संस्कृति का केन्द्र कहा जा सकता है। हिंदी भाषा आर्यों की उस भाषा की अन्यतम प्रतिनिधि है जिसमें उसका प्राचीनतम साहित्य और सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध हुआ है। अतः उसके साहित्य में गत एक हज़ार वर्ष के अपेक्षाकृत अर्वाचीन इतिहास को पूर्ण एवं वास्तविक रूप में समझने के लिए उसके विशाल विस्तार में परिव्याप्त उसकी बाह्य और आंतरिक परिस्थितियों और परंपराओं का उसकी भूमिका के रूप में यथार्थ परिचय होना अनिवार्य है। इसके अभाव में इतिहास-दृष्टि दूषित, संकुचित और पथ-भ्रष्ट हो सकती है। 'हिंदी साहित्य–प्रथम खंड' में यही भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

हिंदी साहित्य की यह भूमिका ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में हिंदी प्रदेश की भौगोलिक तथा मानव-शास्त्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। भूगोल ही वह रंगमंच है जिस पर मानव अभिनेता विविध भूमिकाओं में उतर कर अपनी कला का प्रदर्शन करता है। भौगोलिक उपकरण—पृथ्वी, आकाश, जल, और वायु मानव के रूप, रंग, आकार, आचार, व्यवहार, मानस और विचारधारा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। भारतीय संस्कृति और पुरातत्त्व के गणमान्य विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस अध्याय में हिन्दी क्षेत्र के पर्वतों, नदियों, जनपदों, मार्गों, ऋतुओं, वृक्ष-वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं और मानव-

जातियों का ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विवेचन करते हुए दिखाया है कि जीवन की इन परिस्थितियों का इस प्रदेश की साहित्यिक एवं कलात्मक चेष्टाओं से कैसा गहरा सम्बन्ध रहा है तथा उसके सांस्कृतिक जीवन को रूप देने में उनका कितना बड़ा हाथ है।

दूसरे अध्याय में हिंदी प्रदेश का प्रागैतिहासिक काल से १२वीं शताब्दी ई० तक का राजनीतिक इतिहास है। हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रस्तुत योजना के अन्तर्गत राजनीतिक इतिहास लिखने का दायित्व भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने कृपापूर्वक स्वीकार किया था। 'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' पहले प्रकाशित करने के कारण उसमें राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देने की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः डा० सत्यकेतु के लेख के संबंधित अंश का उपयोग हमने 'द्वितीय-खंड' में कर लिया। इस कारण प्रस्तुत खंड में डा० सत्यकेतु द्वारा लिखा हुआ 'गुप्त साम्राज्य' तक का राजनीतिक इतिहास जा रहा है। अध्याय का शेष अंश अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी के मध्य से मुसलिम साम्राज्य की स्थापना, अर्थात् बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग के अध्यापक डॉ० उदयनारायण राय द्वारा लिखा गया है।

जातीय जीवन के निर्माण में राजनीतिक संगठन और व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतः भारतीय साहित्य पर समय-समय पर बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। हिंदी प्रदेश में प्रागैतिहास काल के प्रस्तर युग और सिंधु घाटी सभ्यता के जो प्रमाण अब तक उपलब्ध हो चुके हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र का इतिहास कितना पुराना है। वैदिक काल से विभिन्न जनों, जनपदों, राज्यों, गणराज्यों और साम्राज्यों के रूप में विभक्त और संगठित इस भू-भाग ने उत्थान-पतन, संघटन-विघटन और व्यवस्था-विश्रृंखला के जो अनेक युग देखे हैं उसकी कहानी साहित्य के अध्येता के लिए न केवल इसलिए उपादेय है कि उसके द्वारा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का एक महत्त्वपूर्ण आयाम खुलता है, वरन् इसलिए भी कि उसमें साहित्य की प्रचुर उपजीव्य सामग्री उपलब्ध होती है। निश्चय ही राजनीतिक इतिहास भी साहित्य के बाह्य और अंतर, दोनों को पोषण देता है। राजनीतिक इतिहास के इस विवरण से विदित होता है कि हिंदी साहित्य की अनेक परंपराओं के स्रोत हमारे प्राचीनतम इतिहास में प्राप्त होते हैं। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत करने में अपनी दृष्टि सदैव हिंदी प्रदेश पर केन्द्रित रखी है। डॉ० राय भी इस ओर दत्तचित्त रहे हैं।

आधुनिक काल के पहले तक हमारा साहित्य राजनीति की अपेक्षा धर्म से अधिक संबद्ध था। धर्म हमारे जीवन की संपूर्ण गतिविधियों को अनुशासित करता था, वही हमारी संस्कृति का केन्द्रविंदु था। तीसरे अध्याय में धार्मिक परिस्थिति के विवेचन के अंतर्गत हमें हिंदी साहित्य की उस भूमिका का परिचय मिलता है जो सम्पूर्ण हिंदी साहित्य को अनुप्राणित करती रही है। इस अध्याय के प्रारंभिक अंश में पूर्व वैदिक, वैदिक, उत्तर वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि

उन धर्म मतों का परिचय दिया गया है जो मध्ययुग के पूर्व उत्तर भारत में प्रचलित थे। इस अंश के लेखक डॉ० उदयनारायण राय हैं। दूसरे अंश में मध्ययुग की धार्मिक स्थिति का विवेचन करते हुए पं० बलदेव उपाध्याय ने बराबर हिंदी साहित्य का यथास्थान निर्देश किया है। मध्य-युग के धार्मिक पुनर्जागरण में तो हिंदी साहित्य का अन्यतम योग रहा ही है, उस युग की धर्म-भावना तथा सिद्धान्तवाद के स्वरूप-निर्माण तथा विवेचन-व्याख्या में भी हिंदी के भक्त कवियों का योगदान उपेक्षणीय नहीं है। इन्हीं भक्त कवियों के द्वारा मध्ययुग के भक्ति आंदोलन को वह देशव्यापी लोकप्रियता प्राप्त हुई जो आधुनिक काल तक निःशेष नहीं हुई। वस्तुतः आधुनिक काल के पुनरुत्थान के प्रेरणा स्रोतों में मध्ययुग के भक्त कवियों की गणना अनिवार्य रूप से की जाती है। यह अवश्य है कि इस पुनरोदय की प्रेरक शक्तियाँ मध्ययुग तक सीमित नहीं हैं, अपितु वे प्राचीनतम मनीषा और सांस्कृतिक चेतना का स्पर्श करती हैं। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य हिन्दी साहित्य के चिंतन और विचार-दर्शन के पक्ष को स्पष्ट करने में सहायता देना है।

चौथे अध्याय में हिंदी प्रदेश की सामाजिक अवस्था का विवरण डॉ० वासुदेव उपाध्याय के द्वारा दिया गया है। डॉ० उपाध्याय ने इस विवरण का विस्तार मध्ययुग तक सीमित रखा है, प्राचीन युग की सामाजिक व्यवस्था का पर्यवेक्षण उन्होंने नहीं किया; फिर भी, इस अध्याय के द्वारा उन परिस्थितियों का परिचय प्राप्त हो जाता है जिनके अंतर्गत हिंदी साहित्य का उदय और विकास हुआ, जिन्होंने मध्ययुगीन हिंदी साहित्य में सामाजिक पुनरुत्थान तथा जागरण की चेतना के लिए जागरूक और उद्बुद्ध भक्त कवियों को अनुप्रेरित किया तथा जो आधुनिक कालीन समाज-सुधार के विविध आंदोलनों को जन्म देने में सहायक हुईं। आधुनिक हिंदी साहित्य में समाज-सुधार की विचारधारा का मूलाधार इस भूमिका से प्राप्त हो सकता है।

हिंदी प्रदेश के साहित्य की धारा अविकल रूप में वैदिक काल से प्रवाहित होती आई है। यह साहित्य जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त हुआ है, वह भी उसी काल से विकास करते हुए आधुनिक काल तक अविच्छिन्न रूप में चली आई है। यह विलक्षण बात है कि इस भाषा के नाम में समय-समय पर परिवर्तन हुआ। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो भाषा सुदूर वैदिक काल में प्रयुक्त होती थी, वर्तमान हिंदी भाषा उसी का विकसित रूप है। पाँचवें अध्याय के विद्वान् लेखक ने हिंदी प्रदेश की भाषा का जो इतिहास उसके विविध भाषा-वैज्ञानिक अंगों के साथ प्रस्तुत किया है उसमें वैज्ञानिकता, सर्वांगीणता और प्रामाणिकता के साथ दृष्टि की मौलिकता भी है। इस अध्याय में भाषा संबंधी जिस महत्त्वपूर्ण सामग्री का उद्घाटन हुआ है वह हिंदी भाषा के अध्ययन की नवीन दिशाओं के निर्देश में भी सहायक हो सकती है।

मनुष्य के भाव और विचार, कल्पना और आदर्श—उसकी विविध सांस्कृतिक चेष्टाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति भाषा के अतिरिक्त उसके अन्य रचनात्मक साधनों—भवन, मंदिर, स्तूप, मूर्ति, चित्र आदि के माध्यम से भी होती है। छठे अध्याय में श्री कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा

लिखित कला के इतिहास में यही दिखाने का यत्न किया गया है कि प्रागैतिहासिक काल से हिंदी प्रदेश के निवासियों के सौंदर्य-बोध और रचनात्मक शक्तियों का प्रमाण इस क्षेत्र में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। श्री वाजपेयी ने हिंदी काल के पूर्व तक की स्थापत्य, मूर्ति और चित्र कलाओं का जो विद्वत्तापूर्ण विवरण दिया है, उसकी तुलना हमारी साहित्यिक समृद्धि के साथ उपादेय होगी। कला के इतिहास में हम संगीत, नृत्य और अभिनय कलाओं को सम्मिलित नहीं कर सके, इसका हमें खेद है।

प्रस्तुत ग्रंथ के अंतिम पाँच अध्यायों में आधुनिक आर्य भाषा काल के पूर्व मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश के साहित्य का परिचय दिया गया है। जैसा कि पीछे कहा गया है, वैदिक काल से आधुनिक काल तक इस प्रदेश की भाषा का अविच्छिन्न ऐतिहासिक विकास मिलता है, यद्यपि उस भाषा को काल और स्तर भेद से विभिन्न नामों—वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से अभिहित किया गया है। संस्कृत साहित्य हमारे देश की संस्कृति का अक्षय्य कोश है। सातवें अध्याय में डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल ने रामायण-महाभारत काल से प्रारंभ कर मध्ययुग तक संस्कृत साहित्य की विविध रूपों में प्रवाहित होने वाली अविरल धारा का विद्वत्तापूर्ण अनुशीलन किया है। हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं को संस्कृत भाषा और साहित्य से निरंतर संवर्द्धन और पोषण मिलता रहा, अतः हिंदी साहित्य संस्कृत साहित्य के उत्तराधिकार से कितना संपन्न हुआ है, यह अनुसंधानकर्ताओं के लिए सदैव एक अक्षय्य फलप्रद विषय बना रहेगा। संस्कृत साहित्य ही वह माध्यम है जिसके द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य तथा उसके माध्यम से भारत का जन-मानस एक सूत्र में बँधा हुआ है।

शुद्ध काव्य की दिशा में संस्कृत का साहित्य शास्त्र हिंदी तथा इतर भारतीय भाषाओं के काव्य तथा उनकी शास्त्रीय समीक्षा को दिशा-निर्देश तथा परिपोषण देता आया है। जिस प्रकार संस्कृत के धार्मिक साहित्य ने संपूर्ण देश के जीवन को अनुप्राणित और अनुशासित किया, उसी प्रकार संस्कृत का साहित्य शास्त्र भी संपूर्ण भारतीय ललित साहित्य का मार्गदर्शक रहा है। उसे 'भारतीय साहित्य शास्त्र' की संज्ञा देना सर्वथा उचित है। आठवें अध्याय में डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ने प्रामाणिक रूप में साहित्य शास्त्र की प्राचीनता का विवेचन करते हुए सत्रहवीं शताब्दी ईसवी के पंडितराज जगन्नाथ तक उसका ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया है। हिंदी साहित्य के शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन के लिए इस अध्याय की उपादेयता अतर्क्य है।

संस्कृत भाषा में पाणिनि के समय से ले कर पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों तक रचना होती रही। परन्तु तीसरी शती ईसा पूर्व से ही हमारी भाषा का एक भिन्न स्तर-भेद साहित्य में प्रकट होने लगा था तथा उसके द्वारा एक नवीन धार्मिक और सामाजिक चेतना का उन्मेष प्रारंभ हो गया था। भाषा के इस स्तर-भेद को पालि नाम दिया गया है और वह बुद्ध-वचन की भाषा मानी गई है। इस भाषा में पाँचवीं-छठी शती ईसवी तक बौद्ध धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ। इसी भाषा के माध्यम से बौद्ध धर्म सुदूर लंका में पहुँचा तथा वहां भी इसमें

साहित्य की रचना हुई। बौद्ध धर्म की मूल भाषा होने के कारण पालि साहित्य के द्वारा आर्य भाषा का प्रभाव भारत के बाहर बर्मा, मलाया, हिंदचीन और थाईदेश तक व्याप्त हो गया। नवें अध्याय में पालि और संस्कृत का संबंध और अंतर दिखाते हुए भिक्षु श्री जगदीश काश्यप ने पालि साहित्य का अधिकारपूर्ण परिचय दिया है। पालि साहित्य वस्तुतः त्रिपिटक साहित्य ही है, क्योंकि पिटकोत्तर साहित्य अपेक्षाकृत न्यून है। विद्वान् लेखक ने 'सुत्त पिटक' का तो कुछ विस्तार से परिचय दिया, परन्तु 'विनय' और 'अभिधम्म' पिटकों का परिचय अत्यन्त संक्षिप्त रूप में हो सका है। हमें खेद है कि हम इस अध्याय का संशोधन-परिवर्द्धन नहीं करा सके। फिर भी, इस अध्याय के द्वारा उन सूत्रों को मिलाने में सहायता मिलेगी जो आधुनिक हिंदी साहित्य में बौद्ध प्रभावों के रूप में परिलक्षित होते हैं। आधुनिक काल के पुनर्जागरण में बौद्ध धर्म के उच्च मानवीय सिद्धान्तों का जो महत्त्वपूर्ण योग रहा है, उसी के फलस्वरूप बौद्ध साहित्य के प्रति लोक-जिज्ञासा भी बढ़ी है।

जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने लोक जीवन में प्रवेश करने के उद्देश्य से शिष्ट जनों और पंडितों की संस्कृत साहित्यिक भाषा के स्थान पर जनभाषा का प्रयोग किया, उसी प्रकार जैन धर्म ने भी व्यापक प्रचार की दृष्टि से जनभाषा का ही उपयोग किया। जनभाषा को प्राकृत नाम देना समीचीन है। बौद्ध साहित्य में इसे 'पालि' नाम से अभिहित किया गया है। व्यापक दृष्टि से इसे भी प्राकृत कह सकते हैं। दसवें अध्याय के विद्वान् लेखक ने प्राकृत की इस व्यापकता का उल्लेख करते हुए प्राकृत साहित्य के पर्यवेक्षण में मुख्य रूप से जैन साहित्य तथा सामान्य रूप से अन्य प्राकृत साहित्य का प्रामाणिक परिचय दिया है। इस अध्याय के लेखक सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ० बनारसीदास जैन के दिवंगत हो जाने के कारण हम इस अध्याय का संशोधन-परिवर्द्धन नहीं करा सके। उनकी पुण्य स्मृति में ग्रंथ के प्रस्तुत संस्करण में यह अध्याय मूल रूप में ही दिया जा रहा है। भाषा के प्राकृत रूप में केवल जैन और बौद्ध धर्म-मतों का सिद्धान्त-साहित्य ही नहीं, बल्कि ललित साहित्य भी प्रचुर मात्रा में रचा गया और साहित्य में व्यवहृत हो कर भाषा का यह रूप भी रूढ़िबद्ध तथा कृत्रिम हो गया तथा बहुत कुछ संस्कृत की छाया बन कर रह गया। आगे चल कर जैन और बौद्ध विद्वानों ने सीधे संस्कृत को भी धार्मिक साहित्य का माध्यम बना लिया। परंतु, संस्कृत साहित्य में भी—विशेषकर नाट्य साहित्य तथा गीति और मुक्तक रूपों में—प्राकृत का व्यवहार उसके विविध भौगोलिक एवं सामाजिक स्तर-भेदों के आधार पर बराबर होता रहा। यदि हम प्राकृत शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में करें तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उदय भी वस्तुतः प्राकृत भाषाओं के रूप में ही हुआ है। अतः प्राकृत साहित्य का परिचय हिंदी भाषा और साहित्य के विकास की शृंखला को समझने के लिए अनिवार्य है। हिंदी साहित्य की अनेक परम्पराएं प्राकृत साहित्य से सम्बद्ध हैं। प्राकृत साहित्य के पर्यवेक्षण में डॉ० जैन ने बराबर इसका यथास्थान निर्देश करने का प्रयत्न किया है।

हमारी जनभाषा का एक अन्य स्तर-भेद विद्वानों के द्वारा अपभ्रंश नाम से अभिहित हुआ है। इसका प्राचीनतम उल्लेख महाभाष्यकार पतंजलि ने किया, परंतु यह उल्लेख शिष्ट

भाषा से च्युत भाषा रूप का ही द्योतक है, किसी साहित्यिक भाषा का नहीं। यद्यपि अपभ्रंश की साहित्यिक स्थिति के प्रमाण पहली शती ईसवी पूर्व के मिल जाते हैं, परन्तु अपभ्रंश साहित्य का आरंभ अधिक से अधिक छठी शताब्दी ईसवी से माना जा सकता है। उसका उत्कर्ष तो वस्तुतः आठवीं से दसवीं शताब्दी में ही देखा गया। इस प्रकार अपभ्रंश हिंदी से पूर्व हमारे भाषा-विकास की अंतिम कड़ी है। स्वभावतया हिंदी से उसकी अत्यधिक निकटता और घनिष्ठता है, यहाँ तक कि पुरानी हिंदी और अपभ्रंश भाषा में प्रायः एकरूपता का भ्रम हो जाता है। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी जैन धर्मावलम्बियों के द्वारा अधिक अपनाई गई, अतः उसमें भी सिद्धान्त-साहित्य की बहुलता है। ललित साहित्य के रचयिता भी जैन ही अधिक हैं, यद्यपि अब्दुलरहमान जैसे एक-आध महत्त्वपूर्ण अपवाद भी मिल जाते हैं। धार्मिक भाषा बन जाने के कारण प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी रूढ़िबद्ध और कृत्रिम हो गई तथा उसका अनुकरणात्मक कृत्रिम रूप जैन धर्मोपदेशकों द्वारा उनकी रचनाओं में आधुनिक आर्य भाषा काल तक क्षीण रूप में चलता रहा। ग्यारहवें अध्याय के विद्वान् लेखक डॉ० रामसिंह तोमर अपभ्रंश साहित्य का अनुशीलन करते हुए हिंदी साहित्य से उसके तुलनात्मक संबंध का भी निर्देश करते गए हैं।

हिंदी साहित्य की यह भूमिका बहुत विलम्ब से प्रकाशित की जा सकी, इसका हमें खेद है। परंतु सामूहिक प्रयत्नों में विलम्ब होना बहुत-कुछ स्वाभाविक सा हो गया है, विशेषतया उस स्थिति में जब आवश्यक साधन सुलभ न हों। प्रस्तुत ग्रंथ के कुछ अध्याय तो योजना के प्रारंभ में ही प्राप्त हो गए थे, परंतु कुछ अन्य अध्याय मुद्रण प्रारंभ होने के बाद उपलब्ध हो सके। ऐसी स्थिति में विभिन्न अध्यायों के आकार-विस्तार तथा प्रस्तुतीकरण की शैली में अंतर होना स्वाभाविक है। विद्वान् लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताओं को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सम्पादन के रूप में कम से कम संशोधन किए गए हैं। सभी लेखक अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ हैं, अतः उनके मन्तव्यों और निष्कर्षों का दायित्व उन्हीं पर है, फिर भी ऐसा कह कर हम ग्रंथ की त्रुटियों की जिम्मेवारी से मुक्त नहीं होना चाहते। वस्तुतः हिंदी साहित्य की यह भूमिका सर्वांगीण नहीं है। इसके कतिपय अभावों का उल्लेख हमने पीछे किया है। परन्तु इसके प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो जाने के कारण उन्हें दूर करने का कार्य आगामी संस्करण तक स्थगित करना उचित समझा गया।

जैसा भी बन सका, 'हिंदी साहित्य—प्रथम खंड' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। हम उन विद्वान् लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने इसके लिए अपना बहुमूल्य योग दे कर हमारी सहायता की। 'हिन्दी साहित्य—द्वितीय खंड' की प्रस्तावना के अंतर्गत भारतीय हिंदी परिषद् की इस योजना में सहायता देने वाले जिन सहयोगियों का हमने स्मरण किया था, उनके अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद् के वर्तमान सभापति डॉ० नगेन्द्र तथा प्रधान मंत्री डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का उल्लेख करना आवश्यक है। परिषद् के उक्त दोनों अधिकारियों ने परिषद् की प्रगति तथा उसकी विविध योजनाओं को अग्रसर करने में जिस कर्मठता और तत्परता का परिचय दिया है

वह सर्वथा सराहना और कृतज्ञता-ज्ञापन के योग्य है। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय तथा उत्तर प्रदेशीय शासन के प्रति हम पुनः आभार प्रकट करते हैं, क्योंकि उनकी सहायता के विना इसका प्रकाशन संभव नहीं था। 'कला का इतिहास' शीर्षक छठे अध्याय से सम्बद्ध चित्रों को जुटाने में उक्त अध्याय के विद्वान् लेखक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, ने विशेष उद्योग किया है। उनके प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। चित्र संख्या ८ (क़ुव्वतुल इस्लाम मसजिद) हमें भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग से प्राप्त हुआ तथा चित्र संख्या ९ (जमाअत खां मसजिद) हमने पर्सी ब्राउन की पुस्तक 'इंडियन आर्किटेक्चर' से लिया है। अतः हम पुरातत्त्व विभाग के प्रति आभार प्रकट करते हैं। इस खंड के भी प्रूफ़ संशोधन के कार्य में हमारे सहयोगी डॉ० पारसनाथ तिवारी ने सहायता दी है, अतः हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। विषय-सूची और अनुक्रमणिका तैयार करने में प्रयाग विश्वविद्यालय के शोध छात्र श्री योगेन्द्रप्रताप सिंह ने सहायता दी है। पुस्तक के मुद्रण के लिए हम सम्मेलन मुद्रणालय तथा उसके योग्य संचालक श्री सीताराम गुंठे के धैर्य और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का धन्यवादपूर्वक स्मरण करते हैं।

विजयादशमी सं० २०१९ वि०
९ अक्टूबर १९६२ ई०

—संपादक

हिंदी साहित्य--प्रथम खंड के लेखक

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, एम० ए०, डी० फ़िल्०--संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

डॉ० उदयनारायण राय, एम० ए०, डी० फ़िल्०--प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, पी०-एच० डी०--अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, डी० फ़िल्०--संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु श्री जगदीश काश्यप, एम० ए०--अध्यक्ष, पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० बनारसीदास जैन, एम० ए०, डी० लिट्०--(स्वर्गीय)

श्री बलदेव उपाध्याय--हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० रामसिंह तोमर, एम० ए०, डी० फ़िल्०--अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन

डॉ० वासुदेव उपाध्याय--पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल--अध्यक्ष, पुरातत्त्व विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट्०--लक्स माउंट, मसूरी

डॉ० हरदेव बाहरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी०, लिट्०--अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

विषय-सूची

[अंक पृष्ठसंख्या के सूचक हैं]

संक्षेप

अं०	अंग्रेज़ी
अ० ख० म०	अध्याय, खण्ड, मन्त्र
अथर्व०	अथर्ववेद
अध्या०	अध्याय
अप०	अपभ्रंश
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आर० सर्वे०	आर्कयालॉजिकल सर्वे
इ० ला०	इंडियन लॉ
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसवी पूर्व
उ० प्र०	उत्तरप्रदेश
ए० इ०	एपिग्रैफिया इण्डिका
ए० इ० भा०	एपिग्रैफिया इण्डिका भाग
ओ० डि० बें० लैं०	ओरिजिन एन्ड डिवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज
कल० युनी०	कलकत्ता यूनीवर्सिटी
का० इ० ३० (शुद्ध इ०) भा०	कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इडिकेरप भाग
का० प्र०	काव्य प्रकाश
चि० सं०	चित्र संख्या
छं०	छन्द
ज० ए० सों० बं० भा०	जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल भाग
डॉ०	डॉक्टर
तुल०	तुलनीय
दे०	देखिए
ना० प्र० का०	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
पं०	पण्डित
प० च०	पउमचरिउ
पा०	पालि

पा० दो०	पाहुड़दोहा
पृ०	पृष्ठ
प्र० चि०	प्रबंधचिन्तामणि
प्र० ज्ञो० सि०	प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि
प्रा०	प्राकृत
प्रो०	प्रोफ़ेसर
फा०	फ़ारसी
ब्रा०	ब्राह्मण
भा०	भाग
मं०	मन्त्र
महा०	महाभाष्य
र० ए० भा० (शुद्ध ई० ए० भा०)	इण्डियन ऐंटिक्वेरी भाग
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ० सं०	ऋतुसंहार
बा० रा०	बालमीकि रामायण
वि०	बिक्रम सम्वत्
वि० ध० सू०	विष्णु धर्मसूत्र
वि० पू०	विक्रम संवत् पूर्व
वेताल०	वेतालपंचविंशतिका
श०	शकाब्द
श० सं०	शक सम्बत्
शा० प०	शान्तिपर्व
शौ०	शौरसेनी
सं०	सम्वत्
सम्पा०	सम्पादक
सा० द०	साहित्यदर्पण
सू०	सूत्र
हि०	हिन्दी

हिंदी साहित्य

प्रथम खण्ड

भूमिका

१. भौगोलिक और मानववैज्ञानिक पृष्ठभूमि

मध्यदेश और हिन्दी क्षेत्र

वर्तमान हिन्दी भाषा प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं उनसे निकली हुई क्षेत्रीय बोलियों की दीर्घकालीन शृंखला की सबसे अंतिम कड़ी है। हिन्दी नाम तो इधर हाल में ही चालू हुआ है। पर मध्यकाल में उत्तरापथ की बोलचाल की जिस व्यापक भाषा को मुसलमान लेखकों द्वारा हिन्दुई कहा जाता था, उसी का पर्याय इस समय हिन्दी है। क्षेत्रीय बोलियों की दृष्टि से दिल्ली मेरठ प्रदेश की बोली से वर्तमान खड़ी बोली का विकास हुआ, जो इस समय की परिनिष्ठित हिन्दी है। किन्तु भाषावैज्ञानिक विकास परंपरा के अनुसार अवधी, ब्रज, मैथिली, मगही, बघेली, बुन्देली, मालवी, राजस्थानी, हरियानी आदि सब बोलियों के साहित्य का सामूहिक नाम हिन्दी-साहित्य है और इन सब बोलियों का समावेश हिन्दी भाषा के क्षेत्र में ही प्रायः सबको मान्य है। इस दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र और मध्यदेश का भौगोलिक विस्तार समान है।

देश का नामकरण

इस देश के नाम की दो परम्पराएं हैं :—

एक भरत के नाम से और दूसरी वह, जिसका 'हिन्दी' नाम से संबंध है। गोस्वामी जी ने इस देश को भारतभूमि कहा है।[1] पुराणों के भूगोल में देश का यही नाम है। भीष्म पर्व की भारत प्रशस्ति में **'अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्'** कहा गया है। पुराणों में यह भी उल्लेख है कि पहला नाम अजनामवर्ष था। पीछे ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से यह

---

१. भलि भारतभूमि, भले कुल जन्मु, समाजु, सरीर भलो लहि कै।

कवितावली, उत्तरकाण्ड, छंद ३३।

भारत कहलाया।[१] पुराणों में दूसरा मत यह भी है कि मनु की एक संज्ञा भरत थी, जिससे देश का नाम भारत हुआ।[२] कालान्तर में दुष्यन्त के पुत्र चक्रवर्ती भरत का नाम भी इस निरुक्ति के साथ जुड़ गया।

देश के नाम की दूसरी धारा सिन्धु नद के नाम से चली। ईरानी सम्राट् दारयवहु प्रथम के लेखों में सिन्धु से हिन्दु, यूनानी भौगोलिक लेखों में इन्डोस के आधार पर इन्डिका और चीनी ग्रन्थों में इन्-तु नामों का प्रयोग हुआ है। पहइकुली स्थान में प्राप्त सासानी राजाओं के चौथी शती के पहलवी लेख में भारतवर्ष के लिए 'हिन्दु' नाम आया है। यह नाम भारतीय साहित्यिकों को भी ज्ञात था। निशीथचूर्णी नामक जैन ग्रन्थ (रचना संवत् लगभग ७३३ वि०, ईसवी सन् ६७६) में उल्लेख है कि आचार्य कालक ने पारस कुल के साही राजाओं को 'हिन्दुग' देश चलने के लिए कहा था। परन्तु नाम की यह परम्परा ठेठ भारतीय साहित्य में नहीं पनप सकी। मुसलमानी राज्य स्थापित होने के बाद ही यह नाम प्रचलित हुआ और देश को हिन्दुस्तान कहा जाने लगा। हिन्दुस्तान शब्द का एक सीमित अर्थ उत्तर भारत भी था। 'कान्हड़-दे-प्रबंध' के लेखक ने उस नाम का ऐसा ही प्रयोग किया है, जब कि उसी प्रसंग में समस्त देश को भरत-खंड कहा गया है। वहाँ इस नाम का रूप हींदूस्थान या हिन्दुस्थान है।[३] यह प्रयोग भौगोलिक दृष्टि से लगभग मध्यदेश के समकक्ष ही है।

मध्यदेश

देश के क्रमिक भौगोलिक विस्तार के संबंध में लोगों की सजगता समय-समय पर साहित्य में अभिव्यक्त हुई है। ऋग्वेद के नदी सूक्त में इसकी सब से पहली झाँकी मिलती है।[४] इसमें गंगा-यमुना से ले कर सिन्धु की शाखा सुषोमा (आधुनिक सोहान नदी) तक के प्रदेश की पृष्ठभूमि है।

---

१. **ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः।**
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर् बुधाः॥
वायुपुराण ३३।५१-५२; मार्कण्डेय पुराण ५३।३९-४१।

२. **भरणात्प्रजानां चैव मनुर्भरत उच्यते।**
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥ मत्स्यपुराण ११४।५॥

३. **कान्हड़-दे-प्रबंध २।६७, ७५।**

४. **इमं मे गंगे यमुने सरस्वति,**
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये,
श्रृणुह्या सुषोमया॥१०।७५।५॥

सिन्धु के उस पार की कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदियाँ भी ऋग्वेद की भौगोलिक सीमा में थीं। पुराणों का भुवन-कोश इससे कहीं अधिक विस्तृत है। भीष्म पर्व में लगभग १६० नदी नाम और २२५ जनपद नाम हैं। इसके अनुसार देश की सीमा पामीर पठार के कम्बोज जनपद और वंक्षु नदी (आधुनिक ऑक्सिस) से आरम्भ होती थी। यह सूची **आहिमवतः आकुमार्याः भारतवर्षम्** इस सूत्र की ब्योरेवार व्याख्या है।

सांस्कृतिक विस्तार की कई भौगोलिक सीढ़ियाँ होना स्वाभाविक है। उन्हीं में मध्यदेश की इकाई का जन्म हुआ, जिसकी एक झलक शतपथ ब्राह्मण में और दूसरी मनुस्मृति के वर्णन में मिलती है। शतपथ के अनुसार सरस्वती के तट पर अनेक यज्ञ हुए। विदेहमाधव नाम के ऋषि ने वहाँ प्रज्ज्वलित वैश्वानर अग्नि को देखा। वह उस अग्निपुंज को सदानीरा नदी तक ले गये। फलतः वह क्षेत्र यज्ञों द्वारा पवित्र हो गया और उसकी संज्ञा प्राचीन भुवन हुई।[1] सदानीरा कोसल और विदेह जनपदों के बीच की सीमा थी। इस कथा से स्पष्ट है कि सरस्वती से सदानीरा के पूर्व मिथिला तक का प्रदेश एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में उभर आया था। लगभग यही क्षेत्र कालान्तर में मध्य-कहा गया, जैसा कि मनुस्मृति की साक्षी से ज्ञात होता है।

मनुस्मृति के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती के बीच का कुरुक्षेत्र प्रदेश ब्रह्मावर्त था। उसमें मत्स्य (जयपुर, अलवर), शूरसेन (मथुरा, आगरा) और पंचाल (फर्रुखाबाद-कन्नौज, बरेली) जनपदों के मिल जाने से दूसरी भौगोलिक इकाई ब्रह्मर्षि देश हुई। गंगा-यमुना का यह काँठा अंतर्वेद कहलाता था, जिसे मनु ने हृद्देश कहा है, क्योंकि इसी कन्द से भारतीय संस्कृति के कमल का विकास बहुत अंशों में हुआ। इससे कुछ अधिक विस्तृत तीसरी इकाई मध्यदेश की हुई, जिसकी सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्य, पश्चिम में विनशन (सरस्वती नदी के मरुभूमि में अदृश्य हो जाने का उत्तरी बीकानेर का प्रदेश) और पूर्व में प्रयाग थी। जब आर्य संस्कृति सदानीरा के उस पार पहुँची तो मिथिला, अंग और मगध भी क्रमशः इस मध्यदेश की सीमा में सम्मिलित हो गए। बौद्ध साहित्य में मध्यदेश का यही अभिप्राय है। भूसन्निवेश के विस्तार की चौथी कोटि आर्यावर्त कहलायी, जब पूर्व में वंगतटवर्ती समुद्र तक और पश्चिम में नर्मदा के कच्छ एवं आनर्त तक सीमाओं का विस्तार हुआ। गुप्तयुग के साहित्य में विंध्याचल के उत्तर का संपूर्ण भूभाग मध्यदेश माना जाता था और यहाँ के निवासी 'मध्यदेशीय' नाम से प्रसिद्ध थे। भाषा की दृष्टि से इस सांस्कृतिक और भौगोलिक भू-विस्तार का बहुत महत्व था। पतंजलि के समय में परिनिष्ठित संस्कृत का यही क्षेत्र था। गुप्तयुग की सुवर्ण संस्कृति में तो इस प्रदेश की संस्कृत भाषा सदा के लिए उत्कृष्ट वाङ्मय का मापदंड बन गई। कालिदास और बाण के ग्रंथों में उसका रूप

---

१. शतपथ १।४।१।१-१७

स होवाच विदेघो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच। अर्थात् विदेघमाथव ने अग्नि से पूछा––मैं कहां रहूँ ? उसने कहा––(सदानीरा से) पूर्व में तुम्हारा भुवन है।

सुरक्षित है। उसी समय इस प्रदेश में कुछ तो स्थानीय बोलियों के विकास के रूप में और कुछ बाहर से आने वाली जातियों के सम्पर्क से एक नई भाषा उभर कर ऊपर आने लगी, जिससे सातवीं शती में दण्डी ने अपभ्रंश नाम दिया। बाण ने भी अपभ्रंश कवि का उल्लेख किया है। परन्तु काव्य के क्षेत्र में मध्यदेश की इस जन भाषा का प्रयोग सब से पहले कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के कुछ प्रसिद्ध गीतों में मिलता है। महाकवि कालिदास का यह प्रयत्न कुछ वैसा ही था, जैसे गोस्वामीजी ने अपने समय के बरवा, नहछू, मंगल आदि कई काव्य रूपों को अपना कर किया है। आठवीं शती तक आते-आते लोक काव्यों की भाषा के रूप में अपभ्रंश का सिक्का सारे मध्यदेश में पंजाब से मिथिला, बंगाल, नेपाल तक जम गया, जैसा कि सिद्धों के नाम और उनके साहित्य से विदित होता है।

पर्वत

मध्यदेश की भौगोलिक रचना में पर्वत, नदी और मैदानों का बड़ा योग है। अथर्ववेद में इन तीनों विशेषताओं को क्रमशः उद्वतः (पर्वत), प्रवतः (नदियां) और समम् (मैदान) कहा गया है। इस प्रदेश की रचना में हिमालय पर्वत का महत्त्व सब से अधिक है।

भारतीय कवियों की दृष्टि से हिमालय देवतात्मा है। किन्तु अर्वाचीन भूगर्भ की दृष्टि से उसकी रचना ध्यान देने योग्य है। भूगर्भशास्त्री पृथिवी की आयु के चार युग मानते हैं—१. अजन्तुक (अस्सी करोड़ वर्ष पूर्व तक), २. पुराजन्तुक (छत्तीस करोड़ वर्ष पूर्व, जब जीवन के प्रथम चिन्ह प्रकट हुए), ३. मध्यजन्तुक (चौदह करोड़ वर्ष पूर्व) और ४. नवीनजन्तुक (चार करोड़ वर्ष पूर्व, जिसमें स्तनपायी जन्तुओं का विकास हुआ)। इस अंतिम युग का पूर्व काल विभाग तृतीयक (अं० टर्शियरी) और पिछला तुरीयक (क्वार्टरनरी) कहा जाता है। हिमालय और मानव का विकास लगभग एक ही साथ दस लाख वर्ष पूर्व हुआ, ऐसा वैज्ञानिकों का मत है। यह धरती सूर्य का टूटा हुआ खंड है। जब इसकी ऊपरी पपड़ी ठंडी पड़ी और जम कर कड़ी हो गई, तब से यहाँ काई एवं अमेरु जीवों का विकास होने लगा। युगों तक भूकम्प, ज्वालामुखी, वायु एवं जल के धक्कों से पृथ्वी परिवर्तित होती रही, तभी भारत की रचना कई बार में पूरी हुई। दक्षिणी पठार पहले अस्तित्व में आया। यह पृथिवी के जरठतम भूगर्भ की एक चिप्पड़ थी। इसकी तुलना में उत्तरी भारत के मैदान अभी कल के बच्चे हैं। दक्षिणापथ का पठार गोंडवाना नामक किसी बड़े महाद्वीप का अंग था, जिसके विस्तार में दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया—दोनों समाए हुए थे। गोंडवाना महाद्वीप के पूर्वी और पच्छिमी भागों के बीच में सह्याद्रि की पर्वतमाला उठी हुई थी। पूर्वी भाग में सह्याद्रि से निकली हुई नदियाँ पूर्वी समुद्र में मिलती थीं, जैसा आज भी हम देखते हैं।

गोंडवाना के उत्तर की सीमा विंध्याचल थी जिसकी एक ऊपर उठी हुई बाही अर्बुद पर्वत या आड़ावला के रूप में हम देखते हैं। इसके उत्तर भाग में यूरुप और एशिया का भूखंड महार्णव के नीचे छिपा हुआ था। वह पाथोधि समुद्र (अं० टेथिस) मध्य योरोप से ले कर लघु एशिया एवं उत्तरी भारत और बर्मा तक फैला हुआ था। बहुत अरसे बाद पहाड़ों की उखाड़-पछाड़ करने

वाले भूचाली धक्के शुरू हुए। पाथोधि का जल पच्छिम की ओर हटा, उसकी तलहटी ऊपर की ओर उछली और दोनों किनारे एक दूसरे से सट गए। वरुण के उस महाराज्य का मानो लोप हो गया। समुद्र के भीतर की मुलायम धरती उन भूगर्भीय सिलबट्टों से कुचली गई और उसमें सिकुड़नें पड़ने से हिमालय और ईरान के पहाड़ सिर ऊँचा करते हुए उठे। इसी हड़कम्प में एशिया की कुछ भूमि दक्षिण की ओर लटक गई और पाथोधि समुद्र की तलहटी डाँवाडोल होकर नीचे बैठने लगी। उसी धक्के से भारत के दक्षिणी पठार का कुछ भाग टूटा, जिसका संतुलन बनाने के लिए हिमालय की गर्भ श्रृंखला में चुन्नटें पड़ गईं। महाहिमवन्त की ऊँची चोटियों और शिमला के इर्द-गिर्द की पहाड़ियों में भू-वेत्ताओं ने उनके चिन्हों की पहचान की है। इसी समय हिमालय के दक्षिण की कुछ भूमि नीचे धंस गई और वहाँ पानी की झील बन गई। उत्तरी पहाड़ों से आने वाली नदियों ने, जिनमें गंगा और उसकी सहायक धाराएँ मुख्य हैं, अपने साथ पहाड़ी गंडशैल या ढोकों को बहाते हुए उन्हें पीस डाला और इस महा घराट के बालू मिट्टी रूपी पिसान से पटी हुई वह झील ही उत्तरी भारत का मैदान बन गई। इस प्रकार प्रकुपित पर्वत उस विश्वरूपा मातृभूमि के रूप में स्थिर हुए, जिसकी भूरी, काली, लाल मिट्टी का उल्लेख पृथिवी सूक्त के ऋषि ने किया है (अथर्व० १२।१।११)। इसी सहस्र संवत्सरात्मक महायज्ञ से मध्यदेश का यह भुजिष्य पात्र निष्पन्न हुआ, जिसमें विश्वकर्मा ने सब प्रकार की आहुतियाँ डाली हैं और जो उनके लिए प्रकट हुआ है 'जिनका हृदय मातृमान् है अर्थात् **माताः भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः** की भावना से पूरित है।'[1]

मध्यदेश के मानव की भौतिक संस्कृति, रहन-सहन, भाषा, साहित्य, धर्म और अर्थ व्यवस्था के निर्माण में हिमालय का सविशेष ऋण है। हिमालय पंद्रह सौ मील लंबा और लगभग दो सौ मील गहरा है। प्राचीन भू-वेत्ताओं ने उसकी रचना की विशेषताओं को स्पष्ट पहचान लिया था। हिमालय की तीन लंबी समानान्तुर बाहियाँ पूर्व पश्चिम की ओर फैली हुई हैं। उनके नाम बहिर्गिरि, उपगिरि और अंतर्गिरि थे (सभापर्व २७।३)। बहिर्गिरि में शिवालक और तराई-भाभर के जंगल हैं। कहा जाता है कि वनस्पति और जन्तुओं की विविधता जैसी शिवालक की दूनों में है, वैसी संसार में कहीं और नहीं है। हरिद्वार में हर की पैड़ी मानों इस सीढ़ी के चढ़ने का पहला डंडा है। हरिद्वार से देहरादून तक चढ़ाई चली गई है। उसके बाद उपगिरि नाम की दूसरी श्रृंखला है। इसका पालि नाम चुल्लहिमवंत या छोटा हिमालय (अं० लेसर हिमालय) था। चार हजार से आठ-नौ हजार फुट तक ऊंचाई की चोटियाँ इसी में हैं। वस्तुतः हिमालय रूपी भवन का यह सब से सुन्दर प्रांगण है, जिसमें कश्मीर, चम्बा, कांगड़ा, शिमला, गढ़वाल, कुमायूँ आदि की मुख्य बस्तियाँ फैली हुई हैं। इसके भीतर हिमालय की अंतर्गिरि या गर्भश्रृंखला के ऊँचे पहाड़ हैं, जिन्हें पालि में महाहिमवंत (अं० ग्रेट सेंट्रल हिमालय) कहा गया है। नंगा पर्वत, बंदरपूंछ (यामुन-पर्वत), केदारनाथ, बदरीनाथ, नंदादेवी, धौलागिरि, गुसाईंथान, गौरीशंकर आदि अट्ठारह-

---

१. **यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।**
भुजिष्यं पात्रनिहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः॥ अथर्व० १२।१।६०॥

बीस हजार फुट से लेकर उनत्तीस हजार फुट तक की ऊँची चोटियां इसी में हैं जिन पर सदा बर्फ जमी रहती है। हिमालय के पूर्व-पच्छिम विस्तार में भी उसके कई भाग पृथक् पहचाने जाते हैं, जैसे सब से पूर्व का भाग लोहित्य और ब्रह्मपुत्र की नदी द्रोणियों में सीमित हैं। गुप्त और मध्यकाल में लोहित्य भारत की पूर्वी सीमा का प्रतीक बन गया था। इससे पश्चिम की ओर दूसरा भाग भोटान-नेपाल का है, जिसमें गौरीशंकर, धौलागिरि और गुरलामान्धाता के ऊँचे शृंग हैं, जहाँ से ताम्रा, अरुणा, कौशिकी, वाग्मती, गण्डकी और सरयू की जलधाराएँ मैदानों की ओर उतरी हैं। इसके अनंतर हिमालय का वह पवित्र क्षेत्र है, जिसके पूर्वी भाग को कैलास-मानसरोवर और पश्चिमी भाग को बदरी-केदार कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी वाङ्मय में हिमालय के इस प्रदेश का बहुविध वर्णन पाया जाता है और धार्मिक साधना में प्रेरणा के कितने ही सूत्रों का उद्गम यहीं से हुआ है। कैलाश और बदरी-केदार की यात्रा सदा से भारत के धार्मिक जीवन की सचाई रही है। प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति उत्तराखंड की पदयात्रा करते हैं, जिसके फलस्वरूप जन मानस को उत्तराखंड के साक्षात् संपर्क का अनुभव प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य के अनवतप्त ह्रद, बाण के अच्छोद सर और गोस्वामी जी के मानसरोवर के स्वच्छ, पवित्र आदर्शों की कल्पना कैलाश से संबंधित मान-सरोवर के साथ जुड़ी हुई है। बदरीनाथ की विशालापुरी के पास गंधमादन पर्वत है, जिसकी दो चोटियाँ अभी तक नर-नारायण नाम से प्रसिद्ध हैं। वहां गुप्तयुग में भागवत धर्म का एक प्रभाव-शाली केन्द्र स्थापित था। आज भी वह धार्मिक आकर्षण बना हुआ है। बदरीनाथ के उत्तर में माणा या माणिभद्रपुरी है, जहाँ कुबेर की राजधानी कही जाती है।

इस क्षेत्र में नदियों के अनेक सुन्दर नामों की पूरी कविता ही पाई जाती है, जैसे वसुगंगा, क्षीरगंगा, विष्णुगंगा, अलकनन्दा आदि। दो नदियों के संगम को यहाँ प्रयाग कहते थे। इस क्षेत्र के पंचप्रयाग प्रसिद्ध हैं। पहले विष्णुप्रयाग में बदरीनाथ की ओर से आई हुई विष्णुगंगा या सरस्वती धौलीगंगा से मिली है। उनकी संयुक्त धारा अलकनन्दा है। दूसरे नंदप्रयाग में नन्दाकना पर्वत की नन्दाकिनी अलकनन्दा में मिली है। तीसरे कार्णप्रयाग में पिण्डरगंगा और अलकनन्दा का संगम है। चौथे रुद्रप्रयाग में केदारनाथ का जल लेकर आई हुई मंदाकिनी अलकनन्दा में मिलती है। पाँचवें देवप्रयाग में गोमुखी और गंगोत्तरी से आने वाली भागीरथी का अलकनन्दा में गर्जन-तर्जन के साथ संगम होता है। यहीं से गंगा नाम पड़ता है। कनखल में वह धारा हिमालय से मैदान में उतरती है और अनेक शाखा-प्रशाखाओं के प्रवाह को लेकर समुद्र में जा मिलती है। इस भाग की सबसे बड़ी विशेषता यमुना-गंगा का प्रयाग में संगम है, जिसे तीर्थराज कहते हैं। कालिदास और तुलसीदास ने उसका अति उदात्त वर्णन किया है। प्रयाग मध्यदेश का मानो केन्द्र है, जहाँ पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के स्थल-जल मार्गों का एक गुच्छा सदा से रहा है।

हिमालय देश के उत्तर में वर्ष-पर्वत है। भारत के विस्तृत प्रवर्षण क्षेत्र को एशिया के दूसरे क्षेत्रों से पृथक् करने वाला भौगोलिक माध्यम हिमालय ही है। देश के भीतर के अन्य पर्वतों की संज्ञा कुल-पर्वत है, जिनमें सात मुख्य हैं। उनमें से महेन्द्र, मलय और सह्य तो दक्षिणापथ की सीमा में चले गए हैं, विंध्य और पारियात्र (राजस्थान की अड़ावला पहाड़ी) ठेठ मध्यदेश की पश्चिमी

और दक्षिणी सीमा बनाते हैं, विंध्य के दक्षिण में पहले ऋक्ष (सातपुड़ा से लगा कर महादेव पहाड़ियों तक की शृंखला) और उसके नीचे शुक्तिमान की वाही (खानदेश की पहाड़ियों से लेकर हैदराबाद-गोलकुण्डा-पठार तक की शृंखला) उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच वाले चौड़े महाकान्तार प्रदेश में फैली हुई हैं।

नदियाँ

मध्यदेश की जलधाराओं के प्रवाह का नियमन हिमालय और विंध्याचल के पठार करते हैं। मध्यदेश के लंबे-चौड़े मैदानों का अंतराल मानों इन्हीं दो सीपियों के संपुट में बंद है। हिमालय की नदियों में एक महत्वपूर्ण गुच्छा सिंधु और उसकी पाँच शाखा नदियों का है। सिंधु और सतलज मानसरोवर के उत्तरी और पश्चिमी छोर से बही हैं। सिन्धु के उस पार पश्चिम में सुवास्तु (स्वात) कुभा (काबुल), गोमती (गोमल), क्रुमु (कुर्रम), यव्यावती (झोब) आदि नदी-द्रोणियों में भरी हुई कबायली जातियाँ धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारत का ही अंग थीं और भाषा की दृष्टि से तो वे आर्य भाषाओं की उपबोलियों का आज तक प्रयोग करती हैं। वस्तुतः उनकी भाषा के व्याकरण, शब्दावली और लोकसाहित्य तथा लोकवार्ता में ऐसी सामग्री का भाण्डार है, जिसकी तुलना मध्यदेश की सामग्री से करना लाभप्रद होगा। महाभारत में उन्हें गिरि-गह्वर-वासी और सिंधुकूलाश्रित लिखा है। पाणिनि ने उनके राजनैतिक तंत्र को व्रात और पूग की संज्ञा देते हुए लिखा है कि वे अपने-अपने ग्रामणी संज्ञक नेता की अधीनता में रहते थे **(स एषां ग्रामणीः, ५।२।७८; पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्, ५।३।११२)**

सिंधु के इस पार और उस पार विस्तृत गंधार जनपद था। उसकी पश्चिमी राजधानी पुष्कलावती और पूर्वी तक्षशिला थी। वह पंचनद और मध्यदेश की रक्षा का नाका और संस्कृति का देहली द्वार था। भारतीय इतिहास से सिद्ध होता है कि भारत की रक्षा के फाटक का वह ब्योंडा जिस युग में दृढ़ रहा, उस युग में मध्यदेश की जनता भी सकुशल रही। गुप्तयुग, मुगलयुग और अंग्रेज़ी युग में यही स्थिति थी। पहले दो युगों में भारत की सीमा बल्ख और गजनी तक मानी जाती थी। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में जायसी ने हेम सेत गौर गाजना (पद्मावत ४२६, ९; ४९८, ८) इस सूत्र में गजनी से गौड़ बंगाले तक भारत की सीमा कही है।

पंजाब की पाँच नदियों के व्यापक क्षेत्र में फैले हुए जनपदों में मूलतः वही संस्कृति भरी हुई है, जो अंतर्वेद में है। पंजाबी और त्रिगर्त की भाषाएँ आर्य परिवार की हैं। उनकी सामग्री हिन्दी क्षेत्र के साथ घनिष्ठ संबंध रखती है। कुरुक्षेत्र से तो मध्यदेश का अंतरंग आरंभ ही हो जाता है। यह उदीच्य और प्राच्य के बीच का संधिस्थल था। सरस्वती और दृषद्वती नदियों की सांस्कृतिक और भाषा संबंधी सामग्री अंबाला से बीकानेर के कोलायत प्रदेश तक फैली हुई है। उसकी बारीक छानबीन और संग्रह मध्यदेशीय संस्कृति की व्याख्या के लिए आवश्यक है।

महाभारत में नदियों को विश्वमाता कहा गया है। जिस प्रकार पर्वत की चट्टानों को पीस कर नदियों ने समतल उर्वरा भूमि का निर्माण किया है, उस दृष्टि से इस काव्यमय कल्पना में बहुत

कुछ सचाई भी है। गंगा और यमुना, सरयू और कौशिकी (कोसी) हिमालय से आने वाली मुख्य धाराएँ हैं। इनके पर्वतीय प्रस्रवण क्षेत्र भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र के साथ मिले हुए हैं। गंगा की धमनी के साथ जुड़ी हुई अनेक छोटी नदियाँ हैं। 'पंचतंत्र' में उल्लेख है कि गंगा पाँच सौ नदियों को लेकर समुद्र में मिलती है। इनमें रथस्या (राहुत या रामगंगा), गोमती, वेदश्रुति (बिसूई नदी, जिसे राम ने वनवास यात्रा में तमसा और गोमती के बीच में पार किया था), स्यन्दिका, तमसा, अजिरवती (राप्ती)—ये नाम साहित्य से संबंधित होने के कारण ध्यान देने योग्य हैं। नदियों की दृष्टि से गंगा और हिमालय के बीच की असम तक फैली हुई लंबी पट्टी में मानों कोई सहस्रधार झरना अनंत काल से बह रहा है और भूमि की क्षेत्र शक्ति को उर्वर बना रहा है। इन्हीं नदी-द्रोणियों में अनेक उपबोलियाँ अब तक सुरक्षित हैं। मध्यदेश के निवासी इनके तटवर्ती मार्गों से बढ़ते हुए हिमालय की गर्भ श्रृंखला तक सम्पर्क बनाए रहते थे। इसका अच्छा उदाहरण नेपाल के पूर्वी भाग में अरुणा और ताम्रा नदियों का संगम है, जिनकी धारायें हिमालय की गर्भश्रृंखला के उस पार से आती हैं और उन्होंने अपने लिए जो मार्ग काटा है, उसकी गहराई संसार की सभी नदी-द्रोणियों में अधिक है। उस संगम के क्षेत्र में विष्णु का बड़ा तीर्थ बनाया गया, जिसे कोकाक्षेत्र और वराह क्षेत्र कहते थे।

नदियों की दृष्टि से विंध्य और पारियात्र के जलस्रोत भी ध्यान देने योग्य हैं। विंध्य की मेकला पहाड़ी से निकल कर शोण पूर्व की ओर और नर्मदा पश्चिम की ओर बह जाती है और दोनों मिल कर मानों मध्यदेश के दक्षिण भाग का प्रोक्षण करती हैं। इनके बीच में मध्य भारत की दशार्ण (धसान), तमसा (टोंस), शुक्तिमती (केन), वेत्रवती (बेतवा), पुष्पवती (पहूज) नदियाँ हैं। पारियात्र विंध्य के पश्चिमी छोर से उठ कर उत्तर की ओर फैली हुई पहाड़ियों की लंबी श्रृंखला है। इसकी गोद भी नदियों से भरी है। इनमें पर्णाशा (बनास) और चर्मणवती (चम्बल) मुख्य हैं। चर्मणवती की शाखा पार्वती है। वेत्रवती का उद्गम भी कुछ पुराण पारियात्र की गोद में ही मानते हैं, पर वस्तुतः वह विंध्य के ढलान का जल ले कर बही है।

जनपद

भारतीय इतिहास में जनपदों का महत्वपूर्ण स्थान है। जनपद स्थानीय संस्कृति की इकाई थे। भाषा या बोलियों की दृष्टि से उनका महत्व सबसे अधिक था और अधिकांश में उनकी वह विशेषता अभी तक सुरक्षित रही है। शूरसेन या ब्रज प्रदेश की ब्रज भाषा और कोसल जनपद या अवध की अवधी भाषा इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार टोंस, बेतवा और नर्मदा के बीच फैले हुए चेदि जनपद की बुंदेलखण्डी भाषा अपनी प्रादेशिक विशेषताओं के साथ हिन्दी की बोलियों में महत्त्वपूर्ण है। रीवाँ की बघेली, दक्षिण कोसल की छत्तीसगढ़ी, काशी की भोजपुरी जनपदों की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं को लिए हुए अभी तक शक्तिशाली बनी हुई हैं और उनकी समृद्धि सर्वथा हिन्दी के हित का कारण है। यह स्मरण रखने की बात है कि लगभग एक सहस्र वर्षों तक (१५ सौ वि० पू० से ५ सौ वि० पू०) भारतीय इतिहास का राजनैतिक गठन जनपदीय पद्धति पर

था। महाभारत और पाणिनि की अष्टाध्यायी में जनपदों के राजनैतिक संविधान की सामग्री पाई जाती है। यूनान के इतिहास में जो स्थान वहां के पुर राज्यों का था, वही स्थान भारत में जनपदों का था। विज्ञान, साहित्य, धर्म और दर्शन की पराकाष्ठा जनपद युग में ही देखी गई। यास्क के निरुक्त, शाकटायन के व्याकरण, पाणिनि की अष्टाध्यायी, वैदिक परिषदों के प्रातिशाख्य ग्रंथ, शिक्षा और छंद संबंधी ऊहापोह—यह सब जनपदों के बौद्धिक समुत्थान का ही फल था। उपनिषदों में कुरु-पंचाल के विद्वानों की परिषद् का उल्लेख है। मद्र, विदेह, काशी, कोसल और कुरु-पंचाल—इन सब का बौद्धिक स्तर पर्याप्त ऊंचाई पर था, ऐसा उपनिषदों से ज्ञात होता है। कम्बोज या मध्य एशिया से ले कर गंधार और बाह्लीक प्रदेश में एवं मध्य देश के विविध क्षेत्रों में जनपद राज्यों का पूरा सिलसिला छाया हुआ था। कोई भी जातीय भूमि जनपदीय संगठन से विरहित नहीं थी। कुछ जनपद राजाधीन थे और कुछ गणाधीन। जनपद की गुप्ति या सैनिक रक्षा के भी विशेष प्रबंध थे। प्रत्येक जनपद में पुर या राजधानी उसका केन्द्र होता था और शेष भाग के ग्रामों का समूह राष्ट्र कहलाता था। जनपद का जातीय जीवन प्रायः संतुलित रहता था। किन्तु राजनैतिक तनाव के कारण उनकी सीमाएँ घटती-बढ़ती रहती थीं। यूनान के पुर राज्यों की ऐसी ही स्थिति थी। एथेन्स और स्पार्टा के साम्राज्यवादियों ने छोटे पुर राज्यों को हड़प लिया। भारत में यह कशमकश लम्बी चली और अंत में मगध के उठते हुए साम्राज्यवाद ने अनेक जनपदों के राजनैतिक स्वातंत्र्य का अंत कर डाला। जनपदों के उत्थान और पतन की कहानी अत्यन्त रोचक है। परंतु हमारे लिए यहाँ इतना ही उपादेय है कि मध्यदेश का सांस्कृतिक इतिहास जनपदों की जातीय भूमियों के इतिहास का ही समन्वित रूप है।

जनपदों की दृष्टि से पुराणों में देश को मोटे तौर पर निम्नलिखित सात भागों में बाँटा गया था—उदीच्य, मध्यदेश, प्राच्य, दक्षिण, अपरान्त, विंध्यपृष्ठ और पर्वतीय प्रदेश। भीष्मपर्व की सूची में छोटे बड़े जनपदों के लगभग २२५ नाम हैं। इनमें बड़े क्षेत्र महाजनपद कहलाते थे। सिंध के उस पार चार बड़े जनपद थे, जो मध्य एशिया और मध्यदेश के बीच में व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में प्रमुख भाग लेते थे। सिंधु नद के पूर्व में पूर्व गंधार और पश्चिम में अपर गंधार—दोनों एक ही प्रदेश के दो भाग थे। उसके उत्तर में कपिश का प्रदेश था। पुनः पश्चिम के कोने में वक्षुनद के दक्षिण वाह्लीक और पूर्वी कोने में वक्षु के उत्तर कम्बोज जनपद था। कम्बोज के उत्तम घोड़ों का उल्लेख साहित्य में बहुत बार आया है। पंचनद प्रदेश में मद्र और केकय दो बड़े जनपद थे। मद्र की राजधानी शाकल या स्यालकोट थी, जो उत्तर पथ नामक व्यापारिक मार्ग (मध्यकालीन राह-ए-आज़म और अंग्रेज़ी ग्रैन्डट्रन्क रोड) पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पड़ाव या मंडी थी। बाह्लीक के यूनानी राजाओं ने शाकल को ही केन्द्र बना कर भारतीय संस्कृति को यूनानी प्रभाव से प्रभावित किया था। केकय का स्थान सैन्धव प्रदेश या खिउड़ा की पहाड़ियों में था, जहां से आने वाला सेंधा नमक घरेलू व्यापार की वस्तु थी और जहाँ का कटाक्षराज तीर्थ पंजाब और उत्तर प्रदेश में भी प्रसिद्ध रहा है। पंजाब के पूर्व में त्रिगर्त नामक पहाड़ी जनपद चनाब, व्यास और सतलज—इन तीन नदियों का उपरला क्षेत्र था, जिससे उसका वह नाम पड़ा।

भारतीय संस्कृति और कला की प्राचीन परम्परा यहां बहुत वर्षों तक सुरक्षित रही। सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शतियों में यहां जिस सुन्दर चित्रशैली का विकास हुआ, वह हिन्दी साहित्य की कृष्ण-भक्ति शाखा को समझने के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितने कि कृष्ण संबंधी मधुर काव्य। कांगड़ा या हिमाचल शैली के उत्कृष्ट चित्रों की संख्या सहस्रों में है और भागवत की तो कितनी ही अच्छी प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके प्रकाशन से हिन्दी साहित्य का अत्यंत हित होने की आशा है।

पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग में कुरुक्षेत्र और कुरु-जांगल (हाँसी-हिसार-सिरसा प्रदेश) का प्रदेश था। भौगोलिक दृष्टि से यह कुरु जनपद का ही अंतरंग भाग था, जो सरस्वती और दृषद्वती के काँठे में बसा हुआ था। वास्तविक कुरु राष्ट्र यमुना-गंगा के बीच की भूमि थी। इसकी पुरानी राजधानी हस्तिनापुर थी। पीछे नई राजधानी इन्द्रप्रस्थ के रूप में यमुना तट पर बसाई गई। कुरु राष्ट्र या जनपद वैदिक युग से ही अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया था। भरत नामक जन ने इसी प्रदेश में बद्धमूल हो कर राज्य स्थापित किया था, अतः इस प्रदेश का एक नाम प्राच्य भरत भी हुआ। ब्राह्मण और उपनिषदों के युग में कुरु जनपद के विद्वानों की परिषद् सबसे विशिष्ट थी, जिसके साथ पंचाल के वैदिक विद्वान भी सहयोग देते थे। मनु ने कुरुक्षेत्र को ब्रह्मर्षि देश माना है और उपनिषद् युग की संस्कृति में इसका जो सर्वोत्कृष्ट स्थान था, उसके विषय में लिखा है कि कुरु-पंचाल के ऊँचे शिष्टाचार को अन्य सब जनपदों के मनुष्य अपने लिए आदर्श मानते थे।[१] कुरु जनपद की कौरवी बोली वर्तमान खड़ी बोली का मूल है। इसके व्याकरण की शक्ति और शब्दावली की समृद्धि एवं अन्य आगन्तुक शब्दों को पचा लेने की क्षमता ने राष्ट्र को एक ऐसी भाषा शैली प्रदान की है, जिसके गद्य और पद्य में भावों के प्रकाशन की अपूर्व शक्ति छिपी हुई है। उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति से ज्ञात होता है मानों कुरु जनपद की प्राचीन वैदिक युग की सांस्कृतिक क्षमता ही इस भाषा में उतर आई हो और राष्ट्र के लिए भाषा संबंधी आवश्यकता के सम्पूर्ण बीज इसमें विद्यमान हों। कुरु जनपद के महाकटाह में ही मानों भारतीय संस्कृति के साथ तुर्क-अफ़गान और मुग़लों की संस्कृतियों का खुला संमिश्रण होता रहा। भाषा के निर्माण पर उसका सब से अधिक प्रभाव पड़ा। उसी का फल वर्तमान हिन्दी भाषा है। इस बात की आवश्यकता है कि कुरु जनपद की बोलियों के सब रूपों का बृहत् कोश बनाया जाय। उससे हिन्दी के लिए शत सहस्र विशिष्ट शब्दों का लाभ मिल सकेगा।

मध्यदेश में जहाँ तक गंगा-यमुना का कांठा है, उसमें पंचाल, शूरसेन, कोसल, काशी और वत्स—इन जनपद भूमियों ने इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इनकी बोलियों की समृद्धि भी अत्यधिक है। ब्रज और अवधी के वाङ्मय तो राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित रह चुके हैं। उनके उत्कृष्ट ग्रंथों की गणना विश्व साहित्य में की जाती है।

---

१. **एतद्देशप्रसूतस्य　　सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥　　**मनुस्मृति २।२०॥**

भुवनकोशों के अनुसार मगध और अंग जनपद भी मध्यदेश में गिने जाते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस समय यह सूची बनी, उस समय बिहार में गंगा के उत्तर और दक्षिण का सब प्रदेश सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से गंगा-यमुना के प्रदेश की भौगोलिक इकाई के साथ घनिष्ठ संबंध में जुड़ गया था। आज भी हिन्दी की पूर्वी बोलियों की दृष्टि से मध्यदेश का यह वितान यथार्थ है। मगध में जरासन्ध ने सर्वप्रथम निषाद जातियों के सम्राट् के रूप में एक आर्य सन्निवेश की राजगृह में स्थापना की थी, किंतु वह कुरु जनपद के राजनैतिक तंत्र के साथ अपने आपको न जोड़ सका और संघर्ष में नष्ट हो गया। मगध के जंगल और पहाड़ी इलाके सदा से ही निषाद जातियों से भरे हुए थे, जैसे वे आज भी हैं। उनको अपने भीतर समेटते हुए आर्य संस्कृति आगे बढ़ी और उसका चिन्ह वर्धमान (आधुनिक बर्दवान) के भौगोलिक नाम में अब तक अवशिष्ट है। गंगा के दक्षिणी मोड़ के इस पार अंग और उस पार बंग जनपद था। बंग का पुराना नाम पुण्डवर्धन भी था। इसकी राजधानी महास्थान मौर्य युग से गुप्तयुग तक संस्कृति का बड़ा केन्द्र रही। पुण्ड्र के दक्षिण उससे मिले हुए मलद जनपद का नाम ही संभवतः वर्तमान मालदा में पाया जाता है। वर्धमान के दक्षिण प्राचीन सुह्म जनपद था। यह नाम संभवतः संस्कृत सूक्ष्म का प्राकृत रूप है, जो उसके छोटे भौगोलिक विस्तार का सूचक है। इसकी राजधानी ताम्रलिप्ति समुद्र के किनारे थी। यह अनेक शताब्दियों तक द्वीपान्तर की यात्रा के लिए पूर्वी तट का महत्त्वपूर्ण जलपत्तन बना रहा। गंगा सागर के संगम का भाग समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का समतट प्रदेश था। पूर्वी छोर पर जहाँ ब्रह्मपुत्र और गंगा की नदीमुखी जलधाराएँ समुद्र से मिलती हैं, वहाँ पश्चिम में वारिष (आधुनिक बारिसाल) और पूर्व में सूरमस का जनपद (असम की सूरमा नदी की दून और पर्वत घाटी) था। ब्रह्मपुत्र की गोद में आर्य सन्निवेश के विस्तार का यह अंतिम भौगोलिक क्षेत्र था, जो जनपद सूची में प्राप्त है। इस समस्त क्षेत्र में आर्य भाषाओं की एक पपड़ी निषाद भाषाओं के ऊपर जम गई। ब्रह्मपुत्र और उसकी शाखा लोहित्य का पहाड़ी घाटा या जोता किसी समय प्राग्ज्योतिक कहलाता था, जिसका बिगड़ा हुआ संस्कृत रूप प्राग्योतिष नाम से प्रसिद्ध हुआ। उधर धुर पश्चिम में सिन्धु के तट पर भी एक ऐसा ही पहाड़ी जोता उत्तरज्योतिक नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार उत्तरापथ के जनपदों की स्फुट श्रृंखला पहचानी जा सकती है। यह स्पष्ट है कि विंध्यपृष्ठ के विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र का मध्यदेश से घनिष्ठ संबंध रहा है। पृथक् भूमियों की दृष्टि से उसके तीन भाग थे—पश्चिम में अवन्ति (मालवा), मध्य में चेदि (ओंकार मान्धाता से जबलपुर तक का प्रदेश) और पूर्व में दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़)। बोलियों की दृष्टि से ये तीनों हिन्दी के ही अभिन्न अंग हैं। बुन्देली, मालवी और छत्तीसगढ़ी तक हिन्दी का अखंड विस्तार है। उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल के बीच में सदा से एक महत्त्वपूर्ण यात्रापथ चलता था, जो आज तक नर्मदा और शोण के उपरले क्षेत्र में जबलपुर, सटना, भरहुत होता हुआ प्रयाग कोशाम्बी से आ मिलता है। इसी के मध्य में पूर्व की ओर करुष (बघेलखंड) जनपद था। उसी पट्टी में पछाँह की ओर दशार्ण (भेलसा-धसान) के छोटे जनपद थे। इन्हीं दोनों स्थानों पर यातायात की चालू धमनियों का विचार करते हुए शुंग युग में भरहुत और साँची के दो बड़े स्तूपों का निर्माण हुआ। साँची मथुरा

से अवन्ति के मार्ग पर और भरहुत उत्तर कोसल से दक्षिण कोसल के मार्ग पर था। इन दोनों स्तूपों के बहुविध उत्कीर्ण शिलापट्ट मानों प्राचीन धर्म और विश्वासों की रामायण और महाभारत की संहिताएँ जैसी हैं। उन पर अंकित दृश्यों में बौद्ध धर्म और लोकधर्म का, जिसमें नाग-यक्ष और छुटभैये देवी-देवताओं की मान्यता मुख्य थी, समन्वय पाया जाता है।

पश्चिम के जनपदों में, जो मुख्यतः गुजराती भाषा का क्षेत्र है, ये नाम आते हैं—

भृगुकच्छ (भड़ोच), कच्छ-माहेय (मही नदी का कांठा), सुराष्ट्र (काठियावाड़), सारस्वत (पाटन के पास सरस्वती का काँठा), आनर्त (उत्तरी गुजरात)। कुछ लेखक अर्बुद (आबू-सिरोही) का इलाका भी इसी में जोड़ते थे।

भौगोलिक पथ

जनपदों के इस फैले हुए संस्थान को परस्पर मिलाने वाले अनेक मार्ग थे, जिन्हें अथर्ववेद के सूक्त में जनायन पंथ कहा गया है। उन्हीं के द्वारा मातृभूमि के बहुधा जन अपनी बोलियों और धर्मों को रखते हुए परस्पर सम्पर्क में आते थे। मध्यदेश के भीतर और उसको घेरने वाले भौगोलिक मंडल की पथ पद्धति का स्पष्ट परिचय प्राचीन तीर्थ यात्राओं के रूप में संस्कृत साहित्य में उपनिबद्ध हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के लेखकों ने भी उन्हें अपनाया था, जैसे 'बीसलदेव रासो' में उड़ीसा से राजस्थान तक के मार्ग का और जायसी की 'पद्मावत' में इससे विपरीत दिशा में चित्तौड़ से उत्कल के समुद्र तट तक के मार्ग का उल्लेख है। अधिकांश में प्राचीन पथ ही आज तक चालू रहे हैं और रेलों ने भी उन्हें अपनाया है। तीर्थयात्रा के मार्ग और व्यापारिक सार्थवाहों के यातायात के मार्ग बहुत कर के एक ही थे। मध्यदेश का सबसे महत्वपूर्ण मार्ग, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उत्तर पथ नाम से प्रसिद्ध था। उसके एक छोर पर ताम्रलिप्ति थी। यह मार्ग चम्पा, पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, मथुरा को मिलाता हुआ शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा और अंत में बाह्लीक से जा मिलता था। वहीं से पूर्व से चीन के कौशेय पथ उसके साथ जुड़ते थे। यों इस मार्ग का अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र और महत्त्व था। इस व्यापारिक धमनी से निकलने वाली शाखाएँ अनेक थीं। मध्यदेश की दृष्टि से तीन मार्गों का उल्लेख आरण्यकपूर्व के पुलस्त्य तीर्थ यात्रा प्रकरण (अध्या० ८०-८३) से सूचित होता है। एक मार्ग कुरुक्षेत्र से उठ कर हिमालय की तलहटी को छूता हुआ गंगा के उत्तर-उत्तर कोसल से लोहित्य तक चला गया था। यह बहुत पुराना रास्ता था। कृष्ण, भीम और अर्जुन के साथ इसी मार्ग से राजगृह गए थे। कालिदास के रघु दिग्विजय वर्णन में हिमालय से लोहित्य तक का टुकड़ा यही मार्ग है। दूसरा मार्ग चम्पा-भागलपुर के पास गंगा के दक्षिणी मोड़ का अनुकरण करते हुए एक ओर राजगृह को गंगासागर संगम के साथ और दूसरी ओर शोण की घाटी में होकर दक्षिण कोसल से मिलाता था। नर्मदा के उपरले भाग में इसी पथ से निकलता हुआ एक तार चेदि जनपद में होता हुआ पश्चिम में विदर्भ तक चला जाता था। मध्यदेश से उड़ीसा को मिलाने वाला एक पथ रतनपुर-बिलासपुर से पूर्व की ओर महानदी के किनारे-किनारे कलिंग में जा निकलता था। इसकी अन्तिम कड़ी को महाभारत में

कलिंगराष्ट्रद्वारेषु (आदिपर्व २०७।१०) और जायसी ने 'मांझ रतनपुर सौंह दुआरा' (१३८-७) कहा है। द्वार पहाड़ी दर्रों के लिए पारिभाषिक शब्द था। इस प्रकार के बहुत से द्वार सिक्किम-भूटान से नेपाल को और असम से तिब्बत की ओर जाते हैं। आज भी उनकी वही संज्ञा है। इस प्रकार मगध से कलिंग और मगध से मेकल हो कर कोसल और विदर्भ के दुमुँही रास्तों का स्पष्ट उल्लेख प्राचीन साहित्य में था। स्पष्ट ही ये भू-सन्निवेश के मार्ग थे, जिन पर बढ़ते हुए यात्रा के पड़ाव की भाँति अनेक तीर्थों का निर्माण किया गया था।[1] मध्यदेश के दक्षिणी अंचल में एक छोटा मार्ग कालंजर-चित्रकूट से शृंगवेरपुर होता हुआ प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूँसी) को मिलाता था। एक ओर वह काशी से और दूसरी ओर श्रावस्ती से मिला हुआ था। प्राचीन साहित्य में इन मार्गों पर यात्रा करते हुए सार्थवाहों के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिमी छोर पर मथुरा और उज्जैनी को मिलाने वाले पथ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह ओंकारमान्धाता के घाट पर नर्मदा पार करता था।

जलवायु

मध्यदेश के काव्य साहित्य में यहाँ की छः ऋतुओं के परिवर्तनशील चक्र का और उनके अनन्त सौन्दर्य का बहुत वर्णन पाया जाता है। एक वर्ष की अवधि में षट्ऋतु और बारह महीनों की विशेषताओं के चमत्कारपूर्ण वर्णन की पद्धति ही चल पड़ी थी। इनमें भी वसंत और वर्षा के वर्णन तो न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से बल्कि मनोभावों की विचित्रता की दृष्टि से भी अत्यन्त रोचक हैं। वसंत की सुकुमार वायु को दक्षिणानिल या मलयानिल कहा गया है। शिशिर के अंत में फागुन की फगुनहटा वायु जब अपनी सरदी उँड़ेल चुकती है, तो वसंत की दक्खिनी वायु का सुख आरंभ होता है। शिशिर-वसंत काल की हवाओं को पर्णशुष्, पर्णमुच् और पर्णरुह्—ये क्रमिक नाम दिये गये हैं। उसके बाद क्रमशः गर्मी भरने लगती है। जेठ के महीने में जो प्रचंड लू चलती है और जिसकी लपटों से चिड़िया-चील तक भुन कर गिर पड़ती हैं, उसे हिन्दी में एक विशेष नाम हउँहरा दिया गया है। गर्मी के बाद मध्यदेश के तपे हुए मैदान वर्षा ऋतु की मूसलाधार वृष्टि से लहलहा उठते हैं। इस समय का वर्णन साहित्यिकों की पैनी दृष्टि का अनोखा विषय है। ऋग्वेद के पर्जन्य सूक्त में इसका जैसा उदात्त वर्णन है वह भारतीय साहित्य में अपूर्व है (५।८३।१-१०)। वर्षा के मेघों की संज्ञा पर्जन्य थी। पर्जन्य मेघों को लाने वाली वायु मातरिश्वा कहलाती थी। उसके उग्र प्रहारी स्वरूप के कारण उसे प्रभंजन भी कहा गया है।[2] मेघ दो प्रकार के होते—एक

---

१. इनके भौगोलिक वर्णन के लिए देखिए—
श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, भारत की मौलिक एकता, पृ० ९५-१००।

२. प्रमाथिनं बलवन्तं प्रहारिणं प्रभंजनं मातरिश्वानमुग्रम्।
युद्धे सहिष्ये हिमवानिवाचलो धनंजयं क्रुद्धममृष्यमाणम्॥
॥ कर्णपर्व ४२।२१॥

वातवलाहक और दूसरे वर्षवलाहक। वृष्टि मेघों को ही पुष्करावर्तक कहते थे। जो वायु वर्षा के मेघों को लाती है, उसे राजस्थानी लोक गीतों में सूरया कहा गया है और बुंदेली में सुअरी। दोनों की व्युत्पत्ति संस्कृत शूकरी से स्पष्ट है। वर्षा ऋतु की व्यापक वायु तो पुरोवात या पुरवइया है, जो मध्यदेश के समस्त प्रवर्षण क्षेत्र में भर जाती है। अवधी की एक उक्ति में कहा है—भुइयाँ-लोट चले पुरवाई, तब जानो बरखा ऋतु आई। ग्रीष्म के अंत और वर्षा के आरंभ में इस प्रकार भूमि का स्पर्श कर के धूल उड़ाती हुई वायु प्रतिवर्ष देखने में आती है। इस प्रकार की आँधी बरसात का उपक्रम है। उसे वैदिक भाषा में सार्थक नाम मातरिश्वा दिया गया है, क्योंकि यह द्युलोक और पृथ्वी के विशाल अंतराल अंतरिक्ष में फैल जाती है। अथर्ववेद में इसे ही धूल उड़ाने और पेड़ गिराने वाली कहा है।[1] यही लोक का झंझावात है, जिसके मार्ग में बिजली कड़कती चलती है। इन हवाओं का वनस्पति जीवन से घनिष्ठ संबंध है। सावन-भादों की पुरवइया ठीक है, पर वही यदि चैत में चले तो महुए के लिए अच्छी है पर उससे आम लसिया जाता है और बौर नष्ट हो जाता है।

वर्षा के बाद शरत् की सुहावनी ऋतु आती है। उस समय टकटक तारों से भरी हुई रात्रि अथवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का कवियों ने उमँग कर वर्णन किया है। कार्तिक से फागुन तक दखिनहा वायु बहती रहती है जो न बहुत गर्म और न बहुत ठंडी होती है। जाड़े में होने वाली वृष्टि भी मध्यदेश की अपनी विशेषता है। उसके बाद माह में जो बर्फीली हवा चलती है उसे जायसी ने झोला कहा है (बिरह पवन होइ मारै झोला, पद्मावत ३५१।६)। इसी का नाम डाफर भी है। मध्यदेश के तापमान या वृद्धि और अनुकूलन का क्रम ही षट् ऋतुएँ हैं। इसमें हवाओं के साथ हिमालय का भी बड़ा योग है। वृष्टि के जल का नदियों के लिए संचय कर लेता है। यह सुन्दर विधान मध्यदेश की जलवायु में शीत और उष्ण का तारतम्य उत्पन्न करता है। भारतीय मानव के मनोभावों से ऋतु परिवर्तन के घनिष्ठ संबंध का वर्णन काव्यों में संयोग और विप्रलंभ श्रृंगारों के रूप में प्रायः मिलता है। इनमें जलवायु के प्राकृतिक परिवर्तन उद्दीपन बन कर योग देते हैं। प्रकृति वर्णन संस्कृत और हिन्दी काव्य साहित्य की महती विशेषता है। उसके बिना भारतीय काव्य की कल्पना हो ही नहीं सकती।

वृक्ष-वनस्पति

मानव और उसके साहित्य का वन सम्पत्ति से घनिष्ठ संबंध है। विशेषतः भारतीय संस्कृति में आश्रमों का आदर्श पुनः पुनः अरण्य संस्कृति का स्मरण दिलाता है। सौभाग्य से मध्यदेश के चारों ओर वनों का मण्डल सा घिरा हुआ है। मानसोल्लास में भारत में आठ बड़े वन कहे गये

---

१. **यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि**
कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥अथर्व १२।१।५१॥

हैं[1]— १. प्राच्य वन, २. पूर्व बंग से असम प्रदेश के श्रीक्षेत्र तक आंगिरेय वन, ३. रीवाँ से दक्षिण कोसल तक चेदि कारुषक वन, ४. विंध्य के पच्छिमी पठार से कलिंग तक कालिंग वन, ५. पंजाब में त्रिगर्त कांगड़ा आदि का पंचनद वन, ६. आंध्र में श्रीशैल से मलयाद्रि तक दशार्णव वन, ७. काठियावाड में सौराष्ट्र वन, ८. कोंकण में अपरान्त वन। इनमें से पहले पाँच मध्यदेश को प्रभावित करते हैं। मध्यदेश की अधिकांश नदियों के स्रोत उनमें होकर बहे हैं। उनमें जो वृक्ष-वनस्पति, पुष्प और ओषधि, पशु और पक्षी आदि की मूल्यवान सामग्री है, उस पर मध्यदेशीय व्यक्ति निर्भर रहते हैं। इनमें भी विशेषतः विंध्य और हिमालय के जंगलों का साहित्य में बहुत वर्णन आता है। वेत्रवती से लेकर नर्मदा के स्रोत तक विस्तृत वन की संज्ञा विंध्याटवी थी, जिसका विशद वर्णन वाल्मीकि और बाण ने किया है। उसे ही कुछ और विस्तार से दण्डकारण्य कहते थे। इसी प्रदेश में किसी समय अष्टादश आटविक राज्यों की गणना की जाती थी। पश्चिम से पूर्व और उत्तर से दक्षिण जाने वाले सब मार्ग विंध्य वन और दण्डकारण्य को पार करते थे। बड़े वनों के अतिरिक्त मध्यदेश के भीतर भी जहाँ-तहाँ जंगल छितरे हुए थे, जैसे नैमिषारण्य, जहाँ अति प्राचीन युग से गोमती के प्रदेश में साल का जंगल फैला हुआ था। हिमालय के बड़े वन के लिए साहित्य में कजली-वन नाम चल गया था।

हिमालय के जंगल उसकी दो बाहियों में फैले हुए हैं। एक तराई-भाभर के जंगल, जिनमें नाना प्रकार की घासें, क्षुप, ओषधि, रूखड़ी और कन्दमूल प्रतिवर्ष जन्म लेते हैं। इन्हीं में दूध-कनेला या दूधीला (अं० डन्डीलियन), काखड़ी या कमलिया (अं० एनीमोन), हिंसरा या हिंसोरा (अं० रैस्पबरी), जिसके जोगिया फूल अति सुन्दर होते हैं, चिमोल (अं० रोडोडेंड्रन, गुलाबी रंग का बड़ा फूल), नवागा (अं० डेसी), तिमासी (अं० वायलेट), सुरमालु (जाति पुष्प), भूईला (अं० स्ट्रोबरी) आदि पहाड़ी क्षुपों और पुष्पों से यहाँ की धरती पट जाती है। इनसे ऊपर हिमालय के सदाबहार जंगल हैं, जिनका अटूट सिलसिला कश्मीर, कुल्लू-कांगड़ा, बदरी-केदार, नेपाल और प्राग्ज्योतिष खंडों में फैला हुआ है। हिमालय की इन ऊँची भूमियों में चीड़, कैल, राग, सुरह, बाँज[2] और उनसे भी ऊपर देवदारु के घने जंगल हैं। देवदारु के महावृक्ष सौ-सौ फुट तक ऊँचे उठ कर धरती को चाँपते हुए से लगते हैं। कालिदास ने उन्हें हिमालय के अधिदेवता शिव का पुत्र कहा है और लिखा है कि उत्तर से दक्षिण की ओर आने वाली हिमालय की हवाएँ देवदारु के वृक्षों की नई सूचियों से सुरभित हो कर बहती हैं। हिमालय में ही बदरीनाथ के पास गन्धमादन वन था, आरण्यक पर्व में उसके वृक्षों की सूची दी हुई है पर वह वर्णक के ढंग की है।[3] यों मध्यदेश के जंगलों में होने वाले वृक्षों की सूची इस प्रकार है—

---

१. मानसोल्लास प्रथम भाग पृ० ५५, माइसूर ग्रंथमाला।

२. चीड़ (पाइन), कैल (ब्लू पाइन), राग (सिलवर फर), सुरइ (साइप्रस), बाँज (ओक)।

३. आरण्यक पर्व १५५।३६

आम्र, बिल्व, कपित्थ, जामुन, वृक्ष, वट, उदुम्बर, आमलक, हरीतकी, बिभीतक, अश्वत्थ पनस, अशोक, वकुल, सप्तपर्ण, शाल, ताल, तमाल, शाल्मली, शिंशपा, आदि। इनमें से अधिकांश विंध्याचल के वनों में भी पाए जाते हैं। किन्तु वहां तिन्दुक (तेंदू), प्रियाल (चिरोंजी) के जंगल विशेष हैं। संस्कृत और हिन्दी के कवि इन वृक्षों की परिनिष्ठित सूची को अपने वर्णन में प्रायः स्वीकार कर लेते हैं। संभवतः वैज्ञानिक रीति से वर्गीकृत वर्णन साहित्यकार के लिए उतना उपयुक्त नहीं बैठता।

पुष्पों की दृष्टि से मध्यदेश अत्यंत भाग्यशाली है और यहाँ के कवियों ने वनश्री के पुष्पहास का वर्णन करने में अपने कौशल का पूरा परिचय दिया है। समाज में भी सौन्दर्य प्रेमी स्त्री-पुरुषों ने कई प्रकार के पुष्पोत्सवों का प्रचलन किया है। वसंत में स्त्रियाँ रक्ताशोक के नीचे अशोक पुष्पप्रचायिका क्रीड़ा करती थीं। प्रतिवर्ष वसंत में फूले हुए शाल वृक्षों के नीचे शालभंजिका क्रीड़ा का मंगल होता था। ऐसे ही वैशाखी पूर्णिमा को वीरण या खस के छोटे श्वेत पुष्पों का चयन कर के वीरणपुष्पप्रचायिका का उत्सव किया जाता था। इन्हें उद्यान क्रीड़ा कहते थे। चैत्र मास में पूर्णिमा के दिन दोनामरुआ के सुगंधित पुष्पों के आभूषण बना कर दमनोत्सव मनाया जाता था।

वसंत में पुष्पों के मंगलसाज का साहित्य में वर्णन प्रायः मिलता है। कालिदास के अनुसार वसंत में रक्ताशोक अपना भीतरी राग लाल झुग्गों के रूप में बाहर प्रकट कर देता है। कर्णिकार गुलाबी गुच्छों से वायु में नृत्य करता प्रतीत होता है और नवमालिका फुल्लित होती है। वासवदत्ता के अनुसार अतिमुक्तक और अगस्त वसंत में फूलते हैं। अतिमुक्तक लता का ही दूसरा नाम वासंती या माधवी लता है। सुबन्धु ने वसंत में ही विचकिल (बेला), वकुल (मौलसिरी), नागकेसर और पाटली पुष्पों का वर्णन किया है। विचकिल का पर्याय मल्लिका भी था। कालिदास ने वसंत की संध्या में मल्लिका पुष्पों के खिलने का उल्लेख किया है। 'संदेशरासक' में माघ शुक्ल पंचमी को ऋतुराज वसंत का जन्म दिन कहा गया है (छं० १९६)। उससे एक दिन पूर्व माघ शुक्ल चतुर्थी को कुन्द चतुर्थी का उत्सव मनाया जाता था। ग्रीष्म में केतकी, कुब्जक, मुचकुन्द, पाटल और शिरीष के पुष्प खिलते और ग्राम सीमाएँ मंदार पुष्पों से सिंदूरिया बन जाती हैं। वाल्मीकि के अनुसार मालती विशेषतः वर्षा ऋतु का पुष्प है। कालिदास ने शरद में भी मालती का उल्लेख किया है (शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः)। जाति या चमेली मालती का पर्याय है। वकुल या मौलसिरी भी वर्षा का पुष्प है। शरद को पंकजलक्षण कहा गया है। मध्यदेश के सरोवर खिले कुमुद और कमलों से भर जाते हैं। उसी समय श्वेत हंस हिमालय से लौट कर उन सरोवरों के तट पर उतरते हैं। पृथ्वी पर कमल, अंतरिक्ष में हंस और द्युलोक में नक्षत्र, इनकी शोभा से शरद ऋतु अत्यंत सुहावनी हो जाती है। शेफालिका या पारिजात शरद का प्रसिद्ध पुष्प है। बाण के अनुसार सप्तच्छद या सतवन के वृक्ष भी शरद में ही फूलते हैं।

मध्यदेश की सामाजिक संस्कृति में भवनोद्यानों का भी विशेष स्थान था, जिनमें अनेक पुष्पों के लतामण्डल बनाए जाते थे। कमलों से भरे हुए सरोवर नगर रचना के अभिन्न अंग माने जाते थे। फूलों के गहने बना कर शरीर को सजाने का भी प्रचार था। कालिदास, बाण और

तुलसीदास ने भी इसका उल्लेख किया है। इस प्रकार भारतीय काव्य प्रकृति के सौन्दर्य का सच्चा दर्पण बन गया था।

जीव-जन्तु

आरण्य और ग्रामपशुओं की अनेक जातियाँ मध्यदेश में पाई जाती हैं। जलचर, थलचर और नभचर जीवों के वर्णन साहित्य में बहुधा मिलते हैं। कहा जाता है कि भारतवर्ष में दो सहस्र प्रकार के पक्षी होते हैं। उनकी आठ सौ जातियाँ मध्यदेश में भी मिलती हैं और समय-समय पर उद्यान, सरोवर और गृहों में देखी जाती हैं। कोयल, हंस, मोर, चक्रवाक और पपीहे का साहित्यिक वर्णनों के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। स्त्री-पुरुषों के मनोभावों का संबंध इन पक्षियों की चेष्टाओं के साथ जोड़ा गया है। पक्षियों की लंबी सूचियाँ जायसी आदि कवियों ने दी हैं। कलहंस (बतख) जाति के पक्षी ग्रीष्म के अंत में मैदानों को छोड़ कर हिमालय की ओर उड़ जाते हैं। उस समय आकाश मार्ग से उनकी नदी सी बहने लगती है। उनकी यात्रा के लक्ष्य दो होते हैं। एक बंबई, गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान और पंजाब के पक्षी मध्य एशिया की ओर चले जाते हैं। इसी से कश्मीर में उनके पार जाने का सीमावर्ती क्षेत्र हंसमार्ग (वर्तमान हुंजा) कहा गया। इनका दूसरा लक्ष्य, जिसका सीधा संबंध मध्यदेश के पक्षियों से है, हिमालय का कैलास-मानसरोवर स्थान है। इस मार्ग में भी हंसद्वार या क्रौंचरन्ध्र का उल्लेख आया है (मेघदूत १।५७)।[१]

चिड़ियों की कुछ लोकप्रिय जातियाँ इस प्रकार हैं—परेवा, पंडुक, तीतर, बटेर, गुड़रू (बटेर की जाति), उसर बगेरी (भरद्वाज या भारदूल जाति की छोटी चिड़िया), चरज (अं० बस्टर्ड), केमा (एक जलमुर्गी), लेदी, सिलारा (एक प्रकार की बतख), बनकुक्कुटी, दहियल, महोख, ग्वालिन आदि। कभी-कभी कवियों ने इनके उपमानों का अति सुन्दर प्रयोग किया है, जैसे 'भ्रमरगीत' में **हमारे हरि हारिल की लकरी,** गोपियाँ कहती हैं कि हमारे लिए तो कृष्ण ही हारिल के ऊँचे अड्डे के समान हैं, उसे छोड़ कर हम योग की धरती पर नहीं उतरतीं। हारिल सदा वृक्ष पर रहता है, इसी पर जायसी की कल्पना है—**धरती मंह बिख चारा परा, हारिल जानि पुहुमि परिहरा।**

मानव जातियाँ

मध्यदेश में आर्य और निषाद इन दो जातियों का सांस्कृतिक आदान-प्रदान खुल कर हुआ है। आर्य जाति की वैदिक परम्परा और निषादों की लोक परम्परा, इन दोनों के समन्वय से मध्यदेश की संस्कृति का जो सूत्र बना, वह **लोके वेदे च** इस वाक्य में निहित है। विद्वानों का विचार

---

१. आरण्यक पर्व में इस मार्ग का स्पष्ट उल्लेख आया है—

बिभेद सशरैः शैलं क्रौंचं हिमवतः सुतम्।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम्॥३।२१४।३१॥

यह हंसद्वार कुमायूं की सीमा पर कैलास के मार्ग का लीपूलेख दर्रा होना चाहिए।

है कि यक्ष, किरात, नाग, खश, वानर, ऋक्ष जातियों के ही नाम थे, जो अपनी पूजा पद्धति, देवता, धर्म, भाषा, और रक्त भी एक दूसरे के साथ मिलाते रहे।

नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से मानव के नर कपाल के आधार पर दो भेद हैं। इनमें नाटे कपाल वाला पुरखा कुल था और लंबा कपाल रूप बाद में विकसित हुआ। ये दोनों ही भारत में पाए जाते हैं, पर मध्यदेश के परिमंडल में लंबा कपाल जाति का ही प्राधान्य है। इसी प्रकार चौड़ी नाक और लंबी नाक तथा गोरे और काले रंग के भेद भी जातिमूलक थे। इनमें कृष्ण वर्ण, चौड़ी नाक और नाटे कपाल को भारतीय परंपरा में निषाद वंशीय कहा गया है, जिनके लिए आग्नेय वंशी (आस्ट्रिक) नाम है! इन्हें भूमिज भी माना जाता है और बिहार में इस नाम की आदिम जाति का एक वर्ग भी है। निषाद भाषाओं का वंश मुण्डा कहलाता है और देश में बोली जाने वाली भाषाओं में वह सबसे प्राचीन है। शबर और निषाद भाषाओं के अनेक शब्द आर्य बोलियों में अपना लिए गए। विशेषत: भूमि से उत्पन्न होने वाली खाने-पीने की वस्तुएँ, वृक्ष-वनस्पति एवं ओषधि-रूखड़ी आदि के नामों में मुण्डा प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। स्थान-नामों में जिनके अंत में 'मऊ' उत्तर पद आता है, वे भी उसी स्रोत से लिये गए। आदिम जातियों में उत्तर प्रदेश के गौंड़, बिहार के उराँव, हो, खड़िया, भूमिज, मुण्डा, उड़ीसा के शबर और मध्यभारत या मध्यप्रदेश के कोल मुख्य हैं। असम में नागाओं के अंगामी, आओं, सोमा आदि विभिन्न कबीले हैं। राजस्थान और नर्मदा प्रदेश के भील भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी बोलियों पर भी आर्य प्रभाव पड़ा है और सांस्कृतिक क्षेत्र में तो अपनी स्वतंत्रता रखते हुए भी ये जातियाँ आर्य संस्कृति की विराट् हिन्दूकरण पद्धति के अंतर्गत आ गई हैं। विंध्याचल के आटविक प्रदेश झारखण्ड गोंडवाना, मगही प्रदेश एवं महानदी के काँठे में इन जातियों की घनी बस्ती है। इनकी जनसंख्या एक करोड़ के लगभग कही जाती है।

हिन्दूकरण पद्धति

इन जातियों पर सांस्कृतिक सम्मिश्रण का जो प्रभाव पड़ा है और इनके आचार-संस्कारों से जो प्रभाव आर्य जीवन पर संक्रान्त हुआ है, उसका अध्ययन भारत की सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। उदाहरण के लिए इन जातियों में अनेक देवताओं की पूजा होती थी, जैसे भूमि, नाग, यक्ष, वृक्ष, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, नदी आदि। इनकी पूजा या उत्सव को आर्य भाषा में 'मह' कहा गया और इनके ये उत्सव क्रमशः भूमिमह, नागमह, यक्षमह, रुक्खमह, गिरिमह, चन्द्रमह, सूर्यमह, नदीमह कहलाते थे। जंगल से एक बड़ा वृक्ष काट कर और उसे ध्वजा के रूप में खड़ा कर के जो उत्सव मनाया जाता था––उसे संस्कृत में इन्द्रमह कहा गया है। भरत के अनुसार नाट्य का जन्म इन्द्रमह उत्सव के साथ होने वाले नाच-रंग के रूप में हुआ। इस आर्य उत्सव और निषादों के रुक्खमह में स्पष्ट साम्य जान पड़ता है। इनमें धनुष की पूजा भी उत्सव के रूप में होती है, जिसमें बल का प्रदर्शन किया जाता है। जनक का धनुष यज्ञ धनुर्मह कहा गया और धनुर्मह का वही रूप रहा होगा, जो धनुष यज्ञ का था, अर्थात् स्पर्द्धापूर्वक धनुष चढ़ा कर बल

का प्रदर्शन करना और उसके उपहार में अधिपति की कन्या से विवाह करना। महाभारत की कथा में वारणावत में यक्षमह का उत्सव देखने के लिए ही पाण्डवों को धृतराष्ट्र ने भेजा था। भीम ने एकचक्रा नगरी में यक्षमह उत्सव के समय ही बक का संहार किया था। यक्ष पूजा किसी समय सारे देश में प्रचलित थी और ऋग्वेद से लेकर पुराणों एवं देश्य भाषा के काव्यों में यक्षों का वर्णन आता है। पीछे यक्षों को बीर भी कहने लगे। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में अभी भी बीरों के अनेक चत्वर या चौरे हैं, जिनकी पिण्डी शिवलिंग की तरह, पर उससे कुछ अधिक ऊँची और नुकीली होती है और उसमें दीप रखने के लिए छोटा आला बना रहता है। आज भी कश्मीर से तमिल और केरल तक एवं सौराष्ट्र से बंगाल तक बीर या यक्षपूजा का प्रचार है। काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में ही बीरों के चार थान हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार काशी में पहले यक्षों की पूजा होती थी; पीछे वहां शिव पूजा का प्रचार हुआ, यक्षों को बाहर जाना पड़ा। उनमें से हरिकेश या हरसू 'ब्रह्म' के स्थान पर अभी तक बहुत बड़ा मेला लगता है। दीपावली यक्षों की जन्मरात्रि मानी जाती है। दीप, नैवेद्य, पुष्प, संगीत—ये यक्षपूजा के मुख्य उपकरण थे। आर्यों ने पत्रं पुष्पं फलं तोयं की पूजाविधि यक्षपूजा से ही अपना ली। दिवाली को वार्षिक यक्षपूजा मनाई जाती है। मूल में महावीर भी यक्ष ही थे और बीर के रूप में उनकी पिण्डी का पूजन पूर्वी जिलों में अभी तक होता है। दीपावली ही महावीर का जन्म-दिन है। यक्षों के दो भेद थे—एक घोर, जिनके लिए मांस बलि आवश्यक थी, और दूसरे सोम्य जिनमें मांस का नियम न था। इन्हें 'ब्रह्म' कहते थे। मध्यप्रदेश में कहीं-कहीं पर पंचबीरों के स्थान हैं। ये भी पाँच यक्षदेव थे। मणि और अमृतघट यक्षों की विशेषता थी। भारतीय कला में यक्षों की मूर्तियाँ सबसे प्राचीन मिली हैं, जो सब विशाल आकार की हैं। यक्ष विग्रह का महाकाय होना महाभारत से भी सिद्ध होता है। मध्यकाल में यक्षों की संख्या बावन तक मानी जाने लगी और ५२ बीरों की मान्यता साहित्य का अभिप्राय ही बन गया। गुजरात-सौराष्ट्र में अभी तक ५२ बीरों के 'सिलोके' गाए जाते हैं। कुबेर यक्षों के देवता माने गए। नवनिधि और अर्थसंपत्ति उन्हीं के अधिकार में थी, इसलिए सार्थवाह कुबेर या उनके सखा माणिभद्र यक्ष को अपना भाग्य देवता मानते थे। जैन और बौद्ध साहित्यों में यक्षों का अत्यधिक वर्णन आता है।

भूमिदेवी की मान्यता भी निषाद जाति में लोकव्यापी है, जो आज तक भुइयाँ माता के रूप में गाँव-गाँव में फैली हुई है। वस्तुतः मातृदेवी के रूप में पृथिवी की मान्यता आर्यधर्म में भी स्वीकृत थी। पशु, पक्षी, नाग, मनुष्य, देवता—सबकी जनित्री आदि-माताओं का समावेश पृथिवी की पूजा में हो गया और पृथिवी जगदम्बिका या विश्वरूपा माता मानी जाने लगीं। अतएव न केवल भूमिपूजा का सब जातियों में समान प्रचार हुआ, बल्कि जितनी भी मातृदेवियाँ थीं, सब एक मूलभूत महीमाता का रूप समझी जाने लगीं। देवमाता अदिति और पृथिवी को महीमाता कहा गया है।[1]

---

१. **महीं मातरं सुव्रतानामदितिम्॥ यजुर्वेद २१-५॥**
पृथि वींमातरं महीम्॥ तैत्तिरीय ब्रा०—२।४।६८६॥

वैदिक साहित्य के अनुसार कद्रू, विनता, सर्पराज्ञी, सुपर्णी, अदिति, सरमा, सब माताएँ पृथिवी के रूप हैं।

नाग जाति में नागों की और नागिनी देवी की पूजा प्रचलित थी। अनेक स्थानों में इनके पूजा चत्वर या मंदिर अभी तक हैं। नैनीताल और प्रयाग के पास नैनी में नागिनी देवी की ही पूजा होती थी (नागिनी→नाइनी→नैनी)। बंगला साहित्य की मनसा देवी और उत्तर प्रदेश की बिसहरी देवी नागपूजा के ही रूप हैं। किसी समय मगध में राजगृह नाग पूजा का गढ़ था, जिसके अवशेष मणियार मठ के मणिनाग मन्दिर में पाए गए हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यक्ष, नाग, भुइयाँ आदि की पूजा के लिए थान या चौरे खुले आकाश के नीचे बनाए जाते थे। उनके भवन या मन्दिर पीछे बनने लगे।

आदिम निषाद जाति की पूजा में रक्त बलि आवश्यक थी। पीछे क्रमशः हिन्दूकरण प्रभाव से यह अंश छूटता गया। उदाहरण के लिए सभापर्व में आया है कि मगध में जरा नामक मांसशोणितभोजना राक्षसी की पूजा प्रचलित थी, उसी से जरासंध का वह नाम पड़ा। जब कृष्ण राजगृह में गए तो उन्होंने जरा राक्षसी का उद्धार करके उसे गृहदेवी का रूप दे दिया। वह बालकों की अधिष्ठात्री देवी बन गई और मागध जनों में उसका महोत्सव मनाया जाने लगा। लोग घर-घर में भीत पर उसका चित्र लिखने लगे, जिसमें बहुत से बालक बनाए जाते थे। इसी आदिम देवी का बौद्ध रूप हारीती हुआ, जिसका उद्धार बुद्ध ने किया। कालान्तर में पश्मिोत्तर प्रदेश की भीमा देवी हारीती के स्वरूप में लीन हो गई और समस्त गंधार प्रदेश एवं मध्य एशिया तक हारीती की मान्यता फैल गई। इस प्रकार न जाने कितनी आदिम देवियाँ, ग्रह, पिशाच, प्रमथ, गण आदि हिन्दू घरों में प्रविष्ट हो गए। षष्ठी, चर्चिका, जालपदी वैसे ही रूप हैं। एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण तमिल देश की कोट्टवी देवी का है, जो नग्नमातृ देवी थी। वही उत्तर भारत में कोटमाई के नाम से पूजी जाती है। उसका एक छोटा मन्दिर हिन्दू विश्वविद्यालय में भी है। पहाड़ में भी कोटवी देवी की पूजा होती है और उसे बाणासुर की माता कहा जाता है। धर्म के क्षेत्र में देवी-देवता और पूजा मान्यता का ताना-बाना अनंत हैं। इसके सूत्रों की पृथक् उधेड़-बुन सांस्कृतिक इतिहास का रोचक अंग है। उससे यह तथ्य सिद्ध होता है कि आर्य और निषाद जाति दो बड़े जलाशयों की अपार सलिल निधि के समान उन्मुक्त रूप से आपस में मिलती रही हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस पारस्परिक सम्मिलन की बलवती प्रक्रिया का ही दूसरा नाम हिन्दूकरण पद्धति है। हिन्दू प्रभाव स्वीकार करने के कई विशिष्ट चिह्न आदिम जातियों की प्रथाओं पर छप जाते थे। उदाहरण के लिए निषाद, मुण्डा, शबर, राक्षस इन सब में शवनिखात की प्रथा थी। कहीं भूमि में गड्ढा खोद कर और कहीं बड़े पथरीले ढोकों का घेरा बना कर शवों को उनमें रख दिया जाता था। इन्हें श्वभ्र, बिल या गर्त निखात की विधि कहते थे। विराध ने राम से कहा कि हमारी जाति की यही प्राचीन प्रथा है। हिन्दू प्रभाव में आने पर प्रत्येक भूमिज जाति निखात प्रथा को छोड़ कर शव दाह की प्रथा अपना लेती थी। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में बसे हुए लाखों कहार अपने को निषाद या गुह वंशी कहते हैं। वे गुह निषाद को अपना पूर्वज मानते हैं। उन सब

में अब दाह की प्रथा प्रचलित है। गौ की पूजा और गंगा की मान्यता एवं कथा-वार्ता, व्रत, दान आदि का प्रचलन—यह सब शनैः शनैः हिन्दू प्रभाव से उन जातियों में फैल गया। जिस प्रकार गंगा ने अनमिल और अनगढ़ ढोकों को पीस कर मध्यदेश की मिट्टी का निर्माण किया, उसी प्रकार संस्कृति की गंगा ने भी बड़े सूक्ष्म रूप में धार्मिक एकीकरण द्वारा जातियों का समन्वय स्थापित किया है। जन्म और विवाह के संस्कारों पर भी यह प्रभाव पड़ा। व्यक्तिवाचक नामों में एक ओर भूमिज परम्परा बनी रही और दूसरी ओर हिन्दू देवी-देवताओं के प्रतीक से व्यक्ति-नाम प्रचलित हुए। एक दृष्टि से गाँवों में प्रचलित अनेक नामों की छानबीन भाषा और धर्म संबंधी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है।

आर्य जाति का सामाजिक कर्मकाण्ड यज्ञ के रूप में विकसित हुआ। वैदिक युग में भी जो जातियाँ आर्यों के मण्डल से बाहर थीं, उन्हें आर्य प्रभाव में लाने की युक्ति की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कहना चाहिए कि हिन्दूकरण की यह प्रक्रिया जान-बूझ कर उसी समय से शुरू की गई। अपने-अपने समूह या कबीलों के रूप में बसे हुए ऐसे लोगों को व्रात्य कहा जाता था। इस प्रकार के व्रात्यों के अनेक ठट्ठ सिन्धु नदी के दोनों ओर भरे हुए थे। शनैः शनैः वे सब हिन्दू हो गए। फिर एक सहस्र विक्रमी के लगभग उन्होंने इस्लाम धर्म अपना लिया। उन व्रात्यों को आर्य बनाने के बहुत सीधे-सादे नियम श्रौत सूत्रों में आए हैं। उनका सारांश यही है कि किसी भी तरह का छोटा-मोटा यज्ञ या हवन कर के वे आर्य संस्कृति में आ जाते थे। उनके लिए विशेष कर्मकाण्ड या विद्वान् ऋत्विजों की भी आवश्यकता न थी। अपने समूह में जैसे धार्मिक गुरु या पाधा-पुरोहित उन्हें उपलब्ध थे, वे ही पर्याप्त समझे जाते थे। जो व्रात्य पहले आर्य विगर्हित माने जाते थे (मनु० २।३९), वे ही चार प्रकार के व्रात्य स्तोम यज्ञों द्वारा आर्य बन जाते थे ('व्यवहार्या भवन्ति' कात्यायन श्रौतसूत्र, २२।४।३०)। यज्ञ के अंत में ब्रह्मभोज होता था, जिसका अभिप्राय बिरादरी का सम्मिलित भोजन था। इसी कारण यज्ञ और ब्रह्मभोज लगभग पर्याय बन गए। प्रत्येक धार्मिक कर्मकाण्ड की समाप्ति इसी प्रकार होती थी। यज्ञ द्वारा शुद्धि की परम्परा के आधार पर ही मध्यकाल में वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से क्षत्रिय कुलों के जन्म लेने की किंवदन्ती प्रचलित हुई। वैदिक युग से ही आर्येतर जातियों या व्रात्यों का दूसरा बड़ा जमघट मगध में था। उस भूमि को उस समय कीकट-प्रमगन्द कहते थे। वही मगध नाम से विख्यात हुई। उस समय वहाँ निषाद संस्कृति का ही एकछत्र साम्राज्य था। कालान्तर में यज्ञ की वैश्वानर अग्नि राजा विदेघमाथव और उनके पुरोहित रहूगण के प्रयत्न से सदानीरा के उस पार पहले गंगा के उत्तर मिथिला में और बाद में गंगा के दक्षिण मगध में फैल गई। मगध के तो अधिकांश भाग में तथा झाड़खण्ड, गोंडवाना आदि में भी अभी तक निषाद जातियों का ही क्षेत्र है। भाषा, धर्म और जातियों के इस फैले हुए ताने-बाने का नाम ही मध्यदेशीय संस्कृति है। समन्वय, सम्प्रीति और एकीकरण इस संस्कृति का स्पंदनात्मक प्राण है, जो इसे जीवित रखता है और प्रत्येक को नवीन अभ्युदय के लिए विकसित करता रहता है। यह प्रक्रिया संघर्ष पर नहीं, मधुर व्यवहार पर आश्रित है। अशोक के शब्दों में—'समवाय एवं साधु', यही मध्यदेश का जीवन-मंत्र रहा है।

२. राजनीतिक इतिहास

इतिहास का प्रारम्भ

भारत के हिन्दी प्रदेश का प्राचीनतम राजनीतिक इतिहास प्रायः अन्धकार में है। आर्य जाति से पूर्व इस प्रदेश में किन लोगों का निवास था और उनकी सभ्यता की क्या दशा थी, यह ज्ञात नहीं है। इस विषय में भी मतभेद है कि इस प्रदेश में आर्य जाति कहीं बाहर से प्रविष्ट हुई अथवा आर्य लोग ही इस क्षेत्र के प्राचीनतम निवासी थे। ऐतिहासिकों के अनुसार मानव सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हुआ है। शुरू में जब मनुष्य पृथ्वी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपायों में बहुत कम भेद था। अन्य पशुओं के समान मनुष्य भी जंगल में रहता था और शिकार द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता था। पशुओं के मांस के अतिरिक्त जंगल में पैदा होने वाले कन्द, मूल, फल और अन्न का भी वह प्रयोग करता था। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए मनुष्य आर्थिक उत्पत्ति नहीं करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहता था। किन्तु अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का दिमाग़ बड़ा था। उसके पास बुद्धि नाम की एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य प्राणियों के पास नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि शिकार करते हुए मनुष्य केवल अपने हाथों और पैरों पर ही निर्भर नहीं रहा, अपितु अनेक प्रकार के औज़ार बना कर उनका भी उपयोग करने लगा। शुरू में ये औज़ार पत्थर, हड्डी और लकड़ी के बने होते थे। इसीलिए मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल को 'प्रस्तर युग' कहते हैं।

प्रस्तर युग—अब से लगभग छः लाख वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो कर प्रस्तर युग अब से प्रायः छः हजार साल पहले तक जारी रहा। इस सुदीर्घ काल में मनुष्य धीरे-धीरे सभ्यता के क्षेत्र में अग्रसर होता गया। धीरे-धीरे उसके औज़ार अधिक परिष्कृत होते गए। अपने निवास के लिए उसने तम्बुओं और मकानों का निर्माण किया और अपनी आजीविका के लिए केवल शिकार पर निर्भर न रह कर मनुष्य ने पशु पालन और कृषि का भी प्रारम्भ किया। संसार के अन्य देशों के समान भारत में भी प्रस्तर युग के अवशेषों में उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले में उपलब्ध अवशेष विशेष महत्त्व के हैं। वहाँ इस युग के जहाँ बहुत से औज़ार मिले हैं, वहाँ साथ ही अनेक अस्थि-पंजर भी उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे मिट्टी के बने हुए कलश भी इस क्षेत्र से मिले हैं, जिनमें मृत शरीरों के अवशेष रखे गए थे। मिर्ज़ापुर के समीप ही विंध्याचल की पर्वत शृंखला में कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के बनाए हुए चित्र अंकित हैं। प्रस्तर युग के इन अवशेषों द्वारा ऐतिहासिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अन्य देशों के समान भारत के हिन्दी प्रदेश में भी सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हुआ और यहां भी एक ऐसा युग रहा है, जब यहाँ का निवासी प्रस्तर युग का जीवन व्यतीत करता था।

सिन्धु सभ्यता—प्रस्तर युग के बाद भारत में धातु युग का प्रारम्भ हुआ। सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान और उजाड़ हैं, किसी प्राचीन युग में वे उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। खोज द्वारा इन प्रदेशों में एक उन्नत सभ्यता के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनके निवासी ताम्र के उपयोग से भली भांति परिचित थे। इस सभ्यता के लोग बस्तियां बसा कर रहते थे, मकानों का निर्माण करते थे, कृषि और पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे और ताम्र के बने सुन्दर और सुडौल औजारों का कृषि, शिल्प व युद्ध के लिए प्रयोग करते थे। इस सभ्यता के अनेक नगरों और ग्रामों के अवशेष वर्तमान समय के सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में विद्यमान हैं।

इस प्राचीनतम धातु सभ्यता के बाद सिन्ध नदी के द्वारा सिंचित क्षेत्र में एक अन्य उन्नत एवं समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधाननगरों के भग्नावशेष इस समय के हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो नामक स्थानों में उपलब्ध हुए हैं। इस सभ्यता का विस्तार उत्तर में हिमालय से शुरू हो कर दक्षिण में अरब सागर तथा काठियावाड़ तक था। पश्चिम में यह मकरान से शुरू हो कर पूर्व में रोपड़, हस्तिनापुर व उसके भी पूर्व तक विस्तृत थी। हिन्दी प्रदेश का अच्छा बड़ा भाग इस सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत था। इस सुविशाल क्षेत्र में अब तक चालीस के लगभग बस्तियों में खुदाई का कार्य हुआ है। इन बस्तियों के अवशेष खेड़ों के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस क्षेत्र में अभी अन्य भी अनेक ऐसे खेड़े विद्यमान हैं, जिनकी अब तक खुदाई नहीं हुई है। खोज द्वारा इस सभ्यता की जिन लगभग चालीस बस्तियों का अब तक परिचय मिला है, उनमें कुछ ग्राम, कुछ कस्बे और दो विशाल नगर हैं। हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो इस सभ्यता के प्रधान नगरों को सूचित करते हैं। इनकी जो खुदाई हुई है, उससे सूचित होता है कि इन नगरों की रचना एक विचित्र योजना के अनुसार की गई थी। मोहन-जो-दड़ो में जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर गई हैं या पूर्व से पश्चिम की ओर। ये सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक हैं। नगर की प्रधान सड़क तैंतीस फीट चौड़ी है। सड़कों और गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। खुदाई द्वारा गलियों और सड़कों के साथ-साथ बने हुए मकानों की जो दीवारें मिली हैं, कहीं-कहीं उनकी ऊँचाई पचीस फीट तक पहुँच गई है। खुदाई द्वारा सिंधु सभ्यता के निवासियों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली जो बहुत सी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, उन्हें देख कर इस बात में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि इस सभ्यता के निवासी अच्छा समृद्ध जीवन व्यतीत करते थे और कृषि के साथ-साथ शिल्प में भी वे अच्छी उन्नति कर चुके थे। सिंधु सभ्यता का क्षेत्र भारत के हिन्दी प्रदेश में भी विस्तृत था। पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक प्रदेश अवश्य ही उसके अन्तर्गत थे। इस सभ्यता के निवासी किस जाति के थे, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में जो बहुत सी मोहरें मिली हैं, उन पर अंकित लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। इसी कारण इस सभ्यता के निवासियों के संबंध में अभी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है और न उसके राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में ही हमारा विशेष

ज्ञान हो सका है। अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों और पश्चिमी एशिया में जिन लोगों ने मानव सभ्यता का विकास किया था, उन्होंने ही भारत में सिंधु सभ्यता का विकास किया था। इन लोगों को ऐतिहासिकों ने 'भूमध्यसागरीय या 'आइबीरियन' नाम दिया है। ये लोग रंग में कुछ भूरे व कद में छोटे होते थे। बाद में आर्य जाति ने इस 'भूमध्यसागरीय' सभ्यता को नष्ट किया और अपने विभिन्न राज्य संसार के विभिन्न क्षेत्रों में क़ायम किए।

सिंधु सभ्यता का समय लगभग ३००० ई० पू० माना जाता है। २००० ई० पू० के लगभग संसार की प्राचीन भूमध्यसागरीय सभ्यताओं पर बाह्य शत्रुओं के हमले शुरू हुए। इसी समय के लगभग पश्चिमी एशिया के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती जाति ने आक्रमण किया और वहां की प्राचीन सभ्यता का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की। ये खत्ती लोग उस आर्य जाति की एक शाखा थे, जो इस काल में अपने पुराने अभिजन को छोड़ कर भूमध्यसागरीय या आइबीरियन जातियों द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस में तत्पर थी। इसी आर्य जाति की अन्य शाखाओं ने ईराक़, ईरान आदि की प्राचीन सभ्यताओं को नष्ट किया। २००० ई० पू० के लगभग ही आर्य जाति की एक शाखा ने भारत में सिंधु सभ्यता को नष्ट किया। आर्यों ने इस सभ्यता के दुर्गों व पुरों को ध्वंस किया। आर्य लोग इस सभ्यता के निवासियों को 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। ये शब्द अब संस्कृत भाषा में डाकू और ग़ुलाम के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। आर्यों ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थों में प्रयुक्त करने लगे हों, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

पर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो सिंधु सभ्यता के निवासियों को 'अनार्य' नहीं मानते। इनके मत में ये लोग आर्य जाति के थे और इनकी मोहरों पर जो लिपि अंकित है, उसे ये प्राचीनतम आर्य लिपि मानते हैं। इन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इसे पढ़ने का प्रयत्न किया है और इसे पढ़ कर ये इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इन मोहरों पर अंकित शब्द प्राचीन आर्य राजाओं, देवताओं व वैदिक मंत्रों के सूचक हैं। यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि अभी इसके सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

आर्य जाति—सिन्धु सभ्यता के लोग चाहे भूमध्यसागरीय जाति के हों, चाहे आर्य जाति के, पर यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि भारत के हिन्दी प्रदेश में निवास करने वाले जिन प्राचीनतम लोगों के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप से विस्तृत परिचय प्राप्त है, वे आर्य जाति के थे। इसका कारण यह है कि वेदों के रूप में इस जाति का एक ऐसा प्राचीन व सुविस्तृत साहित्य हमें उपलब्ध है, जिसका विकास प्रधानतया भारत के हिन्दी प्रदेश में ही हुआ था। ऋग्वेद में सैकड़ों सूक्त ऐसे हैं, जिनके ऋषि व जिनमें उल्लिखित राज्य प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार उत्तर भारत के हिन्दी प्रदेश के साथ सम्बन्ध रखते थे। इसी कारण इस हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक युग से माना जा सकता है।

आर्यों की भाषा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली भाषा थी, जो इस समय पूर्व में भारत से शुरू कर पश्चिम में ग्रेट ब्रिटेन तक फैली हुई है। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जब कतिपय यूरोपियन विद्वानों ने भारत के सम्पर्क में आ कर संस्कृत भाषा का अध्ययन शुरू किया तो उन्हें यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओं से बहुत समता है। यह समता केवल शब्द कोष में ही नहीं, अपितु व्याकरण में भी है। संस्कृत की समता न केवल लेटिन व ग्रीक से है, अपितु अन्य अनेक यूरोपियन व पश्चिमी एशिया की भाषाओं से है। इससे विद्वानों ने यह परिणाम निकाला कि इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इंग्लिश, स्लोवानिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपीय भाषाएं, पश्चिमी एशिया की ज़ेन्द, फ़ारसी, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएं और भारत की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, उड़िया आदि भाषाएं एक ही विशाल भाषा परिवार की अंग हैं। यूरोप व एशिया की इन विविध भाषाओं में शब्द कोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नहीं हो सकती। इसका कारण यही हो सकता है कि इन विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यंत प्राचीन काल में एक स्थान पर निवास करते रहे होंगे और एक भाषा बोलते रहे होंगे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो कर विविध प्रदेशों में बस गए, तो उनकी भाषाएं पृथक् रूप से विकसित होती गईं। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मत की पुष्टि की है और यह बात सर्वमान्य सी हो गई है कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं और उनके रूप-रंग और भाषा में जो भेद इस समय दिखाई देता है, उसका कारण देश तथा जलवायु की भिन्नता और चिरकाल से एक दूसरे से पृथक् रहना ही है। इस जाति को 'आर्य' कहा जाता है और भारत के हिन्दी प्रदेश के अधिकांश निवासी भी इस विशाल आर्य जाति की ही एक शाखा हैं।

जो विशाल आर्य जाति इस समय अटलांटिक महासागर से भारत तक विस्तृत विविध प्रदेशों में बसी हुई है, उसका मूल अभिजन कौन सा था, इस विषय पर भी विद्वान् एक मत नहीं हैं। कोई मध्य एशिया को आर्यों का मूल अभिजन मानते हैं तो कोई उत्तरी ध्रुव, सप्त सैंधव देश, डैन्यूब नदी की घाटी या दक्षिणी रूस के प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान प्रतिपादित करते हैं। कतिपय विद्वान् ऐसे भी हैं, जो भारत के हिन्दी प्रदेश को, जिसे प्राचीन ग्रन्थों में मध्यदेश कहा गया है, आर्यों का मूल अभिजन स्वीकार करते हैं। इनके मत में आर्य लोग इसी प्रदेश से पहले सप्त सैंधव देश में गए और बाद में ईरान, पश्चिमी एशिया और यूरोप के विविध देशों में। इनमें से कौन सा मत स्वीकार्य है, इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं। पर यह बात निर्विवाद है कि अत्यंत प्राचीन काल में आर्य लोग भारत के हिन्दी प्रदेश में बसे हुए थे और यहीं रहते हुए उन्होंने उस साहित्य का विकास किया, जो वेदों के रूप में हमें उपलब्ध है। इसी कारण वेदों के आधार पर हिन्दी प्रदेश के प्राचीनतम राजनीतिक इतिहास के विषय में अनेक बातें जानी जा सकती हैं।

वैदिक काल

पंचजन——वेदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्राचीन मध्यदेश, वर्तमान हिन्दी प्रदेश में बसे हुए आर्य अनेक जनों (क़बीलों) में विभक्त थे। जनों का संगठन एक बड़े परिवार के समान था, जिसमें यह विचार विद्यमान था कि उसके सब व्यक्ति एक आदि पुरुष की संतान हैं और एक परिवार के अंग हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजना:' और 'पंचकृष्टय:' के उल्लेख आते हैं, जो संभवत: उस युग के आर्यों की पांच प्रमुख जातियों को सूचित करते हैं। ये पांच 'जन' अणु द्रुह्य, यदु, तुर्वषु और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंगम आदि अन्य अनेक 'जनों' का भी उल्लेख वेदों में आता है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गए, उनमें विविध जनों का विकास होता गया।

मानव वंश——भारत की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य राजा वैवस्वत मनु था। उससे पूर्व इस देश में 'अराजक' दशा थी। अराजक दशा से असंतुष्ट होने के कारण लोगों ने मनु को अपना राजा चुना और उसके आदेशों का पालन करना स्वीकार किया। इस प्रकार मनु आर्यों का पहला राजा बना। उसकी एक कन्या और आठ पुत्र थे। मनु ने अपने राज्य को अपनी संतानों में बाँट दिया। उसके सबसे बड़े पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। इसके द्वारा उस राजवंश का प्रारम्भ हुआ , जो इतिहास में ऐक्ष्वाक्व, मानव या सूर्य वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश की राजधानी अयोध्या थी और इसी में आगे चल कर दिलीप, रघु, दशरथ और राम आदि राजा हुए। मनु के एक अन्य पुत्र नेदिष्ट को पूर्व दिशा में तिरहुत का राज्य मिला। इस वंश में आगे चल कर वह राजा वैशाल हुआ, जिसने वैशाली नाम की नगरी बसाई, जो बौद्ध युग में बहुत प्रसिद्ध हो गई। मनु के एक अन्य पुत्र का नाम करुष था। उसके नाम से कारुष राज्य की स्थापना हुई, जो आज के बघेलखंड के क्षेत्र में था। मनु का एक अन्य पुत्र शर्याति था, जिसने गुजरात के क्षेत्र में अपने राज्य की स्थापना की। मनु की कन्या इला द्वारा ऐल वंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे चन्द्र वंश भी कहते हैं। इस वंश का प्रवर्तक पुरुरवा नामक वीर था, जो इला का पुत्र था। ऐल वंश की राजधानी प्रतिष्ठान थी, जिसके खंडहर प्रयाग के समीप अब तक झूँसी के पास विद्यमान हैं। पुरुरवा के वंशजों में नहुष, ययाति आदि अनेक राजा बड़े प्रतापी हुए, जिन्होंने मध्यदेश के विविध क्षेत्रों में अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की।

भारत की इस प्राचीन अनुश्रुति में सत्य का अंश कहां तक है, यह कह सकना कठिन है, पर संभवत: इस अनुश्रुति में उन प्रतापी राजाओं की स्मृति अवश्य सुरक्षित है, जिन्होंने आर्य जाति के विविध 'जनों' का नेतृत्व कर अपने-अपने राज्यों की स्थापना की थी और इस प्रकार आर्यों की शक्ति का विस्तार किया था। इनमें से कतिपय राजाओं ने पड़ोस के राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य भी बनाए थे। आर्य राजा चक्रवर्ती अथवा सार्वभौम बनने का आदर्श सदा अपने सम्मुख रखा करते थे। मानव वंश में अयोध्या को राजधानी बना कर जिन आर्य राजाओं ने शासन किया, उनमें मान्धाता नाम का राजा इसी प्रकार का प्रतापी, चक्रवर्ती सम्राट् था। उसके सम्बन्ध में पुरानी अनुश्रुति में कहा गया है कि सूर्य जहाँ से उदय होता है और जहां अस्त होता है, वह

सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता के शासन में था। इसमें सन्देह नहीं कि हिमालय से ले कर नर्मदा नदी तक सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश ने मान्धाता का शासन स्वीकार किया था। मान्धाता के वंश में ही आगे चल कर राजा रामचन्द्र हुए, जिनकी कथा रामायण में बड़े विस्तार के साथ दी गई है। राम के प्रताप के कारण अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की शक्ति का विस्तार नर्मदा के दक्षिण में भी हुआ।

भारत वंश—ऐल या चन्द्रवंश के राजा पुरुरवा ने प्रतिष्ठान को राजधानी बना कर जिस राजवंश की स्थापना की थी, उसमें आगे चल कर दुष्यंत नाम का राजा हुआ, उसने अपने लिए एक नया क्षेत्र चुना, जो गंगा-यमुना के दोआब में स्थित था। इस प्रदेश को प्राचीन समय में 'कुरु' जनपद कहा जाता था और इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। भारत की प्राचीन अनुश्रुति में राजा दुष्यंत का बड़ा महत्त्व है। महाकवि कालिदास ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' इसी दुष्यंत के कथानक को ले कर लिखा है। दुष्यंत का पुत्र भरत बड़ा प्रतापी था। उसने पश्चिम में सरस्वती नदी से लगा कर पूर्व में अयोध्या तक के सम्पूर्ण प्रदेश में अपना शासन स्थापित किया था। भरत के प्रताप के कारण प्राचीन ऐल वंश अब 'भारत वंश' कहलाने लगा। कुछ विद्वानों का मत है कि हमारे देश का भारत नाम भी इस राजा भरत के नाम पर ही पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि भरत एक चक्रवर्ती और सार्वभौम राजा था और कुछ समय के लिए इस देश के बहुत से आर्य राज्य उसकी अधीनता स्वीकार करते थे।

भरत के वंशज अजमीढ़ के समय में भारत वंश की अनेक शाखाएं हो गईं। मुख्य भारत शाखा की राजधानी 'कुरुक्षेत्र' में हस्तिनापुर ही रही। अन्य शाखाओं ने पांचाल में अपने पृथक राज्य स्थापित किए। कुरु देश के साथ पूर्व की ओर लगे पांचाल के दो भाग थे। उत्तर पांचाल की राजधानी बरेली ज़िले में अहिच्छत्र थी, और दक्षिण पांचाल की फर्रुखाबाद ज़िले में काम्पिल थी। हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और काम्पिल में भारत वंश के राजाओं ने जो राज्य स्थापित किए थे, आगे चल कर उनमें परस्पर युद्ध शुरू हो गए। हस्तिनापुर के अजमीढ़ के प्रायः दस पीढ़ी बाद कुरुदेश का राजा संवरण था। उसका समकालीन अहिच्छत्र का राजा सुदास था। संवरण और सुदास में अनेक युद्ध हुए, जिनमें संवरण की पराजय हुई। हस्तिनापुर का ध्वंस कर सुदास ने पड़ोस के अन्य अनेक राज्यों पर भी आक्रमण किए। उसकी विजयों से परेशान हो कर संवरण के नेतृत्व में बहुत से राजा उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए। सुदास के विरोधी इस गुट में कुरु, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि अनेक राजवंशों के राजा सम्मिलित हुए। ऋग्वेद के एक मंत्र (७, १८) में सुदास के साथ लड़े गए इस युद्ध की स्मृति सुरक्षित है।

महाभारत युद्ध—हस्तिनापुर के पौरव वंश में आगे चल कर शान्तनु नाम का राजा हुआ, जिसके पुत्र धृतराष्ट्र और पांडु थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो कौरव नाम से विख्यात हैं। पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पाँच पुत्र थे, जो पांडव कहलाते थे। कौरवों और पाण्डवों में मेल नहीं था। पांडवों ने चाहा कि हस्तिनापुर के राज्य में उन्हें भी अपना हिस्सा मिले, पर दुर्योधन इसके विरुद्ध था। संघर्ष के बाद अंत में यह तय हुआ कि यमुना के पच्छिम में एक प्रदेश पांडवों को प्रदान कर दिया जाय। पांडवों ने इस प्रदेश की अच्छी उन्नति की और वहां उन्होंने

इन्द्रप्रस्थ नाम से एक नगर की स्थापना की। पांडवों की इच्छा थी कि हम प्राचीन आर्य मर्यादा का अनुसरण कर दिग्विजय के लिए निकलें और अन्य राजाओं को परास्त कर 'चक्रवर्ती' पद प्राप्त करें। पर उनकी इस महत्त्वाकांक्षा का हस्तिनापुर के कौरवों ने विरोध किया और इसी कारण उस महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ जो इतिहास में महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है।

उपसंहार—हिन्दी प्रदेश में बसे हुए आर्यों ने अपने बहुत से राज्य बनाए थे, जिन्हें राष्ट्र या जनपद कहा जाता था। प्रत्येक जनपद में प्रायः एक ही जन का निवास होता था। सब जनपदों की शासन प्रणाली समान नहीं थी। कुछ में राजा वंशक्रमानुगत होता था और कुछ में उसकी नियुक्ति 'वरण' या चुनाव द्वारा होती थी। यद्यपि आर्यों के अनेक राज्य थे परन्तु उनमें ऐसे वीर और महत्त्वाकांक्षी राजाओं का अभाव नहीं था, जो पड़ोस के राजाओं को जीत कर चक्रवर्ती अथवा सार्वभौम बनने का आदर्श सदा अपने सम्मुख रखते थे। इसी कारण कभी कोई राज्य शक्तिशाली हो जाता था और कभी कोई। पर ये चक्रवर्ती आर्य राजा अन्य राजाओं का मूल से उच्छेद नहीं करते थे। अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार करा के ही ये संतुष्ट हो जाते थे। चक्रवर्ती पद पाने की अपनी इच्छा को पूर्ण कर ये राजा राजसूय, अश्वमेध आदि अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे।

वैदिक युग में मध्यदेश में जो बहुत से आर्य राजा हुए, उनके सम्बन्ध में जहां कतिपय निर्देश वैदिक साहित्य में मिलते हैं, वहां पुराणों में उनके विषय में बहुत सी ऐतिहासिक अनुश्रुति सुरक्षित है। रामायण और महाभारत सदृश ऐतिहासिक महाकाव्यों के द्वारा भी इनके सम्बन्ध में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं।

बौद्ध युग के महाजनपद

सोलह महाजनपद—वैदिक युग में भारत के हिन्दी प्रदेश में बहुत से छोटे-छोटे जनपद या राष्ट्र थे, जिनमें प्रायः संघर्ष चलता रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे जनपदों की संख्या में कमी होती गई। बौद्ध साहित्य में उनके स्थानों पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख हुआ है, जो प्रायः सभी उत्तरी भारत में स्थित थे। ये सोलह महाजनपद आठ जोड़ियों में गिनाए गए हैं और उनके नाम निम्नलिखित हैं—कुरु-पांचाल, मत्स्य-शूरसेन, कोसल-काशी, वृजि-मल्ल, मगध-अंग, चेदि-वत्स, अवन्ति-अश्मक और गांधार-कम्बोज। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जनपदों के नाम बौद्ध साहित्य में आए हैं, किंतु यह स्पष्ट है कि बौद्ध काल (सातवीं-छठी सदी ईसवी पूर्व) में उत्तरी भारत में इतने अधिक जनपद नहीं रह गए थे, जितने महाभारत के युद्ध के समय में थे। महाभारत के युद्ध में जिन विविध राज्यों के राजा सम्मिलित हुए थे, उनकी संख्या एक सौ से भी अधिक थी। बौद्ध युग में जनपदों का महाजनपदों के रूप में परिवर्तित हो जाना और उनकी संख्या में पर्याप्त कमी हो जाना इस बात को सूचित करता है कि परस्पर के संघर्ष और चक्रवर्ती पद को प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण अनेक निर्बल जनपद निरन्तर शक्तिशाली जनपदों की अधीनता में आते गए।

बौद्ध युग के सोलह महाजनपदों में से तीन अश्मक, गांधार और कम्बोज ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध वर्तमान समय के हिन्दी प्रदेश से नहीं है, किन्तु शेष तेरहों महाजनपद हिन्दी प्रदेश में ही स्थित थे। कुरु जनपद के अन्तर्गत वे प्रदेश थे, जिनमें आजकल मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर और उनके समीपवर्ती कतिपय जिले हैं। यमुना के पार का प्रदेश कुरु जांगल कहलाता था। दिल्ली, करनाल, गुड़गांव आदि के जिले कुरु जांगल में सम्मिलित थे। कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर थी। यह जनपद उस प्रदेश को सूचित करता है, जो वर्तमान समय में खड़ीबोली का क्षेत्र है। कुरु के पूर्व पांचाल जनपद था। वर्तमान समय का रोहिलखंड प्राचीन पांचाल जनपद को सूचित करता है। भाषा की दृष्टि से इसे कन्नौजी या पूर्वी ब्रज का प्रदेश समझा जा सकता है। प्राचीन काल में कुरु और पांचाल जनपदों का बहुत महत्त्व था। न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, अपितु तत्त्वचिंतन, धर्म, याज्ञिक अनुष्ठान आदि की दृष्टि से भी ये जनपद आर्यावर्त में अग्रणी माने जाते थे। उपनिषदों में जहां विदेह के राजा जनक का उल्लेख आया है, वहां हम कुरु-पांचाल के ब्राह्मणों को मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया हुआ देखते हैं।

कुरु के दक्षिण में शूरसेन जनपद था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। आजकल की आगरा कमिश्नरी इसी जनपद को सूचित करती है। वर्तमान समय में इस प्रदेश की भाषा ब्रज है। शूरसेन के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य जनपद की स्थिति थी। इसी प्रदेश में आजकल जयपुर और अलवर के जिले हैं। मत्स्य जनपद की राजधानी विराट नगरी थी, जिसको वर्तमान समय की 'बैराट' बस्ती सूचित करती है। यह बैराट जयपुर प्रदेश में है।

कोसल जनपद का वर्तमान उत्तराधिकारी अवध का क्षेत्र है। प्राचीन समय में इसकी राजधानी अयोध्या थी, किन्तु बौद्ध काल में उसका स्थान श्रावस्ती ने ले लिया था, जो गोंडा जिले में राप्ती के तट पर थी। बोली की दृष्टि से यह जनपद वर्तमान समय का अवधी का क्षेत्र है। कोसल के दक्षिण-पूर्व में काशी का जनपद था, जहां आजकल भोजपुरी भाषा बोली जाती है। इसकी राजधानी वाराणसी थी।

काशी के पूर्व मगध जनपद था, जिसकी राजधानी राजगृह थी। मगध के पूर्व अंग जनपद की स्थिति थी, जिसे चम्पा नदी मगध से अलग करती थी। अंग की राजधानी का नाम चम्पा था। वृजि और मल्ल जनपद उत्तरी बिहार में थे। बौद्ध काल में वृजि का स्वरूप एक संघ राज्य का था, जिसमें आठ गणराज्य सम्मिलित थे। मल्ल जनपद भी एक संघ के रूप में था, जिसमें दो गणराज्य थे। इन दो गणराज्यों की राजधानियां कुशीनगर और पावा थीं।

चेदि, वत्स और अवन्ति जनपद हिन्दी प्रदेश के दक्षिणी भाग में स्थित थे। वर्तमान समय का बुंदेलखंड चेदि जनपद को सूचित करता है। चेदि की राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जो शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित थी। वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसके भग्नावशेष इलाहाबाद के समीप विद्यमान हैं। अवन्ति जनपद पश्चिमी मालवा के क्षेत्र में था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

चार प्रमुख राज्य—बौद्धकाल के इन सोलह महाजनपदों में भी मगध, वत्स, अवन्ति

और कोसल प्रधान थे। मगध की राजधानी राजगृह थी। बुद्ध के समय में वहां राजा बिम्बसार राज कर रहा था, जो अत्यंत शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी राजा था। बुद्ध के समय में वत्स का राजा उदयन था और कोसल का अग्निदत्त प्रसेनजित। इनका समकालीन अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत था। ये चारों राज्य अपनी शक्ति को बढ़ाने और पड़ोस के जनपदों को जीत कर अपने अधीन कर लेने के लिए प्रयत्नशील थे। साथ ही इनमें परस्पर संघर्ष भी जारी था।

साम्राज्य युग का प्रारम्भ--इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि मध्यदेश के आर्य राज्यों में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थी। प्रत्येक प्रतापी आर्य राजा 'चक्रवर्ती' अथवा 'सार्वभौम' पद प्राप्त करना अपना ध्येय समझता था, परन्तु साथ ही ये आर्य राजा अन्य आर्य राजाओं का उच्छेद नहीं कर देते थे, वे उनसे अधीनता स्वीकार करा लेना ही अपने उत्कर्ष के लिए पर्याप्त मानते थे। किन्तु बहुत प्राचीन काल में भी मगध के राजाओं में पड़ोस के राजाओं का मूल से उन्मूलन कर अपने राज्य का विस्तार करने की प्रवृत्ति थी। महाभारत के समय मगध के राजा जरासंध ने इस दिशा में प्रयत्न किया था और उसने उत्तरी भारत के बहुत से राजाओं को बन्दी बना रक्खा था। इसी कारण कृष्ण की सहायता और प्रेरणा से पाण्डव भीमसेन ने छल द्वारा उसका वध किया था। जरासन्ध के बाद भी मगध का साम्राज्य सम्बन्धी प्रयत्न जारी रहा। बौद्ध काल में अपने साम्राज्य सम्बन्धी प्रयत्न में मगध के राजाओं को असाधारण सफलता प्राप्त हुई और उन्होंने धीरे-धीरे सम्पूर्ण उत्तरी भारत के जनपदों को परास्त कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध काल के भारतीय राजाओं में पुरानी आर्य मर्यादा बहुत कुछ नष्ट हो गई थी। केवल मगध ही नहीं, अपितु कोसल, वत्स और अवन्ति के शक्तिशाली राजा भी पड़ोस के राज्यों को जड़ से नष्ट कर अपने-अपने साम्राज्यों का निर्माण करने में प्रवृत्त हो गए थे।

कोसल के राजाओं ने काशी के जनपद को जीत कर अपने अधीन कर लिया था और वे पूर्व दिशा में और आगे बढ़ कर उत्तरी बिहार के गणराज्यों को विजय करने में तत्पर थे। वत्स और अवन्ति में संघर्ष जारी था। मगध के राजाओं का प्रयत्न जहां शक्तिशाली वृजि संघ को नष्ट करने के लिए था, वहां साथ ही कोसल, वत्स और अवन्ति के साथ भी उनका संघर्ष जारी था।

मगध का साम्राज्य--कोसल, वत्स, अवन्ति और मगध में साम्राज्य सम्बन्धी जो प्रतियोगिता चल रही थी, अन्त में उसमें मगध सफल हुआ। बुद्ध के समय में मगध का राजा बिम्बसार था। उसका पुत्र अजातशत्रु भी बुद्ध का समकालीन था। उसने कोसल के साथ निरन्तर संघर्ष कर उसे जीत लिया। कोसल के अतिरिक्त वृजि संघ की स्वतंत्र सत्ता का भी अजातशत्रु ने अन्त किया। इस प्रकार अजातशत्रु मगध के राज्य को सुविस्तृत करने में सफल हुआ। उसका उत्तराधिकारी उदायी भी बड़ा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। उसने अवन्ति के साथ अनेक युद्ध किए। पाटलिपुत्र की स्थापना भी उदायी द्वारा ही की गई। उदायी के बाद जो राजा मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, उन सब के समय में मगध की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। मगध के इन राजाओं में महापद्म नन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने मगध की शक्ति को बहुत

बढ़ाया। वत्स, अवन्ति, पांचाल आदि उत्तरी भारत के अनेक राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। उसका साम्राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में यमुना नदी तक विस्तृत था। जिसे हम वर्तमान समय में हिन्दी प्रदेश कहते हैं, वह प्रायः समस्त भूभाग महापद्म नन्द के साम्राज्य के अन्तर्गत था। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया (चौथी सदी ईसवी पूर्व) तो मगध के राजसिंहासन पर महापद्म नंद ही विराजमान था और उसकी सेना के भय से ही सिकन्दर की सेना ने पंजाब से आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था। एक ग्रीक लेखक के अनुसार मगध के इस राजा की सेना में ८०,००० घुड़सवार, २,००,००० पदाति, ८००० रथ और ६००० हाथी थे। ६०० ई० पूर्व के लगभग भारत में जो सोलह महाजनपद और उनके अन्य छोटे-छोटे जनपद थे, वे प्रायः सब तीन सदियों के काल में मगध की अधीनता में आ गए थे।

विशाल साम्राज्यों का युग

चन्द्रगुप्त मौर्य—मगध के राजाओं ने उत्तरी भारत में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जो पश्चिम में यमुना नदी तक विस्तृत था, किंतु यमुना के पश्चिम में अब भी बहुत से जनपदों की सत्ता थी, जिनमें निरन्तर संघर्ष जारी रहता था। राजनीतिक एकता के अभाव के फलस्वरूप इन जनपदों के लिए विदेशी शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकना कठिन हो गया। इसी कारण मैसि-डोन के राजा सिकन्दर ने विश्व विजय के प्रयत्न में जब भारत पर आक्रमण किया तो उत्तर-पश्चिमी भारत के ये विविध जनपद उसका मुक़ाबला कर सकने में असमर्थ रहे। इस अवसर पर तक्षशिला के अन्यतम आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य ने इस मत का प्रतिपादन किया कि हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण जो आर्यभूमि है, वह एक चक्रवर्ती राजा का क्षेत्र है और उसमें एक शक्तिशाली राजा का शासन स्थापित होना आवश्यक है। चाणक्य ने न केवल इस विचार का प्रतिपादन ही किया, अपितु इसे कार्य रूप में परिणत करने का भी प्रयत्न किया। चन्द्रगुप्त मौर्य नाम के एक महत्त्वाकांक्षी वीर युवक की सहायता से उसने पहले उत्तर-पश्चिमी भारत के जनपदों को यूनानी शासकों की अधीनता से स्वतंत्र किया और फिर उनकी सम्मिलित शक्ति द्वारा महापद्म नन्द के उत्तराधिकारियों को परास्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य को विशाल भारतीय साम्राज्य के राज्य सिंहासन पर आरूढ़ किया।

इस प्रकार भारत में उस विशाल साम्राज्य का सूत्रपात हुआ जो इतिहास में मौर्य साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस साम्राज्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। इसमें केवल वे प्रदेश ही सम्मिलित नहीं थे, जिन्हें हमने हिन्दी प्रदेश कहा है। उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा हिन्दुकुश पर्वतमाला तक विस्तृत थी। वर्तमान समय के बिलोचिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान के प्रदेश भी इसके अन्तर्गत थे।

मौर्य साम्राज्य का विस्तार—चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारियों ने अपने साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। बिन्दुसार (२९८-२७२ ई० पू०) ने दक्षिण भारत के अनेक राज्यों को जीत कर मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित किया। महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक आदि के सब

प्रदेश इस समय मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए और दक्षिण में इस साम्राज्य की सीमा चोल मण्डल के उत्तर तक विस्तृत हो गई।

बिन्दुसार के बाद अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) ने कलिंग अर्थात् उड़ीसा को विजय किया और इस प्रकार मौर्य साम्राज्य की पूर्वी सीमा पूर्वी समुद्र तक विस्तृत हो गई। इस विजय द्वारा भारत की राजनीतिक एकता पूर्णता को प्राप्त हुई और सम्पूर्ण आर्यभूमि एक शासन की अधीनता में आ गई। इस काल में मौर्य वंश का साम्राज्य संसार के अन्य समकालीन साम्राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली तथा विस्तृत था। किन्तु सम्राट् अशोक ने अपनी शक्ति का उपयोग अन्य देशों को जीतने में नहीं किया। मौर्य साम्राज्य की जो विशाल शक्ति अन्य देशों पर आक्रमण करने में लग सकती थी, उसे अशोक ने 'धर्मविजय' के लिए प्रयुक्त किया। उसने भारत के सुदूर दक्षिण में स्थित पाण्ड्य, केरल और चोल राज्यों और पश्चिमी जगत् के मैसिडोन, ग्रीस, सीरिया और मिस्र सदृश देशों को अपनी 'धर्मविजय' का क्षेत्र बनाया और इन सब देशों को धर्म द्वारा विजय करने के लिए इनमें धर्ममहामात्र नाम के राजकर्मचारी नियत किए। ये कर्मचारी अनेक लोकोपकारी कार्यों द्वारा जनता की सेवा करते थे और इस प्रकार उसके हृदय को जीतने का प्रयत्न करते थे। इन धर्ममहामात्रों के कार्य-कलाप द्वारा विदेशों में भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रसार में बहुत सहायता मिली। अशोक के संरक्षण में बहुत से भिक्षु भी इस काल में विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए गए।

मौर्य साम्राज्य का पतन—अशोक के बाद उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने भी धर्म विजय की नीति का ही अनुसरण किया। अशोक का पौत्र राजा सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने अपने धर्म के प्रचार के संबंध में बहुत उद्योग किए और देश-विदेश में जैन साधुओं को धर्म-प्रचार के लिए भेजा। सम्प्रति ने अनेक लोकोपकारी कार्य भी किए। धर्मविजय के लिए अधिक उत्साह रखने के कारण मौर्य सम्राटों ने सैन्य शक्ति की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि विशाल मौर्य साम्राज्य की राजनीतिक एकता क़ायम नहीं रह सकी। साम्राज्य के अनेक प्रदेश स्वतंत्र होने प्रारम्भ हो गए और साथ ही यवनों (ग्रीकों) ने भी फिर भारत पर आक्रण शुरू कर दिए। परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य निरन्तर क्षीण होता गया। मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। उसके सेनापति पुष्यमित्र ने १८४ ई० पू० में उसे मार कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार मौर्य वंश का अन्त हो कर शुंग वंश का प्रारम्भ हुआ।

शुंग वंश—पुष्यमित्र शुंग वंश का था और बड़ा वीर और प्रतापी राजा था। उसने मगध के क्षीण होते हुए साम्राज्य में शक्ति का संचार किया। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किए, जो दिग्विजय के पश्चात् किए जाते हैं। एक शिलालेख में उसे 'द्विरश्वमेधयाजी' कहा गया है। जिन विजयों के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था, उनमें उसने उन यवनों को भी परास्त किया था, जो उस समय भारत पर निरंतर आक्रमण कर रहे थे। पुष्यमित्र का साम्राज्य पश्चिम में सियालकोट तक और दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत था। एक प्रकार

से उसका शासन लगभग उसी प्रदेश तक सीमित था, जिसे हम वर्तमान समय का हिन्दी प्रदेश कहते हैं। कलिंग इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। वहां इस समय चेदि वंश का शासन था, जिसके राजाओं में खारवेल अत्यंत प्रसिद्ध है। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था और उसने दूर-दूर तक दिग्विजय भी की थी।

कण्व वंश—पुष्यमित्र के बाद शुंग वंश के नौ राजाओं ने राज्य किया। ७३ ई० पू० में अन्तिम शुंग राजा देवभूति को उसके प्रधान मंत्री वासुदेव ने मार कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। वासुदेव कण्व कुल का था, अतः उसके साथ कण्व वंश का प्रारम्भ हुआ। इस वंश में चार राजा हुए, जिन्होंने कुल मिला कर ४५ वर्ष (२७ ई० पू० तक) राज्य किया। इस वंश के अंतिम राजा सुशर्मा पर दक्षिण के सातवाहन राजा ने आक्रमण किया और मध्यदेश को जीत कर अपने अधीन कर लिया।

सातवाहन वंश—इस वंश का संस्थापक सिमुक नाम का वीर था। उत्तर भारत में जब मौर्य राजाओं की शक्ति क्षीण होने लगी और अनेक प्रदेश उनकी अधीनता से मुक्त हो कर स्वतंत्र होने लगे, तभी २१० ई० पू० के लगभग सिमुक ने दक्षिण में प्रतिष्ठान नगरी को राजधानी बना कर अपने स्वतंत्र राज्य की नींव डाली थी। प्रतिष्ठान नगरी गोदावरी नदी के तट पर स्थित थी। सिमुक के उत्तराधिकारियों में गौतमीपुत्र सातकर्णि बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य का विस्तार किया और काठियावाड़, महाराष्ट्र और अवन्ति के प्रदेशों पर शासन किया। उसके समय तक पश्चिमी भारत में अनेक विदेशी जातियों ने अपने राज्य स्थापित कर लिए थे। ये जातियां शक, पल्लव (पार्थियन) और यवन (ग्रीक) थीं। सातकर्णि ने इन विदेशियों के साथ अनेक युद्ध किए और उन्हें परास्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस प्रतापी राजा का समय पहली सदी ई० पू० (९९—४४ ई० पू०) में था। गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र श्रीपुनुयावि सातवाहन सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पूर्व दिशा में आक्रमण कर उसने आन्ध्र देश को जीता। इसी राजा ने उत्तर दिशा में विजय यात्रा करते हुए कण्व वंश के अंतिम राजा सुशर्मा को मार कर मध्यदेश को भी अपने अधीन कर लिया था। इस प्रकार सातवाहन राजाओं के प्रयत्न से एक बार फिर भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई और प्रायः सारा उत्तर भारत तथा दक्षिणापथ एक शासन में आ गए। सातवाहन वंश का शासन २२५ ई० पू० तक क़ायम रहा। इस वंश के बाद के राजा अधिक शक्तिशाली नहीं थे। इसी कारण अनेक विदेशी जातियों ने इस युग में भारत के विविध प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

विदेशी आक्रमण—जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिमी भारत को जीत कर अपने अधीन किया था। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य चाणक्य के प्रयत्नों के कारण भारत में उसका शासन बहुत समय तक क़ायम नहीं रह सका था। सिकन्दर के अन्यतम उत्तराधिकारी सैल्यूकस ने एक बार फिर भारत की विजय का प्रयत्न किया, किंतु चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे बुरी तरह परास्त किया। अशोक के बाद जब मौर्य शक्ति निर्बल

पड़ने लगी तो सैल्यूकस के उत्तराधिकारियों ने पुनः भारत की विजय का प्रयत्न किया। यवनों के ये आक्रमण दीर्घ समय तक जारी रहे। एक बार तो यवन लोग मथुरा और साकेत (अयोध्या) को विजय करते हुए पाटलिपुत्र तक चले आए थे। परिणाम यह हुआ कि दूसरी सदी ई० पू० में उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब के प्रदेश यवनों की अधीनता में आ गए और वहां उन्होंने अपने अनेक राज्य स्थापित कर लिए।

प्राचीन काल में मध्य एशिया में सीर नदी की घाटी में शक जाति का निवास था। इस जाति ने दक्षिण की ओर आक्रमण कर उन यवन राज्यों को जीता, जो ईरान और बैक्ट्रिया में विद्यमान थे। इन्होंने ही पूर्व की ओर आगे बढ़ कर सीस्तान के मार्ग से सिंध पर भी चढ़ाई की। सिंधु नदी के तट पर मीन नगर को राजधानी बना कर इन्होंने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार किया और मथुरा, गांधार तथा उज्जैन में शक अनेक राज्य वंश स्थापित कर शासन करने लगे। ये शक राज्य मीन नगर के शक महाराजा की अधीनता स्वीकार करते थे, यद्यपि इनकी स्थिति स्वतंत्र राजाओं के सदृश थी। इस काल में शक लोग सिंध, दक्षिणापथ और उत्तर-पश्चिमी भारत को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए।

यवनों और शकों के समान पार्थियन (पल्लव) लोगों ने भी इस युग में भारत पर आक्रमण किया और पहली सदी ईसवी पूर्व के मध्य भाग में पश्चिमी गांधार में अपना एक पृथक् राज्य क़ायम कर लिया।

इसी काल में भारत पर युइशि जाति के आक्रमण हुए। इस जाति का निवास तिब्बत के उत्तर में तकला मकान मरुस्थल के सीमांत में था। इसी के आक्रमणों के कारण शक जाति सीर की घाटी के अपने प्राचीन अभिजन को छोड़ कर दक्षिण की ओर बढ़ने के लिए विवश हुई थी। युइशि लोग शकों को सीर की घाटी से आगे धकेल कर ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु मध्य एशिया पर अपना अधिकार स्थापित कर वहां उन्होंने अनेक राज्य क़ायम किए। कुजुल कुषाण नाम के वीर युइशि राजा ने इन सब युइशि राज्यों को मिला कर एक किया और फिर हिन्दूकुश पर्वत-माला को पार कर भारत पर आक्रमण किया। कुजुल कुषाण के बाद विम और कनिष्क ने युइशि अथवा कुषाण साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। कनिष्क (७८ से १०० ई० पू० के लगभग) के समय में कुषाण साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त कर गया। भारत में कनिष्क ने पंजाब और उत्तर प्रदेश को जीत कर मगध पर भी आक्रमण किया और पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उत्तर भारत के प्रायः सब प्रदेश कनिष्क की अधीनता में थे। उत्तर पश्चिम में उसके साम्राज्य की सीमा चीन तक थी और प्रायः सम्पूर्ण मध्य एशिया उसके अधीन था। कनिष्क ने पुष्पपुर (पेशावर) की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया और भारत के विविध प्रदेशों का शासन करने के लिए अनेक क्षत्रियों की नियुक्ति की।

सम्भवतः यह पहला अवसर था जब कि भारत का हिन्दी प्रदेश एक विदेशी जाति की अधीनता में आया था। सिकन्दर और सैल्यूकस इसे जीतने में असमर्थ रहे और उनके बाद जिन यवनों, शकों व पल्लवों ने भारत पर आक्रमण किया था, वे हिन्दी प्रदेश में अपना स्थायी शासन

स्थापित नहीं कर सके थे। पर कनिष्क के विशाल साम्राज्य में भारत का मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) भी सम्मिलित था। यद्यपि कनिष्क ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर भारतीय संस्कृति को अपना लिया था, किन्तु भारतीय उसे विदेशी ही मानते थे।

विदेशी शासन का अन्त—यवन, शक, पार्थियन और कुशाण लोग भारत के अनेक प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ अवश्य हुए थे, पर इस देश की अनेक राज्य शक्तियाँ उनके साथ निरन्तर संघर्ष करती रहीं और अन्त में वे उन्हें परास्त कर एक बार फिर देश को स्वतंत्र करने में समर्थ हुईं। पुष्यमित्र शुंग के समय में उसके पौत्र वसुमित्र ने सिंध नदी के तट पर यवनों को परास्त किया था और इसी उपलक्ष्य में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। शकों को परास्त करने का प्रधान श्रेय सातवाहन राजाओं और मालव आदि गणराज्यों को है। राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि ने दक्षिणापथ, सौराष्ट्र और गुजरात के शक राज्यों का उन्मूलन कर 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। इसी समय में राजपूताना और पूर्वी पंजाब में अनेक गणराज्य फिर से स्वतंत्र हो गए थे। इनमें से अन्यतम गणराज्य मालव ने शकों की पराजय में बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया और अपने गण की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर एक नए संवत् को ५७ ई० पू० से प्रारम्भ किया, जो विक्रम संवत् के रूप में अब भी प्रचलित है।

पार्थियन लोगों का शासन केन्द्र पश्चिमी गांधार में था, अतः उसका विनाश कुशाणों के द्वारा हुआ। भारत में कुशाणों का शासन एक सदी के लगभग (प्रथम सदी ई० पू० के मध्य से दूसरी सदी ई० पू० के मध्य तक) क़ायम रहा। पर शीघ्र ही इस देश की राज्य शक्तियों ने उसके विरुद्ध भी संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। इस संघर्ष का नेतृत्व मध्यदेश द्वारा किया गया। नाग भारशिव वंश के प्रतापी राजाओं ने कुशाणों को परास्त कर दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया, जिनकी स्मृति काशी में दशाश्वमेध घाट के रूप में अब तक सुरक्षित है। सातवाहन वंश के राजा भी कुशाणों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहे। कुशाणों की शक्ति का अन्त करने में यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, शिवि, मालव आदि गणराज्यों ने भी अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इन विविध राज्य शक्तियों के मुकाबले में कुशाणों का साम्राज्य नहीं टिक सका और दूसरी सदी में उसका अन्त हो गया।

गुप्त साम्राज्य—नाग भारशिव वंश के राजाओं ने कुशाणों को परास्त कर भारतीय राज्य शक्ति के पुनरुद्धार का जो प्रयत्न प्रारम्भ किया था, वह गुप्त सम्राटों के समय में चरम सीमा को पहुँच गया। श्रीगुप्त नाम के प्रतापी राजा द्वारा स्थापित इस वंश ने चौथी सदी में बहुत उन्नति की और चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन काल में गुप्तों के साम्राज्य का विस्तार सम्पूर्ण उत्तर भारत में हो गया। दक्षिण भारत के भी अनेक राजा गुप्त सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे और कर, भेंट, उपहार आदि दे कर उन्हें संतुष्ट रखते थे। गुप्त वंश के उत्कर्ष का प्रधान श्रेय सम्राट् समुद्रगुप्त (लगभग ३३५ से ३७५ ईसवी तक) को है। उसने दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ किया था। उसकी दिग्विजय का वृत्तान्त प्रयाग के क़िले में उपलब्ध अशोक के प्राचीन प्रस्तर स्तंभ पर उत्कीर्ण है। समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति

गुप्त वंश की कीर्ति का अनुपम स्मारक है। कुशाण साम्राज्य के पतन काल में उत्तर भारत में अनेक राज्य स्थापित हो गए थे, जिनमें अनेक गण राज्य भी थे। समुद्रगुप्त ने इन सब को अपने अधीन किया। दक्षिण भारत के जो राजा समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकार करते थे, उनमें कांची (कांजीवरम) के राजा विष्णुगोप, पिष्टपुर (पीठापुरम) के राजा महेन्द्र और वेंगी के राजा हस्ति-वर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कामरूप, असम, नैपाल, कर्तृपुर (कुमायूँ और गढ़-वाल) उत्तर समतट (दक्षिण पूर्वी बंगाल) के राज्य गुप्त साम्राज्य के सीमान्तवर्ती राज्य थे और उनके राजाओं की स्थिति समुद्रगुप्त के सामन्तों के सदृश थी। कुशाणों का शासन यद्यपि उत्तर भारत में नष्ट हो गया था, किन्तु भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में इस समय भी विद्यमान था। पर कुशाण वंश के ये दैवपुत्र 'शाहिशाहानुशाहि' राजा भी समुद्रगुप्त को भेंट, उपहार आदि द्वारा संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे और उसकी राजाज्ञा को सिर झुका कर स्वीकार करते थे। यही स्थिति लंका (सिंहल) के राजवंश की थी।

समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१४ ई० तक) गुप्त साम्राज्य का अधि-पति बना। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के बाद कुछ समय के लिए उसके बड़े पुत्र रामगुप्त ने भी शासन किया था और उसकी निर्बलता से लाभ उठा कर शक और कुशाण एक बार फिर प्रबल हो गए थे। अपने भाई के सेवक (बन्धुभृत्य) के रूप में चन्द्रगुप्त ने शक-कुशाणों को परास्त किया और गुप्त वंश के गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की। बाद में वह स्वयं सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। शकों को परास्त करने के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधियां प्राप्त कीं। यह प्रतापी सम्राट् केवल शकों को परास्त करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने पश्चिमोत्तर भारत की सातों नदियां—यमुना, सतलज, व्यास, रावी, चनाव, झेलम और सिंध को पार कर वाह्लीक (बलख) देश पर भी आक्रमण किया और उसे परास्त कर वंक्षु नदी के तट पर गुप्तवंश की विजय पताका स्थापित की। चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रताप के कारण शक और कुशाण लोगों की शक्ति निर्मूल हो गई थी और प्रायः सारा भारत एक शासन सूत्र में एक बार फिर संगठित हो गया था। इस राजा के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाहियान भारत की यात्रा के लिए आया था। उसके यात्रा विवरण से इस युग के भारतीय समाज, सभ्यता तथा संस्कृति का अच्छा परिचय मिलता है। इस राजा की राजसभा में बहुत से विद्वानों और कवियों को आश्रय प्राप्त था, जिनमें धन्वन्तरि, कालिदास, अमरसिंह आदि नवरत्न प्रमुख थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कुमारगुप्त (४१४-४५५ ई०) सम्राट् बना। उसके शासन काल में गुप्त साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण रूप से क़ायम रही, किन्तु उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (४५५—४६७ ई०) के समय हूण जाति के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हो गए। हूण लोग प्रारंभ में चीन के उत्तरी प्रदेशों में निवास करते थे। इन्हीं के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए चीन सम्राट् शी हुआङ्-नी ने (२४६-२१० ई० पू०) चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया था। उत्तर की ओर से चीन के सभ्य प्रदेशों पर आक्रमण करने में असमर्थ हो कर हूण लोग पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और युइशि जाति को उनके अभिजन से निकालकर

बाहर किया। वहां से और आगे बढ़ कर हूण जाति की एक शाखा ने गुप्त साम्राज्य पर भी आक्रमण किए। स्कन्दगुप्त ने इनके साथ युद्ध करने में बहुत पराक्रम प्रदर्शित किया। यद्यपि स्कन्दगुप्त अपने जीवन काल में हूणों की बाढ़ रोक सकने में समर्थ हुआ, पर उसके उत्तराधिकारी इनका सामना नहीं कर सके। हूणों के निरन्तर आक्रमणों के कारण गुप्त साम्राज्य की जड़ हिल गई और न केवल उत्तर-पश्चिमी भारत गुप्त वंश की अधीनता से निकल गया, अपितु मध्यदेश पर भी गुप्तों का शासन अविकल रूप से क़ायम नहीं रह सका। गुप्तों की शक्ति के विच्छिन्न होने पर अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए। इन राज्यों के बहुत से प्रतापी राजाओं ने हूणों का वीरतापूर्वक सामना किया। इस सम्बन्ध में राजा यशोवर्मन् का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह मध्यदेश के ही एक प्रदेश का राजा था और उसने हूणों को परास्त कर उनके राजा मिहिरकुल को अपनी चरण-पूजा के लिए विवश किया था। इस वीर राजा का काल छठी सदी के मध्य भाग में था।

साम्राज्य विघटन के काल का प्रारंभ

छठी शताब्दी के मध्य काल से उत्तरी भारत के इतिहास में साम्राज्य विघटन की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। इस समय ऐसे सम्राट् का अभाव था, जो विरोधी तत्त्वों को दूर कर एक ही राजनीतिक छत्र में संपूर्ण देश को संगठित कर सकता। स्कन्दगुप्त के उपरान्त, जिसने भितरी के लेख के अनुसार हूणों के साथ युद्ध में धरा को कंपित कर दिया था (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता), कोई भी ऐसा शासक नहीं उत्पन्न हुआ, जो विशाल गुप्त साम्राज्य की सत्ता को चिरस्थायी बना सकता। यद्यपि कतिपय अभिलेखों में बुधगुप्त तथा भानुगुप्त आदि परवर्ती गुप्त नरेशों के पराक्रम तथा शासन प्रबंध की प्रशंसा मिलती है, तथापि उस समय की राजनीति के द्वारा जो विषम समस्याएँ उत्पन्न की गई थीं, उनको सुलझाने में ये नरेश सक्षम सिद्ध न हो सके। परिणामतः गुप्त साम्राज्य के अधःपतन के अनन्तर ५५० ई० में कई नवीन राजवंशों का आविर्भाव हुआ, जिनमें वलभी के मैत्रक, कान्यकुब्ज के मौखरि, मालवा एवं मगध के उत्तरगुप्त, बंगाल के गौड़ तथा थानेश्वर के वर्द्धन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वलभी के मैत्रक——गुप्त सम्राटों के शासन काल में सौराष्ट्र जिसमें आधुनिक गुजरात एवं काठियावाड़ सम्मिलित थे, पश्चिम का एक महत्त्वपूर्ण प्रान्त था। जूनागढ़ के अभिलेख से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त के काल में इस प्रान्त का राज्यपाल पर्णदत्त नामक एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति था। स्कन्दगुप्त के कर्मचारियों में वही इस प्रान्त की रक्षा के निमित्त सबसे कुशल व्यक्ति समझा गया——

सर्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यन्निखिलान्सुराष्ट्रान् ।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥

(जूनागढ़ का लेख)

जिस प्रकार देवता वरुण के ऊपर पश्चिमी दिशा का भार सौंप कर स्वस्थ हो गए थे, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त अपने पश्चिमी प्रान्त सौराष्ट्र की रक्षा का भार पर्णदत्त को सौंपकर आश्वस्त हो गया था—

नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवुः।
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत् ॥

(जूनागढ़ का लेख)

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के अनन्तर यह प्रान्त गुप्त साम्राज्य से पृथक् हो गया। भटार्क नामक कर्मचारी ने यहाँ मैत्रक वंश की नींव डाली, जिसकी राजधानी वलभी थी। पुष्यमित्र शुंग की भाँति इसने केवल 'सेनापति' की उपाधि धारण की। अभिलेखों में उसके उत्तराधिकारी धरसेन प्रथम को भी केवल 'सेनापति' कहा गया है। इस राजवंश की तीसरी पीढ़ी के शासक द्रोणसिंह ने 'महाराज' की उपाधि धारण की। इसके काल से सौराष्ट्र में मैत्रक वंश का शासन पूर्ण रूप से सुदृढ़ हो गया। ध्रुवसेन द्वितीय के शासनकाल में इस राजवंश की शक्ति अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। इसके काल में मालवा का भी कुछ भाग वलभी के अधीन था। नौसारी के लेख के अनुसार इसने हर्षवर्द्धन के साथ भी युद्ध किया था। कालान्तर में इस युद्ध का अंत दोनों नरेशों के बीच एक वैवाहिक संबंध के द्वारा हुआ। ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह ध्रुवसेन द्वितीय के साथ किया था। इसके अनन्तर वह सर्वदा के लिए हर्ष का मित्र हो गया। ह्वेनसांग के विवरण के अनुसार प्रयाग के दान वितरण के अवसर पर वह एक मित्र एवं सहायक के रूप में हर्ष के साथ प्रस्तुत था। उसके उत्तराधिकारियों में धरसेन चतुर्थ विशेष रूप से उल्लेनीय है। उसने गुप्त नरेशों के अनुकरण पर परमभट्टारक, परमेश्वर तथा चक्रवर्तिन् की उपाधियाँ धारण कीं। इस राजवंश का शासन सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक विद्यमान था। मैत्रकों की राजधानी वलभी की गणना तत्कालीन प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों में की जाती थी। इत्सिंग के अनुसार सातवीं शताब्दी ईसवी में इसकी ख्याति बौद्धिक जगत् में नालंदा के विश्वविद्यालय के समान थी। ह्वेनसांग लिखता है कि इस नगर में इस समय एक सौ बौद्ध मठ बने हुए थे, जिनमें रहने वाले विद्यार्थी भिक्षुओं की संख्या लगभग ६०० थी। वलभी के जिन आचार्यों की प्रतिष्ठा देश में सर्वव्यापी थी, उनमें गुणमति तथा स्थिरमति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये आचार्य विलक्षण प्रतिभा तथा विद्वत्ता के कारण अत्यधिक सम्मानित थे। कथासरित्सागर, अध्याय ३२ से विदित होता है कि यहाँ पर देश के विभिन्न भागों से अध्ययन के निमित्त विद्यार्थी एकत्र होते थे। भट्टिकाव्य के अनुसार इसके लेखक का संरक्षण मैत्रक नरेश धरसेन के द्वारा हुआ था (काव्यमिदं रचितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्, सर्ग २२)। इस राजवंश के शासकों ने पुस्तक संग्रह के निमित्त इस शिक्षा केन्द्र को अनेक दान दिए थे (सद्धर्मस्य पुस्तकोपचयार्थम्, इंडियन ऐंटिक्वैरी, खंड ७)।

कान्यकुब्ज के मौखरि—बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित नामक ग्रंथ में मौखरि वंश

को 'मुखर वंश' तथा अभिलेखों में मौखरि नरेशों को "मुखराः क्षितीशाः' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इस वंश के आदि पुरुष का नाम 'मुखर' था। गया में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम महोदय को मृत्तिका निर्मित मुहर उपलब्ध हुई, जिसमें चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में 'मोखलिनम्' शब्द उत्कीर्ण मिलता है। यह संस्कृत भाषा के 'मौखरीणाम्' शब्द का पालि रूपान्तर है। इस पुरातत्त्व साक्ष्य से स्पष्ट है कि मौखरि चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में विद्यमान थे। वामन की 'काशिकावृत्ति' एवं कैयट की महाभाष्य टीका से भी मौखरियों की पर्याप्त प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। हरहा के लेख के अनुसार मौखरि सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। इनके प्रारंभिक लेख गया ज़िले में वर्तमान कई स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका आदि स्थान आधुनिक गया ज़िला रहा होगा। प्राचीन साहित्य एवं अभिलेखों के आधार पर विभिन्न कालों में कई मौखरि शाखाओं के वर्तमान होने के प्रमाण मिलते हैं। इनमें कान्यकुब्ज शाखा के मौखरियों का इतिहास भारतीय इतिहास के पृष्ठों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कान्यकुब्ज के मौखरियों का इतिहास लगभग ५०० ई० से आरंभ होता है। इस समय से लेकर ५५० ई० तक इस राजवंश में तीन नरेशों ने क्रमशः राज्य किया—हरिवर्मा, आदित्यवर्मा एवं ईश्वरवर्मा। असीरगढ़ के लेख में इनके लिए 'महाराज' की उपाधि अंकित मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि ये सामंत शासक थे। संभवतः ये गुप्त नरेशों के सामंत थे। गुप्त साम्राज्य के अधःपतन के अनन्तर ५५० ई० के लगभग ईशानवर्मा के नेतृत्व में मौखरि स्वतंत्र हो गए। यह इस राजवंश का चतुर्थ नरेश था। असीरगढ़ के लेख में इसके लिए 'महाराजाधिराज' की उपाधि अंकित मिलती है। इससे उसकी महानता एवं स्वतंत्रता व्यक्त होती है। हरहा के तेरहवें श्लोक के अनुसार उसने आंध्र नरेश को पराजित किया, जिसकी सेना में मदस्रावी गज सम्मिलित थे (जित्वान्ध्रपतिं सहस्रगणितत्रैधाक्षरद्वारणम्)। उसने शूलिकों को परास्त किया, जिनकी अश्वारोहिणी सेना बहुत ही सशक्त थी (व्यावलगन्नियुतातिसंख्यतुरगान्भंक्त्वा रणे शूलिकान्)। उसके द्वारा बंगाल के समुद्र तट पर निवास करने वाले गौड़ भी परास्त किए गए (कृत्वा चायतिमोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रयान्)।

इसी समय इसका समकालीन उत्तरगुप्त नरेश कुमारगुप्त भी बहुत शक्तिशाली हो चुका था। उत्तरी भारतवर्ष में सार्वभौम सत्ता की स्थापना के निमित्त इसके साथ ईशानवर्मा का एक तुमुल युद्ध हुआ, जिसका उल्लेख अफ़सढ़ के अभिलेख में हुआ है। इस प्रशस्ति के अनुसार कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा की सेना को युद्धस्थल में मन्दर पर्वत के सदृश मथ डाला था।

भीमः श्रीशनवर्म क्षितिपतिशशिः सैन्यदुग्धोदसिंधुः।
लक्ष्मी संप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरी भूय येन॥

इस पराजय के उपरान्त ईशानवर्मा अपनी शक्ति के संगठन में पुनः संलग्न हुआ। हरहा के लेख में कहा गया है कि उसने पृथ्वी को एक महान् संहार से बचाया था। लगता है कि यहाँ पर हूण आक्रमण की ओर संकेत किया गया है। अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट है कि हूण उस समय भारतवर्ष में विद्यमान थे। बहुत संभव है कि उसने उनको परास्त किया हो। हरहा के लेख के अनुसार वह एक धार्मिक प्रवृत्ति का नरेश था। उसके काल के धार्मिक वातावरण को देखते हुए

ऐसा प्रतीत होता है, मानों तीनों वेद पुनः जागरूक हो उठे हों (यस्मिन्शासति च क्षितिं क्षितिपतौ जातेग भूयस्त्रयी)।

उसके उपरान्त उसका पुत्र शर्ववर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। वह इस राजवंश का पंचम नरेश माना जाता है। असीरगढ़ के लेख के अनुसार उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। यह ईशानवर्मा से अधिक शक्तिशाली था। अफसढ़ के लेख में इसे हूण विजेता कहा गया है। उत्तर पूर्व भारतवर्ष में अपनी सार्वभौम सत्ता की स्थापना के निमित्त इसने अपने समकालीन उत्तरगुप्त नरेश दामोदरगुप्त के साथ एक युद्ध किया। इसमें दामोदरगुप्त लड़ता हुआ मारा गया। इस युद्ध में विजय के फलस्वरूप मगध के ऊपर शर्ववर्मा का आधिपत्य स्थापित हो गया। उसकी राज्य सीमा अब कान्यकुब्ज से ले कर मगध तक विस्तृत हो गई। इसके अनन्तर इसका पुत्र अवन्तिवर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। वह इस राजवंश का छठा नरेश माना जाता है। उसके सम्बन्ध में सूचना का एकमात्र साधन हर्षचरित है। इस ग्रंथ के अनुसार वह अपने समकालीन राजाओं में सबसे महान् था (धरणीधराणाम् च मूर्ध्नि स्थितो)। बाणभट्ट के शब्दों में अवन्तिवर्मा के समय में मौखरियों की पूजा समस्त विश्व के द्वारा की जाती थी (माहेश्वर-पादन्यास इव सकलभुवननमस्कृतो मौखरिवंशः)। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य के अनुसार उसने म्लेच्छों से पीड़ित (म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना) वसुधा का उद्धार किया था। यहाँ पर म्लेच्छों से तात्पर्य हूणों से है। यह नरेश संभवतः उपर्युक्त ग्रंथ के रचयिता विशाखदत्त का आश्रयदाता नरेश था। इसके समय में मौखरि विद्वानों के महान् संरक्षक माने जाते थे। कादम्बरी के अनुसार मौखरि नरेश बाणभट्ट के आचार्य भर्व के संरक्षक थे (सशेखरैः मौखरिभिः कृतार्चनम्)।

इसके अनन्तर उसके ज्येष्ठपुत्र (सूनुरग्रजः) ग्रहवर्मा का राज्याभिषेक हुआ। यह इस राजवंश का सातवाँ एवं अन्तिम नरेश था। हर्षचरित के अनुसार यह सूर्य की भाँति तेजस्वी था (ग्रहवर्मा नाम ग्रहपतिरिव गांगतः)। इसका विवाह थानेश्वर नरेश प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। इस वैवाहिक संबन्ध के कारण दोनों राजवंशों की शक्ति बहुत सुदृढ़ हो गई। मौखरियों एवं वर्द्धनों के इस गुट के विरुद्ध एक प्रतिद्वन्द्वी गुट स्थापित हुआ, जिसके सदस्य उत्तरगुप्तवंशी राजकुमार देवगुप्त एवं गौड़ नरेश शशांक थे। हर्षचरित से स्पष्ट है कि जिस समय प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु का समाचार चतुर्दिक फैला, उसी समय देवगुप्त ने शशांक की सहायता से कान्यकुब्ज के ऊपर आक्रमण किया तथा ग्रह वर्मा को मार डाला। राज्यश्री चौरांगणा की भाँति लौह वेणियाँ पहनाकर कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई। इस रूप में ६०६ ई० के लगभग मौखरि वंश का दुःखद अंत हुआ।

मालवा एवं मगध का उत्तरगुप्त वंश—उत्तरगुप्त वंश का इतिहास कान्यकुब्ज के मौखरिवंश के इतिहास की भाँति लगभग ५०० ई० से प्रारम्भ होता है। ५०० ई० से ले कर ५५० ई० तक इस राजवंश के शासक गुप्त नरेशों के सामंत थे। इस काल के बीच क्रमशः तीन नरेशों ने राज्य किया—कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त तथा जीवितगुप्त प्रथम। अफसढ़ के लेख में इनके लिए नृप की उपाधि अंकित मिलती है, जो कि इनकी सामंत स्थिति को प्रभाणित करती है।

साम्राज्य के अधःपतन के अनन्तर ५५० ई० के लगभग कुमारगुप्त के नेतृत्व में यह राजवंश स्वतंत्र हो गया। यह जीवितगुप्त प्रथम का पुत्र एवं इस राजवंश का चौथा नरेश था। अफसढ़ के लेख के अनुसार उसने मौखरि नरेश ईशानवर्मा को पराजित किया था। इसका पुत्र दामोदर गुप्त इस वंश का पाचवाँ नरेश था। अफसढ़ के लेख के अनुसार यह बहुत ही दयालु था। उसने सुरूपा ब्राह्मण कन्याओं का पाणिग्रहण संस्कार संपन्न कराया एवं अपने आध्यात्मिक लाभ के निमित्त सैकड़ों ग्रामों को अग्रहार दान के स्वरूप में विद्वानों को प्रदान किया था—

गुणवद्द्विजकन्यानां नानालंकारयौवनवतीनाम्।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम्॥

(अफसढ़ का लेख)

यद्यपि दामोदरगुप्त के समय तक सार्वभौम सत्ता की स्थापना के निमित्त मौखरियों एवं उत्तरगुप्तों के बीच कई युद्ध हुए, तथापि इनमें से कोई भी राजवंश एकछत्र राज्य के निर्माण में सफलीभूत न हो सका। दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त की प्रशंसा अफसढ़ के लेख में मिलती है। यह इस राजवंश का छठा नरेश था। उसे उपर्युक्त अभिलेख में वीरों में अग्रगण्य कहा गया है—

श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीराग्रणी सुतः।
सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम्॥

(अफसढ़ का लेख)

उसने लौहित्य नदी के तट कामरूप के शासक सुस्थित्वर्मा को पराजित किया था (श्रीमत्सु-स्थित्युद्धवर्मविजयश्लाघापदांकं मुहु :—अफसढ़ का लेख)। महासेनगुप्त का शासन काल लगभग ६०० ई० में समाप्त हो गया। इस समय से ले कर आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक पाँच नरेशों ने क्रमशः राज्य किया, उदाहरणार्थ माधवगुप्त, आदित्यसेनगुप्त, देवगुप्त द्वितीय, विष्णु-गुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय। इनमें आदित्यसेन गुप्त सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसके कई लेख आधुनिक बिहार प्रान्त से मिले हैं। इससे प्रतीत होता है कि संपूर्ण बिहार के ऊपर इसका आधिपत्य था। इस राजवंश के अंतिम नरेश जीवितगुप्त द्वितीय का देववर्णार्क से एक लेख उपलब्ध हुआ है। लगता है कि आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में कन्नौज नरेश यशोवर्मा ने इसे परास्त कर उत्तरगुप्त राजवंश के शासन को समाप्त कर दिया। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि उत्तरगुप्त राजवंश का कोई भी सम्बन्ध सम्राट् गुप्तों के साथ नहीं था। यह इस बात से स्पष्ट है कि उत्तरगुप्त राजवंश के अभिलेखों में उनके पूर्वज शासकों की तालिका में सम्राट् गुप्तों के नाम नहीं आते तथा उनके लेखों की शैली सम्राट् गुप्तों के लेखों की शैली से मेल नहीं खाती।

बंगाल के गौड़—छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पहले बंगाल गुप्त साम्राज्य का अभिन्न भाग था। तत्कालीन गुप्त लेखों से स्पष्ट है कि बंगाल में गुप्त सम्राट् के प्रान्तपति शासन करते थे। इन लेखों में बंगाल के प्रान्तपतियों को गुप्त सम्राटों का 'तत्पादपरिगृहीत' कहा गया है।

इस शब्द से बंगाल के प्रान्तीय शासकों पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य व्यक्त होता है। पर छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आस-पास की लिपि में उत्कीर्ण कतिपय ऐसे लेख बंगाल में मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि इस भूभाग में एक पृथक् और स्वतंत्र शासन की स्थापना हो रही थी। इन लेखों में धर्मादित्य, गोपचंद्र तथा समाचारदेव के नाम मिलते हैं। इनमें इनके लिए 'महाराजाधिराज' की उपाधि आती है। ऐसा अनुमान है कि इनका संबन्ध गौड़ वंश से था। बंगाल के निवासियों के लिए गौड़ शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा हर्षचरित आदि ग्रन्थों में हुआ है। गुप्तों के अध:पतन के अनन्तर बंगाल में गौड़ वंश अधिक शक्तिशाली हो चला था। मौखरियों के लेख से पता चलता है कि ईशानवर्मा को भी इस समय गौड़ों से लोहा लेना पड़ा था। इनकी शक्ति का सर्वाधिक विकास शशांक नामक नरेश के काल में हुआ। इसने अपनी राजधानी आधुनिक मुर्शिदाबाद के समीप कर्णसुवर्ण नामक स्थान में प्रतिष्ठित की थी। इसमें संदेह नहीं कि शशांक अपने समय का एक शक्तिशाली नरेश था। इसकी महत्त्वाकांक्षा का अनुमान हर्षचरित की पंक्तियों से लगाया जा सकता है, जिनके अनुसार यह राज्यवर्द्धन का वध करने के उपरांत उत्तर भारत का सार्वभौम सम्राट् बनना चाहता था। उसकी यह योजना हर्षवर्द्धन की शक्ति के महान् विस्तार के कारण सफल नहीं हुई।

थानेश्वर के वर्द्धन––वर्द्धन राजवंश की भी गणना उन राजवंशों की तालिका में की जाती है जिनका उद्गम गुप्त साम्राज्य के अध:पतन के अनन्तर हुआ। हर्षचरित के अनुसार वर्द्धन वंश के आदि पुरुष का नाम पुण्यभूति था। इस राजवंश की राजधानी थानेश्वर (स्थाणीश्वर) में प्रतिष्ठित थी। हर्षचरित में इस नगर का मनोरम विवरण उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ के अनुसार यह नगर वेश्याओं को कामायतन, लासकों को संगीतशाला, शस्त्रोपजीवियों को वीरक्षेत्र, विद्यार्थियों को गुरुकुल, गायकों को गंधर्वनगर, शिल्पियों को विश्वकर्म मन्दिर, व्यापारियों को लाभभूमि तथा विदग्धों को विटगोष्ठी एवं चारणों को महोत्सव-समाज प्रतीत होता था। इस राजवंश को प्रसिद्धि में लाने का प्रथम श्रेय प्रभाकरवर्द्धन को है। हर्षचरित के अनुसार वह हूण रूप हरिण के लिए सिंह (हूणहरिणकेसरी), सिंधुराज के लिए ज्वर (सिंधुराजज्वरो), गुर्जर नरेश की निद्रा का भंगकर्ता (गुर्जर-राज प्रजागरो), गंधाराधिपति रूपी सुगंधित गज के लिए कूटहस्तिज्वर, लाटों की पटुता का अपहारक तथा मालव लता रूपी लक्ष्मी के लिए परशु के समान (मालवलतालक्ष्मीपरशु:) था। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु ६०६ ई० के लगभग हुई। इसी समय शशांक के कुचक्र के कारण उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन भी मार डाला गया। परिणामत: विषम परिस्थितियों में हर्षवर्द्धन का राज्याभिषेक हुआ।

उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन के साम्राज्यवादी शासन की स्थापना (६०६ ई०–६४७ ई०)–– हर्षवर्द्धन की गणना महान् विजेताओं एवं साम्राज्य निर्माताओं में की जाती है। बाणभट्ट के वर्णन से स्पष्ट है कि अपने राज्याभिषेक के अनन्तर ६०६ ई० में उन्होंने दिग्विजय के लिए एक विशाल सेना के साथ प्रस्थान किया। ह्वेनसांग के अनुसार इस सेना में ५ हजार हाथी, २० हजार घोड़े एवं ५० हजार पदाति सैनिक सम्मिलित थे। इस दिग्विजय का तात्कालिक उद्देश्य

शशांक से राज्यवर्द्धन की मृत्यु का बदला लेना एवं उसके समान दुष्ट राजाओं को दंड देना था। दिग्विजय के लिए प्रस्थान के पूर्व उसके सेनापति सिंहनाद ने उन्हें मंत्रणा दी कि आप केवल शशांक से ही बदला ले कर शांत न हो जायँ, अपितु इस प्रकार की व्यवस्था करें कि उसके समान सभी दुष्टकर्मा नरेशों का अंत हो जाय (किं गौडाधिपनैकेन तथा कुरु यथा नान्योऽपि कश्चिदाचरत्येवं भूयः—हर्षचरित)। हर्षवर्द्धन ने कान्यकुब्ज को शशांक के शिकंजे से मुक्त किया। तदुपरान्त ६१२ ई० तक उन्होंने पूर्वी एवं पश्चिमी भारत में कई युद्ध किए। हर्षचरित के अनुसार उन्होंने सिंधु नरेश को भी परास्त किया था (अत्रपुरुषोत्तमेन सिंधुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीया कृता)। इन युद्धों के फलस्वरूप संपूर्ण उत्तरी भारतवर्ष में उनकी धाक फैली। उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति तथा साम्राज्य सीमा बढ़ा लीं। उनकी सेना में अब ६० हज़ार हाथी तथा १ लाख घोड़े सम्मिलित थे।

उनको अपने जीवन में केवल एक बार दक्षिणी भारत में पुलकेशिन् द्वितीय के द्वारा पराजित होना पड़ा था। पर उनकी इस पराजय से उनके यश पर कोई बट्टा नहीं लगता, विश्व के प्रायः अनेक विजेताओं को कभी न कभी हार खानी पड़ी है। उन्होंने पुलकेशिन् के साथ युद्ध के अनन्तर ६३७ ई० के लगभग शशांक के संपूर्ण राज्य को जीत लिया, जिसमें मगध, उड़ीसा तथा बंगाल सम्मिलित थे। हर्षवर्द्धन के साम्राज्य में पूर्वी पंजाब से ले कर बंगाल तक का भूभाग सम्मिलित था। ह्वेनसांग ने उन्हें पंच भारत का स्वामी कहा है। इसमें निम्नलिखित पाँच मंडल सम्मिलित थे—(१) सारस्वत (पूर्वी पंजाब), (२) कान्यकुब्ज (उत्तर प्रदेश), (३) मिथिला (बिहार) (४) उत्कल (उड़ीसा) तथा (५) गौड़ (बंगाल)। यह उनका अधिकार क्षेत्र था, जिसमें वे प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे। पर उनका प्रभाव क्षेत्र इससे अधिक व्यापक था। इसमें संपूर्ण उत्तरी भारतवर्ष आता था। काश्मीर तथा नेपाल के शासक भी उनकी अधीनता स्वीकार करते थे। उनके प्रभाव क्षेत्र की ओर संकेत करते हुए अभिलेखों में उन्हें संपूर्ण उत्तरी भारत का स्वामी (सकलोत्तरापथनाथ) कहा गया है।

एक साम्राज्य निर्माता होने के अतिरिक्त हर्ष एक कुशल शासक भी थे। ह्वेनसांग ने हर्षवर्द्धन के शासन की बहुत अधिक प्रशंसा की है। उसके अनुसार वे शासन के कार्यों में इतना संलग्न रहते थे कि उन्हें भोजन तथा विश्राम भूल जाता था। उनका शासन बहुत ही उदार था। लोगों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिक दी गई थी। बेगार नहीं ली जाती थी। लोगों को कर बहुत कम देना पड़ता था। ह्वेनसांग के अनुसार प्रजा की अवस्था के ठीक ज्ञान के लिए राजा अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में दौरा करता था। केवल वर्षा ऋतु के चार महीनों को छोड़ कर बाक़ी सभी ऋतुओं में वह दौरा करता था। प्रत्येक विश्राम स्थान पर एक विश्राम गृह बना होता था। हर्षचरित में इसका उल्लेख हुआ है। ह्वेनसांग के अनुसार हर्षवर्द्धन लोकोपकारी थे। उनके समय में साम्राज्य के विभिन्न भागों में राजकीय चिकित्सालय एवं दान गृह विद्यमान थे, जहाँ निर्धन, अपंग, अनाथ एवं असहाय को निःशुल्क भोजन एवं औषधि प्राप्त होती थी।

वे राजकीय भूमि की आय के चतुर्थांश से विद्वानों को आर्थिक सहायता प्रदान किया करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार उन्होंने उड़ीसा में जयसेन नामक विद्वान को ८० ग्राम दान में दिए थे। राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार हर्ष बाणभट्ट, मयूर तथा मातंग दिवाकर के संरक्षक थे—

'अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥'

उदयसुंदरी कथा के अनुसार उन्होंने कोटि सुवर्ण मुद्राओं के द्वारा बाणभट्ट का सम्मान किया था (संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः)।

हर्ष के समय में नालंदा का विश्वविद्यालय विद्या का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र माना जाता था। यहाँ चीन तथा तिब्बत से भी विद्यार्थी अध्ययन के निमित्त आते थे। यहाँ के उत्खनन में प्राप्त एक ताम्रलेख के अनुसार इस विश्वविद्यालय के भवन गगनचुम्बी थे—

'यस्याम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः॥'

(एपिग्राफ़िआ इंडिका, २०, २८)

ह्वेनसांग के अनुसार यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या दस हज़ार थी। इस विश्वविद्यालय को लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् सुशोभित करते थे, उदाहरणार्थ धर्मपाल, चन्द्रपाल, प्रभामति तथा जिनमित्र। ग्रंथ रचना एवं अध्यापन कार्य के कारण उनकी कीर्ति सर्वव्यापिनी थी। ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष ने इस विश्वविद्यालय को महान् आर्थिक सहायता पहुँचाई थी। उनके समय में यहाँ विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा दी जाती थी। बाणभट्ट के अनुसार हर्ष स्वयं एक कुशल काव्यकार थे। उनकी काव्यशैली अवर्णनीय थी (अपि चास्य कवित्वस्य वाचः न पर्याप्तो विषयः—हर्षचरित)। उनकी कविता पीयूषवर्षिणी थी (काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमंतम्—हर्षचरित)। ह्वेनसांग ने उनकी दानशीलता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। वह लिखता है कि हर्ष अपने शासन काल के प्रत्येक पाँचवें वर्ष दान देने के निमित्त प्रयाग आया करते थे। अंतिम अवसर पर ह्वेनसांग भी वहाँ उपस्थित था। वह लिखता है कि इस समय राजाज्ञा का पालन कर देश के नाना भागों से ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ, निर्धन तथा अनाथ बहुसंख्या में दान ग्रहण के निमित्त प्रयाग में एकत्र हुए। वहाँ संगम पर हर्ष के निर्देश के अनुसार एक वर्गाकार हाता निर्मित किया गया, जो लगभग हज़ार फ़ीट लम्बा तथा हज़ार फ़ीट चौड़ा था। इसके भीतर छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनी थीं, जिनमें दान की बहुमूल्य वस्तुएँ जमा की गई थीं। वे एक महीने तक इनका दान करते रहे। जब कोष रिक्त हो गया, तभी उन्होंने दान वितरण की क्रिया समाप्त की। हर्ष ने चक्रवर्ती शासक के रूप में ६४७ ई० तक राज्य किया।

दक्षिणापथ में पुलकेशिन् द्वितीय की सार्वभौम सत्ता (६१०–६४२ ई०)—हर्षवर्द्धन

का समकालीन नरेश पुलकेशिन् द्वितीय दक्षिणी भारतवर्ष का सबसे शक्तिशाली नरेश था। वह एक चालुक्यवंशी सम्राट् था। विन्सेंट स्मिथ ने चालुक्यों को गुर्जरों की शाखा माना है। पर यह मत भ्रामक है। वस्तुतः यह क्षत्रियों का ही एक महत्त्वपूर्ण वंश था। ह्वेनसांग ने भी इन्हें क्षत्रिय बताया है। चालुक्यों का मूल निवास स्थान उत्तर भारत था। इस राजवंश की अनेक शाखाएँ थीं। इसकी सबसे प्रधान शाखा ने अपनी शक्ति का विस्तार बादामी में किया था। यही कारण है कि इस शाखा के नरेश 'बादामी के चालुक्य' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इनके लेखों में इस वंश के संस्थापक का नाम 'चल्क' अथवा 'चलुक' बताया गया है।

इस वंश के सबसे प्राचीन नरेशों में जयसिंह तथा रणराज के नाम मिलते हैं। इनका आविर्भाव छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। इन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार आधुनिक बीजापुर ज़िले में स्थित बादामी में किया था। छठीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चालुक्यों की स्थिति प्रायः गौण ही थी। पर इस शताब्दी के उत्तर चरण में, इनकी शक्ति का विशेष विस्तार हुआ। रणराज का उत्तराधिकारी पुलकेशिन् प्रथम था। तत्कालीन लेखों में उसे सम्राट् की उपाधि दी गई है। इस नरेश ने अश्वमेध एवं वाजपेय आदि अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया था। पुल-केशिन् प्रथम का उत्तराधिकारी कीर्त्तिवर्मन् था। यह नरेश एक महान् विजेता था। इसने कोंकण के मौर्यों, बनवासी के कदंबों तथा बेलारी के नलों को पराजित किया था। कीर्त्तिवर्मन् की मृत्यु के उपरान्त राजसिंहासन का उत्तराधिकारी मंगलेश हुआ। मंगलेश कीर्त्तिवर्मन् का अनुज था। इसने कलचुरियों को हराया था। इसके शासन काल के अन्तिम भाग में गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ। मंगलेश अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। पर पुलकेशिन् द्वितीय ने, जो कीर्त्तिवर्मन् का पुत्र था, उसकी इस योजना को सफल नहीं होने दिया। उसने मंगलेश का विनाश कर पैतृक सिंहासन को स्वायत्त कर लिया।

इस नरेश का राज्य-काल ६१०-६४२ ई० तक माना जाता है। अपने समय का यह एक महान् तथा प्रतापी राजा था। उसने अनेक उपाधियाँ धारण की थीं, जिनसे उसकी शक्ति का पता लगाया जा सकता है, उदाहरणार्थ वल्लभ, वल्लभराज, वल्लभेन्द्र, पृथ्वीवल्लभ, श्रीपृथ्वी-वल्लभ, महाराजाधिराज तथा भट्टारक। उसके उत्तराधिकारियों के लेखों के अनुसार उसनें हर्षवर्द्धन को परास्त कर परमेश्वर की उपाधि धारण की थी (सकलोत्तसपथाधिपतिश्रीहर्ष वर्द्धनपराजयोपलब्धपरमेश्वरापरनामधेयस्य——खांडेलगाँव का लेख)। इसमें सन्देह नहीं कि ये उपाधियाँ सार्थक थीं, जिसका पुष्टीकरण उसकी विजयों द्वारा होता है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि पुलकेशिन् द्वितीय को राजगद्दी प्राप्त करने के लिए एक उत्तराधिकार-युद्ध लड़ना पड़ा था। इस गृह कलह से लाभ उठा कर चालुक्यों के परंपरागत शत्रुओं ने बादामी पर आक्रमण किया। पर पुलकेशिन् द्वितीय के सत्साहस, धैर्य तथा पराक्रम के कारण उनके आक्रमण सफल न हो सके। इसके उपरान्त उसने विजिगीषु नीति का अवलंबन किया। उसकी विजयों का सविस्तर उल्लेख ऐहोड़े की प्रशस्ति में प्राप्त होता है। उसने कदंबों को परास्त कर उनकी राजधानी बनवासी को वैभवविहीन किया। इस विजय से भयभीत हो कर चेर प्रान्त के गंग

नरेशों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। उसने अपने शक्तिशाली जहाज़ी बेड़े की सहायता से पुरी के बंदरगाह को भी लूटा। ऐहोड़े की प्रशस्ति के अनुसार भड़ौंच का गुर्जर नरेश दद्द द्वितीय उसकी अधीनता को स्वीकार करता था। ह्वेनसांग के विवरण से पता चलता है कि इस नरेश ने दक्षिण भारत की ओर बढ़ने वाली हर्ष की सेना को सफलतापूर्वक हराया था। ऐहोड़े के लेख के अनुसार उसने हर्ष को युद्धक्षेत्र में भयभीत कर दिया था—

'अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधिपतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतोभयविगलितहर्षः येन चाकारि हर्षः॥'

दक्षिणापथ के कतिपय अन्य राजवंश भी उसके द्वारा परास्त हुए। इनमें पल्लव, पांड्य तथा केरल उल्लेखनीय हैं। इन विजयों के परिणामस्वरूप वह दक्षिणापथ का सबसे शक्तिशाली नरेश बन बैठा। अपने लेखों में वह पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र का शासक बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के मध्यवर्ती प्रदेश उसके अधीन थे।

पुलकेशिन् द्वितीय का व्यक्तित्व—इसमें संदेह नहीं कि पुलकेशिन् द्वितीय एक प्रतापी शासक था। वह न केवल चालुक्य वंश का सबसे महान् सम्राट्, अपितु भारतवर्ष के महान् सम्राटों में एक था। जिस प्रकार उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन ने अनेक लघु राज्यों को परास्त कर एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की थी, उसी प्रकार दक्षिणी भारत में पुलकेशिन् द्वितीय ने तत्कालीन राजवंशों को विजित कर 'एकाधिराज्य' के आदर्श को चरितार्थ किया था। ६४१ ई० में ह्वेनसांग भ्रमण करता हुआ पुलकेशिन् के राज्य में आया था। उसने पुलकेशिन् के राज्य का एक रोचक वर्णन किया है। उसके अनुसार इस सम्राट् को प्रजा श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। उसके साम्राज्य की परिधि लगभग ८३६ मील तथा राजधानी ५ मील लम्बी थी; भूमि उर्वरा थी; उसके राज्य के लोग सरल एवं ईमानदार तथा विद्वत्ता के प्रेमी थे; उनमें दयालुता एवं सज्जनता कूट-कूट कर भरी हुई थी; वे अपमान को मृत्यु से भी बुरा मानते थे तथा इसका बदला लेने के लिए सर्वथा तत्पर रहते थे; शरणागत की रक्षा करना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। राजकीय ऐश्वर्य तथा समृद्धि की भी उसने पर्याप्त प्रशंसा की है। मुसलमान इतिहासकार तेबारी के शब्दों में पुलकेशिन् ने अपना एक राजदूत फ़ारस के शासक ख़ुसरो द्वितीय के दरबार में भेजा था। अजन्ता की चित्रकारी से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

त्रिकोण युद्ध का क्रम (७९३ ई०–९१५ ई०)—हर्षवर्द्धन तथा पुलकेशिन् द्वितीय के उपरान्त भारत अनेक राज्यों में पुनः विभक्त हो गया। देश में सार्वभौमिक सत्ता का अभाव था। अराजकता तथा विघटन का यह क्रम लगभग आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन शक्तिशाली राजवंशों का उदय हुआ, पूर्व में पालवंश, पश्चिम में गुर्जर-प्रतिहार वंश तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट वंश। तीनों राजवंश एकछत्र राज्य की स्थापना करना चाहते थे। अतएव इनमें एक परंपरागत संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसे भारत के इतिहास में

'त्रिकोण-युद्ध' की संज्ञा दी गई है। यह युद्ध ९१५ ई० तक चलता रहा, जिसमें प्रत्येक राजवंश बारी-बारी से विजयी होता रहा।

७८३ ई० के लगभग गुर्जर-प्रतीहारों का शासक वत्सराज अधिक शक्तिशाली हो चुका था। वह अपनी राज्य-सीमा पूर्वी दिशा में बढ़ाना चाहता था। पूर्व में पालवंशी नरेश धर्मपाल राज्य कर रहा था। यह नरेश पश्चिमी दिशा में राज्य विस्तार के लिए उत्सुक था। इसके परिणाम-स्वरूप जो युद्ध छिड़ा, उसमें वत्सराज विजयी हुआ। वत्सराज की बढ़ती हुई शक्ति राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव के लिए सह्य न थी। अतएव उसने गुर्जर-प्रतीहारों पर आक्रमण किया। युद्ध में राष्ट्रकूट विजयी हुए। इसके उपरान्त उसने धर्मपाल पर भी आक्रमण किया तथा उसे पराजित कर अपनी सार्वभौमिक सत्ता स्थापित कर ली।

अपनी विजय का उपभोग राष्ट्रकूट वंश अधिक समय तक नहीं कर सका। ध्रुव की मृत्यु के उपरान्त गृह-युद्ध के कारण राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण होने लगी। उनकी गिरती हुई दशा से पालवंशी राजा धर्मपाल ने लाभ उठाया। पूर्व काल में खोई हुई शक्ति को उसने पुनः प्राप्त किया। उसने उत्तर में राष्ट्रकूटों की शक्ति तथा प्रभाव को मिटाने में सफलता प्राप्त की। उसकी बढ़ती हुई शक्ति के सामने गुर्जर-प्रतीहार भी हतप्रभ तथा नगण्य सिद्ध हुए। धर्मपाल के लेखों से विदित होता है कि उसने कन्नौज को विजित कर यहाँ सामन्तों की एक सभा बुलाई थी। सामन्तों ने उसे निर्विरोध रूप से उत्तर भारत का चक्रवर्ती नरेश स्वीकार कर लिया। उसके लेखों से ज्ञात होता है कि उसका राज्य सुदूर पश्चिम तक फैला था। डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार के मतानुसार अपनी विजयों के कारण धर्मपाल एक ऐसे विशाल राज्य का उपभोक्ता बना, जो उत्तर भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ था।

कुछ समय के लिए पाल वंश सार्वभौमिक शक्ति की स्थापना में सफल अवश्य हुआ, पर शीघ्र ही तत्कालीन राजनीति में पुनः परिवर्तन हुआ। धर्मपाल ने गुर्जर-प्रतीहारों को कुचला अवश्य था, पर इससे उनकी शक्ति का सर्वथा ह्रास नहीं हुआ था। उन्होंने नागभट नामक नरेश के नेतृत्व में एक बार पुनः अपनी शक्ति को संगठित किया। उसने सिन्धु, आन्ध्र एवं कलिंग आदि प्रदेशों पर विजय प्राप्त की तथा उत्तर भारत में अपनी सार्वभौम सत्ता की स्थापना के निमित्त धर्मपाल के ऊपर आक्रमण किया। युद्ध में पालवंशी नरेश पराजित हुआ। इस समय तक दक्षिण भारत की राजनीति में भी काफी परिवर्तन आ चुका था। गोविन्द तृतीय नामक नरेश के काल में राष्ट्रकूटों ने भी अपनी शक्ति का संगठन किया। पल्लव तथा चालुक्यों को परास्त कर दक्षिण में वह अपनी प्रभुता को पर्याप्त रूप में सुदृढ़ कर चुका था। अतएव गुर्जर-प्रतीहारों की बढ़ती हुई शक्ति को निष्फल करने के लिए उसने उत्तर भारत पर भी आक्रमण किया। युद्ध में नागभट पराजित हुआ। धर्मपाल ने भी उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार ८१३ ई० में गुर्जर-प्रतीहार तथा पालों को नतमस्तक करने के अनंतर राष्ट्रकूट वंश की सार्वभौम सत्ता भारत में स्थापित हो गई।

८१३ ई० के पश्चात् राष्ट्रकूटों में गृह-कलह प्रारम्भ हुआ। इसके कारण वाह्य शत्रुओं

को अपनी शक्ति के विस्तार के निमित्त अवसर मिला। इस समय पाल वंश का शासक देवपाल था। उसके शासन काल (८१५ ई० – ८५५ ई०) में राष्ट्रकूटों के आन्तरिक वैमनस्य के कारण पाल वंश पुनः शक्तिशाली हो उठा। तत्कालीन लेखों में उसका वर्णन एक महान् विजेता के रूप में किया गया है। उसका समकालीन गुर्जर-प्रतीहार नरेश रामभद्र अयोग्य शासक था। देवपाल की तुलना में उसकी शक्ति गौण थी। इस प्रकार उत्तर भारत में वह एकमात्र शक्तिशाली सम्राट् था। इस समय राष्ट्रकूट वंश का शासक अमोघवर्ष था। वह अपनी गृह स्थिति को ही सुधारने में व्यस्त था। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर उसने उत्तरी भारतवर्ष में राष्ट्रकूटों के प्रभाव को समाप्त कर दिया। अपने समय में उसकी गणना भारतवर्ष के सबसे प्रभावशाली सम्राट् के रूप में होने लगी।

८५५ ई० के उपरान्त पाल वंश की शक्ति पुनः निर्बल होने लगी। इस समय गुर्जर-प्रतीहार वंश शक्तिशाली हो रहा था। इस वंश का तत्कालीन शासक मिहिरभोज था। देवपाल की मृत्यु के उपरान्त उसने पालों के ऊपर आक्रमण किया, इस युद्ध में पालवंशी नरेश विग्रहपाल बुरी तरह पराजित हुआ। इसके परिणामस्वरूप उत्तर भारत में गुर्जर-प्रतीहारों की सार्वभौम शक्ति स्थापित हुई। इस समय दक्षिणी भारतवर्ष में उसका समकालीन नरेश कृष्ण द्वितीय विभिन्न युद्धों में संलग्न था, जिसके कारण उसकी स्थिति काफी डावाँडोल थी। इस अवसर का लाभ उठाकर उसने कृष्ण द्वितीय के ऊपर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में वह विजयी हुआ। राष्ट्रकूट विजय के परिणाम में मिहिरभोज के राज्य में मालवा सम्मिलित हो गया। उत्तर भारत में अनेक प्रदेशों को जीतकर उसने अपने साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार किया। उसके साम्राज्य में काश्मीर, सिंध, बिहार, बंगाल तथा जबलपुर के आस-पास के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर संपूर्ण उत्तर भारत सम्मिलित था। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी उसने कन्नौज में प्रतिष्ठित की थी।

मिहिरभोज के उपरान्त गुर्जर-प्रतीहार वंश का शासक महेन्द्रपाल हुआ। उसने ८८५ ई० से लेकर ९१० ई० तक राज्य किया। इसके शासन में तीनों राजवंशों का पारस्परिक युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ। इसमें गुर्जर-प्रतीहारों की विजय हुई। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इस वंश के राज्य में उत्तर भारत का एक विशाल भूभाग तथा दक्षिण के अधिकांश प्रदेश सम्मिलित थे। इस समय पाल तथा राष्ट्रकूट वंश की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई तथा परम्परागत त्रिकोण युद्ध का भी अंत हुआ।

गुर्जर-प्रतीहार वंश का अधःपतन—महेन्द्रपाल (८९३ ई० – ९०७ ई०) के उपरान्त इस वंश की सार्वभौमिक शक्ति अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके उत्तराधिकारी सिंहासन के लिए परस्पर कलह करने लगे। कुछ समय तक उसका पुत्र भोज द्वितीय शासन करता रहा। पर चंदेलों की सहायता से उसके दूसरे पुत्र महीपाल ने उसे राज्यच्युत कर दिया। यद्यपि बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप तथा गृह-कलह के कारण पराजित राज्यों को पुनः शक्तिशाली होने के लिए अवसर मिला, तथापि अपने शासन-काल के पूर्व चरण में

महीपाल ने अपने वंश गौरव को संतोषजनक रूप में निभाया। उसके समकालीन कवि राजशेखर ने उसे आर्यावर्त का राजाधिराज कहा है। तत्कालीन मुसलमान यात्री अलमसूदी ने उसकी सेना और शक्ति की प्रशंसा की है। महीपाल के शासनकाल के उत्तर भाग में राष्ट्रकूट और पाल वंश पुनः शक्तिशाली होने लगे। उनकी बढ़ती हुई शक्ति इस वंश की उन्नति के लिए घातक सिद्ध हुई। महीपाल (९४४ ई०) के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों के काल में प्रतीहार वंश उत्तरोत्तर निर्बल होता गया। ९६० ई० के लगभग यह वंश उत्तरी भारत में नितान्त गौण हो गया तथा इसके स्थान पर नवीन राजवंशों का अभ्युदय हुआ।

चन्देल वंश––इस वंश के मूल के संबन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। अनुश्रुति के अनुसार चंदेल चंद्रवंशी थे। स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें भारत का आदि निवासी माना है। इनकी शक्ति का विकास नवीं शताब्दी के आस-पास हुआ। प्रारम्भ में ये प्रतीहार नरेशों के सामन्त थे। इनकी शक्ति का केन्द्र बुन्देलखंड में स्थित जैजाकभुक्ति नामक स्थान था। अभ्युदय के काल में इन्होंने खर्जूरवाहक को अपनी राजधानी बनाई। खर्जूरवाहक छतरपुर राज्य में स्थित खजुराहो का प्राचीन नाम था।

चन्देल वंश की शक्ति का प्रथम विकास हर्षदेव के काल (९००–९२५ ई०) में हुआ। हर्षदेव प्रतीहारों का सामन्त रह चुका था। इसने प्रतीहार नरेश महीपाल को सिंहासन प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई थी। महीपाल की मृत्यु के उपरान्त प्रतीहारों की शक्ति काफी क्षीण हो चुकी थी। अतएव हर्षदेव के उत्तराधिकारी यशोवर्मन् के काल में (९२५–९५० ई०) चंदेल स्वतंत्र हो गए। यशोवर्मन् एक सफल विजेता था। खजुराहो के एक अभिलेख के अनुसार उसके यश रूपी प्रसून का सौरभ विभिन्न दिशाओं में व्याप्त था। श्री एवं सरस्वती तथा राजनीति एवं पराक्रम उसमें समान रूप में वर्तमान थे, "यस्य सुविकासियशःप्रसूनगन्धाधिवाससुरभीणि दिगन्तरारिम्। यत्र श्रीश्च सरस्वती च सहिते नीतिक्रमो विक्रमः····)। यशोवर्मन् का उत्तराधिकारी धंग था। इसके शासन काल में (९५०–१००२ ई०) चंदेल वंश का द्रुततर अभ्युदय हुआ। एक चंदेल लेख में कहा गया है कि धंग ने कन्नौज के नरेश को नतमस्तक कर शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की (कान्यकुब्जं नरेन्द्रं समरभुवि विजित्य प्राप साम्राज्य उच्चैः)। उसने बंगाल के पालों को भी परास्त किया था। अभिलेखों से विदित होता है कि आन्ध्र, कुंतल तथा कांची के नरेश भी उसकी शक्ति का लोहा मानते थे। यह एक प्रतापी और देशभक्त राजा था। महमूद गजनी के आक्रमण की बाढ़ को रोकने के लिए जिस हिन्दू संघ का निर्माण किया गया, उसे इसने शक्ति और धन आदि से पर्याप्त सहायता पहुँचाई थी। धंग के उत्तराधिकारी का नाम गण्ड था। इसी के शासन काल में कन्नौज के राजा राज्यपाल ने महमूद ग़ज़नी की अधीनता स्वीकार की थी। गण्ड के निर्देश में उसके सेनापति ने राज्यपाल को परास्त कर उसका वध किया। पर जिस समय महमूद ग़ज़नी ने इसका प्रतिशोध लेने के लिए चंदेल राज्य पर आक्रमण किया, उस समय विवश होकर गण्ड को उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस वंश की शक्ति का क्रम गण्ड के उपरान्त भी चलता रहा। पर जैसे-जैसे भारत में मुसलमानी शक्ति जमती गई, चन्देलों का

पूर्वकालीन गौरव भी लुप्त होता गया। मुहम्मद गोरी के सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक के काल (१३०२ ई०) में चंदेल राज्य मुसलमानों के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

कलचुरि वंश—कलचुरि वंश हैहय नामक क्षत्रियों की एक विशेष शाखा का नाम है। हैहय जाति का उल्लेख रामायण तथा महाभारत में हुआ है। इनकी शक्ति का मल केन्द्र नर्मदा की घाटी थी। कलचुरि वंश का पहला शक्तिशाली नरेश कोकल्ल प्रथम था। इसका आविर्भाव दसवीं शताब्दी के पूर्व चरण में हुआ था। इसने समकालीन चन्देल आदि राजवंशों के साथ वैवाहिक संबन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति का विकास किया। संभवतः इसने कुछ प्रदेशों को भी जीता था। कारण यह है कि इसे अभिलेखों में संपूर्ण पृथ्वी को जीतने वाला कहा गया है। इसके द्वारा विजित प्रदेशों के संबंध में स्पष्ट प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। इसने अपनी राजधानी त्रिपुरी में प्रतिष्ठित की थी। त्रिपुरी का तादात्म्य जबलपुर में स्थित तेवार से किया जाता है। इसके उत्तराधिकारियों के काल की घटनाओं के विषय में भी विशेष सूचनाएँ नहीं प्राप्त होतीं। इस वंश का दूसरा प्रतापी नरेश गांगेयदेव था। इसने अपने शासन काल में (१०१९–१०४१ ई०) उत्तर भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को जीता था, जिनमें प्रयाग और वाराणसी भी उल्लेखनीय हैं। इसकी सामरिक प्रतिष्ठा का समर्थन महोबा के एक अभिलेख से होता है, जिसमें इसे 'जित-विश्व' की संज्ञा दी गई है (जितविश्वः · · · गांगेयदेवः)। गांगेयदेव के उपरान्त इस वंश का शासक लक्ष्मीकर्ण हुआ। इसे कर्ण भी कहते हैं।

इसका शासन दीर्घकालीन (१०४१–१०७२ ई०) था। इसने उत्तर भारत के अनेक समकालीन राजाओं को परास्त किया था। वाराणसी इसके राज्य का एक विशिष्ट नगर था। यहाँ इसने अपने धार्मिक लाभ के निमित्त कर्णमेरु नामक शिव-मंदिर का निर्माण कराया था। पश्चिमोत्तर में इसने काँगड़ा तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। कन्नौज के तत्कालीन प्रतीहार नरेश को इसने नतमस्तक किया था। इसका समकालीन चंदेल नरेश भी इसके द्वारा पराजित हुआ था। इसी प्रकार परमार नरेश भोज को भी इसकी सेना ने परास्त किया। इन विजयों के परिणामस्वरूप उसने उत्तर भारत में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। दक्षिण भारत में उसकी सेना ने चोल, कलिंग तथा पांड्य नरेशों को भी हराया था। पर अपने शासन के अन्तिम काल में इसे चालुक्यों और चंदेलों द्वारा पराजित होना पड़ा। लक्ष्मीकर्ण के उत्तराधिकारियों के काल में इस वंश का गौरव क्षीण होता गया। इस समय परमार और गहड़वाड़ राजवंश अधिक शक्तिशाली हो रहे थे। इन्होंने अवसर पाकर कलचुरियों पर आक्रमण किया तथा उनके अधिगत क्षेत्रों को जीतकर उनकी सत्ता को नगण्य कर दिया।

परमार वंश—पृथ्वीराजरासो में वर्णित 'अग्निकुलकथा' के आधार पर परमार वंश के नरेश अग्निवंशी प्रतीत होते हैं। इसको प्रमाण मानकर कुछ लोगों ने परमारों को विदेशी सिद्ध करने की चेष्टा की है। पर अभिलेख साक्ष्य के अनुसार इनका मूल निवास स्थान दक्षिण भारत था। अहमदाबाद जिले के हरसोला नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में इनका संबन्ध दक्षिण के प्रसिद्ध राष्ट्रकूट वंश के साथ स्थापित किया गया है। इनके शासन का केन्द्रभूत क्षेत्र मालवा

था। यहाँ पर वे सामन्त के रूप में शासन करते थे। राष्ट्रकूट और प्रतीहार वंशों के अध:पतन के समय इन्होंने मालवा में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। इस राजवंश का प्रथम प्रभावशाली राजा सीयक हर्ष था। इसे अपनी शक्ति के विस्तार के लिए राष्ट्रकूटों और हूणों के साथ युद्ध करना पड़ा था। इन युद्धों में उसे सफलता मिली। सीयक हर्ष के उपरान्त (९७२ ई०) इस वंश का शासक वाक्पति मुञ्ज था। वह अपने काल का एक शक्ति संपन्न तथा संस्कृति का अनुरागी नरेश था। उसने कलचुरि तथा चालुक्य वंश के नरेशों को युद्ध में परास्त किया था। उसके जीवन का अन्त भी युद्ध क्षेत्र में ही हुआ। कहा जाता है कि अपने समकालीन चालुक्य नरेश को छ: बार परास्त कर जब वह सातवीं बार उससे युद्ध कर रहा था, उस समय युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। योद्धा होने के अतिरिक्त वह साहित्य का भी महान् संरक्षक था। पद्मगुप्त, धनंजय, धनिक तथा हलायुध आदि अनेक साहित्यकार उसकी राजसभा के रत्न थे। वाक्पति मुञ्ज के उत्तराधिकारी के संबन्ध में विवाद है। मेरुतुंग की 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के अनुसार मुञ्ज का उत्तराधिकारी भोज था। पर यह मत मान्य नहीं है। अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि मुञ्ज के बाद परमार वंश का शासक सिन्धुराज हुआ। इसने अपने वंश की लक्ष्मी और शक्ति को अपनी विजयों द्वारा सुरक्षित किया। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांकचरित' से विदित होता है कि इसने अपने समकालीन हूणराज, कलचुरि नरेश तथा चालुक्य शासक को परास्त किया था। सिन्धुराज के उपरान्त इस वंश का शासक भोज (१०१०–१०५५ ई०) हुआ। अपने वंश का यह सबसे प्रभावशाली, प्रतिभासंपन्न तथा कीर्तिमान राजा था। एक प्रशस्ति के अनुसार यह नरेश पृथु के समान था। इसने कैलास से मलयाचल तक विस्तृत पृथ्वी का उपभोग किया था।

"आ कैलासान्मलयगिरितो . . . मुक्ता पृथ्वी पृथुनरपतेस्तुल्यरूपेण येन" इस कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है। पर वह निस्सन्देह एक विजेता नरेश था। अपने काल के उत्तर तथा दक्षिण के अनेक राजाओं को उसने पराजित किया था। भोज नरेश संस्कृति का महान् संरक्षक था। उसके नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। ये ग्रन्थ उसके द्वारा संरक्षित लेखकों के द्वारा रचित हो सकते हैं। पर उसके साहित्य प्रेम पर सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता। अभिलेखों में समुद्रगुप्त के समान उसे कविराज की उपाधि दी गई है—"कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते।" एक अभिलेख में उसे असाधारण साधक, सत्कर्मों का विधायक, दानी और ज्ञाता बताया गया है ("साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित्")। भोज के उपरान्त परमार वंश की शक्ति शिथिल होने लगी। अभिलेखों के अनुसार उसके दिवंगत होने पर उसकी राजधानी (धारा नगरी) शत्रु-तिमिर से व्याप्त होने लगी ('गतवति सदनं स्वर्गिणां भर्गभक्ते व्याप्ता धारेव रिपुतिमिर-भरैः)। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने पतन को यथाशक्ति रोकने की चेष्टा की। पर बाद के नरेश अयोग्य और निर्बल सिद्ध हुए। उनके काल में इस राजवंश के अध:पतन की क्रिया बढ़ती ही गई। तेरहवीं शताब्दी के अंत तक मुसलमानों के द्वारा इस राजवंश की सत्ता पूर्ण रूप से समाप्त कर दी गई।

महमूद ग़ज़नी—परमारों, कलचुरियों एवं परमारों के राजत्व काल में महमूद ग़ज़नी ने

१००० ई० से लेकर १०२४ ई० तक उत्तरी भारत के ऊपर कई बार आक्रमण किया। उसकी गणना विश्व के महान् विजेताओं में की जाती है। यह अपने प्रायः सभी भारतीय युद्धों में सफल हुआ। उसके भारतीय आक्रमण का इतिहास रक्तपात, लूट तथा संहार का इतिहास है। उसने नगरों एवं मन्दिरों का विनाश कर अतुल धनराशि का अपहरण किया। उसके भारतीय आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण यह है कि उसके युद्धों का लक्ष्य इस देश में साम्राज्य स्थापना नहीं थी। वह भारतीय धन का हरण कर उसे स्वदेश ले जाना चाहता था। इस कार्य में उसे पर्याप्त सफलता मिली। भारतवर्ष में मुसलमान साम्राज्य की स्थापना का कार्य वास्तव में मुहम्मद गोरी के द्वारा सम्पन्न किया गया।

मुहम्मद गोरी––मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय (१२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में) भारतवर्ष में राजनीतिक एकता नहीं थी। भारतवर्ष अनेक राज्यों में विभक्त था, जिनमें पारस्परिक संघर्ष अधिक था। इनमें बाहरी शत्रु के विरुद्ध संगठनबद्ध होने की भावना का सर्वथा अभाव था। चंदेलों का राज्य इस समय भी बघेलखंड के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में विद्यमान था। दिल्ली एवं अजमेर के आस-पास चौहानों का राज्य था। इस समय के अन्य राजवंशों में कन्नौज के राठौर, बिहार एवं बंगाल के पाल और सेन तथा गुजरात के सोलंकी उल्लेखनीय हैं। चौहानों की शक्ति पृथ्वीराज के नेतृत्व में पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। समीपवर्ती शासक उसका लोहा मानते थे। वह अपनी सामरिक प्रवृत्ति के लिए तत्कालीन भारत में प्रख्यात था। चंदेलों को भी उसके समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। कन्नौज में राठौर वंश की गद्दी पर जयचंद शासन कर रहा था। चौहानों तथा राठौरों में काफी वैमनस्य था। बंगाल में सेनवंशी नरेश लक्ष्मणसेन राज्य कर रहा था। पश्चिम में गुजरात के सोलंकियों का प्रभाव सबसे अधिक था।

मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना की परिस्थितियाँ––इन हिन्दू राज्यों के विरुद्ध मुहम्मद गोरी की सफलता का सबसे प्रधान कारण इनका पारस्परिक विद्वेष तथा कलह था। विजिगीषु नीति के अवलम्बन के कारण राजपूत शासक परस्पर युद्धों में संलग्न रहा करते थे। राजपूतकालीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि राजा के जीवन का प्रधान कार्य युद्ध था। नवीं शताब्दी के लेखक मेधातिथि ने लिखा है कि विजिगीषु सम्राट का कार्य युद्ध द्वारा एकाधिपत्य की स्थापना करना है। बारहवीं शताब्दी के महाकाव्य नैषधीयचरित में सम्राट् को प्रजा पालन के कर्तव्य से संबन्धित नहीं किया गया है। तत्कालीन सम्राट् जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं था। इस समय राजत्व के आदर्श भी बदल गए। व्यक्तिगत शौर्य प्रदर्शन तथा महत्त्वाकांक्षा को राजा के कर्तव्यों से संबन्धित किया गया। 'पृथ्वीराजविजय' नामक ग्रंथ में 'राजराजत्व' को चरम आदर्श माना गया है। सम्राट् प्रजा पालन की भावना से विमुख हो गए थे। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रंथ से विदित होता है कि इस काल के नरेशों में विलासिता बढ़ गई थी। इससे इनका शासन ढीला पड़ गया। राजपूतों के अंतःपुर में षड्यंत्र और कलह खूब चला करता था। ११७६ ई० में जब मुहम्मद गोरी ने उच्च पर आक्रमण किया, उस समय 'तारीख-ए-फ़िरिश्ता' के अनुसार वहाँ की रानी उससे मिल गई। विभिन्न कुलों के होने के कारण राजपूत शासक अपने कुल हित के

संरक्षण तथा इसके निमित्त दूसरे के कुल हित के विनाश के लिए कटिबद्ध रहते थे। राष्ट्र रक्षा के निमित्त एकबद्ध हो जाने की इनमें भावना नहीं थी। बहुविवाह, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रवों के प्रचुर उपयोग के कारण इनका नैतिक स्तर गिर गया था, फलस्वरूप इनकी आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई थी। वर्ण व्यवस्था के नियमों के अनुसार युद्ध क्षत्रिय का कार्य माना गया। इससे मुसलमानों के विरुद्ध युद्धों में क्षत्रियेतर जातियों का कोई सहयोग उपलब्ध नहीं हो पाता था। राजपूतों की युद्ध-शैली परम्परागत थी। इसके विपरीत मुसलमानों का परिचय विभिन्न बाहरी देशों की रण पद्धतियों के साथ था। व्यक्तिगत शौर्य प्रदर्शन में विश्वास रखने के कारण राजपूत सामूहिक ढंग से शत्रु का सामना करने में असफल सिद्ध हुए। मुसलमानों की सामूहिक एकरूपता, धार्मिक प्रेरणा एवं दूरदर्शिता तथा कूटनीति ने उनकी सफलता में महान् योग दिया।

३. धार्मिक स्थिति

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति सर्वदा धर्म-प्रधान रही है। पुरुषार्थ के विभिन्न अवयवों––धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में धर्म का स्थान इस देश में प्रमुख माना गया है। भारतीय जीवन के बहुमुखी अंगों को जिन उपादानों के द्वारा प्रेरणा और संबल समुपलब्ध हुआ है तथा भारतीय संस्कृति जिनसे सर्वदा सप्राण रही है, उनमें धार्मिक तत्त्व निश्चय ही प्रमुख रहे हैं। भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने निरन्तर इस देश के निवासियों के जीवन को प्रभावित किया है तथा इनका सूत्रपात अति प्राचीन काल से ही दृष्टिगोचर होने लगता है। भारतीय धर्म का लिखित और अधिक प्रामाणिक साक्ष्य वैदिक काल से प्राप्त होता है। पर वास्तविकता तो यह है कि वैदिक काल से भी पहले भारतीय सभ्यता और संस्कृति सजीव थी। पुरातत्त्व-वेत्ता सिन्धु-घाटी की जिस सभ्यता को प्रकाश में लाए हैं, वह न केवल वैदिक सभ्यता से पुरानी है, अपितु उसके तत्त्व इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका अध्ययन किए बिना भारतीय संस्कृति का परिज्ञान पूर्ण नहीं माना जा सकता।

सिन्धु घाटी की सभ्यता का धर्म

सिन्धु घाटी के निवासियों ने जिस सभ्यता का निर्माण किया था वह पर्याप्त रूप में विकसित थी। हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो में जो भग्नावशेष मिलते हैं, उनसे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दशा का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है, पर साथ ही वहाँ के निवासियों के धार्मिक विश्वास और परम्पराओं पर भी इनके द्वारा प्रकाश पड़ता है। सैन्धव सभ्यता में धर्म का अभिन्न स्थान था। धर्म के द्योतक अनेक उपकरण यहाँ प्राप्त हुए हैं, जिनसे इसके धर्म का स्वरूप अभिव्यञ्जित होता है। इनमें निम्नांकित का उल्लेख विशेष रूप में किया जा सकता है–

मातृ-शक्ति की उपासना––सैंधव सभ्यता के युग में मातृ-शक्ति की उपासना प्रचलित थी। प्राचीन अवशेषों में अनेक नारी-मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों की बनावट तथा गठन से इनका दैवी तत्त्व प्रकट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मातृ-शक्ति की आराधना के लिए धूप आदि पदार्थों की आहुति भी दी जाती थी। इसका समर्थन उन पदार्थों से होता है जो इन मूर्तियों के साथ ही मिलते हैं। इनमें धुएँ के चिन्ह अब भी वर्त्तमान हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि समकालीन विश्व के अन्य देशों में भी मातृ-उपासना का प्रचलन था। इससे केवल विभिन्न संस्कृतियों की मूलभूत समता ही स्पष्ट होती है। हम सहसा यह नहीं कह सकते कि एक सभ्यता

दूसरी से प्रभावित है अथवा एक का दूसरे पर कोई ऋण है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति में तो मातृ-शक्ति की उपासना सभी युगों में प्रबल रही है। यहाँ तक कि वैदिक संस्कृति में भी, जिसकी सैन्धव सभ्यता से पृथकता सिद्ध की जा चुकी है, रुद्राणी एवं इन्द्राणी जैसी देव स्त्रियों के तथा पृथिवी एवं अदिति नामक देवियों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

पशुपति—पुरातत्त्व शोधों से नारी मूर्तियों के अतिरिक्त दैवी तत्त्व का अभिव्यञ्जन करने वाली पुरुष मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनमें एक ऐसी मर्ति है जिसके आकार-प्रकार से विभिन्न भावों को प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है। इस मूर्ति के तीन मुख हैं। इसके चारों ओर पशुओं का आकार प्रदर्शित किया गया है। इसे पद्मासन में उपविष्ट किया गया है। इस मूर्ति का तादात्म्य कालान्तर के हिन्दू देवता शिव से स्थापित किया जा सकता है, जिनमें त्रिमूर्ति, पशुपति तथा पद्मासन में उपविष्ट योगीश्वर की परिकल्पना की जाती थी। शिव से समता रखने वाली कतिपय आकृतियाँ मुहरों पर भी चित्रित की गई हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण आकृति वह है जिसमें पुरुष देवता को नग्न अवस्था में दिखाया गया है। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थलों पर शिव के नग्न रूप (दिगंबर) का वर्णन मिलता है। अतएव सिन्धु घाटी की सभ्यता के पुरुष देवता का शिव से एकीकरण किया जाना नितांत संगत है।

लिङ्ग तथा योनि पूजा—ऐसा प्रतीत होता है कि इस सभ्यता में शिव की उपासना लिङ्ग के रूप में भी की जाती थी। इसका समर्थन उन पाषाण-खण्डों से होता है जो कोण के आकार में मिलते हैं। स्मरणीय है कि ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' अर्थात् लिङ्ग को देव रूप में मानने वालों का उल्लेख मिलता है। संभव है कि इसका अभिप्राय सैन्धव सभ्यता के निवासियों से हो। पर इस दिशा में अभी सबल और पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। कुछ विद्वानों ने 'शिश्नदेव' का दूसरा ही अर्थ लगाया है। इनके अनुसार 'शिश्नदेव' से अब्रह्मचारियों के प्रति संकेत है। यदि हम इस शब्द के उक्त अर्थ को न भी मानें तो भी सैन्धव सभ्यता के काल में लिङ्गोपासना का साक्ष्य निर्बल नहीं पड़ता। योनि-पूजा के प्रचलन का पता उन पत्थरों के बने पदार्थों से चलता है जो अंगूठी के आकार में मिलते हैं। ऐसा विश्वास है कि इनके द्वारा नारी तत्त्व प्रदर्शित करने की चेष्टा उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार लिङ्ग के सूचक पदार्थ पुरुष तत्त्व प्रदर्शित करते हैं।

वृक्ष पूजा—सिन्धु घाटी का निवासी वृक्ष की भी उपासना करता था। वृक्षों में पीपल का विशेष स्थान था। खुदाई में एक ऐसी मुहर मिली है जिसमें पीपल वृक्ष की दो शाखाएँ अंकित की गई हैं। दोनों शाखाओं के बीच एक देव आकृति का अंकन किया गया है।

पशु पूजा—कतिपय मुहरों पर उत्कीर्ण आकारों से तथा मृण्मयी एवं पाषाण निर्मित मूर्तियों के द्वारा पशु-पूजा की सूचना भी मिलती है। इन पशुओं में कुछ ऐसे हैं जो पूर्ण रूप से दैवी प्रतीत होते हैं। पर कुछ पशु लौकिक हैं जिनमें अधिकांश देवताओं के वाहन लगते हैं।

नदी पूजा—सैन्धव सभ्यता के विकास में सिन्धु नदी का महान् योगदान था। स्पष्ट है कि यहाँ के निवासी इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे होंगे। इस दिशा में सबल साक्ष्यों का अभाव

अवश्य है, पर जिस विस्तार तथा वैभव-बाहुल्य के साथ विशाल स्नानागार यहाँ निर्मित किया गया था, उससे यही व्यक्त होता है कि स्नान की शुद्धता तथा जल की पवित्रता पर इस काल में विशेष ध्यान दिया जाता होगा। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि विशाल स्नानागार के रूप में नदी देवता के निकेतन की कल्पना की गई होगी।

यज्ञ तथा बलि—देवताओं के परितोष के लिए संभवतः यज्ञ तथा बलि का भी प्रचलन था। उत्खनन-क्रम में ऐसे अनेक अग्निकुण्ड मिलते हैं जिनका अभिप्राय यज्ञ रहा होगा। एक मुहर पर पुरुष आकृति का चित्रण मिलता है, जिसके हाथ में छुरा दृष्टिगोचर होता है। इसके सामने एक स्त्री आकृति है, जो विनय भाव में अपने दोनों हाथों को उठाए हुए है। मुहर के दूसरे भाग पर एक देवी की आकृति है। इन आकृतियों से देवी की सन्तुष्टि के लिए नर बलि की सूचना मिलती है।

सिन्धु घाटी के धर्म का सांस्कृतिक महत्त्व—हिन्दू धार्मिक साधना के विकास में सैन्धव धर्म के विभिन्न तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुष देवता की जिन विभिन्न मुद्राओं का प्रदर्शन इसमें किया गया है, वे आगे चल कर शिव के विभिन्न आकारों की विशेष अंग बनीं। मातृशक्ति की उपासना वास्तव में उत्तरकालीन काली की उपासना का ही पूर्ववर्त्ती रूप है। वृक्ष पूजा, नदी-उपासना तथा यज्ञ आदि के जो चिह्न यहाँ उपलब्ध हुए हैं वे निश्चय ही हिन्दू धार्मिक धारणा के उत्तरवर्त्ती विस्तृत और व्यापक स्वरूप के मूल स्रोत हैं।

पूर्ववैदिक धर्म

सैन्धव काल के उपरान्त भारत के इतिहास में पूर्ववैदिक काल का प्रादुर्भाव होता है। पूर्व-वैदिक सभ्यता के जनक आर्य थे, जो भारत के मूल निवासी नहीं थे। सैन्धव सभ्यता भारत के मूल निवासियों के संरक्षण में सम्पन्न हुई थी। अतएव दोनों सभ्यताओं में जिन धार्मिक तत्त्वों का विकास हुआ वे एक दूसरे से भिन्न थे। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सिन्धु घाटी में पशुपति तथा मातृशक्ति की उपासना होती थी, जिनकी प्रतिकृतियाँ मुहरों पर अथवा मूर्तियों के रूप में प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत वैदिक धर्म में मूर्त्ति-पूजा को स्थान नहीं मिला था। इसी प्रकार लिङ्ग-पूजा तथा वृक्षोपासना का उल्लेख भी, जिनका सैन्धव धर्म में विशिष्ट स्थान था, वैदिक साहित्य में नहीं मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग में इस बात की भी चर्चा की जा सकती है कि सैन्धव सभ्यता की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। वस्तुतः सैन्धव लिपि इतिहासकारों के लिए एक जटिल समस्या है। यह नितान्त सम्भव है कि इस लिपि के बोधगम्य होने के उपरान्त सैन्धव सभ्यता तथा तत्कालीन धर्म के सम्बन्ध में नई जानकारी प्राप्त की जा सके। पर अभी तक के साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव धर्म का जो रूप सामने आता है वह वैदिक धर्म से भिन्न ही है।

पूर्ववैदिक धर्म की सामान्य विशेषताएँ—सैन्धव धर्म के विपरीत पूर्ववैदिक धर्म के स्वरूप को समझने के लिए लिखित प्रमाणों की प्रचुरता है, जिनका सन्तोषजनक अध्ययन विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। पूर्व वैदिक धर्म मुख्यतया ऋग्वेद पर आधारित है। ऋग्वेद

प्रार्थना प्रचुर आर्ष संकलन है। इसके छन्दों के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक ऋषि प्रकृति की रहस्यमयी तथा भयोत्पादक शक्तियों से पूर्ण रूप से प्रभावित थे। उनकी दृष्टि से प्राकृतिक शक्तियों में चेतना थी—ऐसी चेतना जो मानवीय शक्तियों से परे है तथा मनुष्य को बल, उत्साह तथा ऐश्वर्य प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है। अतएव मूलत: पूर्व वैदिक धर्म अमानवीय विभूतियों से सम्पन्न प्राकृतिक शक्तियों की उपासना है। ऋग्वैदिक ऋषि ने इन शक्तियों के रहस्यात्मक व्यापार की समीक्षा करने की भी चेष्टा की है। पर उसकी समीक्षा एक कवि का निरीक्षण है जिसमें कल्पना की प्रचुरता है। अतएव ऋग्वेद में वर्णित जितने देवता हैं, उनके साथ एक कल्पनात्मक आख्यान बँधा हुआ है। इन आख्यानों अथवा पुराकथाओं में देवताओं के स्वरूप तथा महत्ता का विस्तृत वर्णन मिलता है। आख्यानों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक देवता अलौकिक हैं पर वे अदृष्ट नहीं हैं। वे मानव को बल, बुद्धि और तेज प्रदान करते हैं, पर वे अपना कार्य प्राय: मूर्त्त रूप में ही सम्पन्न करते हैं। उनमें व्यक्तित्व का अध्यारोप किया गया है। देवताओं का मानवीकरण ऋग्वैदिक धर्म की विशेषता मानी जा सकती है।

पूर्ववैदिक धर्म व्यक्ति-सापेक्ष था। इसमें आडम्बरविहीन सादगी थी। यज्ञों का पूर्ण विकास अभी नहीं हुआ था। गृहस्वामी घर में ही बिना पुरोहित की सहायता के अग्नि की आहुति करता था तथा आहुति के माध्यम से देवताओं की स्तुति करता था। यज्ञों के अविकसित होने के कारण ऋग्वेदकालीन धर्म में पुरोहितों की महत्ता स्थापित न हो सकी थी। इस धर्म में मातृ-तत्त्व अप्रधान है। ऋग्वेद में अधिकतर पुरुष-देवताओं का ही उल्लेख किया गया है। स्त्री-देवताओं का उल्लेख मिलता है, पर उनकी संख्या कम है। वे अधिकतर अपने प्रतिरूप पुरुष देवताओं के साथ संयुक्त हैं तथा उनके गौरव एवं महत्ता से प्रतिच्छायित रहती हैं। यह धर्म बहुदेववादपरक था। इसमें अनेक देवताओं की उपासना होती थी। पर विशेषता यह है कि जिस देवता विशेष का जिस प्रसंग में गुणानुवाद किया गया है उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस प्रकार के वर्णन को यदि और छन्दों से असंबद्ध रूप में पढ़ा जाय तो कुछ समय के लिए एक ही देवता की परिकल्पना का आभास मिलता है।

इस काल में आर्यों के प्रमुख देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण और विष्णु थे, जिनमें सबसे अधिक प्रमुखता इन्द्र को मिली। ऋग्वेद में १०२८ मंत्र हैं जिनमें २५० मंत्रों में इन्द्र की स्तुति की गई है। इन्द्र पराक्रम तथा युद्ध के देवता हैं। एक ऋग्वैदिक मंत्र के अनुसार इन्द्र मनस्वी देव हैं। उन्होंने सभी देवताओं का अतिक्रमण किया है। उनके पराक्रम से आकाश और पृथिवी प्रकंपित रहते हैं। इन्द्र के साथ अनेक आख्यान संबद्ध किए गए हैं। एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि उन्होंने चलायमान पृथिवी को दृढ़ किया, इधर-उधर उड़ने वाले पर्वतों को स्थिर किया तथा अंतरिक्ष को विस्तृत किया। ऐसा विश्वास है कि उड़ने वाले पर्वतों का तात्पर्य बादल से है। अतएव बल और युद्ध के साथ-साथ इन्द्र वर्षा के भी देवता हैं। इन्द्र का प्रिय पेय सोम माना गया है। एक मंत्र के अनुसार इन्द्र उस यजमान की रक्षा करते हैं जो उनके लिए सोम पान तैयार करता है। उनका शक्तिशाली शस्त्र वज्र है। इस वज्र से वे दस्यु (आर्यों के शत्रु अथवा असुर) का विनाश करते

हैं। उनके एक विशेष शत्रु का नाम शंबर है। उन्होंने चालीस संवत्सर के उपरान्त ढूँढ़ कर इसका बध किया था।

मंत्रों की संख्या के अनुसार इस काल के दूसरे प्रमुख देवता अग्नि थे। अग्नि को यज्ञ का पुरोहित माना जाता था। एक मंत्र में इनमें देवदूत की प्रतिष्ठा की गई है जो हव्य पदार्थ को देवताओं तक पहुँचाते हैं। इन्द्र की भाँति अग्नि के सम्बन्ध में भी कहीं-कहीं आख्यानों का उल्लेख मिलता है। पहले ये द्युलोक में निवास करते थे। ऋषि पूत मंत्रों के द्वारा उन्हें पृथिवी पर लाए। वे प्रत्येक गृही के अतिथि तथा गृह के अधिष्ठातृ देवता माने जाते थे।

ऋग्वेद के अनुसार वरुण जल के स्वामी हैं। इस ग्रन्थ में उन्हें सत्य तथा सदाचार का संरक्षक माना गया है। एक मंत्र में उन्हें 'राजा' शब्द से अभिहित करते हुए कहा गया है कि जल में संचरण करते हुए वे लोगों के सत्य तथा अनृत को देखते रहते हैं। कहीं-कहीं इनका वर्णन 'मित्र' नामक देवता के साथ संयुक्त रूप में प्राप्त होता है। इन वर्णनों के अनुसार मित्र सूर्य के ही उदार रूप हैं। पर उत्तरकालीन साहित्य में उन्हें सूर्य का ही पर्याय माना गया है।

यद्यपि पूर्ववैदिक धर्म में इन्द्र की अपेक्षा विष्णु प्रायः एक गौण देवता थे, तथापि इनकी उत्तरकालीन महत्ता का बीज रूप इस समय प्रतिष्ठित हो चुका था। एक वर्णन के अनुसार विष्णु की स्तुति उनके पराक्रम के कारण की जाती है। वे पर्वतचारी वन्य जन्तु के समान भयंकर हैं। विष्णु के विषय में कुछ पौराणिक आख्यानों के आभास भी ऋग्वेद में यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ उनके तीन क्रमों का उल्लेख करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि इनमें तीनों लोक व्याप्त रहते हैं। आगे चलकर पौराणिक काल में इन्हीं तीनों क्रमों को वामनावतार विष्णु के तीन पदों से संबंधित किया गया, जिनसे उन्होंने तीनों लोकों को नापा था।

उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवताओं की भी उपासना की जाती थी। इनके गुण-निरूपण तथा गौरव-गान से समस्त ऋग्वैदिक साहित्य भरा हुआ है। पर देवताओं की एकता की भावना का आविर्भाव ऋग्वेद रचना-काल में हो चुका था। ऋग्वेद में ऐसे छन्द भी मिलते हैं जिनमें एक देव की कल्पना की गई है। इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक ऋषि उस तत्व से परिचित हो चुके थे जो विभिन्न देवताओं की शक्ति, मर्यादा तथा बहुमुखी प्रवृत्तियों में एकता लाती है।

उत्तरवैदिक धर्म

पूर्ववैदिक धर्म की भाँति उत्तरवैदिक धर्म भी बहुदेववादपरक था। इस दृष्टि से दोनों धर्मों में समानता दिखाई देती है। पर यदि विभिन्न देवताओं के स्वरूप और स्थिति को देखा जाय तो दोनों कालों की धार्मिक स्थिति में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। ऋग्वेदकाल के जो प्रधान देवता हैं वे उत्तरवैदिक काल में गौण हो जाते हैं। उत्तरवैदिक काल में नवीन देवताओं का आविर्भाव होता है। इनमें सबसे प्रधान देवता का नाम प्रजापति है। प्रजापति में जीवों के स्रष्टा की कल्पना की गई है। जिस समय वे प्राणि समुदाय का सृजन करते हैं,

उनके सभी अवयव संसार में घुल मिल जाते हैं तथा वे निस्तत्त्व हो जाते हैं। सृष्टि के पुनः सृजन को संभव बनाने के लिए प्रजापति का अस्तित्व आवश्यक है। अतएव उन्हें आकार प्रदान करने के लिए अग्निचयन का विधान बताया गया है जिसके द्वारा प्रजापति पुनः अपना विलुप्त अस्तित्त्व प्राप्त करते हैं। प्रजापति के साथ-साथ अग्नि की महत्ता भी इस काल में पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। इसमें सभी देवताओं के समाहार की कल्पना की गई है। ये न केवल देवता हैं, अपितु मनुष्यों के शुभेच्छु सुहृद् भी हैं। अग्नि के बिना कोई भी धार्मिक क्रिया संभव नहीं है।

देवताओं की स्थिति में परिवर्तन के अतिरिक्त इस काल में यज्ञों का भी सविशेष विकास हुआ। इनका विस्तृत वर्णन तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयि संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, बौधायन श्रौत सूत्र तथा कात्यायन श्रौत सूत्र जैसे ग्रन्थों में मिलता है। इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवैदिक काल के यज्ञों के विधान में पर्याप्त जटिलता आ गई थी। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि पूर्ववैदिक काल के यज्ञ में सरलता तथा सादगी थी। इसका संपादन गृही स्वयं ही करता था। उत्तरवैदिक काल में यज्ञ के नियम इतने दुरूह थे कि विशेषज्ञों के अभाव में इसका संपादन प्रायः असंभव था। ऐसी परिस्थिति में याज्ञिक क्रिया में सिद्धहस्त पुरोहितों को विशेष मान्यता दी गई। पुरोहित कई प्रकार के होते थे। श्रौत सूत्रों में सोलह प्रकार के पुरोहितों का उल्लेख किया गया है। इनके कार्य विभक्त थे। एक ही यज्ञ में अनेक पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी।

यज्ञ सोद्देश्य हुआ करते थे। इनका संपादन लौकिक ऐश्वर्य तथा स्वर्ग की प्राप्ति की भावना से किया जाता था। ऐसी भावना प्रतिष्ठित थी कि यज्ञ से परितुष्ट होकर देवता सभी कामनाओं की पूर्त्ति करते हैं। अतएव एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उत्तरवैदिक काल में यज्ञ ही प्रधान था, देवताओं का स्थान गौण हो गया था। वे यज्ञों के द्वारा वशीभूत किए जाते थे।

यज्ञ कई प्रकार के होते थे। कुछ यज्ञ ऐसे थे जो कम समय में ही समाप्त हो जाते थे। पर प्रधान यज्ञ बहुत समय तक, कभी-कभी महीनों तक, चलते थे। प्रधान यज्ञों में राजसूय, अश्वमेध तथा पुरुषमेध उल्लेखनीय हैं। राजसूय का संपादन राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर किया जाता था। सामान्यतः यह एक वर्ष में पूरा होता था। इस यज्ञ के अवसर पर राज-पुरोहित राजा को धनुष तथा वाण समर्पित करता था। इसके बाद वह प्रजा का रक्षक राजा घोषित किया जाता था। अश्वमेध की अवधि भी एक वर्ष की होती थी। इसमें एक वर्ष के लिए राजा का घोड़ा सैनिकों की सुरक्षा में छोड़ दिया जाता था। वर्ष के उपरान्त राजमहिषी यज्ञाश्व का अभिषेक करती थी। अभिषेक के उपरान्त अश्व का वध किया जाता था। ऐसा विश्वास था कि मेध्य अश्व को स्वर्ग की प्राप्ति होती थी। पुरुषमेध का विधान प्रायः अश्वमेध के समान ही था। यद्यपि आजकल पुरुषमेध के विषय में सन्देह प्रकट किया जाता है, तथापि उत्तरवैदिक ग्रन्थों में इसका स्पष्ट वर्णन होने के कारण उस समय इसके वास्तविक प्रचलन की संभावना को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

इसमें संदेह नहीं कि याज्ञिक क्रियाओं का निष्पादन उत्तरवैदिक धर्म की प्रवृत्तिमूलक भावना को अभिव्यञ्जित करता है। इससे तत्कालीन समाज की हिंसात्मक तथा नृशंस प्रवृत्ति पूर्णरूप से परिलक्षित होती है। सामान्य पशुओं के साथ-साथ मानव हिंसा इस धर्म के विकृत अंग का परिचय देती है। धीरे-धीरे समाज के एक विशिष्ट, मननशील तथा सहृदय वर्ग ने यज्ञों की आवश्यकता तथा उपादेयता नहीं मानी और समाज का ध्यान धर्म के सूक्ष्म तत्त्व की ओर आकृष्ट किया। इनके विचार उपनिषदों में सुरक्षित हैं, जो निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति के जाज्वल्यमान प्रतीक हैं।

उपनिषद्कालीन विचारधारा

वैदिक आर्यों के तत्त्व-चिन्तन की गंभीरता और सूक्ष्मता उपनिषदों में प्राप्त होती है। इनमें भारतीय विचारधारा के सूक्ष्म तत्त्व विद्यमान हैं। इनकी संख्या दो सौ के लगभग है। प्रमुख उपनिषदों में ईश, केन, कठ, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक आदि की गणना की जाती है। औपनिषदिक विचारकों ने मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष माना है। यही इनका एकमात्र तथा चरम आदर्श है। इसकी प्राप्ति ज्ञानमार्ग से हो सकती है। ज्ञानमार्ग का स्थान कर्ममार्ग से ऊपर है। ज्ञान के मार्ग में यज्ञादि के अनुष्ठान, जो कर्ममार्ग के मूल आधार थे, बन्धन माने गए। ज्ञानमार्ग का मूल तात्पर्य है ब्रह्म तथा आत्मा में एकत्त्व की स्थापना। ब्रह्म उस सत्य को माना गया जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। वही विश्व की संस्थिति का मूल है तथा उसी में संसार का विलय होता है। आत्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य न तो आत्मा का साक्षात्कार कर पाता है और न उसमें ब्रह्म और आत्मा में एकत्त्व स्थापित करने की क्षमता ही आती है। वह संसार को तथा जीवन अथवा जन्म को सत्य मानने लगता है, अतएव आत्मा को जन्म-जन्मान्तर में भटकना पड़ता है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म में जिस प्रकार के कर्म करता है, जन्मान्तर में उसका फल भी प्राप्त करता है। आवागमन का यह चक्र उस समय तक चलता रहता है जब तक कि मनुष्य का अन्तर ज्ञान के आलोक से प्रकाशित नहीं हो जाता। जिस समय ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है, मनुष्य जन्म तथा पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो कर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपनिषदों का बहुत महत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय धार्मिक साधना के सतत विकास में औपनिषदिक सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों ने ब्रह्म, आत्मा, जन्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है। स्पष्टतः इनके विचार प्रवृत्तिमूलक वैदिक पद्धति के विरोधी थे। परिणामतः धर्म के सूक्ष्म तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण माने गए। इनके कारण यज्ञों का गौरव बहुत कुछ क्षीण हो गया। इनकी निवृत्तिमूलक साधना ने भारतीय दर्शन को महती प्रेरणा प्रदान की। आगे चलकर भारतीय मनीषियों ने इन्हीं प्रश्नों का पुनः पुनः मनन और चिन्तन किया। इन जटिल समस्याओं के उद्घाटन के

कारण भारतीय दर्शन की काया सुविशाल होती गई। पर जिस अनुपमेय निधि से इसे सभी कालों में मूल प्रेरणा मिली उसमें औपनिषदिक विचारधारा निर्विवादतः अग्रणी है।

इस विचारधारा का मूल.धार निवृत्ति है। उपनिषदों ने जिस निवृत्ति मार्ग पर बल दिया, आगे चलकर उसका सम्यक् विकास हुआ। इन्हीं के काल में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की पूर्वपीठिका तैयार हुई। यद्यपि गृहस्थ-आश्रम में मनुष्य का धर्म प्रवृत्ति-मूलक था तथापि अन्तिम दोनों आश्रमों को निवृत्तिमार्ग से प्रेरणा मिली थी। इनका उद्देश्य था जन्म तथा पुनर्जन्म से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रान्ति—निवृत्ति मार्ग का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्फुटन ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ। भारत के धार्मिक इतिहास में इस काल का विशिष्ट स्थान है। इस समय धर्म के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी स्तर का सूत्रपात हुआ। वैदिक धर्म के प्रति, जिसमें याज्ञिक पद्धति पर विशेष बल दिया गया था, इस काल के धार्मिक आन्दोलनों ने सन्देह प्रकट किया तथा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में इसे निरर्थक तथा निरुपादेय बताया। एक प्रकार से यह धार्मिक उथल-पुथल वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि इन्हें मूलतः औपनिषदिक तत्त्वों से ही प्रेरणा मिली थी, पर औपनिषदिक तत्त्वों में इतनी अधिक सूक्ष्मता थी कि वे सर्वसाधारण के लिए उतने ग्राह्य नहीं बन सके थे जितना कि अपेक्षित था। इसके विपरीत इस काल में धर्म के जिस स्वरूप को सामने लाया गया, उसमें अपेक्षाकृत अधिक सरलता तथा ग्रहणशीलता थी। परिणामतः जनसमूह के सामने धर्म के एक ऐसे स्वरूप का उद्‌घाटन हुआ जो भारत में व्याप्त होकर शनैः शनैः विश्व संस्कृति का भी एक महत्त्वपूर्ण अंग बना।

बौद्ध धर्म

इस धार्मिक आन्दोलन के मूल आधार बौद्ध तथा जैन धर्म थे। बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक का प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। इनका जन्म ५६३ ईसा पूर्व में नेपाल की तलहटी में स्थित लुम्बिनी में हुआ था। इनके पिता शुद्धोदन शाक्य राजवंश के शासक थे, जिनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। शैशवकाल से ही राजकुमार सिद्धार्थ, ऐश्वर्यबहुल परिवेश में रहते हुए भी, चिन्तनशील रहा करते थे। मानव जीवन की अस्थिरता तथा निरर्थकता ने इन्हें विरक्त जीवन की ओर आकृष्ट किया। उत्तरकालीन ग्रन्थों के अनुसार इनमें वैराग्य की भावना का उदय वृद्ध, रुग्ण संन्यासी तथा शव को देखने के उपरान्त हुआ। पर सुत्तनिपात आदि पूर्वकालीन ग्रन्थों में इस प्रकार के किसी आकस्मिक कारण का विवरण नहीं मिलता। गृह परित्याग के उपरान्त इन्होंने ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिए अनेक स्थानों का भ्रमण किया। भिन्न आचार्यों के सत्संग में ज्ञान की खोज के लिए इन्होंने साधना की; पर कठोर तपस्या के उपरान्त भी ज्ञान की प्राप्ति इन्हें न हो सकी। अतएव इन्होंने अपनी काया को अधिक क्लेश देना बन्द कर दिया। एक बार जब वे एक पीपल वृक्ष के नीचे आसीन थे, उन्हें चिरवांछित सत्य के दर्शन हुए। इस प्रकार इन्हें संबोधि की प्राप्ति हुई और वे बुद्ध हो गए।

बुद्ध ने जिस सत्य का दर्शन किया वह नितान्त सूक्ष्म था, अतएव सर्वसाधारण को

इसका परिचय देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। बौद्ध परम्परा के अनुसार अपने इस निश्चय पर वे स्थिर न रह सके। प्राणि समुदाय की निस्सीम वेदना पर पुनः पुनः विचार कर उनका हृदय सदय हुआ तथा अपने पूर्व निश्चय को उन्हें बदलना पड़ा। उन्होंने अपना सबसे पहला उपदेश सारनाथ में दिया। इस उपदेश को 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन' नाम दिया गया है। इसके उपरान्त बुद्ध ने अन्य स्थानों का भी भ्रमण किया। इनमें राजगृह, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली तथा मथुरा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी स्थानों में उन्होंने जनता को अपना सन्देश सारगर्भित तथा सुबोध भाषा में सुनाया। अतएव उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गई। उनके जीवन की अन्तिम यात्रा कुशीनगर का प्रयाण था। यहीं पर उन्हें ४८३ ई०पू० में महापरि-निर्वाण की प्राप्ति हुई।

बुद्ध ने अपने जिस नवीन धर्म का उपदेश दिया उसमें मूलतः चार सिद्धान्त थे। इन्हें चार 'आर्यसत्य' की संज्ञा दी गई है। ये चार आर्य सत्य थे : दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध तथा दुःखनिरोध-मार्ग। बुद्ध के अनुसार जीवन दुःखमय है। जीवन में दुःख की ही प्रधानता रहती है। तृष्णा एवं आसक्ति आदि मानव जीवन के दुःख के कारण हैं। इन पर यदि विजय प्राप्त कर ली जाय तो मनुष्य के दुःख का अन्त भी हो सकता है। इसके लिए उन्होंने आठ मार्ग (अष्टांगिक मार्ग) निर्धारित किए—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। इस अष्टांगिक मार्ग में सरलता थी तथा इसका अभ्यास सभी के लिए संभव था। दीर्घनिकाय में इन आठ मार्गों का समाहार शील, चित्त तथा प्रज्ञा के अन्तर्गत किया गया है। शील का अर्थ था शारीरिक संयम। इसके अन्तर्गत प्रथम तीन मार्ग आते थे। इनके बाद के तीन मार्ग चित्त से संबंधित थे। चित्त का अर्थ था मानसिक संयम। प्रज्ञा का तात्पर्य बौद्धिक विकास से था। इसके अन्तर्गत अन्तिम तीन मार्ग आते थे। शील, समाधि तथा प्रज्ञा के द्वारा मनुष्य को अन्तिम सत्य प्राप्त करने में सफलता मिल सकती थी।

बौद्ध धर्म का अन्तिम आदर्श निर्वाण था। निर्वाण का अर्थ था ऐसी अवस्था की प्राप्ति जिसमें सभी प्रकार की तृष्णा अथवा वांछा का अभाव रहता है। निर्वाण प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य दुःखमूल जन्म अथवा पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करता है। अरियपरियेसनसुत्त में इसे अजर, अव्याधि, अमृत, अशोक, असंक्लिष्ट, अनुत्तर तथा योगक्षेम विशेषणों से संयुक्त किया गया है। इसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में जरा, व्याधि, मृत्यु, शोक, तथा क्लेश का अभाव था। इसीलिए यह निरुपमेय तथा सर्वोत्तम लक्ष्य भी माना गया है।

बुद्ध के उपदेशों में आध्यात्मिक चिन्तन अधिक नहीं है। जो भी आध्यात्मिक पक्ष उनमें मिलता है उसमें नितान्त सरलता है। उन्होंने कर्म के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। मनुष्य जिन कर्मों का आचरण करता है वे निष्फल नहीं होते। इनका प्रभाव उसके भावी जीवन के स्वरूप पर पड़ता है। उनके जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष के मूल आधार पूर्व जन्म के कर्म हैं। कर्मों के प्रभाव के ही कारण जन्म और पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। इस क्रम का उपशमन उस समय होता है

जब निर्वाण पद मिल जाता है। निर्वाण को सुलभ बनाने के लिए उन्होंने 'मध्यममार्ग' अथवा 'मध्यमा प्रतिपदा' का उपदेश दिया। इसका अर्थ था अतिशय का वर्जन। तपस्या की अत्यधिक कठोरता तथा भोगों के प्रति अतिशय आसक्ति दोनों ही निर्वाण की कामना करने वाले के लिए वर्जित थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने निर्वाण के आदर्श का जो स्वरूप जन-समुदाय के सामने रखा उसमें औपनिषदिक मोक्ष संबंधी विचारधारा का प्रभाव था। पर इसकी विशेषता यह थी कि इसमें उपनिषदों में निहित कठोर मार्ग का अभाव था। इसमें व्यावहारिकता का प्रचुर पुट था और इसका आचरण सभी कर सकते थे। इसे प्राप्त करने के लिए अन्तःकरण की शुद्धि परमावश्यक थी और बाह्याडम्बर की पूर्णतः उपेक्षा की गई थी। वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान तथा वैदिक देवताओं की उपासना को इसमें स्थान नहीं था। इसके विपरीत अहिंसा, प्राणिमात्र पर दया तथा गुरुजनों की आज्ञा का पालन इसमें अनिवार्य था।

बौद्ध धर्म ने प्रारंभ से ही संगठित प्रचार किया। अपने सिद्धान्तों की सरलता के कारण बौद्ध धर्म ने अधिक से अधिक लोगों को आकृष्ट किया। वैदिक कर्मकाण्ड के अनावश्यक आडम्बर तथा औपनिषदिक सूक्ष्म तथा गहन तत्त्व सर्वसाधारण की तत्कालीन धार्मिक पिपासा को परितुष्ट करने में उतने समर्थ नहीं सिद्ध हुए। बौद्ध धर्म में सरलता तो थी ही, इसके अतिरिक्त इसमें इतनी अधिक ग्राहकता थी कि यह गृही तथा गृहविहीन दोनों के लिए उपयोगी था। इसके परिणामस्वरूप बुद्ध के अनुयायी दो प्रकार के हुए—गृहस्थ जिन्हें उपासक की संज्ञा दी गई तथा संन्यासी जो भिक्षु के नाम से विश्रुत हुए। उपासक सांसारिक जीवन में रहकर बुद्ध के मार्ग का पालन करते थे और भिक्षु संसार से विरक्त होकर बुद्ध के मार्ग का स्वयं भी अनुसरण करते थे तथा उनके उपदेशों का जनसमूह में प्रचार करते थे। बुद्ध ने भिक्षुओं का संगठन किया तथा उनके संघ की स्थापना की। इस संघ में जाति तथा वर्गगत भेदभाव का अभाव था। इसमें धार्मिक प्रश्नों पर सरल तथा सुबोध भाषा में विमर्श किया जाता था। इसके सदस्य भिक्षुओं को बुद्ध द्वारा विहित सदाचारपरक नियमों का अनुसरण आवश्यक था। बुद्ध ने प्रारम्भ में भिक्षु संघ से स्त्रियों को दूर रखा। पर आगे चलकर अपने प्रिय शिष्य आनन्द के अनुरोध से उन्होंने भिक्षुणियों को भी सम्मिलित किया। पर इसमें वे भिक्षु संघ के भावी चारित्रिक उत्थान के प्रति शंकालु भी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के विकास में मूलतः भिक्षु संघ का गहरा योगदान था। इसके संगठन में समता की भावना विद्यमान थी। भिक्षु संघ के सदस्य अत्यन्त उत्साही तथा कर्मठ होते थे। वे अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। केवल वर्षाऋतु को छोड़कर वर्षभर इन्हें विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करना पड़ता था। बुद्ध के उपदेशों का जनता में प्रसार करना इनके लिए परम आवश्यक था। इस प्रकार भिक्षु संघ की स्थापना बौद्ध धर्म के विकास में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई।

बौद्ध धर्म के संगठित और व्यापक विकास में उन संगीतियों का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जिनका आयोजन बुद्ध के दिवंगत होने के उपरान्त भिन्न-भिन्न कालों में किया गया था। इनमें

पहली संगीति अथवा धर्मसभा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के थोड़े ही समय बाद राजगृह में हुई थी। बुद्ध ने जो कुछ उपदेश दिया था वे अब तक बिखरे हुए थे। इस संगीति में बुद्ध के उपदेशों का संग्रह कर उन्हें एक प्रामाणिक संकलन का रूप प्रदान किया गया। बौद्ध धर्म की दूसरी संगीति पहली की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इसका आयोजन वैशाली में हुआ था। इस संगीति में बौद्ध संघ दो शाखाओं में विभाजित हो गया। भिक्षुओं का एक वर्ग बौद्ध धर्म के मौलिक नियमों के साथ कतिपय नवीन नियमों को भी प्रकाश में लाया। इस वर्ग के सदस्य महासंघिक के नाम से विश्रुत हुए। जिन लोगों ने प्राचीन नियमों को ही एकमात्र प्रामाणिक तथा सत्य माना उन्हें स्थविर की संज्ञा दी गई। तीसरी संगीति का आयोजन सम्राट् अशोक के समय में पाटिलपुत्र में किया गया। अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म का अपनाया जाना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। बौद्ध धर्म के विकास में इससे एक बहुत बड़ा संबल मिला। अशोक के बहुसंख्यक शिलालेख उसकी सक्रियता तथा प्रोत्साहन के अकाट्य प्रमाण हैं। इस महान् सम्राट् के संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में फैलने लगा। इसके परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म भारत का तो प्रधान धर्म बना ही, धीरे-धीरे इसके द्वारा अन्य देशों के धर्म भी प्रभावित हुए। चौथी संगीति सम्राट् कनिष्क के शासनकाल में काश्मीर में आयोजित की गई थी। बौद्ध धर्म के विकास को कनिष्क ने भी महान् प्रोत्साहन प्रदान किया। अशोक के काल में इसके विकास की धारा भारत के बाहरी देशों में गतिशील हुई थी। कनिष्क की प्रेरणा के कारण इसकी विकास क्रिया में और भी अधिक तीव्रता आई तथा कुषाण वंश के उत्तरकालीन नरेशों के काल में यह संपूर्ण एशिया का प्रमुख धर्म बन गया।

कालान्तर में बौद्ध धर्म की एकता भंग हो गई तथा वह हीनयान और महायान नामक दो शाखाओं में विभक्त हो गया। दूसरी संगीति के काल में ही बौद्ध धर्म के अनुयायियों में विभेद उत्पन्न हो गया था। इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि महासंघिक नामक शाखा ने बौद्ध धर्म में नए नियमों का समावेश कर अपने आप को उन स्थविरवादियों से अलग कर दिया था जो बौद्ध धर्म के प्राचीन मत को मानते थे। बौद्ध संघ में यह मतवैभिन्य प्रबल होता गया। आगे चलकर बौद्ध धर्म के नवीन मतानुयायियों ने एक अभिनव शाखा को जन्म दिया जो बौद्ध धर्म के इतिहास में महायान शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। यह सम्प्रदाय एक प्रकार के महासंघिक संप्रदाय का ही परिवर्द्धित रूप था। जिन लोगों ने प्राचीन बौद्ध धर्म को ही अधिक महत्ता प्रदान की उनकी शाखा को हीनयान नाम दिया गया। मौलिक रूप में इन दोनों सम्प्रदायों में समता थी। पर महायान संप्रदाय के विकसित रूप में ऐसे अनेक तत्त्व थे जो हीनयान से साम्य नहीं रखते थे। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में महायान सम्प्रदाय का एक नवीन संवर्द्धन बोधिसत्त्व की कल्पना का विकास था। बोधिसत्त्व उन्हें कहा गया जो बुद्धत्व के मार्ग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे। महायानियों ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि प्रत्येक व्यक्ति में बोधिसत्त्व बनने का सामर्थ्य निगूढ़ रहता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह निर्वाण पद के समीप आता है। बोधिसत्त्व की धारणा का प्रतिपादन महायान शाखा की लोकप्रियता का

कारण सिद्ध हुआ। इसके अनुसार समस्त मानव जाति निर्वाण प्राप्त कर सकती है। हीनयान शाखा के अनुयायी व्यक्तिगत निर्वाण के लिए ही समुत्सुक थे। अतएव हीनयान के व्यक्तिगत धर्म के विपरीत महायान लोकधर्म था। अपने सिद्धान्तों के प्रसार के लिए महायानियों ने बौद्ध धर्म को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयास किया। हीनयानी प्राचीन तत्त्वों पर ही अधिक बल देते थे। इसके अनुसार निर्वाण की प्राप्ति सत्कर्म तथा चित्त के शुद्धीकरण के द्वारा ही संभव थी। ये सिद्धान्त जनसाधारण के लिए ग्राह्य नहीं बन सके। महायान सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म को सुलभ बनाने के लिए बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की उपासना को भी निर्वाण-लाभ में सहायक बताया। हीनयान के सूक्ष्म सिद्धान्तों की अपेक्षा इसका प्रभाव जनसमूह पर अधिक पड़ा।

महायान शाखा के नवीन सिद्धान्तों के कारण बौद्ध धर्म की लोकप्रियता में महती अभिवृद्धि हुई, पर इनसे बौद्ध धर्म के मौलिक तत्त्व विनष्ट होने लगे। अतएव जनप्रिय होते हुए भी बौद्ध धर्म की सुदृढ़ता पर इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। शाखाओं तथा प्रशाखाओं की उत्पत्ति होने के कारण इस धर्म का संगठन भी शिथिल होता गया। बौद्ध धर्म के विकास का एक बहुत बड़ा संबल अशोक तथा कनिष्क जैसे सम्राटों का संरक्षण था। पर आगे चलकर जिन राजवंशों का आविर्भाव हुआ उनसे इस धर्म को प्रोत्साहन प्रायः नहीं प्राप्त हुआ।

गुप्त सम्राटों के काल में हिन्दू धर्म का पुनः उत्थान हुआ। यज्ञों का अनुष्ठान तथा वैदिक देवताओं की उपासना बढ़ने लगी। इससे बौद्ध धर्म की महत्ता क्षीण होने लगी। हूणों का आक्रमण इसके लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। इन्होंने अनेक बौद्ध भिक्षुओं का वध किया तथा नाना बौद्ध बिहारों को नष्ट कर डाला। सातवीं शताब्दी में थानेश्वर के वर्द्धन सम्राट् हर्ष के द्वारा इस धर्म को प्रेरणा अवश्य मिली, पर इस समय तक यह धर्म बहुत कुछ निर्बल हो चुका था। उत्तर भारत तथा बंगाल को छोड़कर भारत के अन्य स्थानों में इसका प्रसार रुक गया था। सातवीं शताब्दी के उपरान्त का इतिहास इस धर्म के उत्तरोत्तर पतन की प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। इस समय किसी भी सम्राट अथवा बौद्ध आचार्य का आविर्भाव नहीं हुआ जो बौद्ध धर्म में संगठन लाकर उसके पतन के तत्त्वों को नियंत्रित कर सकता। मध्ययुग के प्रारम्भ में जिन धार्मिक आचार्यों का अभ्युदय हुआ वे हिन्दू धर्म के परिपोषक थे। इन्होंने जिन धार्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया वे अधिक सशक्त थे। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के सिद्धान्त हिन्दू धर्म के अंगमात्र प्रतीत हुए। इसके परिणाम में बौद्ध धर्म का प्रसार रुक गया। इसका प्रचार केवल बंगाल में ही सीमित था। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दू धर्म ने बंगाल में भी प्रवेश कर बौद्ध धर्म के प्रभाव को क्षीण कर दिया।

जैन धर्म

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रान्ति में बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैन धर्म के प्रवर्त्तक का नाम वर्द्धमान महावीर था, पर जैन परम्पराओं में ऐसे आचार्यों अथवा तीर्थंकरों का भी उल्लेख मिलता है जिनका आविर्भाव महावीर

के पहले हुआ था। महावीर को सम्मिलित कर इनकी संख्या चौबीस मानी जाती है। इनमें बाईस तीर्थंकरों के बारे में कोई भी प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती। तेईसवें तीर्थंकर का नाम पार्श्व था। इनका अविर्भाव संभवतः आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ था। पार्श्व की मृत्यु के दो सौ पचास वर्षों के उपरान्त छठीं शताब्दी के पूर्व भाग में वर्द्धमान आविर्भूत हुए। इनका निवासस्थान वैशाली था। बुद्ध की भाँति इनका जन्म भी ऐश्वर्य-बहुल राजपरिवार में हुआ था। माता पिता की मृत्यु होने पर तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने गृह-परित्याग किया। बारह वर्ष तक की लगातार तपस्या के उपरान्त इन्हें ज्ञान का दर्शन हुआ जिसके द्वारा इन्होंने सुख-दुःख के बन्धनों पर विजय प्राप्त की। इसके उपरान्त ये 'जिन' अर्थात् जीतने वाले कहलाए। 'जिन' शब्द से ही 'जैन' शब्द की उत्पत्ति हुई। महावीर ने, ज्ञान प्राप्त करने के विपरीत, तीस वर्ष तक जनसमुदाय में अपने धर्म का उपदेश दिया। इनकी मृत्यु ५२७ ईसा पूर्व हुई।

बौद्ध तथा जैन धर्मों में कुछ मूलभूत समानताएँ हैं। बुद्ध की भाँति महावीर भी अपने युग की विभूति थे। छठीं शताब्दी की निवृत्तिमूलक भावना से, जिसने बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, जैन धर्म भी प्रभावित हुआ था। अतएव दोनों धर्मों में मूलभूत अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों धर्मों ने संसार को दुःखमय बताया तथा इससे मुक्त होने के लिए जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाना मनुष्य के लिए आवश्यक बताया। दोनों ही धर्मों को औपनिषदिक विचारधारा से प्रेरणा मिली, पर वैदिक कर्मकाण्ड का तथा वेदों की अपौरुषेयता का खंडन दोनों ने किया। दोनों ने अहिंसा पर बल दिया एवं संयत, शुद्ध तथा आध्यात्मिक जीवन की महत्ता प्रतिपादित की और मुक्ति के लिए वैदिक देवपूजा विषयक भावना को निरुत्साहित किया। मनुष्य के कर्मों के अनुसार उसके भावी जीवन का स्वरूप बनता है तथा सत्कर्मों के आचरण के द्वारा मनुष्य शनैः शनैः मुक्ति के निकट पहुँचता है, इस पर दोनों धर्म एकमत थे। दोनों धर्मों में जातिगत भावना को स्थान नहीं था। दोनों ने सामान्य भाषा के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य बनाया। अपने धर्म को व्यवस्थित करने के लिए दोनों ने धर्मसंघ की स्थापना की।

निश्चय ही ये मूलभूत समानताएँ बौद्ध तथा जैन धर्मों को समान स्तर पर लाती हैं। एक ही युग की समान प्रवृत्ति से प्रेरित होने के कारण तथा प्रायः एक ही क्षेत्र के युग पुरुषों के मानस से निर्गत होने से दोनों की समता असंभव नहीं थी। पर विकास की प्रक्रिया में इन दोनों धर्मों ने ऐसे तत्त्वों को भी जन्म दिया जो परस्पर भिन्न हैं। उदाहरणार्थ जैन धर्म में तपस्या इतनी कठोर थी कि यह सामान्य मनुष्यों के लिए उतना ग्राह्य नहीं था जितना बौद्ध धर्म का मध्यम मार्ग, जिसमें तपस्या तो थी पर अतिशय कठोरता का अभाव था। जैन वस्त्रविहीन रहते थे पर बुद्ध ने अपने अनुयायियों को नग्न रहना वर्जित किया था। इसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म जैन धर्म की अपेक्षा समाज के अधिक निकट था। प्राणिहिंसा को दोनों धर्म प्रवर्त्तकों ने ज्ञान पिपासु के मार्ग का बाधक बताया था, पर जिस सीमा तक इसे महावीर ले गए थे, जिसका व्यवहार आज भी जैन समाज में प्रचलित है, उसकी कल्पना बुद्ध ने नहीं की थी।

बुद्ध तथा महावीर दोनों ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया था। पर इसका खंडन जितना बुद्ध ने किया था, उतना महावीर ने नहीं।

जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अत्यन्त सरल और व्यावहारिक हैं। जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व के चार प्रधान उपदेश थे—अहिंसा, सत्य भाषण, अस्तेय तथा अनासक्ति। इनके आचरण के लिए उन्होंने आत्मसंयम तथा तपस्या की महत्ता को प्रतिपादित किया। वर्द्धमान महावीर ने अपने उपदेशों में इन सिद्धान्तों का पूर्ण निर्वाह किया तथा इनमें ब्रह्मचर्य को सम्मिलित कर इनकी संख्या में वृद्धि भी की। सुबोध भाषा तथा सरल सिद्धान्तों के कारण बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी व्यापक बनने लगा। यद्यपि कालांतर में बौद्ध धर्म का ही अधिक विकास हुआ, तथापि प्रारंभ में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को अधिक संश्रय प्राप्त हुआ। जैन परम्पराओं से ज्ञात होता है कि मौर्य वंश के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म में दीक्षा ली थी। अपने शासन के अवकाश-काल में उसने जैन भिक्षु बनकर राज्य-परित्याग किया था। उसके राज्य-काल में यह धर्म उत्तर भारत में तो प्रचलित था ही, इसके साथ ही दक्षिण भारत में भी इसका प्रवेश हो चुका था। यहाँ उल्लेखनीय है कि अशोक के आविर्भाव के पूर्व बौद्ध धर्म का प्रसार केवल उत्तर भारत में ही सीमित था।

कहा जाता है कि महावीर की मृत्यु के सौ वर्ष उपरान्त मगध में एक भीषण अकाल पड़ा। इस समय जैन संघ के प्रधान भद्रबाहु थे। इसी समय भद्रबाहु को दक्षिण जाना पड़ा। अतएव उन्होंने जैन-संघ को स्थूलभद्र के पर्यवेक्षण में छोड़ दिया। जिस समय वे दक्षिण से प्रत्यावर्त्तित हुए, उन्होंने देखा कि जैन भिक्षु श्वेत वस्त्र पहनने लगे हैं। यह प्रथा महावीर द्वारा प्रतिपादित नियम के विरुद्ध थी। महावीर के उपदेशों में जैनों को नग्न रहना आवश्यक बताया गया था। इस नवीन प्रथा के कारण जैन संघ दो शाखाओं में विभक्त हो गया। महावीर के मौलिक उपदेशों को मानने वाले नग्न रहते थे। इनकी शाखा को दिगम्बर कहा जाता था। जिन लोगों ने श्वेत वस्त्र पहनना प्रारंभ किया उनकी शाखा को श्वेतांबर नाम दिया गया। इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म में मत-वैभिन्य पहले से ही चला आ रहा था। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवल इसके दृष्ट रूप थे। पार्श्व तथा महावीर के उपदेशों में अथवा महावीर एवं उनके अनुवर्त्ती शिष्य गोसाल के द्वारा निर्धारित नियमों में समता के साथ-साथ विषमता भी थी। पार्श्व के उपदेशों का महावीर ने संवर्द्धन किया था, अतएव उनमें मौलिकताओं का समावेश हुआ। गोसाल ने तपस्या के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया था वह अपेक्षाकृत अधिक कठोर था। अतएव जैन संघ के उत्तरकालीन विभाजन के मूल पहले से ही विद्यमान थे।

जैन संघ के इस विभाजन का प्रभाव उनके धर्मग्रन्थों पर भी पड़ा। विभाजन के पूर्व जैन धर्मग्रन्थों के दस पर्व थे। वे प्राचीन जैन ग्रन्थ थे, जिनमें उनके धार्मिक सिद्धान्तों का संग्रह किया गया था। जिस समय भद्रबाहु दक्षिण में थे, मगध के (श्वेतांबर) जैनों ने दस पर्वों के आधार पर बारह अंगों की रचना की। भद्रबाहु तथा उनके अनुयायी जैन भिक्षुओं ने इस

नवीन संकलन को प्रामाणिक नहीं माना। इस प्रकार दिगंबर शाखा के जैन प्राचीन धर्मग्रन्थ का अनुसरण करते थे तथा श्वेतांबर जैन नवीन संकलन को प्रामाणिक मानते थे। जैनधर्म में विभेद की यह क्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। सिद्धान्तों की सुरक्षा के लिए दिगंबर तथा श्वेतांबर दोनों शाखाएँ प्रयत्नशील रहीं। छठीं शताब्दी के आस-पास श्वेतांबरों ने गुजरात में एक धर्म परिषद् का आयोजन किया। इस परिषद् में जैन धर्मग्रन्थ के नवीन संकलन को पुनः संशोधित किया गया। इसमें अंगों की संख्या बारह से घटाकर ग्यारह कर दी गई।

इस विभेद के होते हुए भी जैन धर्म का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा। ऊपर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने शासनकाल के अंतिम भाग में जैन धर्म का अनुयायी हो गया था। राज-संरक्षित धर्म का प्रजा में प्रसारित होना नितांत स्वाभाविक ही था। भारत के विभिन्न भागों में इस धर्म का पर्याप्त प्रचार हुआ। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में कलिंग के शासक खारवेल के द्वारा इसे महती प्रेरणा प्राप्त हुई। वह स्वयं जैन धर्म का अनुयायी था तथा इसके विकास के लिए भी उसने श्लाघनीय कार्य किए। उसकी संरक्षणात्मक कृतियों में एक सुविशाल जैन प्रतिमा की स्थापना विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो उसके जैन धर्मावलम्बन का व्यावहारिक परिचय देती है। कुषाण नरेशों के शासन-काल में यह धर्म बौद्ध धर्म का सबल प्रतिस्पर्द्धी था। इस समय इसके विकास का एक प्रतिष्ठित केन्द्र मथुरा था। मथुरा में ऐसी अनेक प्रस्तर मूर्तियाँ तथा अभिलेखांकित शिलापट्ट प्राप्त होते हैं जिनसे इस धर्म की महत्ता की जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि गुप्त काल में इसका उतना प्रसार नहीं हुआ, तथापि गुप्त नरेशों की धर्मसहिष्णु नीति के कारण इसकी गति अवरुद्ध नहीं हुई। इसकी सूचना देवरिया जिले के कहौम के स्तंभ लेख से मिलती है। इस लेख में सम्राट् स्कन्दगुप्त के राज्यैश्वर्य की प्रशंसा की गई है। इसके विवरण में पाँच जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। गुप्त काल के उपरान्त भी जैन धर्म का विकास होता रहा। दक्षिण भारत के प्रमुख राजवंश चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग एवं कदंब आदि के संरक्षण में इसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इनके शासन काल में जैन कला तथा साहित्य का अपूर्व विकास हुआ।

जैन धर्म की यह विकोसोन्मुखी प्रवृत्ति बहुत दिनों तक चल न सकी। हिन्दू धर्म के आचार्यों ने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया। दोषों के दूर होने के उपरान्त इसका जो नया रूप सामने आया उसमें पर्याप्त आकर्षण था। उत्तर भारत में तो इसकी प्रभुता गुप्त काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी, दक्षिण में भी इसका प्रसार तीव्र गति से होने लगा। हिन्दू धर्म का यह पुनरुत्थान बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म के लिए भी घातक सिद्ध हुआ। बारहवीं शताब्दी के आस-पास दक्षिण के प्रधान राजवंशों पर शैवमत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे जैन धर्म के घोर शत्रु हो गए। इस प्रकार हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान तथा राजसंरक्षण के अभाव के कारण जैन धर्म का अतीत गौरव तिरोहित हो गया तथा शैव एवं वैष्णव धर्म के सामने इसकी स्थिति गौण हो गई। यद्यपि बौद्ध धर्म की भाँति यह अपने जन्मस्थान से पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ, तथापि पहले की अपेक्षा इसके अनुयायियों की संख्या अत्यल्प थी।

वैष्णव धर्म

वैदिक धर्म के ह्रास के उपरान्त जिन धर्मों का उत्थान हुआ उनमें वैष्णव धर्म भी उल्लेखनीय है। इसे भागवत धर्म की भी संज्ञा दी गई है। वैष्णव धर्म वैदिक धर्म का सुधारवादी रूप था। बौद्ध तथा जैन धर्मों की भाँति कर्मकाण्डप्रचुर वैदिक धार्मिक पद्धति इसे भी मान्य नहीं थी, पर बौद्ध तथा जैन धर्मों की नास्तिक प्रवृत्ति के विपरीत यह धर्म घोर आस्तिकवादी था। जब बौद्ध एवं जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन अथवा संदिग्ध थे, वैष्णव मत के अनुयायियों ने ईश्वर की आराधना अथवा भक्ति के गौरव का प्रतिपादन कर इसे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक माना।

जैसा कि इस धर्म के नाम से स्वतः स्पष्ट है, इसके अराध्य देव विष्णु थे। इन्हें हरि, वासुदेव तथा नारायण आदि नाम भी दिए गए थे। पूर्व पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ऋग्वैदिक देवताओं में विष्णु का विशिष्ट स्थान था। पर वेदों के काल में ये उतने प्रसिद्ध नहीं हुए थे। इनकी महत्ता वेदोत्तर काल में प्रतिष्ठित हुई, जबकि इन्हें प्रधान देवता के रूप में स्वीकार किया गया। उत्तरकालीन ग्रन्थों के साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों ने जिस ब्रह्म का निरूपण किया था, उसका तादात्म्य विष्णु से स्थापित किया गया। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण में कहा गया है कि हरि परम् ब्रह्म, परम धाम तथा परम् रूप हैं। इनकी आराधना करने से मनुष्य अतिदुर्लभ मुक्ति पद को प्राप्त करता है।

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥

(विष्णपुराण)

वैष्णव धर्म में जो आराधना अथवा भक्ति का विकास हुआ, वह इसकी परम विशेषता थी। स्मरणीय है कि बीज रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा ऋग्वेद काल में ही स्थापित हो चुकी थी। ऋग्वेद के उन मंत्रों द्वारा भक्ति उद्भासित होती है जिनमें वैदिक ऋषि द्यौस् को पिता तथा अदिति को अपनी माता के रूप में देखता है। उपनिषदों के काल में इसका रूप परिवर्द्धित हो जाता है। औपनिषदिक मनीषी के मन्तव्य के अनुसार व्यक्ति की आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह विश्वात्मा का अंगमात्र है। पार्थिव बंधन से आत्मा की मुक्ति उपनिषदों का लक्ष्य है। पर यह लक्ष्य तभी संभव होता है जब विश्वात्मा करुणावान होता है। अतएव औपनिषदिक वाङ्मय में उपासना पर बल दिया गया। वैष्णव धर्म में भक्ति का जो विकास हुआ, उस पर औपनिषदिक उपासना का प्रभाव माना जा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म की आधारभूत भावभूमि के आदि चिह्न इसके विकास के पहले ही प्रकाश में आ चुके थे।

वैष्णव धर्म का विकास अपेक्षाकृत धीरे-धीरे हुआ। इसका प्रारम्भ मथुरा में हुआ था। इसके प्रथम अनुयायी सात्त्वत नामक जाति के लोग थे। सात्त्वत जाति यादवों की ही शाखा थी, जो मथुरा

में बस गई थी। इस धर्म के प्राथमिक स्वरूप में वैदिक धर्म के प्रति सुधारात्मक दृष्टिकोण था। हिंसाबहुल वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता को प्रकाशित करते हुए इसने देवाधिदेव की भक्ति को अधिक श्रेयस्कर तथा अनुसरणीय बताया। बौद्ध धर्म की भाँति इसमें भी कठोर तपश्चर्या को स्थान नहीं था। अपनी आडम्बरविहीन सरलता के कारण वैष्णव धर्म उत्तरोत्तर व्यापक होने लगा। इसकी व्यापकता का एक अनन्य कारण विष्णु के व्यक्तित्व का विस्तार था। वैष्णव मत के अनुयायियों ने विष्णु को देवाधिदेव तो माना ही, इसके साथ ऋग्वेद में निरूपित इनकी विशेषताओं को पुनः प्रकाशित भी किया। उदाहरणस्वरूप विष्णु के तीन पदों की चर्चा की जा सकती है। ऋग्वेद में विष्णु को तीन पदों में समस्त विश्व को धारण करने वाला माना गया है। एक वर्णन के अनुसार विष्णु के त्रिविक्रम में समस्त भुवनों का निवास है—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति विश्वा।

(ऋग्वेद)

वैष्णव धर्म में आगे चलकर वामनावतार का जो विकास हुआ वह इसी का परिवर्द्धित रूप है। इसी प्रकार ऋग्वेद में विष्णु के 'परम पद' का उल्लेख हुआ है। इसमें मधु का स्रोत है तथा इसे प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य को असाधारण तृप्ति मिलती है—

तदस्य प्रियममि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णो परमे पदे मध्व उत्सः।

(ऋग्वेद)

वैष्णव धर्म में इस 'परम पद' की भावना को और भी संवर्धित किया गया। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण में इसका दार्शनिक अनुशीलन करते हुए कहा गया है कि पाप तथा पुण्य के नष्ट होने पर तथा शरीर की पुनः प्राप्ति के सभी कारणों के क्षीण होने के उपरान्त जहाँ पहुँचकर मनुष्य शोक को नहीं प्राप्त होते वहीं विष्णु का परम पद है—

अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणाशेषप्राप्तिहेतवः।
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्।

(विष्णुपुराण)

विष्णु के इन परम्परागत रूपों के उद्घाटन के साथ-साथ उनके स्वरूप में नवीन संयोजन भी किए गए। इनमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संयोजन था विष्णु तथा वासुदेव कृष्ण की एकता। इस परम्परा का सूत्रपात महाभारत तथा पुराणों के काल में हुआ। इस काल में वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रचलित हो चुकी थी। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि वैष्णव धर्म का प्रारंभिक विकास मथुरा में निवास करने वाली सात्त्वत नामक जाति में हुआ। इस

जाति को वृष्णि भी कहते थे। सात्त्वतों के उपास्य उनकी जाति के वीर वासुदेव अथवा कृष्ण थे। वासुदेव के स्वरूप में विष्णु का आरोप किया गया। वासुदेव सर्वेश्वर थे। इनमें सभी देवताओं का समाहार था। भगवद्गीता के अनुसार अनेक जन्मों के उपरान्त जब मनुष्य ज्ञानयुक्त होता है, उस समय वह वासुदेव को सब कुछ मानने लगता है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

(भगवद्गीता)

विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु सर्वत्र हैं, उनमें समस्त जगत् का निवास है; इसीलिए विद्वान् उन्हें वासुदेव कहते हैं—

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्भिः परिपद्यते॥

(विष्णुपुराण)

विष्णु एवं वासुदेव की भाँति वासुदेव तथा नारायण का तादात्म्य भी वैष्णव धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण था। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में ही नारायण की महत्ता प्रतिपादित हो चुकी थी। इन्हें एक अलौकिक तथा सर्वव्यापिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता था, जिसमें समस्त प्राणि समुदाय तथा दैव वर्ग का आभास था। अतएव वैष्णव धर्म में नारायणीय उपासना का पदविन्यास अथवा नारायण एवं वासुदेव की एकता इसके विकास में नितान्त सहायक सिद्ध हुई। जलमग्न पृथिवी द्वारा विष्णु की स्तुति के सम्बन्ध में विष्णुपुराण ने 'नारायण' शब्द की विशद पर्यालोचना की है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में उक्त पुराण का कथन है कि विष्णु को नारायण इसलिए कहते हैं कि नार अर्थात् जल ही उनका प्रथम अयन (निवास स्थान) है। इस प्रसंग में विष्णु तथा नारायण में एकत्व स्थापित करते हुए उक्त पुराण ने वासुदेव की आराधना को मोक्ष का साधन माना है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
वासुदेवमनाराध्य को मोक्षं समवाप्स्यति।

(विष्णुपुराण)

इन विशिष्टताओं से युक्त होने के उपरान्त वैष्णव धर्म का प्रसार मथुरा के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में भी होने लगा। इसमें न तो बौद्धों की नास्तिकता थी, न जैन मतानुयायियों की तपश्चर्या की कठोरता। इसके विपरीत इसके द्वारा धर्म का एक ऐसा स्वरूप सामने आया जिसमें देवभक्ति की प्रगाढ़ता थी। अतएव जनसमुदाय को यह अधिक प्रिय प्रतीत हुआ। द्वितीय शताब्दी ई० पू० की लिपि में उत्कीर्ण वेसनगर के पास एक अभिलेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि विदेशी जातियों में भी यह धर्म फैल चुका था। इस अभिलेख में तक्षशिला में

निवास करने वाला हेलियोडोरस नामक यूनानी अपने आपको भागवत घोषित करता है। इससे यह भी व्यक्त है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के आसपास यह धर्म तक्षशिला तक व्याप्त हो गया था। संभवतः कुषाण काल के अन्तिम चरण में इसे राज संरक्षण का भी सुअवसर प्राप्त हुआ था। सम्राट् कनिष्क तो बौद्धधर्म का ही अनुयायी था, पर उसके उत्तराधिकारी हुविष्क की कतिपय ऐसी मुद्राएँ मिली हैं जिन पर चार भुजाओं से युक्त विष्णु का आकार उत्कीर्ण है। हुविष्क का उत्तराधिकारी वासुदेव भी, जिसके नाम से ही सुव्यक्त है, वैष्णव धर्म का ही अनुयायी रहा होगा। इतना होते हुए भी कुषाण-काल में वैष्णव धर्म का अपेक्षित विकास न हो सका था। इस काल के जितने अभिलेख प्राप्त हुए हैं वे अधिकांशतः बोधिसत्व की प्रतिमाओं पर ही उत्कीर्ण हैं। पर गुप्त नरेशों के आविर्भाव के उपरान्त इस धर्म का प्रसार तीव्र गति से होने लगा। इस वंश के कतिपय शक्तिशाली नरेश, उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्म के महान् संरक्षक थे। इनकी मुद्राओं पर 'परम भागवत' शब्द उत्कीर्ण मिलता है। इनके अभिलेख भी इसी दिशा में प्रकाश डालते हैं। मेहरौली के लौह-स्तंभ-लेख में वर्णन आता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों के शत्रुओं को पराजित करने के उपरान्त चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णु की ध्वजा की स्थापना की थी। प्रस्तुत अभिलेख में चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय) को विष्णु का भक्त बतलाया गया है—

तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णोः मतिं।
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।।

(मेहरौली लौह-स्तंभ का अभिलेख)

जूनागढ़ के अभिलेख में, जो स्कन्दगुप्त के समय का है, विष्णु की स्तुति करने के उपरान्त ही इस लेख के विवेच्य विषयों का निरूपण किया गया है—

श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां
त्रिदशपतिसुखार्थं यो वलयराजहारः।
कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः।
स जयति विजितार्त्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः।।

(जूनागढ़ का अभिलेख)

इस अभिलेख के अन्तिम अंश में नगर के शासक चक्रपालित द्वारा चक्रपाणि विष्णु के मन्दिर के निर्माण कराए जाने का उल्लेख मिलता है—

विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र।
... ...
करितमवक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहं।

(जूनागढ़ का लेख)

इन अभिलेखगत साक्ष्यों का अनुमोदन साहित्यिक उद्धरणों के द्वारा भी होता है। प्रचलित मत के अनुसार यदि कालिदास की स्थिति गुप्तकालीन मानी जाय, तो तत्कालीन धार्मिक वातावरण के पुनर्निर्माण के संबंध में उनकी कृतियों का प्रयोग करना अप्रासंगिक न होगा। इस कवि के अविस्मरणीय काव्य रघुवंश में एक स्थल पर विष्णु की सर्वव्यापकता पर प्रकाश डालते हुए उनके स्वरूप को अपरिमेय माना गया है–

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दशव्याप्यदिशो महिम्ना।
विष्णोरिवस्यानवधारणीयमिहक्तया रूपमियत्तयावा।।

(रघुवंश)

गुप्तवंश के अतिरिक्त अन्य राजवंशों के काल में भी इसका विकास हुआ तथा उत्तर भारत के अतिरिक्त इसका प्रसार दक्षिण में भी हुआ। दक्षिण भारत में चालुक्य वंश के द्वारा इसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस वंश का मंगलेश नामक नरेश वैष्णव धर्म का महान् संरक्षक था। ज्ञात होता है कि इस नरेश ने एक गुफा का निर्माण कराया जिसमें विष्णु की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी।

उपर्युक्त साक्ष्यों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि नवीन धारणाओं एवं नवीन संयोजनों से परिवर्द्धित वैष्णव धर्म विभिन्न कालों में विकसित होता रहा। इसके विकास में अवतारवाद की भावना भी उल्लेखनीय है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि वैष्णव धर्म के मूल में वैदिक भावना सन्निहित थी। मौलिक रूप में अवतारविषयक भावना वैदिक काल से ही संबंधित है। ऋग्वेद में विष्णु के 'त्रिविक्रम' रूप का वर्णन आता है। इसका संबंध विष्णु के वामनावतार के साथ दिखाया जा सकता है।" शतपथ ब्राह्मणों में तो स्पष्ट रूप में वामन को विष्णु का रूपान्तर माना गया है। अवतार संबंधी भावना की झलक उपनिषदों के दार्शनिक वर्णनों में भी यत्रतत्र मिलती है। प्रारम्भ में विष्णु के अवतारों की संख्या केवल छः थी, पर आगे चलकर इनकी संख्या में अभिवृद्धि होती गई तथा जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ एवं बुद्ध भी विष्णु के अवतारों में परिगणित किए गए। अवतारवाद की पृष्ठभूमि में ऐसी धारणा प्रतिष्ठित थी कि युग पुरुष में दैवी शक्ति का सन्निधान रहता है तथा उसका अवतरण सज्जनों की रक्षा, दुष्कर्मियों के विनाश तथा धर्म की स्थापना के निमित्त होता रहता है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(भगवद्गीता)

वैष्णव धर्म से संबंधित उपर्युक्त तथ्यों का यदि संक्षिप्त विवेचन किया जाय, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय इतिहास में मध्ययुग की अवतारणा के पूर्व वैष्णव धर्म विकास के एक व्यापक ढाँचे में ढल चुका था। बौद्ध तथा जैन धर्म के विपरीत इसने एक ऐसा

लोच पकड़ा जो परिस्थितियों के अनुकूल ढलता गया। बौद्ध धर्म भारतीय समाज से विलुप्त हो रहा था और जैन धर्म का क्षेत्र सीमित था, पर वैष्णव धर्म उन अवयवों को प्रस्तुत कर रहा था जिनकी आधार-शिला पर मध्य युग के कतिपय महत्त्वपूर्ण तत्त्व रामानुज, निम्बार्क, चैतन्य तथा वल्लभ आदि आचार्यों के प्रयत्न स्वरूप विकसित हुए।

शैव धर्म

छठी शताब्दी के उपरान्त अभ्युदित प्रमुख भारतीय धर्मों में शैव धर्म का भी विशिष्ट स्थान था। यद्यपि यह धर्म वेदोत्तरवर्त्ती काल में ही अपने महत्त्वपूर्ण स्तर को प्राप्त कर सका, तथापि इस धर्म के उपास्य देव शिव की उपासना के तत्त्व पहले से मिलने लगते हैं। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के पुरुष देवता में जिन स्वरूपों का सन्निधान है उनसे इस काल में शिव की उपासना अभिव्यंजित होती है। जहाँ तक वैदिक संस्कृति का सम्बन्ध है ऋग्वेद के काल में शिव के रुद्र रूप की पूजा होती थी। रुद्र से संबंधित ऋग्वैदिक उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विष्णु की अपेक्षा रुद्र की स्थिति गौण तथा अप्रसिद्ध थी। संपूर्ण ऋग्वेद में रुद्र के ऊपर विरचित केवल तीन सूक्त उपलब्ध होते हैं, पर आगे चलकर यजुर्वेद संहिता के काल में रुद्र के स्वरूप में परिवर्त्तन होने लगा। जब कि ऋग्वैदिक रुद्र का रूप उग्र है, यजुर्वेद में निरूपित रुद्र भयंकर होने के साथ-साथ शुभ, पापनाशक तथा मंगलकारी भी हैं—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोटा पापनाशिनी।
असौ.................. ..सुमंगलः।

(शुक्लयजुर्वेद)

अथर्ववेद की रचना के समय इनकी स्थिति पहले की अपेक्षा और अधिक महत्त्वपूर्ण हुई। वाजसनेय संहिता (शुक्लयजुर्वेद) में रुद्र के जिस शुभ-अशुभ स्वरूप का समन्वय किया गया, वह अथर्ववेद में अधिक विकसित रूप को प्राप्त होता है। इनके स्वरूप में उन नामों का भी समाहार किया गया जो कालांतर में शिव के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रचलित हुए। इन नामों में महादेव, शर्व, भव, ईशान, पशुपति तथा भूतनाथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उक्त वैदिक धारणा की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्ता इस रूप में भी मानी जा सकती है कि वेदोत्तरवर्त्ती काल में शैव धर्म में अनेक परिवर्त्तनों एवं परिवर्द्धनों के आविर्भूत होने पर भी इनका निर्वाह होता रहा। पौराणिक वाङमय में, जो परवर्ती काल का प्रतिनिधि साहित्य है, रुद्र शिव के वैदिक स्वरूप का प्रभाव अनेक स्थलों पर दिखाई देता है। जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में बहुधा उनके उग्र रूप का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के एक छन्द में रुद्र के पुरुषघातक तथा गोघातक शस्त्र वर्णित किए गए हैं—

आरे ते घोरं गोघ्नमुत पूरुषघ्नं'...

(ऋग्वेद)

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र से देवगण भयत्रस्त रहते हैं—

एषोऽत्र रुद्रो देवता...तस्माद्देवा अबिभयुः

(शतपथ ब्राह्मण)

पौराणिक प्रभावात्मक प्रवृत्ति के अनुसार भी शिव भयंकर हैं, वे उग्र रूप धारण करते हैं तथा क्रोध के आगार हैं—

भीमाय चोग्ररूपधराय च...क्रोधागारः प्रसन्नात्मा।

(वायुपुराण)।

रौद्र स्वरूप के परिकल्पन के अतिरिक्त शिव के सम्बन्ध में ऐसी अनेक वैदिक भावनाएँ हैं जिनकी झलक पौराणिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। विशेषतया रुद्र के शिव तथा अशिव स्वरूप का समन्वय वैदिक विचारधारा का प्रभाव ही प्रतीत होता है।

पर सामान्य दृष्टि से वैदिक तथा वेदोत्तरवर्त्ती साक्ष्यों की तुलनात्मक समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरवर्त्ती काल में इस देवता का स्वरूप शुभ तथा विष्णु की भाँति इनकी महत्ता भी देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वायुपुराण में 'महादेव' शब्द की व्युत्पत्ति समझाते हुए कहा गया है कि शिव को इस नाम से इसलिए अभिहित करते हैं कि वे सभी देवताओं की अपेक्षा महान् हैं—

देवेषु महान् देवः महादेवस्ततः स्मृतः।

(वायुपुराण)

पुराणों के अतिरिक्त अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थ भी शिव की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। रघुवंश में कालिदास ने शब्द तथा अर्थ के समान अविभिन्न शंकर तथा पार्वती को जगत् का जनयितृ स्वीकार कर उनकी भावप्रवण वन्दना की है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

(रघुवंश)

इसी प्रकार कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिव की चरण रज को वाणासुर के सिर द्वारा लालित, दशानन के चूडामणि को चुंबित करने वाला, सुर एवं असुरों के शिखान्त पर शयन करने वाला तथा भव-भय का उच्छेदक माना है—

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिताः दशास्यचूडामणिचक्रचुंबिनः।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनः भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः।।

(कादम्बरी, पूर्वभाग)

रुद्र शिव की महत्ता के प्रतिपादन होने पर वैष्णव धर्म की भाँति शैव धर्म भी अपनी अनेक विशेषताओं के साथ विकसित होने लगा। इसके विकास के इतिहास में सम्प्रदायों के अभ्युदय का स्थान महत्त्वपूर्ण था। सबसे प्राचीन सम्प्रदाय का नाम पाशुपत था। इसका अभ्युदय प्रायः वैष्णव धर्म में वासुदेव कृष्ण की उपासना के साथ-साथ हुआ। इसके उपास्य तथा संस्थापक का नाम लकुलिन् अथवा नकुलिन् था। आगे चलकर शैव धर्म में कापालिक तथा कालामुख नामक सम्प्रदाय भी स्थापित हुए। इनकी ऐतिहासिक महत्ता इस दृष्टि से है कि शैव धर्म का तत्कालीन तथा उत्तरवर्ती विकास इन्हीं सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि में हुआ।

बौद्ध तथा वैष्णव धर्मों की भाँति शैव धर्म में भी अनुयायियों के लिए आकर्षक तत्त्व सन्निहित थे। अतएव इसका अनुसरण न केवल भारतीयों ने किया, अपितु विदेशी जातियाँ भी इसे स्वीकार करने लगीं। इसका समर्थन पुरातत्त्व के साक्ष्यों से संतोषजनक रूप में हो जाता है। कुषाण सम्राट् वमाकाडफिसीज की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव तथा उनके वाहन नन्दी का अंकन मिलता है। इस नरेश की कुछ मुद्राओं पर 'माहेश्वर' शब्द उत्कीर्ण है। वह निर्विवादतः शैव धर्म का अनुयायी माना जा सकता है। कुषाण साम्राज्य के अधःपतन के उपरान्त जिन गुप्त सम्राटों का आविर्भाव हुआ उनकी धर्मसहिष्णु नीति के कारण शैव धर्म द्रुतगति से विकसित होने लगा। इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल है। ऊपर इस बात का निर्देश दिया जा चुका है कि यह नरेश वैष्णव धर्म का अनुयायी था। पर उसका सचिव वीरसेन शैव मत का मानने वाला था। इस काल के प्रसिद्ध उदयगिरि गुहा के लेख से ज्ञात होता है कि शक अभियान के काल में इसने अपनी शिव भक्ति को व्यावहारिक रूप देने के लिए इस गुहा का निर्माण कराया था—

कृत्स्नपृथ्वी जयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।
भक्त्या भगवतश्शंभोर्गुहामेतामकारयत्।

(उदयगिरि गुहा लेख)

प्रसंगतः इस विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि बहुत समय तक वैष्णव तथा शैव धर्म बिना किसी विरोध अथवा स्पर्द्धा के एक साथ विकसित हो रहे थे। वस्तुतः विभिन्न धर्मों में अथवा देवताओं में समन्वयात्मक दृष्टिकोण भारतीय धार्मिक विचारधारा की विशेषता रही है जिसने भारतीय संस्कृति को सर्वदा अनुप्राणित किया है। इसका उद्‌गम वैदिक काल में ही हो चुका था। वैदिक भावना के अनुसार सत् एक ही है पर विद्वान् उसका वर्णन विभिन्न रूपों में करते हैं (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)। आगे चलकर जबकि वैष्णव तथा शैव धर्म विकसित हो रहे थे, समन्वयात्मक भावना से इसका प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। प्रस्तुत

प्रसंग में वायुपुराण का एक उद्धरण दिया जा सकता है। इसके अनुसार शंकर और विष्णु दोनों ही देवता महान् देवता हैं तथा दोनों में प्रगाढ़ अनुराग विद्यमान रहता है—

ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस्तु महतः परः।
कथमत्र विष्णो रुद्रेण सार्द्धं प्रीतिरनुत्तमा।। (वायु पुराण)

गुप्त काल में लिंग के माध्यम से भी शिव की उपासना का उल्लेख प्राप्त होता है। लिंगोपासना की प्राचीनता की चर्चा सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्व में की जा चुकी है। ऋग्वेद में उल्लिखित 'शिश्नदेव' के आधार पर कभी-कभी यह कहा जाता है कि इस शब्द से लिंगोपासना प्रतिध्वनित होती है। कुछ विद्वानों ने सायणाचार्य के मत को अधिक संगत माना है जिसके अनुसार शिश्नदेव का अर्थ अब्रह्मचारी होता है (शिश्नदेव दीव्यन्त क्रीडन्तइति शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या इत्यर्थः)। पर आगे चलकर लिंग पूजा निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। महाभारत तथा मत्स्यपुराण आदि विभिन्न ग्रन्थों में इसके स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। इसकी सूचना चन्द्रगुप्तकालीन मथुरा के अभिलेख से भी मिलती है। इसके वर्णन के अनुसार उदित नामक शैव आचार्य ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सम्मान में शिव-लिगों की प्रतिष्ठा की थी। शैव धर्म के अधिक विकसित होने पर लिंगोपासकों ने अपना एक सम्प्रदाय भी बनाया जो लिंगायत अथवा वीरशैव के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुप्त काल के उपरान्त भी शैव धर्म निर्बाध रूप में गतिशील रहा। हर्षवर्द्धन के शासन काल में यह जनसमुदाय का प्रिय धर्म था। इसकी सूचना कादंबरी, हर्षचरित तथा हुएनसांग के विवरण के आधार पर मिलती है। हुएनसांग के अनुसार इस समय तक वाराणसी शिव धर्म का विश्रुत केन्द्र हो चुका था। थानेश्वर नामक नगर में प्रत्येक गृही शिव की उपासना करता था। स्वयं हर्षवर्द्धन बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के पूर्व शिव के उपासक थे। उनके समकालीन कामरूप तथा बंगाल के शासक भी शैवधर्म के अनुयायी थे। दक्षिण में इसे राष्ट्रकूट तथा चोल नरेशों के द्वारा महती प्रेरणा मिली। इनके काल में निर्मित शैव मन्दिर इस समय भी शैव धर्म के व्यापक प्रचलन की सूचना देते हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य युग के आविर्भाव के पूर्व शैव धर्म का पर्याप्त विकास हो चुका था तथा इसमें उन तत्त्वों की प्रतिष्ठा हो गई थी जिनकी पृष्ठभूमि में आगे चलकर इस धर्म के सिद्धान्त, आचार तथा दार्शनिक पर्यालोचन का विस्तार हुआ।

अन्य धर्म तथा धार्मिक प्रचलन

मध्य युग की अवतारणा के पूर्व भारतीय समाज में कतिपय अन्य देवी देवताओं की भी उपासना होती थी, जिनमें सूर्य, शक्ति, स्कन्द, ब्रह्मा तथा कुबेर आदि उल्लेखनीय हैं।

सूर्य की उपासना वैदिककाल से चली आ रही थी। इस समय सूर्यपूजा की पद्धति सरल थी, पर वेदोत्तरवर्त्ती काल में इसमें आडम्बर आ गया। इस समय सूर्य के उपासक व्रत, दान तथा मूर्तिपूजा में विश्वास करने लगे। गुप्त-काल में सूर्यमन्दिर विद्यमान थे। इसके विषय में सूचना हमें मन्दसोर एवं इन्दौर के लेख से प्राप्त होती है। शक्ति के उपासक रुद्राणी, शिवा, पार्वती, लक्ष्मी तथा सरस्वती आदि देवियों की पूजा करते थे। शक्ति-पूजा के अवसर पर मांस तथा मदिरा का प्रयोग बहुलता के साथ किया जाता था। सातवीं शताब्दी के लगभग शक्ति की उपासना शाक्त धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसमें तांत्रिक रूप का अभ्युदय हुआ तथा उत्तरवर्त्ती कालों में इसका स्वरूप और भी आडम्बरबहुल एवं जटिल हो गया। जनसमुदाय में इसके अतिरिक्त नाग, यज्ञ, गंधर्व तथा वृक्ष की भी पूजा प्रचलित थी। धीरे-धीरे सर्वसाधारण के धर्म में पौराणिक कथा, धार्मिक उत्सव, व्रत, दान, दीक्षा तथा तीर्थयात्रा आदि का विकास हुआ। अब यज्ञ केवल राजवर्ग के द्वारा ही संपन्न किए जाने लगे। तीर्थयात्रा आदि की आडम्बरविहीनता ने जनसाधारण को इतना आकृष्ट किया कि उनके धर्म से यज्ञ विलुप्त होने लगे। तीर्थयात्रा के समर्थकों ने धर्म की सादगी पर बल दिया। इन्होंने यह प्रतिपादित किया कि यज्ञ में अनेक उपकरण तथा बहुमूल्य पदार्थों की आवश्यकता रहती है। उसे केवल पार्थिव अथवा समृद्ध व्यक्ति ही संपन्न कर सकते हैं। इसके विपरीत तीर्थयात्रा एक ऐसा धार्मिक निष्पादन है जिसका आचरण दरिद्र भी कर सकते हैं—

बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
यो दरिद्ररपि विधिः शक्यः. . .तुल्यो यज्ञफलैः
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।।

इस विकास-क्रम को देखते हुए कहा जा सकता है कि मध्ययुग के आविर्भाव के पूर्व भारतीय धर्म का स्वरूप अनेकांगी हो चुका था। इस समय नाना धार्मिक विश्वासों का उद्गम हुआ जिनका मध्यकालीन धर्म के स्वरूप-निर्धारण में महान् योगदान था।

मध्ययुग की धार्मिक स्थिति

भारत के धार्मिक इतिहास में मध्ययुग अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह युग प्राचीन तथा अर्वाचीन युग की धार्मिक प्रवृत्तियों के संगठन का काल है। जिस प्रकार हम इस यग में उद्भासित धार्मिक सिद्धान्तों का विशदीकरण तथा प्रचुर विकास पाते हैं, उसी प्रकार परवर्त्ती हिन्दी साहित्य के विकास काल की धार्मिक उन्नति के बीज भी इस काल में हमें उपलब्ध होते हैं। भारतवर्ष तीन सम्प्रदायों की क्रीड़ा भूमि रहा है—वैदिक धर्म, जैन धर्म, तथा बौद्ध धर्म की उत्पत्ति तथा अभ्युन्नति मध्ययुग से पहले ही सम्पन्न हो चुकी थी। फिर भी इस काल में इनके सिद्धान्तों को नवीन दिशा में विस्तार प्रदान करने वाले धार्मिक

आचार्यों की कमी न थी। बौद्ध धर्म में भी विशेष तात्त्विक अनुसंधान किए गए। वैदिक धर्म की तो बात ही निराली है। इस धर्म के बहुमुखी विस्तार तथा प्रसार का यह सुवर्ण युग है। इस काल की धार्मिक प्रवृत्तियों को बिना ठीक-ठीक समझे हिन्दी साहित्य के धार्मिक तथ्यों का यथार्थ अनुसंधान करना असम्भव ही है।

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान

गुप्त युग की समाप्ति होते होते परमभागवत गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा था। पुराणों के नवीन संस्करण और अनेक स्मृतियों की रचना इस काल में हो चुकी थी। गुप्त नरेशों ने वैदिक धर्म की जागृति के लिए अश्वमेध की प्राचीन परिपाटी का भी उद्धार किया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक वैदिक पुनरुद्धार की लहर चारों ओर फैल गई। परन्तु बौद्ध धर्म अपनी मर्यादा को पुष्ट करने, अपने प्रभाव को व्यापक बनाने तथा ब्राह्मणों के प्रबल आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए कटिबद्ध था। वह चुपचाप बैठा सुख की नींद नहीं सो रहा था। उसमें काफी जीवन था। उसकी रगों में धार्मिक उन्माद था, बौद्ध विद्वानों में अपने धर्म को फैलाने की विशेष लगन थी। गुप्त युग तथा वर्धन युग को इस पारस्परिक आक्रमण के कारण वैदिक और बौद्ध-जैन तत्त्वज्ञानियों का संघर्ष युग कहना चाहिए। इसी युग में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति जैसे बौद्ध पंडितों ने बौद्ध-न्याय को जन्म देकर बौद्ध धर्म को प्रमाणशास्त्र की प्रबल युक्तियों से पुष्ट किया था। उधर वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद ने न्यायशास्त्र के ऊपर किए गए इन बौद्ध आक्षेपों का उत्तर बड़ी तत्परता तथा बुद्धिमत्ता के साथ देकर वैदिक धर्म की युक्तियुक्तता सिद्ध की। बौद्ध पंडितों का प्रधान लक्ष्य था श्रुति की प्रामाणिकता का खण्डन। उन्होंने वेद के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के खण्डन करने में कुछ भी उठा नहीं रखा। अतः इसके लिए ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रियाकलापों की ओर अध्यात्मविषयक सिद्धान्तों की विशुद्धि प्रमाणों के द्वारा पुरस्कृत करता। इस आवश्यकता की पूर्त्ति दो वैदिक आचार्यों ने की। इनके महनीय नाम हैं आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शंकर। ये दोनों महापुरुष धार्मिक इतिहास में मध्ययुग के प्रवर्त्तक हैं। मध्ययुगीन वैदिक पुनर्जागरण के ये ही जाज्ज्वल्यमान प्रतीक हैं। इस काल में वैदिक धर्म में जो शक्ति आई वह इन्हीं असाधारण महापुरुषों के अलौकिक प्रयासों का फल है। ये दोनों आचार्य उत्पन्न तो सुदूर प्रान्तों में हुए थे परन्तु इनका कार्यक्षेत्र समग्र भारतवर्ष था। कुमारिल (७०० विक्रमी) उत्तर भारत के निवासी थे और शंकर (आठवीं शताब्दी वि०) दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के। कुमारिल भट्ट को कुछ विद्वान् दक्षिण भारत के चूडामणि राज्य का निवासी तथा विख्यात बौद्ध आचार्य धर्मकीर्त्ति का पितृव्य मानते हैं परन्तु इसके लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते। कुमारिल से तीसरी शताब्दी में उत्पन्न मीमांसक-श्रेष्ठ शालिकनाथ ने इनका उल्लेख वार्त्तिककार 'मिश्र' के नाम से किया है। 'मिश्र' की उपाधि उत्तर भारत के ब्राह्मणों के नाम के साथ ही सम्बद्ध दिखाई पड़ती है। शालिकनाथ के इस

प्रमाण पर ही हम इन्हें उत्तर भारतीय मानते हैं। मैथिल पंडितों का प्रवाद है कि कुमारिल मिथिला निवासी मैथिल ब्राह्मण थे। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि इन्होंने अपने ग्रन्थों (दे० लेखक रचित 'शंकर दिग्विजय' की प्रस्तावना, पृ०२३-२४) तथा कार्यों से वैदिक धर्म की विपुल प्रतिष्ठा की। इन्होंने वेद के कर्मकाण्ड का प्रामाण्य युक्ति तथा तर्क के बल पर सिद्ध किया। इसके लिए इन्होंने कर्ममीमांसा के शबर स्वामी के भाष्य पर सुप्रसिद्ध टीका लिखी जो पांडित्य तथा प्रामाण्य में अद्वितीय है। यह व्याख्या ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है–(१) श्लोक वार्त्तिक–तीन सहस्र अनुष्टुप छन्दों का यह विशालकाय ग्रन्थ मीमांसा सूत्र के तर्कपाद (प्रथम अध्याय के प्रथमपाद) की टीका है। (२) तन्त्र वार्त्तिक–यह प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद से लेकर तृतीय अध्याय तक की प्रकाण्ड गद्यात्मक व्याख्या है। (३) टुप् टीका–चतुर्थ अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक के शाबर भाष्य पर संक्षिप्त गद्यात्मक टिप्पणी। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए कुमारिल ने नालन्दा बिहार में छद्मवेश में रहकर बौद्ध धर्म भी स्वीकार किया था। इसीलिए इनका बौद्ध धर्म का ज्ञान तथा समीक्षण बहुत ही सांगोपांग था। धार्मिक इतिहास में कुमारिल वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने वाले महान् आचार्य के रूप में सदा विख्यात रहेंगे। बौद्ध धर्म तथा जैन पण्डित शब्द-प्रमाण के उपासक होने पर भी श्रुति को प्रामाण्य नहीं मानते थे तथा इससे सम्बन्धित तर्कों में प्रत्येक दोष दिखलाते थे। कुमारिल ने तर्क बल से सिद्ध किया कि शब्द नित्य है, इसका कोई भी रचयिता नहीं, इसीलिए वह अपौरुषेय (पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं) है। वेद के द्वारा प्रतिपादित यज्ञयाग का अनुष्ठान ही धर्म है। यज्ञ में हिंसा अनर्थकारिणी नहीं होती, प्रत्युत् मेध्य पशु को साक्षात् स्वर्ग में ले जाने में कारण बनती है। कर्मकाण्ड को तर्क, युक्ति के प्रबल आधार पर प्रतिष्ठित करना आचार्य कुमारिल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। 'भट्ट सम्प्रदाय' की स्थापना कर मीमांसा के अध्ययन-अध्यापन की इन्होंने जो परम्परा चलाई वह आज भी किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण है। इस कार्य में आचार्य प्रभाकर के अनुयायियों ने भी उन्हें सहयोग दिया, परन्तु मीमांसा के इतिहास में प्रभाकर की प्रभा बहुत दिन तक द्योतित न रह सकी। कुमारिल का मत ही मीमांसा का मान्य मत समझा जाता है।

कुमारिल ने वैदिक धर्म के महत्त्व को स्थापित करने के लिए वैदिक कर्मकाण्ड के प्रामाण्य को सिद्ध करने का जो कार्य किया वही कार्य शंकराचार्य ने वैदिक ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों के सिद्धान्त को पुष्ट प्रामाणिक तथा तथ्य सम्पन्न सिद्ध करने के क्षेत्र में अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा किया है। आचार्य शंकर का कार्य अत्यन्त व्यवस्थित, व्यापक तथा प्रतिभाशाली था। वे केवल ३२ वर्ष ही जीवित रहे, परन्तु इतने स्वल्प काल में जितना विस्तृत तथा प्रकाण्ड कार्य उन्होंने प्रस्तुत किया है वह आलोचकों को विस्मय में डाल देता है। उन्होंने वैदिक साहित्य परम्परा के तीन मूल ग्रन्थ––प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र––पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्त के विशाल प्रासाद को खड़ा किया। उनका काव्य भी कला तथा माधुर्य से युक्त है। उनका जीवन कर्मयोग का उज्ज्वल प्रतीक था। उन्होंने

अपने भाष्यों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन्हीं का पालन अपने जीवन में किया। शंकराचार्य के उपदेशों के प्रभावशाली होने का रहस्य इसी बात में है कि वे अनुभव की दृढ़ भित्ति पर आश्रित हैं। संन्यासियों की संघ रूप में प्रतिष्ठा तथा मठों की स्थापना आचार्य के कर्मठ जीवन के सबसे महत्वपूर्ण कार्य हैं। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण रखने और उसकी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए अपने काम को स्थायी बनाना नितान्त आवश्यक था। उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए शंकराचार्य ने पूर्वोक्त संस्थाओं की नींव डाली। आज भारतवर्ष में वैदिक धर्म की जो प्रतिष्ठा और मर्यादा दीख पड़ती है उसके लिए शंकराचार्य को अधिक श्रेय देना न्याय्य होगा। आचार्य का अद्वैतवाद भारतीय जनता का मान्य पथ-प्रदर्शक तत्त्वज्ञान है। उनके सिद्धान्त समझने में अनेक विद्वान् भ्रांत दीख पड़ते हैं। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् की सत्ता पारमार्थिक नहीं है। लोक व्यवहार के निमित्त जगत् बिलकुल सत्य है। अद्वैत वस्तुतः व्यावहारिक धर्म है। जगत् में पूर्ण साम्यवाद अद्वैत की मूल भित्ति है। व्यावहारिक धर्म होने के कारण ही आज संसार में, विशेषतः अमेरिका तथा यूरोप में, वेदान्त की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। (विशेष विस्तार के लिए देखिए—लेखक रचित 'शंकरदिग्विजय' की प्रस्तावना, पृ० ६८-९२ या 'शंकराचार्य', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)।

तांत्रिक मत का उदय

यह युग तान्त्रिक उपासना की उन्नति का था। मध्ययुग के आरम्भकाल में इस धर्म का सर्वसाधारण के बीच प्रचार किया जाने लगा। भारतीय सभ्यता के दो आधार पीठ हैं—निगम और आगम—वेद और तन्त्र। वेद के समान तन्त्र भी मान्य, प्रामाणिक तथा प्राचीन है। दोनों में अन्तर यही है कि वैदिक उपासना बाह्य है, सर्वत्र प्रकाश्य है, परन्तु तान्त्रिक उपासना आभ्यन्तर है, सर्वथा गोप्य है। अधिकारी को प्रदत्त विद्या ही सफल होती है। योग्य साधक को उपदिष्ट उपासना ही फलीभूत होती है। योग्य अधिकारी के अभाव के कारण तान्त्रिक विद्या इतनी गोप्य तथा गूढ़ मानी गई है। वैदिक यज्ञ-याग में भी तान्त्रिक आचार की सत्ता इस बात को प्रमाणित करती है कि दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। कुछ तन्त्र वेदबाह्य भी हैं, परन्तु वेदानुयायी तन्त्रों की संख्या भी कम नहीं है। इस युग में तीनों सम्प्रदायों में तान्त्रिक धर्म का अभ्युदय हुआ।

'तन्त्र' शब्द का व्यापक अर्थ है—शास्त्र या सिद्धान्त। तन्त्र का शब्दार्थ है—

> तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
> त्राणं कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

अर्थात्, वह शास्त्र जो तत्त्व और मन्त्र से समन्वित अर्थ का तनन (विस्तार) करता है और इस प्रकार साधकों का त्राण (रक्षण) करता है। (कामिक आगम)।

तन्त्र की दूसरी संज्ञा 'आगम' है। आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा योग तथा

मुक्ति के उपाय बुद्धि में आते हैं—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्याद् अभ्युदय निःश्रेयसोपाय: स आगमः (वाचस्पति मिश्र, तत्त्ववैशारदी, १७)। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप का विवेचन निगम करता है और उनके साधनों का वर्णन आगम करता है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का चिन्तन जिनमें किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो तथा उपासना के पाँचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र—व्यवस्थित रूप से दिखलाए गए हों, उन ग्रन्थों को तन्त्र कहते हैं।

वैष्णव तन्त्रों के दो प्रधान भेद हैं–१. पांचरात्र, २. वैखानस। आजकल पांचरात्र ही वैष्णव आगम का प्रतिनिधि माना जाता है। इसी का प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध होता है। वैखानस आगम का कभी बोलबाला था, परन्तु आजकल वह लुप्तप्राय हो गया है। पांचरात्र के नामकरण के भिन्न-भिन्न कारण बताए जाते हैं। रात्र का अर्थ है ज्ञान। परम-तत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार), इन पाँच विषयों के प्रतिपादक होने से इस आगम का नाम पांचरात्र पड़ा है। यह मत नारद पांचरात्र के अनुसार है। किन्तु महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस तन्त्र का यह विचित्र नाम है। इसका दूसरा नाम भागवत या सात्त्वत है। सात्त्वत यादव क्षत्रियों का नाम है। अतः विद्वानों का अनुमान है कि यादववंशी क्षत्रियों में विशेषतः प्रचारित होने के कारण ही यह सात्त्वत कहा जाता था। यह सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। स्पन्दकारिका में पांचरात्र श्रुति तथा पांचरात्र उपनिषद् से वचन उद्धृत किए गए हैं, जिससे इस आश्रम के श्रुतिसम्मत होने की बात प्रमाणतः पुष्ट होती है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह मत 'एकायन' के नाम से उल्लिखित है। इतना प्राचीन होने पर भी महाभारत युग में इसकी विशेष ख्याति बढ़ी। परन्तु पांचरात्र तन्त्र के प्रतिपादक संहिता ग्रन्थ मध्ययुग के प्रथमार्ध की रचना हैं। इन संहिताओं की संख्या १०८ से भी ऊपर बतलाई जाती है, परन्तु इनमें से प्रकाशित संहिताएँ एक दर्जन से ऊपर नहीं हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता, ईश्वर संहिता, कपिंजल संहिता, जयाख्य संहिता, पराशर संहिता, पाद्मतन्त्र, बृहत् ब्रह्म संहिता, भरद्वाज संहिता, विष्णु संहिता इस वैष्णव आगम के मान्य प्राचीन ग्रन्थ हैं। इसमें भी अहिर्बुध्न्य संहिता का महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से सबसे अधिक है। इन संहिताओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य के ऊपर साक्षात् न होकर परम्परा से माना जा सकता है। इनका सीधा प्रभाव रामानुजाचार्य के श्री वैष्णव मत पर और उससे संबद्ध होने के कारण रामानन्द तथा उनके वैष्णव सम्प्रदाय पर पड़ा। पांचरात्र संहिताओं और हिन्दी के वैष्णव साहित्य का परस्पर सम्बन्ध विद्वानों के लिए विशेष अनुसन्धान का विषय है।

पांचरात्र संहिताओं के विषय चार हैं–(१) ज्ञान, ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन और सृष्टितत्त्व का विवेचन, (२) योग–मुक्ति के साधनभूत योग और उसकी प्रक्रियाओं का वर्णन, (३) क्रिया–देवालय का निर्माण, मूर्ति के स्थापन में मूर्ति के विविध आकारों आदि का विशिष्ट वर्णन, (४) चर्या–आह्निक क्रिया, मूर्ति तथा मन्त्र का पूजन। इनमें मुख्य स्थान चर्या का ही है, जिसके वर्णन में आधे से अधिक स्थान दिया गया है। शेष आधे में सब से

अधिक क्रिया, क्रिया से कर्म ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। पांचरात्र की तत्त्व मीमांसा के ऊपर उसका साधन मार्ग अवलम्बित है। यह तन्त्र परमतत्त्व नारायण के उभय भावों अर्थात् निर्गुण और सगुण को स्वीकार करता है। नारायण सगुण तथा निर्गुण दोनों एक साथ है। प्राकृत गुणों से हीन होने के कारण वह निर्गुण है, परन्तु षड्गुणों से युक्त होने से सगुण है। भगवान् में जिन षड्गुणों का निवास है, वे हैं–ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज। इसीलिए नारायण 'षड्गुण विग्रह' कहलाते हैं। उनकी शक्ति का सामान्य नाम लक्ष्मी है। भगवान् अपनी लीला से जगत् के मंगल-साधन के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं–(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार, (४) अन्तर्यामी अवतार। वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की उत्पत्ति होती है और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की। यही चतुर्व्यूह सिद्धान्त पांचरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। शंकराचार्य (ब्रह्म-सूत्र, शांकरभाष्य २।२।४२-४५) के मन्तव्यानुसार यह मत उपनिषद् से सिद्ध होने के कारण वेदबाह्य है, परन्तु रामानुज ने इसे वैदिक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रयास किया है। विभव का अर्थ है अवतार। अर्चावतार से अभिप्राय मूर्तियों से है। जीव के हृदय में निवास करने वाले नारायण अन्तर्यामी कहे जाते हैं। जीव को जगत् के विपज्जाल से उन्मुक्त करने का एक ही साधन है—भक्ति, और उसका उदय भगवान् के शरणागत हुए बिना होता ही नहीं। शरणागति की मीमांसा वैष्णवों ने अत्यन्त सुचारु रूप से की है। वैष्णव भक्त को 'पंचकालड़ा' कहते हैं, क्योंकि वह अपने समय को पाँच भागों में बाँट कर भगवत् पूजन में निरन्तर लगा रहता है। पंचकालों के नाम हैं–(१) अभिगमन, (२) उपादान, (३) इज्या, (४) अध्याय तथा (५) योग। मुक्ति का नाम है ब्रह्मभावापत्ति, क्योंकि भक्ति तथा शरणागति के बल पर जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। पांचरात्र जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु वह अद्वैत वेदान्त के प्रतिकूल विवर्तवाद का अनुयायी न होकर परिणामवाद का पक्षपाती है।

वैष्णव तन्त्र के वैखानस आगम का प्रभाव दक्षिण भारत के वैष्णव धर्म पर किसी समय बहुत अधिक था, परन्तु रामानुजाचार्य ने पांचरात्र पद्धति को ही अपनाया और सब मन्दिरों में उसी का प्रचार किया, फलतः वैखानस आगम का ह्रास हो गया। फिर भी तिरुपति के विष्णु-मन्दिर में इसी आगम की पद्धति से आज भी भगवान् की अर्चा सम्पन्न होती है। पांचरात्रों के साथ इनका विरोध क्रिया तथा चर्या के विशिष्ट विधान में ही है।(विस्तार के लिए देखिए–भारतीय दर्शन, पृ० ४७२-४७५)। उत्तर भारत के वैष्णव मत पर इस आगम का विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता।

शैव तन्त्र

शैव मत में भी तन्त्रों के अनेक प्रभेद मध्ययुग में उत्पन्न हुए। 'पाशुपत' सम्प्रदाय की प्रभुता भारत के पश्चिमी भाग में थी। दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदाय का प्रचार था।

कश्मीर में अद्वैतवादी 'त्रिक्' या 'प्रत्यभिज्ञा' मत का अखाड़ा था। इन मतों का विपुल साहित्य इनकी प्राचीनता, व्यापकता और प्रभावशीलता का साक्षात् निदर्शन है। शाक्त तन्त्रों के नाना प्रकारों का विकास इसी युग की उग्र धार्मिक प्रवृत्ति का परिचायक है। इन तन्त्रों से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु अभी तक प्रकाश में आने का गौरव कुछ ही ग्रन्थों को हुआ है। इन मतों का प्रभाव हिन्दी संसार के ऊपर बहुत ही कम पड़ा है। अतः मध्ययुग की साधना धारा से सम्बद्ध होने पर भी हिन्दी साहित्य के विकास युग में इनका प्रचार तथा प्रसार बहुत ही कम था।

वैष्णव सम्प्रदाय

हिन्दी साहित्य में वैष्णव धर्म के नाना सम्प्रदायों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, क्योंकि हिन्दी जगत् इन सम्प्रदायों की लीलाओं का ललित निकेतन रहा है। अतः वैष्णव मत के इन सम्प्रदायों का अनुसन्धान तथा समीक्षण हिन्दी साहित्य की भूमिका के रूप में करना नितान्त आवश्यक है। वैष्णव धर्म में नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत माने जाते हैं। नारायण से ही भक्ति और ज्ञान की धाराएँ आरम्भ हो कर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती हैं। भगवान् ही अद्वैत दर्शन के समान वैष्णव दर्शनों के भी उद्गम स्थान हैं। नारायण—शुकदेव—गौड़पाद—गोविन्द भगवत्पाद—शंकराचार्य—यह अद्वैत मार्ग की मुख्य आचार्य परम्परा है। भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार नारायण के चार सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक शिष्य हुए—१. श्री (श्री वैष्णव सम्प्रदाय), २. ब्रह्मा (ब्रह्म सम्प्रदाय), ३. रुद्र (रुद्र सम्प्रदाय), ४. सनत्कुमार (सनक सम्प्रदाय)। ऐतिहासिक काल में इन सम्प्रदायों को लोक में प्रचारित तथा विश्रुत करने का श्रेय चार आचार्यों को है—(१) श्री वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार आचार्य रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैत' दर्शन में किया, (२) ब्रह्म सम्प्रदाय का आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) ने 'द्वैत' मत में, (३) रुद्र सम्प्रदाय का विष्णुस्वामी तथा तदनन्तर वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैत' मत में, (४) सनक सम्प्रदाय का आचार्य निम्बार्क ने 'द्वैताद्वैत' में किया है। मध्ययुग के अन्तिम काल में गौड़ देश में चैतन्य सम्प्रदाय का उदय हुआ, जो ऐतिहासिक दृष्टि से माध्व मत की शाखा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से 'अचिन्त्यभेदाभेद' का प्रवर्त्तक है। पांचरात्र का प्रामाण्य सबको मान्य है, परन्तु श्री वैष्णव मत पर इसका प्रभाव अत्यधिक है। पुराणों में विष्णुपुराण रामानुज को तथा मध्व को मान्य है, श्रीमद्भागवत पुराण वल्लभ तथा चैतन्य सम्प्रदाय के सर्वस्व हैं। प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता—सभी दार्शनिकों को समान भाव से मान्य है, परन्तु वल्लभ और चैतन्य मत भागवत के सिद्धान्तों का विलास है। व्यासदेव की समाधि भाषारूप भागवत का प्रामाण्य इन मतों में प्रस्थानत्रयी के समकक्ष ही अभीष्ट है।

वेदाः श्री कृष्णकाव्यानि व्याससूत्राणिचैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥

(शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड, पृष्ठ ४९)

वैष्णव मतों के सामान्य सिद्धान्त

दार्शनिक दृष्टियों में विभिन्नता होने पर भी वैष्णव मतों में अनेक सिद्धान्त समान रूप से आदरणीय तथा मान्य हैं—

(क) मायावाद का खण्डन–शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित मायावाद का सिद्धान्त किसी भी वैष्णव मत को मान्य नहीं है, क्योंकि उस सिद्धान्त की स्वीकृति भक्ति के तत्त्व की मान्यता के लिए नितान्त विरुद्ध है। इसीलिए मायावाद का खण्डन इन सब सम्प्रदायों ने बड़े आग्रह के साथ किया है।

(ख) भक्ति की उपादेयता–मोक्ष के साधन में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की ही सर्वाधिक उपादेयता है। ज्ञान की अग्नि तो सब कर्मों को भस्म कर देती है। फलतः ज्ञान के साथ कर्म का सामञ्जस्य नहीं होता, परन्तु भक्ति के साथ कर्म का सामञ्जस्य सर्वथा निष्पन्न होता है। प्रत्युत वह फल देने में एकान्त साधिका भी है, इसीलिए श्रीमद्भागवत में, जो वैष्णव शास्त्र का परमाश्रय ग्रन्थ है, ज्ञान की साधना की तुलना भूसा कूटने से दी गई है जिसमें एक दाना भी हाथ नहीं लगता, प्रत्युत हाथों को महान् क्लेश उठाना पड़ता है—

श्रेयः स्रुतिभक्तिमुदस्यते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(भागवत १०।१४।४)

(ग) भगवान् की साकारता–परम तत्त्व भगवान् का सगुण, साकार तथा सविशेष रूप ही सर्वथा मान्य है। भगवान् अनन्त कल्याण और गुणों के निकेतन हैं, समस्त प्राकृत गुणों से हीन हैं और इसीलिए उपनिषदों में वे निर्गुण शब्द के द्वारा भी अभिहित किए जाते हैं। वे परम स्वतन्त्र हैं, उनका पर भाव नितान्त दिव्य है, परन्तु भक्तों की रसमयी भक्ति के अधीन हो कर वे मानव विग्रह की धारणा करते हैं, फिर भी यह केवल लीला के लिए ही होता है।

(घ) जीव का अणुत्व–वैष्णव मतों में जीव सर्वथा ही अणुरूप है। भगवान् विभु हैं तथा व्यापक हैं, परन्तु जीव उनका अंश है तथा अणुरूप से उसकी स्थिति है।

(ङ) विदेह मुक्ति की सत्यता–वैष्णव मत में 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं, केवल 'विदेह-मुक्ति' की ही सत्यता सिद्ध होती है। जब तक हम देह के साथ सम्बन्ध रखते हैं, तब तक जीव के क्षीण होने वाले दुःख भी सर्वदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते। इसीलिए इस देह में पूर्ण दुःख क्षय न होने से जीवनमुक्ति की कल्पना वैष्णवों को मान्य नहीं। विदेह मुक्ति की दशा में जीव भगवान् के सान्निध्य में उनकी सेवा अथवा कैंकर्य से परम आनन्द को पाता है।

(च) मुक्तों की दैहिक स्थिति–मुक्त आत्माओं के जीवन का चरम लक्ष्य होता है भजन और इस भजन के लिए उन्हें देह की प्राप्ति होती है, परन्तु यह देह शुद्ध सत्त्वमय होती है, जिसमें रजस् तथा तमस् का अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं होता। अतः यह देह प्राकृत उपादानों से निर्मित

न होने से अप्राकृत होती है। इस नित्य देह की प्राप्ति होने पर ही जीव भगवान् के साथ नित्य लीलाएँ कर सकता है।

(छ) मुक्ति-दशा में भी भेद की सत्ता—मुक्त दशा में जीव तथा भगवान् के साथ किंचित् भेद बना ही रहता है। सालोक्य मुक्ति में तो समान लोक में स्थिति होने से भेद की सत्ता दुर्निवार है। सामीप्य मुक्ति में एकरूपता होती अवश्य है, परन्तु यहाँ भी भेद के लिए अवकाश बना रहता है। एक वृत्त के ऊपर जब दूसरा वृत्त रखा जाता है, तब दोनों वृत्त एकाकार प्रतीत होते हैं, परन्तु फिर भी उनमें भेद बना ही रहता है। सायुज्य मुक्ति पाने वाले जीवों की भी ठीक ऐसी ही स्थिति होती है। देखने में तो वे भगवान् के साथ एक आकार को धारण करते हुए दीख पड़ते हैं, परन्तु यहाँ भी जीव अपनी वैयक्तिक सत्ता भगवान् से पृथक् ही रखता है। वैष्णव दर्शनों की यही मान्यता है।[1]

वैष्णव मतों का पार्थक्य

इन वैष्णव मतों में जीव, ईश्वर, मुक्ति तथा भुक्ति की कल्पना में साम्य है, परन्तु इनमें जो परस्पर भेद दीख पड़ता है, वह जीव तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध के ऊपर आश्रित है। चैतन्य मत भगवान् को अचिन्त्य शक्तियों का आधार मान कर 'अचिन्त्य भेदाभेद' का पोषक है तो वल्लभ मत माया सम्बन्ध से एकान्त रहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास रखता है (शुद्धाद्वैत-वाद)। माध्व मत की दृष्टि में जीव ईश्वर से सदा-सर्वदा तथा सर्वथा भिन्न है। यह भिन्नता इतनी वास्तविक है कि वह मुक्त दशा में भी सर्वथा विद्यमान रहती है (द्वैतवाद)। रामानुज चित् (जीव) तथा अचित् (प्रकृति या जगत्) को भगवान् के गुण या प्रकार मानते हैं और इसलिए चित् तथा अचित् से विशिष्ट ईश्वर ही अद्वैत रूप है। यह रामानुज की मान्यता है (विशिष्टाद्वैत), परन्तु निम्बार्क अनेक तथ्यों में सहमत होने पर भी यहाँ रामानुज से भिन्न मत मानते हैं और अभिन्न भी हैं और इसीलिए वे भेदाभेद के समर्थक हैं (द्वैताद्वैत)। उनका कथन है कि विशेषण का उपयोग तभी होता है जब उसके द्वारा विशेष्य का किसी अन्य पदार्थ से पार्थक्य तथा वैशिष्टय दिखलाना अभीष्ट होता है। ईश्वर ही तो एकमात्र सत्ता है, जिसका व्यावर्त्तन किसी व्यावर्त्त केन्द्र होने से अनावश्यक ही होता है। ऐसी दशा में चिदचित् को ईश्वर का विशेषण या प्रकार मानना बिलकुल उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसीलिए वे अपना मत रामानुज मत से पृथक् मानते हैं—

व्यावर्त्याभावात् व्यावर्तकत्व विशेषण लक्षणाभावः।
तदभावेन ब्रह्मण्ये विशिष्टाभावः सुतरां सिद्धः॥ (वेदान्ततत्त्वबोध, पृ० २७)

---

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०; श्री दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००४; श्री विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभी सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य (दिल्ली, सं० २०१३)

इस प्रकार इन सुख्यात वैष्णव मतों में साध्य तत्त्व तथा साधन तत्त्व में पार्थक्य नहीं है, परन्तु जीव-ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में विभिन्न मतों की स्वीकृति ही इनके पारस्परिक वैभिन्य का कारण है। इन समस्त मतों का प्रभाव हमारे हिन्दी साहित्य के भक्तियुग की काव्यधारा पर पुष्कल रूप से पड़ा है। हिन्दी साहित्य में सगुण भक्ति की धारा को प्रवाहित करने वाले कवि-गणों का सम्बन्ध इन मतों से विशेष रूप से था। हर्ष का विषय है कि इन वैष्णव कवियों के काव्यों तथा दार्शनिक विचारों का अध्ययन हिन्दी के मान्य आलोचक बड़ी तत्परता के साथ इधर कर रहे हैं।

श्री वैष्णव मत

श्री वैष्णव मत के विपुल प्रचार तथा सुन्दर व्यवस्था का श्रेय आचार्य रामानुज (१०३७-११३७ ई०) को प्राप्त है। मध्ययुग के आरम्भ काल में दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त में वैष्णव सन्तों (आलवाळ नामधारी) ने अपनी द्रविड़ भाषा में निबद्ध सरस गीतों के द्वारा जनता के हृदय को भक्तिरस से सिक्त तथा स्निग्ध बना दिया था। आलवाळों के अनन्तर संस्कृत भाषा में निबद्ध दर्शन ग्रन्थों के व्याख्याता 'आचार्यों' का युग आता है। नाथ मुनि (८२४-९२४ ई०) तथा यामुनाचार्य (१०म शतक ई०) ने अपने उपदेशों से भक्ति के प्रचार के लिए दक्षिण भारत में भूमि तैयार कर रखी थी, जिसमें रामानुज ने भक्ति कल्पद्रुम का वपन किया। रामानुजाचार्य की दार्श-निक दृष्टि 'विशिष्टाद्वैत' की थी और व्यावहारिक दृष्टि लक्ष्मीनारायण की भक्ति की थी। उनके प्रचारकों में वेंकटनाथ या वेदान्ताचार्य की विद्वत्ता, तार्किकता तथा मत प्रचार की दृष्टि से बड़ी ख्याति है। उनके समय में एक तीव्र विरोध खड़ा हो गया था। कतिपय आचार्य शरणागति के साथ कर्मकाण्ड के समुच्चय के पक्षपाती थे, जो 'वडकलइ' के नाम से विख्यात हुए। अन्य आचार्य शरणागति को भगवत् प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते थे, कर्म के सर्वथा विरोधी थे। तमिल ग्रन्थों के अभिमानी इस मत का नाम 'टेंकलइ' बताते हैं। कपि-किशोर तथा मार्जार-किशोर (बिल्ली का बच्चा) के दृष्टान्त इनके प्रपत्ति विषयक सिद्धान्त को समझाने के लिए प्रायः दिए जाते थे।

साधनमार्ग के विषय में इन मतों में एक सूक्ष्म भेद है। टेंकलइ मत के संस्थापक लोकाचार्य प्रपत्ति (शरणागति) के लिए कर्म के अनुष्ठान को नहीं मानते। मार्जार-किशोर की ओर दृष्टि-पात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से अपनी माता के सामने उपस्थित होता है। बिल्ली उसे अपने मुँह में स्वयं दबा कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है। बच्चा स्वयं निष्क्रिय बना रहता है। भगवान् की दया का स्रोत भक्तों के ऊपर स्वयं प्रवाहित होता है। साधक को प्रपन्न होने की आवश्यकता है। अहिर्बुध्न्य संहिता (१४।२९) का यह कथन यथार्थ ही है–

एवं संसृति चक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते॥

वडकलइ मत के आचार्य वेदान्तदेशिक की दृष्टि में प्रपत्ति के समय भी जीव को कर्म का सम्पादन आवश्यक होता है कपि-किशोर की तरह। वानर का बच्चा स्वयं माता की छाती से चिपटा रहता है। तभी माता उसे निरापद स्थान में पहुँचा देती है। प्रपत्ति ही जीव के उद्धार का सर्वाधिक महत्त्वशाली साधन है, इसीलिए श्री रामानुजाचार्य ने आलबन्दारस्तोत्र (पद्य २५) में बड़े ही सुन्दर शब्दों में प्रपत्ति तत्त्व का प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनो नन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुज के मत से तीन पदार्थ होते हैं—(१) चित् (२) अचित्, (३) ईश्वर। चित् का अर्थ है जीव, जो भोक्ता माना जाता है। अचित् का अर्थ है जगत्, जो भोग का साधन होने से भोग्य कहा जाता है। ईश्वर अन्तर्यामी परमेश्वर का वाचक है। ईश्वर के समान ही जीव तथा जगत् भी वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदाथ हैं, परन्तु ईश्वर इन दोनों में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। फलतः जीव तथा जगत् ईश्वर के अधीन रहते हैं और इसीलिए वे शरीर, प्रकार या विशेषण माने जाते हैं।

चित् से अभिप्राय है जीव का। जीव देह, इंद्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से विलक्षण होता है। वह अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अचिन्त्य, निरवयव तथा निर्विकार है। जीव में एक विशेष गुण रहता है—शेषत्व अर्थात् अधीनत्व। जीव अपने समस्त कार्य-कलाप के लिए ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः ईश्वर होता है शेषी तथा जीव होता है शेष। जिस प्रकार देह देही का अंश है तथा चिनगारी अग्नि का अंश है, उसी प्रकार जीव ईश्वर का अंश है।

अचित् का अर्थ है जड़ पदार्थ, ज्ञानशून्य तथा विकार पाने वाली वस्तु। इसके तीन भेद माने जाते हैं—

(क) सत्त्वशून्य—काल

(ख) मिश्रसत्त्व—माया, अविद्या या प्रकृति।

यहाँ सत्त्व अपने विशुद्ध रूप में न हो कर मिश्र रहता है; अर्थात् वह रज तथा तम से मिश्रित रहता है तथा प्राकृत सृष्टि का उपादान होता है।

(ग) शुद्ध सत्त्व—इसमें रज तथा तम के साथ रंचमात्र भी सम्पर्क नहीं रहता। सत्त्व की शुद्धता से तात्पर्य है रज तथा तम से अमिश्रित होना। यह नित्य ज्ञानानन्द का जनक तथा निरवधिक तेजोरूप पदार्थ होता है। ऊपर कहा गया है कि मुक्त जीव भी देहधारी होता है तथा अपनी दैहिक स्थिति से वह भगवान् के अश्रान्त कैंकर्य का संपादन करता है। मुक्त जीवों की देह तथा भोग्य स्थान स्वर्ग आदि लोकों का निर्माण इसी तत्त्व के द्वारा होता है। भगवान् के व्यूहात्मक—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—रूपों की रचना इस अप्राकृत तत्त्व के

द्वारा होती है। शुद्ध तत्त्व से निर्मित लोक की परिभाषा संज्ञा है–नित्य विभूति, त्रिपाद् विभूति, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि ।

रामानुज निर्गुण वस्तु की कल्पना नहीं मानते। उनकी दृष्टि में उपनिषदों का तात्पर्य सगुण ब्रह्म से ही है, जो अशेष कल्याण गुणों का आकर, अनन्त ज्ञानानन्द रूप तथा प्राकृत गुणों से नितान्त विहीन है। उपनिषद् जब ब्रह्म को निर्गुण बतलाते हैं, तब इसका अभिप्राय यही है कि वह प्राकृत और लौकिक गुणों से विरहित रहता है। ईश्वर के समान किसी सजातीय तथा विजातीय पदार्थ का नितान्त अभाव है और इसीलिए वह सजातीय-विजातीय उभय भेदों से शून्य रहता है, परन्तु यह स्वगत भेद से शून्य नहीं होता। कारण यह है कि चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर हैं, जिसमें चित् अंश अचित् अंश से सदा भिन्न ही होता है। फलतः उसमें स्वगत भेद की शून्यता कथमपि सिद्ध नहीं मानी जा सकती। यह ईश्वर जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही होता है। यह सृष्टि ईश्वर की लीला का विलास है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ईश्वर पाँच रूपों को धारण किया करता है, जिनके नाम हैं—पर, व्यूह, विभव (अवतार) अर्चा-वतार (स्थापित विष्णु मूर्तियाँ) तथा अन्तर्यामी (प्राणियों के हृत्कमल में निवास करने वाला तथा प्रेरक रूप)। प्रपत्ति से जीव का परम कल्याण होता है और उसे आनन्दरूप मुक्ति की प्राप्ति होती हैं।

रामानन्दी मत

स्वामी रामानन्द का जन्म तो प्रयाग में हुआ, परन्तु उनका कार्य क्षेत्र था काशी, जहाँ उन्होंने अपने विशिष्ट मत का प्रचार किया। हिन्दी साहित्य रामानन्द स्वामी को कथमपि भूल नहीं सकता, उन्हीं के उपदेशों ने यहाँ भक्ति-सुधा की वर्षा की। कबीर तो उनके साक्षात् शिष्य थे और तुलसीदास परम्परा शिष्य। कबीर के द्वारा वे हिन्दी साहित्य की निर्गुण धारा के प्रवर्त्तक हैं, तो तुलसीदास द्वारा वे सगुण भक्ति के उन्नायक हैं, अतः यदि हम रामानन्द स्वामी को हिन्दी संसार में प्रवर्त्तित भक्तिचक्र का केन्द्र बिन्दु मानें तो अनुचित न होगा। रामानन्द स्वामी मराठी साहित्य के प्रारम्भ करने में भी परम्परया कारण माने जा सकते हैं, क्योंकि इन्हीं के सुझाव पर ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर के पिता ने संन्यास से विमुख हो कर गृहस्थ जीवन को फिर से ग्रहण किया। रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द का भी परिचय अब हमें प्राप्त हो गया है। इन्होंने 'सिद्धान्त पंचमात्रा' नामक एक छोटा सा सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ लिखा है (द्रष्टव्य पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल : योग प्रवाह पृष्ठ १८-२२), परन्तु शिष्य की विशेष कीर्ति ने गुरु के नाम को सर्वथा प्रभावहीन कर दिया।

स्वामी जी का आविर्भाव काल १५वीं शती है (लगभग १४१० ई०-१५१० ई०)। इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादक मान्य ग्रन्थ है 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' (स्वामी जी की हिन्दी रचनाओं के लिए द्रष्टव्य, 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं' ना० प्र० सभा, काशी)। इसके अनुशीलन से रामानन्द का सिद्धान्त रामानुजीय मत के समान ही ज्ञात होता है। अन्तर केवल मन्त्र का है। श्री वैष्णवों

१२

के द्वादशाक्षर मन्त्र के स्थान पर रामानन्दी वैष्णवों को राम का षडक्षर मन्त्र (ओं रां रामाय नमः) ही अभीष्ट है। मूल मन्त्र तो यही है। द्वय मन्त्र पच्चीस अक्षरों का है—श्रीमद् रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः। ,चरम मन्त्र है—सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

इस मत में सीता लक्ष्मण जी के साथ भगवान् रामचन्द्र के ध्यान का विधान है। इस त्रिमूर्ति की अर्चा का विधान भी स्वामी जी के विशिष्टाद्वैत मत की ओर ही पक्षपात का द्योतक है। यहाँ श्री सीता जी प्रकृति-तत्त्व, लक्ष्मण जी जीव-तत्त्व, भगवान् श्रीराम ईश्वर-तत्त्व के द्योतक हैं। इसीलिए प्राचीन रामानन्दी मन्दिरों में प्रायः सर्वत्र इसी त्रिमूर्ति की स्थापना तथा पूजा का विधान पाया जाता है।

इस मत में प्राप्य वस्तु श्री रामचन्द्र बतलाए गए हैं, जो उपनिषदों में प्रतिपाद्य, शरण्य तथा प्रभु हैं और भक्ति ही उनकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इसी अहैतुकी भक्ति के प्रभाव से वैष्णव भक्त प्रकृति-मण्डल की सीमा पर विराजमान 'विरजा' नामक नदी को पार कर दिव्य धाम (अयोध्यापुरी) में निवास पाता है तथा श्री रामचन्द्र की कृपा से परमानन्द सन्दोह को प्राप्त करता है, जहाँ से इस लोक में फिर आवर्त्तन नहीं होता—

सीमान्तसिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो, गत्वा परब्रह्म सुविक्षिता निशम्।
प्राप्यं महानन्द-महाब्धिमग्नौ, नावर्त्तते जातु ततः पुनः सः।।

—वैष्णव मताब्जभास्कर, श्लोक १८७

स्वामी रामानन्द जी का व्यक्तित्व इतना आकर्षक था तथा उनकी उपासना इतनी ऊँची थी कि वे अपने युग के युगान्तरकारी पुरुष माने गए। तभी तो मौलाना रशीदुद्दीन नामक उसी काल के एक फकीर ने अपने ग्रन्थ 'तज़कीरतुल् फ़ुक़रा' में स्वामी जी के कार्यों की तथा साधुता की प्रकृष्ट प्रशंसा की है। स्वामी जी के शिष्य दोनों प्रकार के थे। निर्गुण तथा सगुण भक्ति की धारा को प्रवाहित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द जी को हैं। इन्हीं के शिष्य अनन्तानन्द जी की परम्परा में मधुर उपासना की प्रवर्त्तना दृष्टिगोचर होती है, जिसके विषय में प्राचीन प्रमाण अभी उपन्यस्त किए गए हैं। भगवान् श्री रामचन्द्र की मधुर भाव की उपासना के विषय में संस्कृत के मान्य ग्रन्थों ने बहुत कुछ कहा है। श्री रामतापनीय उपनिषद्, श्री सीतोपनिषद् तथा हनुमत् संहिता, शिव संहिता, लोमश संहिता, अगस्त्य संहिता जैसे संहिता ग्रन्थों में तथा आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण जैसे रामायण ग्रन्थों में देववाणी के माध्यम द्वारा रसिक सम्प्रदाय के तत्त्वों का विवेचन किया गया था, परन्तु हिन्दी भाषा के द्वारा जनता के सामने इस रहस्य को प्रकट करने का श्रेय आनन्दानन्द जी के प्रशिष्य, कृष्णदास पयहारी जी के शिष्य तथा नाभादास जी के गुरु श्री अग्रदेव जी (अग्रदास, अग्रअली) को ही दिया जाता है। जयपुर के पास गलता (गलताश्रम) में उनकी गद्दी आज भी जागती है। उनका 'ध्यानमंजरी' रामरसिकोपासकों की प्रिय पोथी

है, जिसके कुल ८० पदों में भगवान् राम के मधुर ध्यान का बड़ा ही सुन्दर उपन्यास है। अग्रस्वामी श्रृंगार रस के आध्यात्मिक प्रतीक के प्रवीण पारखी थे, जैसा कि इस कमनीय कुंडलिया से पता चलता है—

रस श्रृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं।
तुलबे को कोउ नाहिं सोइ अधिकारी जग में।।
कंचन कामिनि देखि हलाहल जानत तन में।
जावत जग के भोग रोग सम त्यागेउ द्वंदा।।
पिय प्यारी रससिन्धु मगन नित रहत अनंदा।
नहीं अग्र सम सन्त कै सर लायक जग माँहि।।
रस श्रृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं।

श्री अग्रदास जी के गुरु भाई श्री कीलस्वामी की शिष्य-परम्परा की छठी पीढ़ी में मधुराचार्य नामक प्रख्यात सन्त महात्मा हुए, जिन्होंने 'सुन्दर मणि संदर्भ' नामक संस्कृत ग्रन्थ में रसिक मत के लिए प्रौढ़ दार्शनिक आधार की सुन्दर व्याख्या की है। मधुराचार्य जी के प्रतिपादन में बड़ी प्रौढ़ता है तथा प्रतिपादन का ढंग नितान्त तर्कबहुल तथा दार्शनिक है। उनका यह कथन यथार्थ है कि "वस्तुतः लीला रस के लिए अद्भुत, अप्राकृत, मनुष्यरूपी भगवान् परब्रह्म स्वरूप को रामचन्द्र में प्राकृत के समान आभास देखना उन्हें विधि-निषेध का किंकर मान लेने के समान है और उनकी अनीश्वरता बतलाना है। लौकिक आचार में ही लोक को प्रमाण मानना चाहिए, भगवद्-रहस्यात्मक अलौकिक अर्थ में नहीं।" रसिक मत में राम और सीता का नित्य संभोग है, क्योंकि न तो राम ही सीता के बिना पृथक् रह सकते हैं और न सीता राम के बिना[1]। इस प्रकार युगल सरकार की श्रृंगारिक भावना का उपासक यह रसिक सम्प्रदाय मध्ययुगीन साधना की एक दिव्य विभूति है।

रसिक सम्प्रदाय की मान्यताएँ

भगवान् रामचन्द्र ने अपने लीला-विलास के लिए इस जगत् की सृष्टि की। यहाँ भगवान् ही एकमात्र पुरुष हैं। भगवान् राम की ही शक्ति श्री जनकनन्दिनी हैं। राम और सीता दोनों रस के एक मूर्तिमान् विग्रह हैं, परन्तु लीला के लिए दो पृथक् रूप को धारण करते हैं। वास्तव में दोनों एक अभिन्न तत्त्व के प्रतिपादक हैं। इसीलिए इन दोनों का वियोग सर्वथा अकल्पनीय है। राम और सीता एक दूसरे के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकते—"रामो न सीतया शून्यः सीता रामं विना नहि।" भगवान् श्री रामचन्द्र जी की प्रीति-सम्पादन का एकमात्र उपाय श्रृंगार-रसात्मिका भक्ति है। श्रृंगार रस नित्य सिद्ध रूप है। यह दिव्य रूप है। श्रृंगार रस के हर्ष तथा

---

१. **सीता रामं विना नैव न सीतां विना हरिः।**
जानकी रामयोरेष सम्बन्धः शाश्वतो मतः।।

उत्कर्ष बढ़ाने में स्त्री ही प्रधान है और यह आनन्द योग भी हम लोगों को स्त्री रूप में ही मिलता है। इसीलिए भगवान् रामचन्द्र को प्रसन्न करने का सबसे सुन्दर साधन न तो दास्य भक्ति है और न सख्य भक्ति, प्रत्युत मधुर भक्ति ही है।

सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होने पर भी भगवान् राम प्रेम-पिपासा से व्याकुल रहते हैं और नाना प्रकार की कीड़ाओं से अपने भक्तों के हृदय में प्रीति का संचार किया करते हैं। भगवान् राम के कार्य में प्रेरक शक्ति स्वयं जानकी जी ही हैं। स्वामिनी जानकी जी हैं। जगत् के सब प्राणी उन्हीं की आज्ञा के वशवर्त्त बन कर उनकी इच्छा का अनुसरण करते हैं। स्वयं राम भी जानकी जी की इच्छा का अनुसरण करते हैं। राम जानकी में सामरस्य है। एक ही रस की अनुभूति के लिए ये दो विग्रह हैं। राम ही केवल भक्तों में रमण नहीं करते, प्रत्युत भक्त जन भी राम में रमण किया करते हैं। इसीलिए राम का अभिरामत्व है—

रमन्ते रसिका यस्मिन् दिव्यानेक गुणाश्रये।
स्वयं यद् रमते तेषु रामस्तेन प्रयुज्यते॥

राम सर्वथा अन्तर से तथा बाहर से रसमय हैं और इस रस का आस्वाद लेने के लिए ललनाएँ ही लालायित नहीं रहती हैं, प्रत्युत पुरुषों को भी यह इच्छा बनी रहती है कि हम भी स्त्री बन कर उनके सुखद अंग के आलिंगन आदि सुख को प्राप्त करें।

श्रृंगार-राज्य में प्रवेश पाना साक्षात् रूप से नहीं हो सकता। उसके लिए तो वैदेही की अन्तरंग सखियों की कृपा-दृष्टि अनिवार्य है। जानकी जी की अंतरंग सखियाँ सोलह हैं, जिनमें चार प्रमुख हैं—चन्द्रकला, चारुशीला, मदनकला और सुभगा। इनमें भी सबसे मुख्य सखी चन्द्रकला जी ही हैं, जो अंतरंग लीलाओं के संघटन में पूर्ण अधिकार रखती हैं। इतना ही नहीं, वह सीता तथा राम के संभोग संघटन की भी अधिकारिणी हैं। राम-भक्ति के इस रसिक सम्प्रदाय में चन्द्र-कला का स्थान वही है जो कृष्ण-भक्ति पन्थ में ललिता का है। लोमश संहिता में सीता तथा राम के महारास का जो दिव्य वर्णन है वह रासपंचाध्यायी से अवश्यमेव प्रभावित है। चन्द्रकला ही रामरस की आचार्या हैं और इन्हीं की अनुकम्पा से साधक अपनी सिद्ध देह के संग में इस लीला में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। रास में प्रिया तथा प्रियतम का एक विलक्षण मिलन होता है, जहाँ अद्वैत की पूर्ण कल्पना रसिकों के मन को हठात् आकृष्ट करती है। लोमश संहिता के शब्दों में इस मिलन की अद्वैतता देखिए—

हृदयं हृदयेन मुखेन मुखं, करमब्जकरेण सरोजनिभम्।
उरसा प्रिय वक्षसि संगमतो, सुखमाप महोत्सवजन्यमता॥

—लोमश संहिता २२।१३६

निम्बार्क मत

इस मत का प्रभाव हिन्दी संसार पर बहुत अधिक पड़ा है। यह भी मध्ययुगीय धार्मिक

धारा का विलास है। इसके संस्थापक आचार्य निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे, जिनका 'वेदान्त पारिजात सौरभ' नामक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य है। केशव भट्ट काश्मीरी (१५वीं शती) इस मत के विख्यात तथा विशिष्ट ग्रन्थकार हैं जिनके मान्य ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के तथ्य निरूपण के लिए सतत अवलोकनीय हैं। व्यवहार पक्ष में यह मत राधा-कृष्ण का उपासक है और दार्शनिक पक्ष में यह 'भेदाभेद' का प्रतिपादक है। 'भेदाभेद' का अर्थ है—कार्यरूपेण नानात्त्वमभेदः कारणात्मना, हेमात्मना यथा भेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा। (भास्कर भाष्य १।१।४)। कार्य रूप में ईश्वर और जीव में भेद है, परन्तु कारण रूप में दोनों में अभेद है, जिस प्रकार सुवर्ण रूप से सोना अभेद एक ही है, परन्तु अपने कार्यों—कुण्डल, अँगूठी के द्वारा वह सभेद है, अर्थात् अपने मूल रूप से पृथक् है। यह दार्शनिक मत नितान्त प्राचीन है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्य आश्मरथ्य इसी भेदाभेद के उद्‌भावक थे। शंकर-पूर्व युग में आचार्य भर्तृप्रपंच इसी मत के पोषक थे तथा शंकरोत्तर युग में रामानुजाचार्य के आद्य वेदान्तगुरु यादवप्रकाश तथा भास्कर इसी सिद्धान्त के अनुयायी थे। अतः प्राचीनता की दृष्टि से यह समधिक ग्राह्य है। अनेक तथ्यों पर रामानुज के विचार का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। निम्बार्क सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर रामानुज के समान ही हैं। इस मत में भी ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में ही की गई है। वह समस्त प्राकृत गुण-दोषों से रहित और अशेष कल्याणकारी गुणों का निधान है। प्रपत्ति के द्वारा भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता है। भगवान् की कृपा से ही सच्ची भक्ति का उदय होता है। वृन्दावन से सम्बद्ध राधाकृष्णोपासक अनेक सम्प्रदाय इस मत के अनुयायी हैं।

निम्बार्क मत के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है, जिनमें प्राचीन आचार्यों ने तो संस्कृत भाषा में ही अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया, परन्तु पिछले युग के आचार्यों ने ब्रजभाषा में अपने भावुक हृदय की अभिव्यक्ति की है। प्राचीन आचार्यों में निम्बार्काचार्य, पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, सुन्दर भट्टाचार्य तथा केशव काश्मीरी मान्य ग्रन्थकार हैं। श्री भट्टजी, हरिव्यासजी तथा परशु-राम आचार्य तथा पिछली शताब्दियों के अनेक आचार्यों ने बड़ी ही कमनीय कविता ब्रजभाषा में की है। सच तो यह है कि अष्टछाप के कवियों के प्रचुर प्रचार के कारण निम्बार्कीय कवियों का काव्य वैभव आज भी हिन्दी आलोचकों की दृष्टि से दूर है। श्री भट्ट के प्रधान शिष्य हरिव्यासजी निम्बार्क सम्प्रदाय के भीतर 'रसिक सम्प्रदाय' शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी 'महाबानी' भाषा तथा भाव, उभय दृष्टि से ब्रजभाषा का गौरव ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हाल ही में प्रकाशित हुआ है। निम्बार्क के तथ्यों का प्रतिपादक हरिव्यासजी का यह पद कितना अनूठा और अनुपम है—

सदा सर्वदा जुगल इक, एक जुगल तन धाम।
आनँद अस अह्लाद मिलि, बिलसत द्वै द्वै नाम॥
एक सरूप सदा द्वै नाम।

आनंद के अह्लादिनि स्यामा, अह्लादिनि के आनँद स्याम ॥
सदा सर्वदा जुगल एक तन, एक जुगल तन बिलसत धाम।
'श्री हरिप्रिया' निरन्तर नितप्रति कामरूप अद्‌भुत अभिराम ॥

रुद्र सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन विष्णुस्वामी ने किया, परन्तु इनका जीवनवृत्त तथा समय अभी तक यथार्थतः निर्णीत नहीं है। नाभाजी के भक्तमाल से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभाचार्य ने इसी मार्ग का अनुसरण कर शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। यह कथन ऐतिहासिक मूल्य रखता है। विष्णु-स्वामी को यह ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०) का पूर्ववर्त्ती मानता है। रसेश्वर दर्शन के प्रसंग में माधव के 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इनका एक पद्य उद्‌धृत किया गया है। इसके सिवाय इनका कोई परिचय नहीं मिलता। वल्लभाचार्य (१४७९-१५३० ई०) ने इस मत को अपना कर ग्रन्थ-रचना से परिपुष्ट किया। वल्लभ का आध्यात्मिक पक्ष शुद्धाद्वैत का है और व्यावहारिक पक्ष पुष्टिमार्ग का ।

वल्लभ का दार्शनिक मत

दार्शनिक जगत् में वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद से पार्थक्य दिखलाने के लिए यहाँ अद्वैत से पूर्व 'शुद्ध' विशेषण का प्रयोग किया गया है। शंकर माया से शबलित ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं, परन्तु वल्लभ ने माया से अलिप्त, माया सम्बन्ध से विरहित ब्रह्म को जगत् का कारण माना है। यही नामकरण की सार्थकता का कारण है।

भगवान् रमण करने की इच्छा से प्रेरित हो कर अपने आनन्द आदि गुणों का तिरोधान कर स्वयं जीव रूप में उत्पन्न होता है। भगवान् के आनन्द, ऐश्वर्य, यश, श्री तथा ज्ञान आदि गुणों का तिरोधान जीव में सम्पन्न हो जाता है। ब्रह्म से जीव का आविर्भाव उसी प्रकार होता है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग (चिनगारी) का। यह आविर्भाव 'व्युच्चरण' कहलाता है, जो उत्पत्ति से सर्वथा भिन्न होता है। इसीलिए व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। सच्चिदानन्द भगवान् के अविकृत (विकार न पाने वाले) चित् अंश से जीव का आविर्भाव होता है। इस प्रकार जीव के निर्गमन काल में उसमें केवल 'आनन्द' अंश का ही तिरोधान होता है, सत् तथा चित् अंश उसमें स्वतः विद्यमान रहते ही हैं। जीव के तीन प्रकार होते हैं—१—शुद्ध (अर्थात् अविद्या के संसर्ग से पूर्व स्थिति वाला जीव), २—संसारी (अविद्या के सम्पर्क में आने वाला जीव), ३— मुक्त (पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् की दया पाने वाला जीव, जो अपने तिरोहित आनन्द अंश को फिर से पा कर सच्चिदानन्द रूप बन जाता है तथा भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।)।

सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण के अविकृत सदंश से जगत् का निर्गमन होता है। अतएव जड़ के आविर्भाव काल में चित् और आनन्द इन दोनों अंशों का तिरोधान हो जाता है और इसी कारण जगत् में केवल सत्ता की ही स्फूर्ति होती है। वल्लभाचार्य का कारणवाद 'अविकृत परिणामवाद' के नाम से प्रख्यात है। इस वाद का तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्द भगवान् से जब जीव तथा जगत् का उद्भव होता है, तब उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। सुवर्ण कुण्डल आदि नाना भूषणों के रूप में परिणत होता रहता है, परन्तु सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। जगत् से संसार भिन्न ही पदार्थ होता है। जगत् सच्चा है, क्योंकि वह सत्य स्वरूप भगवान् के चिदंश से आविर्भूत होता है, परन्तु संसार जीवों के द्वारा कल्पित ममतामय पदार्थ होता है। अतः विद्या के उदय होने पर अविद्या रूप संसार तो नष्ट हो जाता है, परन्तु जगत् की सत्ता ब्रह्म तथा जीव के समान ही एकान्ततः नित्य है।

ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण उभय रूपों का प्रतिपादन उपनिषद् करते हैं और इन दोनों रूपों में किसी प्रकार का भेद या तारतम्य नहीं है। दोनों ही सत्य हैं। यह परब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। जब श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों के द्वारा आन्तर (भीतरी) रमण करते हैं, तब उनकी उपाधि होती है 'आत्माराम'। परन्तु बाह्य रमण की इच्छा से जब वे अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करते हैं, तब उनका नाम होता है पुरुषोत्तम। इस रूप में आनन्द की चरम अभिव्यक्ति होती है और इसीलिए ब्रह्म का यह रूप 'आनन्दमय', 'परमानन्दस्वरूप' कहलाता है। श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित हो कर 'व्यापी वैकुण्ठ' में नित्य लीला किया करते हैं। यह लोक विष्णु के वैकुण्ठ से भी ऊपर होता है और प्रख्यात गोलोक भी उसका एक अंशमात्र होता है। भगवान् की मुख्य १२ शक्तियाँ होती हैं, जिनके नाम हैं—श्री, पुष्टि, गिरा आदि। रमण की इच्छा से जब श्रीकृष्ण इस भूतल पर अवतीर्ण होते हैं, तब यह वैकुण्ठ गोकुल के रूप में तथा शक्तियाँ राधा, चन्द्रावली, यमुना आदि के रूप में अवतीर्ण होती हैं। व्रज की गोपिकाएँ स्वयं श्रुतियाँ हैं जो भगवान् के रसकल्लोल का स्वतः आस्वाद ग्रहण करने के लिए गोकुल में अवतीर्ण होती हैं।

ब्रह्म के तीन प्रकार होते हैं—

१—आधिभौतिक—जगत्

२—आध्यात्मिक—अक्षर ब्रह्म (गीता ८।२१)

३—आधिदैविक—परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता १५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्म का पार्थक्य आनन्द की सत्ता के तारतम्य पर आश्रित रहता है। परब्रह्म तो आनन्द से सर्वथा परिपूर्ण रहता है, परन्तु अक्षर ब्रह्म में आनन्द का कोई न कोई अंश तिरोहित ही रहता है। दोनों की प्राप्ति के निमित्त साधन में भी अन्तर है। विशुद्ध ज्ञान के द्वारा तो अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, परन्तु पुरुषोत्तम के लिए अनन्य भक्ति ही केवल उपाय है। वल्लभ इस पार्थक्य के लिए गीता के ऋणी हैं। गीता का कथन है—"पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" (गीता ८।२२) जो पर में पुरुष की प्राप्ति के लिए अनन्य भक्ति को साधन

मानता है, परन्तु अक्षर ब्रह्म तो ज्ञानमार्गियों के लिए ही सुलभ है (देखिए अणुभाष्य २।३।३३)।

शुद्धाद्वैतवाद के साधन मार्ग का नाम है पुष्टिमार्ग। 'पुष्टि' का अर्थ है भगवान् का अनुग्रह (पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४)। मार्ग तो तीन हैं। संसार के प्रवाह में पड़ कर लौकिक सुख और भोग के प्रयत्नशील जीवों का है **प्रवाह मार्ग**। वेद प्रतिपादित कर्म तथा ज्ञान के संपादन का मार्ग है **मर्यादा मार्ग**। परन्तु अनन्य भक्ति के नाम की संज्ञा है **पुष्टिमार्ग** और इसी मार्ग के आश्रय से जीवों का परम कल्याण होता है। पुष्टि भक्ति फल की आकांक्षा से विरहित शुद्ध भक्ति ही है, जिसका लक्ष्य है सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण का प्रिय पात्र बनना। ब्रज के अधिपति श्रीकृष्ण का भजन ही जीव का पवित्र कार्य है। आचार्य का कहना है—

सर्वदा सर्वभावेन भजन्तियो व्रजाधिपः।
स्वस्यायतेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥ (चतुःश्लोकी)

किसी भी भाव से हो, भगवान् का भजन ही जीव का पवित्र कर्त्तव्य है। काम रहता है स्त्री भाव में, क्रोध शत्रु भाव में, भय वधिक भाव में, स्नेह सम्बधियों से, ऐक्य ज्ञान दशा में, सौहार्द सख्य भाव में। ये भाव तो उपलक्षण मात्र हैं। किसी भी भाव से प्रेममय भगवान् का भजन ही साधक का साधन होता है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग का चरम लक्ष्य यही है। शृंगार तथा सेवा भक्ति के बाहरी आचरण हैं, निर्मल प्रीति आन्तरिक साधन् है। भगवान का अनुग्रह साध्य है। वल्लभाचार्य ने अपने मत के लिए श्रीमद्भागवत को भी प्रस्थानत्रयी के समान ही प्रामाण्य दिया है। भागवत व्यास जी की समाधिकाल में उद्बुद्ध वाणी है (समाधिभाषा व्यासस्य)। इसीलिए इस पन्थ में आचार्य के ब्रह्मसूत्रों के 'अणुभाष्य' की अपेक्षा उनकी भागवत टीका 'सुबोधिनी' का समादर तथा सत्कार कहीं अधिक है। अतः वल्लभ का आश्रय, सुबोधिनी का अनुशीलन तथा राधिकानाथ का उपासन—पुष्टिमार्गीय वैष्णव साधक के ये ही तीन लक्ष्य हैं—

नाश्रितो वल्लभाधीशो, न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधिराधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले॥२॥

माध्व मत

माध्व मत का उदय इसी युग की गौरव गाथा है। इसके प्रतिष्ठापक आनन्दतीर्थ (या माध्व) हैं, जिनका जन्म दक्षिण के उडुपी नामक स्थान में हुआ था (११९९-१३०३ई०)। इन्होंने उत्तर भारत में आ कर अपने द्वैत मत का प्रचार किया। इस मत के भाष्यकार हैं आचार्य जयतीर्थ (१४वीं शदी), जिन्होंने मध्व के मूल ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण भाष्य कर द्वैत मत के लिए तार्किक आश्रय प्रस्तुत किया। इस मत के अनुसार जीव तथा ईश्वर में सर्वथा भेद है, संसार दशा या मुक्त दशा—कहीं भी अभेद के लिए स्वल्प भी स्थान नहीं है। भेद पाँच प्रकार के माने गए हैं—१—ईश्वर का जीव से भेद, २—जीव का जड़ से भेद, ३—ईश्वर का जड़ से भेद, ४—जीव

का दूसरे जीव से भेद, ५—एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। साधन मार्ग में यह सम्प्रदाय विष्णुभक्ति का उपासक है। भक्ति के सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन इस मत में किया गया मिलता है। हिन्दी के अनेक भक्तिवादी कवि इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे। इस मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक श्लोक सर्वथा स्मरणीय है—

श्री मत्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंतताः।
मुक्तिः तेजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं।
अक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

चैतन्य सम्प्रदाय

चैतन्य मत वल्लभ मत का ही समकालिक है। प्रसिद्धि है कि वल्लभ तथा चैतन्य के बीच अपने विषय के लिए कभी शास्त्रार्थ भी हुआ था। उत्तर भारत में, विशेषतः बंगाल तथा भारत के पूर्वी अंचल, उत्कल और आसाम के प्रान्तों में, वैष्णव धर्म के प्रचार तथा प्रसार का श्रेय भी श्री चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५३३ ई०) को है। चैतन्य की जीवन लीला तथा उत्कृष्ट भक्ति भावना की कीर्त्ति भारत भर में प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्प्रदाय भेदवादी माध्व मत की ही शाखा है, परन्तु इसका दार्शनिक दृष्टिकोण द्वैतवाद न हो कर अचिन्त्य भेदाभेद का है। इसकी साहित्यिक सम्पत्ति समधिक आदरणीय है। बंगभाषा का मध्ययुगीय वैष्णव साहित्य इसी सम्प्रदाय की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विलास है। हिन्दी कृष्ण भक्ति के कवियों के ऊपर भी इसका प्रचुर प्रभाव पड़ा है। इसके सिद्धान्तों का वर्णन श्री रूप गोस्वामी ने 'लघु भागवतामृत' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में और जीव गोस्वामी ने 'षट् सन्दर्भ' में किया है। यहाँ चैतन्य मत का सारांश इस पद्य में प्रस्तुत किया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनं।
रम्भा काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥
शास्त्रं भागवतं प्रमाणमखिलं प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

इस पद्य के अनुसार चैतन्य मत का सार तथ्य है (क) व्रजनन्दन श्रीकृष्ण की आराधना, (ख) वृन्दावन की सेवा, (ग) गोपिकाओं की उपासनाओं की श्रेष्ठता तथा आदर्श, (घ) भागवत का सर्वाधिक प्रामाण्य, (च) प्रेम की महनीय पुरुषार्थता। अन्य मत अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को ही मानव जीवन का लक्ष्य (पुरुषार्थ) मानते हैं, परन्तु चैतन्य की दृष्टि में मोक्ष से भी बढ़ कर पुरुषार्थ है प्रेम या प्रीति और इसकी उपलब्धि भगवान् नन्दनन्दन की कृपा से ही साध्य होती है।

साध्य तत्त्व

श्री कृष्ण ही अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् परम तत्त्व हैं। उनके तीन रूप होते हैं—

(क) **स्वयं रूप**—वह रूप, जो दूसरे के ऊपर आश्रित न हो कर, अन्य की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं आविर्भूत होता है। भगवान् इस विशाल सृष्टि के आदि हैं तथा समग्र कारणों के भी कारण हैं, परन्तु वे स्वयं अनादि हैं—अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणं (ब्रह्म संहिता)।

(ख) **तदेकात्मरूप**—वह रूप, जो रूप से तो 'स्वयंरूप' के साथ अभिन्न रहता है, परन्तु आकृति से, अंग सन्निवेश में तथा चरित से उससे भिन्न रहता है।

(ग) **आवेश**—वे महत्तम जीव, जिनमें ज्ञान, शक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट प्रतीत होते हैं, जैसे वैकुण्ठ में शेष, नारद तथा सनक आदि ऋषिगण। इनमें भगवान् का प्रवेश होने से वह महनीय त्याग तथा तपस्या के साधन में समर्थ होते हैं।

भगवान् की शक्तियाँ अचिन्त्य तथा गणनातीत हैं, परन्तु ये तीन शक्तियाँ ही मुख्य मानी जाती हैं—

(क) **अन्तरंग शक्ति**—चित् शक्ति या स्वरूप शक्ति। यह शक्ति भगवान् की साक्षात् रूप वाली है। सच्चिदानन्द भगवान् में सत्, चित् तथा आनन्द के कारण एकात्मिका होने पर भी यह स्वरूप शक्ति तीन प्रकार की होती है।

(ख) **तटस्थ शक्ति**—जीव शक्ति। यह शक्ति जीव के आविर्भाव का कारण बनती है। जीव अणु होता है और उसका स्वभाव परिच्छिन्न होता है, अर्थात् विभु तथा अपरिच्छिन्न स्वभाव वाले ब्रह्म से वह सर्वथा भिन्न होता है। अन्तरंग तथा बहिरंग शक्तियों के बीच में स्थित होने के कारण ही जीव शक्ति तटस्थ कहलाती है। 'तटस्थ' का अर्थ है, दोनों के तट पर रहने वाली शक्ति।

(ग) **बहिरंग शक्ति**—इसे माया शक्ति कह सकते हैं। इसी शक्ति के कारण जगत् की सृष्टि होती है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय की संज्ञा है पराशक्ति। जगत् की सृष्टि के विषय में चैतन्य मत माध्व मत से भिन्न सिद्धान्त रखता है। माध्व मत में ईश्वर केवल निमित्त कारण ही है, परन्तु चैतन्य मत में वह दोनों है–निमित्त तथा उपादान। भगवान् स्वरूप शक्ति से तो जगत् का निमित्त कारण होता है, परन्तु अन्य दो शक्तियों के द्वारा वह जगत् का उपादान कारण होता है। ईश्वर तथा जीव के समान जगत् भी सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि वह सत्य संकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंग शक्ति का विलास है।

अन्तरंग शक्ति के तीन अवान्तर भेद होते हैं—

(१) **सन्धिनी**—सत्ता धारण करने की शक्ति। इस शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देश कालों तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं।

(२) **संवित्**—ज्ञान से सम्बद्ध शक्ति। चिदात्मा भगवान् इसी शक्ति के सहारे स्वयं अपने को जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं।

(३) **ह्लादिनी**—आनन्द से सम्बद्ध शक्ति। आनन्दात्मा भगवान् इस शक्ति से स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं तथा दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं। कृष्ण के परिकरों में श्री राधिका ह्लादिनी शक्ति की प्रतीक मानी जाती हैं।

एक ही वैदूर्यमणि त्रिविध रूप धारण करता है। कभी नील, कभी पीत और कभी रक्त रूप—वैसे ही एकरूपा 'पराशक्ति' इन तीनों रूपों को धारण करती है।

साधन तत्त्व

सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण को वश में करने का एक ही उपाय है—भक्ति। यह दो प्रकार की होती है–विधि भक्ति तथा रुचि भक्ति। विधि भक्ति का उदय शास्त्रों के निर्दिष्ट उपायों के द्वारा होता है। नवधा भक्ति का विधान इसी भक्ति के साथ सम्बद्ध माना जा सकता है। रुचि भक्ति का अर्थ है रागात्मिका भक्ति। इसके लिए भक्त का आविर्भाव या दयनीयता ही प्रधान कारण है। भागवत के अनुसार भक्ति के दो रूप होते हैं–साधन भक्ति तथा साध्य भक्ति (भक्त्या संजातया भक्त्याविभ्रद्उत्पुलकां तनुम्)। भक्ति से भक्ति होती है, जिसमें पूर्व भक्ति साधन भक्ति है तथा उत्तर भक्ति साध्यरूपा है। भागवत का स्पष्ट कथन है कि रोमों में बिना हर्षण हुए (अर्थात् बिना रोंगटे खड़े हुए), चित्त के बिना द्रवीभूत हुए और नेत्रों से आनन्दाश्रु की झड़ी बिना लगे तथा बिना भक्ति के चित्त कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता—

> **कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।**
> **विनानन्दाश्रुकलया शुध्येदात्मा विनाशयः॥ (भागवत ११।१४।२३)**

माधुर्य भाव से भगवान् की उपासना ही इस मार्ग का श्रेष्ठ तत्त्व है। माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की होती है—

(क) **साधारणी रति**—अपने ही आनन्द के लिए भगवान् की सेवा तथा प्रीति करना। फल—मथुरा धाम की प्राप्ति।

(ख) **समञ्जसा रति**—कर्त्तव्य बुद्धि से भगवान् से प्रेम करना। फल—द्वारका धाम की प्राप्ति; जैसे रुक्मिणी आदि पटरानियों का प्रेम।

(ग) **समर्था रति**—भगवान् को ही आनन्द देने के लिए निःस्वार्थ प्रेम का संपादन। फल—वृन्दावन धाम की प्राप्ति; जैसे ब्रज की गोपिकाओं का प्रेम। यही भाव अपने उत्कर्ष पर पहुँच कर 'महाभाव' या 'राधाभाव' के नाम से प्रख्यात होता है।

इस प्रकार रस साधना ही चैतन्य मत की परमोच्च साधना है।

बौद्ध-तन्त्र

बुद्ध धर्म में भी तान्त्रिक उपासना का प्रचलन मध्ययुग के आरम्भ में हुआ और वह ११वीं और १२वीं शताब्दी तक इतना प्रभावशाली बना कि उसने समग्र पूर्वी भारत को तन्त्रमय बना डाला। साथ ही साथ तिब्बत में भी उसका प्रचुर प्रचार हुआ। तांत्रिक बौद्ध धर्म के उदय तथा अभ्युदय का वर्णन हमने अन्यत्र विस्तार के साथ किया है। महायान के अनन्तर तीन यान उत्पन्न हुए और इन तीनों के मूल में तान्त्रिक साधना विद्यमान है। इन यानों के नाम हैं–मन्त्रयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन तीनों में वज्रयान की ख्याति तथा स्थान

विशेष रहा। मन्त्रयान तन्त्र का सौम्य रूप है, जिसका विकसित रूप वज्रयान है। कालचक्रयान के विषय में हमारी विशेष जानकारी नहीं है, परन्तु आज भी नैपाल में यह जीवित रूप में वर्त्तमान है।

कतिपय विद्वान् मानते हैं कि तन्त्रों ने बौद्ध धर्म का जामा पहिन कर ही अपना प्रथम दर्शन दिया। अनन्तर वे बौद्ध जामा छोड़ कर वैदिक जामा पहिन कर आए। यह धारणा नितान्त भ्रांत है। तन्त्रों का मौलिक सम्वन्ध श्रुति से ही रहा है, यद्यपि वेदबाह्यतन्त्रों का सम्मिश्रण मध्य-युग में होता रहा। चीन तथा तिब्बत में उत्पन्न तान्त्रिक पूजा वैदिक धर्म में गृहीत हुई है, परन्तु इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि समग्र तन्त्र मूलतः बौद्ध ही है।

वज्रयान का साहित्य बहुत ही विशाल है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने संस्कृत में ही अपने ग्रन्थों की रचना नहीं की, प्रत्युत जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए उन्होंने उस समय की लोक भाषा में भी गायनों का निर्माण किया। वज्रयान का उदय आंध्रप्रदेश के 'श्री पर्वत' नामक स्थान में हुआ, परन्तु इसका अभ्युदय हुआ मगध में, विशेषतः नालन्दा तथा विक्रमशिला के विहारों में। इस सम्प्रदाय में ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना आज भी तिब्बती साहित्य के तन्जूर नामक विभाग में अनुवाद रूप में उपलब्ध है, परन्तु इनका मूल अप्राप्य-सा है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इन वज्रयानी आचार्यों के दोहों और गीतों का संग्रह 'बौद्धगान ओ दोहा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में किया है। इन गीतों की भाषा के विषय में इन विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शास्त्री जी इसे पुरानी बँगला मानते हैं, परन्तु मगध में रचित होने से पुरानी मागधी से इनका साम्य बहुत अधिक है। इन्हें हम प्राचीन हिन्दी का उदाहरण मान सकते हैं।

प्राचीन हिन्दी की वज्रयानी कविता समझने के लिए उसके सिद्धान्तों का विशेष परिचय अपेक्षित है। तान्त्रिक तत्त्व जानने के लिए हठयोग का अनुशीलन आवश्यक है। जिन्होंने यह अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि हठयोग का मूल सिद्धान्त चन्द्र और सूर्य को एक अवस्थापन्न करना है। तन्त्र की सांकेतिक भाषा में हकार और ठकार चन्द्र और सूर्य के वाचक हैं। इसलिए हकार और ठकार के योग, अर्थात् हठयोग से अभिप्राय चन्द्र और सूर्य का एकीकरण है। इसी को इड़ा और पिंगला नाड़ी अथवा प्राण व अपानवायु का समीकरण कहते हैं। वैषम्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और समता प्रलय की सूचिका है। जिससे यह जगत् फूट निकलता है उसकी साम्यावस्था में जगत् उत्पन्न नहीं होता। यह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। जगत् में दो विरुद्ध शक्तियाँ हैं जो एक दूसरे का उपमर्दन कर प्रभुता करने के लिए सदा क्रियाशील रहती हैं। बहिःशक्ति की प्रधानता होने पर सृष्टि होती है और अन्तःशक्ति की प्रधानता होने पर संहार होता है। यह स्थिति उन उभय शक्तियों की समानता का निदर्शक है। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति आदि शब्द इसी आदि द्वंद्व के बोधक हैं। जीव देह में ये शक्तियाँ प्राण और अपान रूप में रहती हैं। प्राण और अपान का संघर्षण ही जीवन है। प्राण अपान को और अपान प्राण को अपनी ओर खींचता रहता है। इन दोनों को उद्‌बुद्ध कर दोनों में समता लाना योगी का परम कर्त्तव्य

है। प्राण तथा अपान की समता, इड़ा और पिंगला की समता, पूरक और रेचक की समानता (अथवा कुंभक), सुषुम्ना के द्वार का उन्मोचन–एक ही बात है। इड़ा वाम नाड़ी है और पिंगला दाहिनी नाड़ी है तथा दोनों की समानता होने पर, दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्ना नाड़ी का द्वार आप से आप खुल जाता है। इसी द्वार के सहारे प्राण की ऊर्ध्व गति करना योगियों का परम ध्येय है। सुषुम्ना के ही मार्ग को कहते हैं मध्यम पथ, मध्यम मार्ग, शून्य पदवी अथवा ब्रह्मनाड़ी। सूर्य और चन्द्र को यदि प्रकृति और पुरुष का प्रतीक मानें तो हम कह सकते हैं कि प्रकृति और पुरुष के आलिंगन के बिना मध्यम मार्ग कभी खुल नहीं सकता। वाम और दक्षिण के समान होने पर मध्यमावस्था का पूर्ण विकास ही निर्वाण है। इड़ा और पिंगला के समीकरण करने से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती है। जब षट्चक्र का भेद कर आज्ञा चक्र के ऊपर साधक की स्थिति होती है, तब कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊपर चढ़ कर चैतन्य समुद्र रूप सहस्रारचक्र में स्थित परम शिव के आलिंगन के लिए अग्रसर होती है। शिव-शक्ति का यह आलिंगन महान् आनन्द का अवसर है। इसी अवस्था का नाम युगल रूप है।

सहजावस्था

वज्रयान का ही दूसरा नाम सहजयान है। सहजिया सम्प्रदाय के योगियों के मतानुसार सहजावस्था को प्राप्त करना सिद्धि की पूर्णता है। इसी अवस्था का नामान्तर निर्वाण, महासुख, सुखराज (जयति सुखराजः एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्। यस्य च निगदन समये वचन-दरिद्रो बभूव सर्वज्ञः।। सरहपाद का वचन, सेकोद्देशटीका, पृ० ६३), महामुद्रा साक्षात्कार आदि है। उस अवस्था में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, ग्राहक-ग्राह्य तथा ग्रहण, इस लोक प्रसिद्ध त्रिपुटी का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (९०० ई० के आसपास) ने प्रसिद्ध दोहे में किया है—

जँह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेस।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिय उवेस।।

अर्थात्, सहजावस्था में मन और प्राण का संचार नहीं होता। सूर्य और चन्द्रमा का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चन्द्र और सूर्य, इड़ा और पिंगलामय आवर्त्तन कालचक्र का ही नामान्तर है। निर्वाण पद काल से अतीत होता है, इसीलिए वहाँ चन्द्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात सरहपा ने बताई है। इसी अवस्था का नाम है उन्मनी भाव। इस अवस्था में मन का लय एक स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध सम्पन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज स्वभाव (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनन्द होता है, उसी को महासुख कहते हैं। इसी का नाम सहज है। वह एक कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितान्त सत्य है—

घोरेन्धारे चन्दमणि, जिमि उज्जोस करेइ।
परम महासुख एखुकणे, दुरिय अशेष हरेइ॥

अर्थात्, घोर अन्धकार को जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है, उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिए परम पद की प्राप्ति है। देवव्रततन्त्र में महासुख को उस अवस्था का आनन्द बतलाया है जिसमें न तो संसार (भव) है, न निर्वाण; न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-मध्य-अन्त का अभाव रहता है–

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भउ णउ निव्वाण,
एहु सो परम महासुहउ णउ पर णउ अप्पाण।

—सेकोद्देश टीका पृ० ६३ पर उद्धृत हेवज्र तन्त्र का वचन।

इस महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रन्थों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है कि 'उष्णीष कमल' में महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र और हठयोग के ग्रन्थों में इस कमल को 'सहस्रदल' (हज़ार पत्तों वाला) कहा गया है। वज्र गुरू का आसन उसी कमल की कर्णिका के मध्य में है। इस स्थान की प्राप्ति मध्यम मार्ग के अवलम्बन करने से ही हो सकती है। जीव सांसारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्य मार्ग में जाने के लिए तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को 'ललना' और दक्षिण शक्ति को 'रसना' कहते हैं। तान्त्रिक भाषा में ललना, चन्द्र तथा प्रज्ञा वाम शक्ति के द्योतक होने से समानार्थक हैं। रसना, सूर्य और उपाय दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है 'अवधूती'। (द्रष्टव्य, वीणापाद का यह गायन—सुज्ज लाउ ससि लागेली तान्ती। अणहा दाण्डी वाकि किहत अवधूती। बाजइ अलोसहि हेरुअ बीणा। सुन तान्ती धनि विलसइ रुणा॥ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३०)। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है–अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति–अर्थात् वह शक्ति, जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर कर देती है। अवधूती मार्ग ही अद्वय मार्ग, शून्य पथ, आनन्द स्थान आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध हो कर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें अवधूती कहते हैं। तब चन्द्र का चन्द्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सूर्यत्व रहता है, क्योंकि इन दोनों के आलिंगन से ही अवधूती का उदय होता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन करने से तात्पर्य नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ मिल कर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी निःस्वभाव या नैरात्म अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय अद्वैत भाव में अधिष्ठान कर आत्म-प्रकाश करता है, वही सच्चा वज्र गुरु है।

महासुख कमल में जाने के लिए, यथार्थ सामरस्य करने के लिए, मध्यमपथ का अवलम्बन करना तथा द्वन्द का मिलन कराना ही होता है। दो को बिना एक किए हुए सृष्टि और संहार के अतीत निरंजन पद की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए मिलन ही अद्वयशून्यावस्था तथा परमानन्द लाभ का एक मात्र उपाय है। सहजिया लोगों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इन्द्रिय निरोध से निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं की जा सकती। युगल अवस्था की प्राप्ति न होने से विराग तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिए एक ही मार्ग है—सहज मार्ग अथवा राग मार्ग, न कि वैराग्य मार्ग। इस मार्ग के लिए कठिन तपस्या आदि का विधान निष्फल है। श्रीसमाजतन्त्र का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पा कर सूखता है और चित्त दुःख-समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती—

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥

इसलिए पंचकाम का त्याग कर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करें। योगतन्त्रानुसार सुख-पूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिए सदा निरत रहें—

पंचकामान् परित्यज्य तपोभिर्नच पीडयेत्।
सुखेन साधयेत् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥

इसीलिए वज्रयान का यह सिद्धान्त है कि देहरूपी वृक्ष के चित्तरूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरंजन फल फलता है—

तनुतरचित्तानुकुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते॥

—चर्याचर्य विनिश्चय में सरहपाद का वचन।

राग से ही बन्धन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिए मुक्ति का सहज साधन महाराग का अनन्य राग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतन्त्र' आदि अनेक तन्त्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है, यथा—रागेन बाध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते। इसी लिए अनंग वज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल संकल्प रूपी अन्धकार से अभिभूत रहता है, राग-द्वेष आदि मलों से लिप्त रहता है, तब वही संसार रूप है—

अनल्पसंकल्पतपोभिभूतः प्रभञ्जनोन्मत्त तडित् चलञ्च।
रागादि दुर्वार मलावलिप्तं, चित्तं विसंसारमुवाच वज्री॥

—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धिः ४।२२।

वही चित्त जब प्रकाशमान हो कर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य और ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वह निर्वाण कहलाता है—

प्रभास्वरं कल्पनयाविमुक्तं [प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमनुसत्त्वं, तदेव निर्वाणवरं जगाद॥

—प्रज्ञो० वि० सि० ४।२४।

नागार्जुन के निम्नांकित वचन से इसकी तुलना कीजिए—

निर्वाणस्य या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयारन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

वैराग्य को दमन करने वाले पुरुष को वीर कहते हैं।

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गई है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाते हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। अवधूतिका के विशुद्ध रूप के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वाम-शक्ति और दक्षिण शक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है, उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस अवस्था में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सह-जिया भाषा में सांकेतिक नाम चाण्डाली है। चाण्डाली जब विशुद्ध हो जाती है, तब उसे 'डोम्बी' या बंगाली कहते हैं। (तुलनीय भूसुकपाद की यह प्रसिद्ध गीति—आज भूसु बंगाली भइली। णिअ घरिणी चण्डाली लेली।। डहि जो पंचपाट णइ दिविसंज्ञा णठा। न जानामि चिअ मोर कहिं गइ पइठा।।) अवधूती, चाण्डाली और बंगाली या डोम्बी एक ही शक्ति की त्रिविध अवस्था के नामान्तर हैं। अवधूती अवस्था में द्वैत का निवास रहता है, क्योंकि उसमें इड़ा और पिंगला पृथक् रूप में अपना कार्य निर्वाह अलग-अलग करती हैं। चाण्डाली में द्वैताद्वैत का निवास है तथा बंगाली अद्वैत भाव की सूचिका है। तन्त्र में शक्ति के जो तीन भेद—अपरा, परापरा तथा परा—किए गए हैं, उनका लक्ष्य इन्हीं तीनों भेदों से है। अवधूती अवस्था में वायु का संचार तथा निर्गमन होता है। इसी का नाम संसार है। शक्ति को सरल मार्ग में ले आना और वक्र गति को दूर कर सरल पथ में ले चलना साधक का प्रधान कार्य है। सिद्धाचार्यों का उजूबाट (ऋजु या सीधा मार्ग) यही है।

सिद्धाचार्य शान्तिपाद (प्रसिद्ध नाम भूसुक) की यह उक्ति भी माननीय है—वाम दहिन दो वाटा छाड़ी, शान्ति वुगथेउ संकलेउ।। अर्थात् वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़ कर मध्य मार्ग का ग्रहण आवश्यक है। यही विशुद्ध अवधूती मार्ग या वज्रमार्ग है। बिना इसका आश्रय किए बुद्धत्व, तथागत भाव और महासुख की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।

वाम और दक्षिण की गति जब तक है तब तक हमारा मार्ग टेढ़ा ही रहता है (सिद्धों की भाषा में **बाँक—वक्र**)। इस मार्ग को छोड़ कर सीधे मार्ग में आने के लिए सिद्धाचार्यों ने अनेक सुन्दर दृष्टान्त दिए हैं। इस मार्ग के अवलम्बन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। अन्तिम क्षण में रागाग्नि आप से आप शान्त हो जाती है, जिसका नाम है निर्वाण **(या आग का बुझ जाना)**। रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनन्द का प्रकाश होता है, उसे कहते हैं विरमानन्द। उस समय चन्द्र स्वभाव स्थित होता है, मन स्थिर हो जाता है, तथा वायु की

गति स्तम्भित होती है। जिसके हृदय में विरमानन्द का प्रकाश हो गया है वही यथार्थ में योगीन्द्र-योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही वज्रधर पदवाच्य सद्गुर कहलाता है।

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है। शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं (देखिए ज्ञानसिद्धि, १।५६-५७)। जिसने अभेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्ध रूप को प्रकट कर देते हैं। 'धर्म रण्डक', 'बुद्धरत्न करण्डके' तथा 'जिनरत्न' इसी महामुद्रा के पर्याय हैं। तन्त्र शास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है, वही रहस्य तथा स्थान वज्रयान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है। शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तन्त्र में एक यन्त्र विशेष का उपयोग किया जाता है। यन्त्र के दो समकेन्द्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण। ये पृथक् रूप से शिव-शक्ति के द्योतक हैं। इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यान्त्रिक निदर्शन है। शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन तथा वज्र और कमल का परस्पर योग, दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन।

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता कभी नहीं हो सकता। वज्र कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिचित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शिक्ति के मिलन से ब्रह्मनाड़ी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृष्ट करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी है। धर्म का तत्त्व उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने स्वयं उन्मिषित हो जाता है। समस्त साधन का उद्देश्य बोधिचित्त या बिन्दु की रक्षा करना है। बोधिचित्त से अभिप्राय बोधि मार्ग पर आरूढ़ चित्त से है।

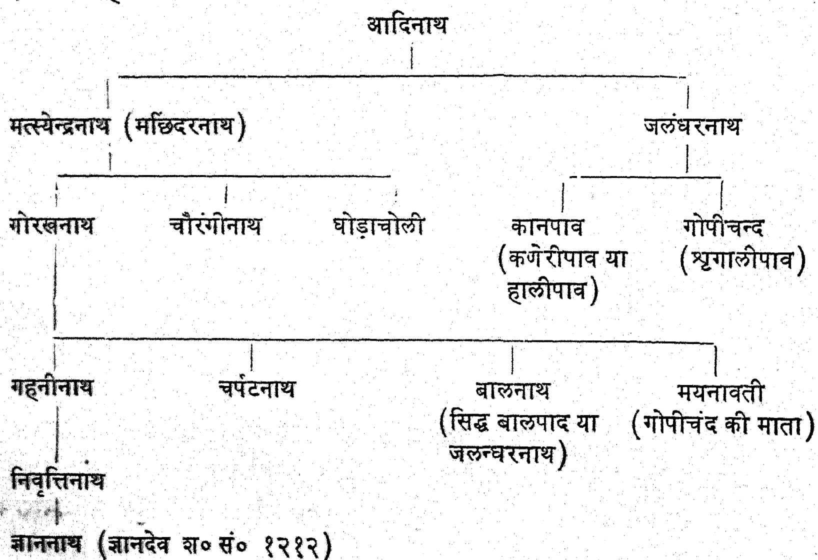
ऐसा उपाय करना चाहिए, कि साधक उस मार्ग से पतित न हो जाय। नाना प्रकार की साधना का मूल काय, वाक् तथा चित्त की दृढ़ता सम्पादन करना होता है। देवता के संयोग से काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति खण्डन होने पर वाक् की दृढ़ता, और सुमेरु शिखर पर श्वास को ले जाने से चित्त की दृढ़ता सम्पादित होती है। बिना इसकी दृढ़ता हुए साधक को परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता, यदि आविर्भाव सम्भव हो भी जाए, तो उसे सहन या धारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसीलिए गुरु इस दृढ़ता की प्राप्ति के लिए विशेष आग्रह दिखलाता है। इस दृढ़ता की अभिव्यक्ति 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रकार द्वैतभाव के परित्याग से अद्वैतभाव की अनुभूति वज्रयान का चरम लक्ष्य है। 'वज्र' शून्यता का भौतिक प्रतीक है, क्योंकि दोनों ही दृढ़, अखण्डनीय, अछेद्य, अभेद्य, तथा अविनाशी हैं।

नाथपन्थ

नाथपन्थ का उदय और अभ्युदय मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्तियों के विकास की एक मंजुल धारा है जिसका अनुसन्धान अभी तक यथोचित रूप से सम्पन्न नहीं किया गया है। इस सम्प्रदाय के इतिहास तथा सिद्धान्त का अनुशीलन हिन्दी साहित्य की निर्गुण भक्तिधारा के

यथार्थ अध्ययन के लिए नितान्त अपेक्षित है, परन्तु सामग्री के अभाव से अभी तक यह अनुशीलन विस्तार और प्रमाण के साथ नहीं हो सका है। नाथपन्थ, नाथ सम्प्रदाय—यह नामकरण ऐतिहासिकों ने इस लिए किया है कि इस सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त साधकों के नाम के अन्त में 'नाथ' शब्द अवश्यमेव पाया जाता है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में यह मत सिद्धमत या अवधूत मत के नाम से उल्लिखित किया गया है (तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः परं संश्रयेत्—सिद्धसिद्धान्त-पद्धति)। इस मत के अनुयायी विरक्तों की सामान्य संज्ञा है अवधूत। 'अवधूत' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह व्यक्ति जिसने प्रकृति के समस्त विकारों का अवधूनन (दूर) कर डाला है। इस मत का अधिकारी यही अवधूत होता है। यह अधिकार पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि अवधूत वही व्यक्ति हो सकता हो जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त रहे, जिसके एक हाथ में भोग विराजमान हो और दूसरे हाथ में त्याग। इसी दुरूहता के कारण इस मार्ग का उपदेश नितान्त गोप्य रखा जाता था।

हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार ब्रह्मानन्द के अनुसार शिव ही इस मत के आदि पुरुष हैं। वे ही इसके प्रवर्त्तक हैं। इसीलिए वे आदिनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार समस्त मन्त्र तन्त्रों के आश्रय तथा प्रसवभूमि देवाधिदेव भगवान् शंकर हैं, उसी प्रकार इस पन्थ के उद्भव स्थान भी वे ही हैं। परन्तु इसके ऐतिहासिक प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। इन्हीं के शिष्य प्रशिष्यों ने इस मत के सिद्धान्तों का विपुल प्रचार इस भारत भूमि पर किया। द्रविड़ देश को छोड़कर समग्र भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय का थोड़ा बहुत प्रचार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इनकी शिष्य-परम्परा के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि बहुमत से यह परम्परा इस रूप में मानी जा सकती है—



ज्ञात परम्परा का यह संक्षिप्त निदर्शन है। मत्स्येन्द्रनाथ इस सम्प्रदाय के मध्ययुगी ऐतिहासिक प्रवर्त्तक हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। इस सम्प्रदाय में मीननाथ नाम के एक आचार्य हुए हैं। कुछ पण्डित दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु कुछ लोग मीननाथ को मत्स्येन्द्र से पृथक् तथा अर्वाचीन मानते हैं। मत्स्येन्द्र ने इस मत के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन किया। मत्स्येन्द्रासन उन्हीं के द्वारा प्रवर्त्तित आसन है। इनके तथा गोरखनाथ के विषय में इतनी विचित्र दन्तकथाएँ विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित हैं कि ये इतिहास की ठोस भूमि से उठ कर कल्पना के लोक में पहुँच गए हैं। सुनते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले मछली के रूप में पैदा हुए थे। आदिनाथ ने जिस योग मार्ग का उपदेश दिया उसे इस मत्स्य ने पूरी तौर पर सुना और वह स्वयं एकाग्रचित्त होकर निश्चलकाय हो गया। शंकर ने उसकी ओर अपनी दयादृष्टि फेरी और उस पर जल छिड़क कर उसे प्राणदान दे दिया। वही आचार्य मत्स्येन्द्र हुए। हरप्रसाद शास्त्री जी की सम्मति में इनका मूल नाम मच्छघ्न था। इसलिए वे उन्हें मछुवा या मल्लाह जाति का मानते हैं।

इनके तीन शिष्य प्रसिद्ध हैं—गोरखनाथ, चौरंगीनाथ तथा घोड़ाचोली। अंतिम दो शिष्य केवल नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु गोरखनाथ नाम और कर्म से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। सच तो यह है कि वे इसी मत के विख्याततम आचार्य नहीं हैं, प्रत्युत इस भारतवर्ष के अध्यात्मवेत्ता आचार्यों की श्रेणी में महनीय स्थान पाने के अधिकारी हैं। वे एक महान् सिद्धाचार्य हैं तथा हठ-योग-सम्प्रदाय के मध्ययुगी प्रामाणिक प्रवर्त्तक हैं। तिब्बत देश के प्रसिद्ध विद्वान् तारानाथ का कहना है कि ये आरम्भ में बौद्ध थे। उस समय इनका नाम अनंगवज्र (रमणवज्र, शास्त्री जी के मत से) था। अपने जीवन के पिछले भाग में ही ये नाथपन्थ में दीक्षित हुए। इनके समय का निरूपण अभी तक प्रामाणिक आधारों पर नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् उन्हें अष्टम शतक में मानते हैं, तो कुछ लोग १५ वें शतक में, परन्तु ज्ञानदेव से तीन पीढ़ी पूर्व में उत्पन्न होने से इनका समय ११ वीं शताब्दी के आस पास स्वीकार किया जा सकता है (देखिए—डॉ० बड़थ्वाल, योग प्रवाह, पृ० ५४-६२)। इन दोनों गुरु-शिष्यों की सामाजिक ख्याति नेपाल में आज भी है। इनके जीवनवृत्त का परिचय तो नहीं मिलता, परन्तु गोरख पन्थ, गोरखाली जाति, गोरख गुहा—जहाँ गोरखनाथ जी के त्रिशूल, कमण्डलु और सिंगी सुरक्षित बताए जाते हैं—और उसी के पास गोरखागाँव और गोरखपुर—ये सब आज भी हमें गोरखनाथ का स्मरण दिलाते हैं और मछंदरनाथ आज भी नेपाल में अधिकांश जनता के इष्टदेव माने जाते हैं।

गोरखनाथ के शिष्यों में गहनीनाथ भी विशेष ख्यात हैं। इनके द्वारा यह पन्थ महाराष्ट्र देश में प्रचारित तथा प्रसारित हुआ। इनके हिन्दी ग्रन्थ 'गहनी प्रताप' से भी इनके गोरखशिष्य होने की बात प्रामाणिक मानी जा सकती है। तिब्बती ग्रन्थों का वर्णन भिन्न है। ये चौरासी सिद्धों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका नाम 'हाडिपा' बतलाया जाता है। तारानाथ तो इन्हें धर्मकीर्ति (८ शतक) का समकालीन मानते हैं। यहाँ मत्स्येन्द्रनाथ भी इनके शिष्य बतलाए गए हैं। इनके शिष्य हुए निवृत्तिनाथ जिन्होंने ज्ञाननाथ को इस मत में दीक्षित किया। ये ज्ञाननाथ

ज्ञानेश्वर के नाम से विशेष विख्यात हैं। इन्होंने ही ज्ञानेश्वरी नामक गीता की प्रामाणिक टीका लिखी (१२१२ श०) जो योग पद्धति या नाथ मत के अनुसार गीता का पदार्थ निरूपण करती है। बंगाल के राजा त्रिलोकचन्द की रानी तथा गोपीचन्द की माता रानी मयनावती भी गोरखनाथ की शिष्या थी। इनके एक शिष्य बालनाथ भी थे जो तिब्बती ग्रन्थों में सिद्ध बालपाद के नाम से विख्यात हैं तथा जो कभी कभी जालंधरनाथ से अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं।

गोरखनाथ के समान ही जालंधरनाथ इस सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे। कुछ विद्वान् इन्हें गोरखनाथ का शिष्य मानते हैं और कुछ गुरुभाई। इनके दो विशिष्ट शिष्यों का पता चलता है–१. कानपाव जो 'कणेरी' तथा 'हालीपाव' के नाम से भी विख्यात हैं। २. गोपीचन्द–बंगाल के राजा त्रिलोकचन्द के पुत्र गोपीचन्द के संन्यास ग्रहण करने, विरक्ति तथा माता मयनावती से उपदेश लेने के विषय में अनेक ग्रन्थ बँगला भाषा में प्रसिद्ध हैं तथा युक्त प्रांत में भी गाँव गाँव घूमकर जीविका चलाने वाले जोगी लोग आज भी सारंगी पर गोपीचन्द तथा भरथरी के गीत गा कर जन-साधारण का मनोरंजन किया करते हैं। महाशान्त वाद्य में इनके संन्यास की कथा संक्षेप में वर्णित है।

सिद्धान्त—नाथपन्थ में परमपुरुष 'नाथ' शब्द के द्वारा अभिहित किए जाते हैं। वे सगुण और निर्गुण अथवा साकार व निराकार इन दोनों विरुद्ध भावनाओं से पृथक् होने से परमतत्त्व के रूप में गृहीत किए गए हैं। ये द्वैत या अद्वैत दोनों के ऊपर हैं। इन्हीं नाथ के साथ साधक की एकता की प्राप्ति कर लेना जीवन का प्रधान लक्ष्य है और ऐक्य प्राप्ति का मुख्य साधन है योग। अन्य मार्ग उसके सहायक मात्र हैं। योग मार्ग ही सन्मार्ग है, अन्य मार्ग पाषण्ड मार्ग हैं—सन्मार्गश्च योगमार्गः तदितरस्तु पाषण्डमार्गः (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)। योग की उपासना कीजिए, अन्य शास्त्रों की आवश्यकता ही क्या ?—योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः (विवेक मार्तण्ड)। इस मत का यही साधन मार्ग है। योग के ऊपर इतना आग्रह दिखलाने के कारण सम्प्रदाय के भक्तगण 'जोगी' के नाम से पुकारे जाते हैं। यह योग हठयोग के नाम से विख्यात है। 'हठ' सांकेतिक शब्द है। 'ह' का अर्थ है सूर्य या प्राण, 'ठ' का अर्थ है चन्द्र या अपान। इस प्रकार सूर्य तथा चन्द्र अथवा प्राणापान के योग कराने से इस योग का नाम हठयोग है।

वायु का वशीकार अथवा प्राणायाम ही इस योग का मुख्य साधन है। इसी तत्त्व का वर्णन अनेक संकेतों या प्रतीकों द्वारा किया गया है। इस सिद्ध मार्ग का महामन्त्र यही भोगयोग का मंजुल समन्वय है—अल्पमश्नाति स तु कल्पयति जल्पयति बहु भुनक्ति स तु रोगी। द्वयोरपि पक्षयोर्यः सन्धि विचारयति स तु कोपि विरलो योगी॥ अर्थात्, जो कम भोजन करता है, वह भूख के मारे नाना प्रकार की कल्पना तथा जल्पना करता है। जो बहुत खाता है, वह रोगी बन जाता है। जो इन दोनों पक्षों की संधि या योग को विचारता है वह कोई बिरला योगी ही होता है। नाथपन्थियों की दृष्टि में योग के द्वारा स्वार्थ और परमार्थ का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। भोग और त्याग का सामरस्य इसी में है। इस प्रकार गीता के मध्यम मार्ग का उपदेश ही इस पन्थ को ग्राह्य है।

महर्षि पतंजलि का योग राजयोग है जिसमें समाधि के द्वारा मन की एकाग्रता स्थापित की जाती है, परन्तु नाथपन्थियों की दृष्टि में मन को वश में लाना साधारण जनों की शक्ति के बाहर की बात है। शरीर पर अधिकार रखने वाला ही मन को वश में ला सकता है। इसीलिए ये लोग राजयोग के पक्षपाती न होकर हठयोग के उपदेशक हैं। परन्तु यह योग भी है नितान्त प्राचीन और उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य। योग किसी एक सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं है। यह तो सब सम्प्रदायों में समभावेन उपादेय मानकर गृहीत हुआ है। वैदिक धर्म तथा दर्शन का यह व्यवहार पक्ष है। बौद्धों ने भी योग उपनिषदों से लिया और बौद्ध सम्प्रदाय में योग की विपुल उपयोगिता है। कुछ विद्वान् नाथपन्थ को ही हठयोग का उद्‌भावक मानते हैं। हठयोग के दो मत थे–(१) गोरखपन्थ, (२) मार्कण्डेय पन्थ। मार्कण्डेय पन्थ ने आठ अंगों को माना है, परन्तु गोरखनाथ ने यम और नियम को योगांग से पृथक् कर उनकी संख्या छः ही मानी है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं।

नाथपन्थ के अनेक उपयोगी आध्यात्मिक सिद्धान्त हैं जिनका अनुसंन्धान कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिए आवश्यक है।

उपसंहार

यह मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्तियों का एक संक्षिप्त विवेचन है। इसका परीक्षण हिन्दी के भक्ति साहित्य की समीक्षा की पृष्ठभूमि है। हिन्दी में भक्ति साहित्य की द्विविध तरंगिणी प्रवाहित होती है–निर्गुण भक्तिधारा और सगुण भक्तिधारा। निर्गुण के प्रधान प्रतिनिधि सन्त कविगण हैं, जिनके मुखिया कबीर तथा नानक हैं। सगुण भक्तिधारा राम और कृष्ण की भक्ति पर आग्रह दिखलाती है और उसके मुख्य प्रतिनिधि हैं तुलसीदास और सूरदास। इन दोनों धाराओं के मूल रूप इस काल की साधना की धारा में दृष्टिगोचर होते हैं। नाथपन्थ के सिद्ध सन्तों की कविता वज्रयानी साहित्य तथा निर्गुण भक्ति साहित्य को जोड़ती है। सिद्ध लोगों पर वज्रयानी बौद्धों का विपुल प्रभाव प्रतीत होता है। मुसलमानों का प्रवेश भारत में हो गया था, परन्तु उनके धर्म के साथ हिन्दू धर्म का सामञ्जस्य ठेठ हिन्दी युग की विलक्षण घटना है। इसी सामञ्जस्य के उपासक होने से भी कबीर तथा गुरु नानक का माहात्म्य हम स्वीकार करते हैं। इस तालिका के द्वारा हम मध्ययुग के मतों का परस्पर सम्बन्ध शीघ्रतया समझ सकते हैं—

तान्त्रिक बौद्ध धर्म
|
(वज्रयान)
|
नाथपन्थ
|
निर्गुण भक्तिधारा
(योग का प्राधान्य)
|
कबीर

पांचरात्र ———— भागवत
|
वैष्णव सम्प्रदाय
|
श्रीवैष्णव | माध्व | निम्बार्क | विष्णुस्वामी

श्रीवैष्णव
|
रामावत सम्प्रदाय | चैतन्यमत | राधावल्लभीय सम्प्रदाय | वल्लभ

रामावत सम्प्रदाय
|
रामानन्द[1]
|
तुलसीदास
|
सगुण भक्तिधारा
(भक्ति का प्राधान्य)

वल्लभ
|
अष्टछाप

१—आज कल कुछ आलोचक रामानन्द स्वामी को श्री वैष्णवों की परंपरा म न मान कर स्वतंत्र मत का उद्भावक मानते हैं। अभी तक यह विवाद का विषय ही बना हुआ है।

४. सामाजिक अवस्था

भारतीय इतिहास में मध्ययुग की संस्कृति का विशिष्ट स्थान है। इसकी जानकारी मुसलमान लेखकों के विवरण, उत्कीर्ण प्रशस्तियों तथा विशेषतया निबन्ध साहित्य से होती है, जो स्मृति ग्रन्थों के पश्चात् लिखे गए। इन निबन्ध ग्रन्थों से समाज, धर्म तथा नीति सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान हो जाता है। हिन्दी प्रदेश के चार सौ वर्षों (१०वीं सदी से चौदहवीं सदी) का इतिहास यह बतलाता है कि भारत के राजनैतिक क्षेत्र में यह संकट का युग था, जब इस्लाम के अनुयायी भारत पर आक्रमण समाप्त कर पूर्ण रूप से उत्तरी भाग में बस गए थे। इस कारण हिन्दू नरेश तथा जनता सदा सशंकित रहा करती थी। भारतीय नरेश भी राष्ट्रीय भावना से विमुख हो कर अपने छोटे राज्य की रक्षा को ही सर्वोपरि मान रहे थे। उस सीमित क्षेत्र में हिन्दू नरेश समाज को ऊँचा उठाने में सहायक न हो सके और न अपनी प्रजा को संकटों से बचा सके। अर्थ संकट तथा व्यापार की अवनति के कारण मुद्रा का प्रचलन संकुचित हो गया और अर्थाभाव के कारण तथा विपरीत स्थिति में रहने से हिन्दू किसी भी पुरुषार्थ को सुसम्पन्न न कर सके। इस्लाम के अनुयायी जिस उद्देश्य को ले कर भारत आए थे, उसके सामने भारतीय नर नारी को झुकना पड़ा। जो ब्राह्मण पूर्व सदियों में समाज के नेता थे, वे क्षत्रियों के निर्देश पर कार्य करने लगे थे। पूर्व मध्ययुग में जिस रूप में समाज का संगठन हो चुका था, वह आज भी ज्यों का त्यों स्थिर है।

ब्राह्मण––हिन्दी प्रदेश में चार सौ वर्षों के भीतर सामाजिक संगठन में यथासमय कुछ परिवर्त्तन आता गया। भारत की सामाजिक संस्था 'वर्णाश्रम' को स्मृतिकारों ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर चार अंगों में विभाजित किया था। पूर्ण विकसित समाज में चार वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र–की कल्पना की गई थी। यद्यपि वैदिक काल से ब्राह्मण (पुरोहित) समाज का प्रधान निदेशक था, परन्तु मध्यकाल की राजनीति में उसका विशेष हाथ न रहा। ब्राह्मण सदा से शासकों की संरक्षा में रह कर समाज की उन्नति में संलग्न रहते थे। वेद की विभिन्न शाखाओं तथा वेदांग का अध्ययन कर आचार्य या पुरोहित के कार्य को चुन लेते, किन्तु दसवीं सदी के पूर्व से ही ब्राह्मण षट्कर्म को छोड़ कर विभिन्न कार्यों द्वारा जीविका उपार्जन करने लगे। शुक्र (२,४२१) ने भी इस बात का उल्लेख किया है और इस युग की प्रशस्तियों में ब्राह्मण सेनापति का नाम उत्कीर्ण मिलता है। एक लेख में वर्णन है कि मुसलमानों द्वारा युद्ध में मारे जाने के कारण ब्राह्मण परिवार को वृत्ति देने का निश्चय किया गया था। मध्ययुग में कई राज्यों में ब्राह्मण महामंत्री के पद को सुशोभित करते रहे। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्रदेव के पुरोहित लक्ष्मीधर ने प्रधानमंत्री के पद पर कार्य किया था (कृत्यकल्पतरु, भूमिका पृष्ठ १०) । वैश्य के व्यवसाय

को भी ब्राह्मणों ने अपनाया था। व्यापार, सूदखोरी तथा पशुपालन के अतिरिक्त कृषि का कार्य ब्राह्मण करने लगे थे, जिसे वृद्धहारीत ने ब्राह्मणों का सामान्य धर्म माना है—कृषिस्तु सर्ववर्गान्त सामान्यो धर्म उच्यते (८,१७९)। इस कार्य की पुष्टि तत्कालीन लेखों से भी होती है। प्रशस्तियों में दान का वर्णन करते समय इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—भुञ्जमामनस्य कर्षततः कर्षयतो दानधान विक्रयम्वा कुर्वतो न केनाचित्काचिद्बाधा कर्त्तव्या (ए० इ० भा० २० पृ० १३१); कर्षतः कर्षाययत प्रतिदिसतो (का० इ०इ०भा०इ० १७९)। तात्पर्य यह था कि ब्राह्मण खेती करता था और दान भूमि को जोतने (कर्षत) की आज्ञा थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग में ब्राह्मणों की प्रधानता न रही और वे क्षत्रिय या वैश्य के व्यवसाय अपनाने लगे।

ब्राह्मणों का देशान्तर गमन—हिन्दी प्रदेश अर्थात् मध्यदेश से ब्राह्मण कई कारणों से देशान्तर जाने लगे थे। सातवीं सदी से ही प्रशस्तियों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि कान्यकुब्ज से मालवा, मध्यभारत तथा बंगाल में जा कर ब्राह्मणों ने अपना निवास स्थान बना लिया। बंगाल में १०वीं सदी से १२वीं सदी तक के पाल तथा सेन वंशों लेखों में 'मध्यदेश विनिर्गत' ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में विग्रहपाल तृतीय की वनगाँव प्रशस्ति (ए०इ०भा० २९पृ० ५६—छांदोग्य शाखाध्यायिने मीमांसातर्कविद्याविदे कोलञ्च विनिर्गताय), महीपाल (१०४० ई०) की प्रशस्तियाँ (ए०इ०भा०१४, पृ०३२५) उल्लेखनीय हैं। विजयसेन (१०९७-११५९ई०) के बैरकपुर लेख तथा लक्ष्मणसेन की सात प्रशस्तियाँ (बैरकपुर. नई हटीः ए०इ० भा०१४,पृ०१५६), गोविन्दपुर (र०ब०पृ०९२), तलन्डीही (ए०इ०१३पृ०१०), अनुलिया (ज०ए०सो०ब०भा०५९,पृ०६१), मधाईनगर (ज०ए०सा०वं०भा०५,पृ०४६७) तथा सुन्दर-वन का लेख (र०वं०पृ०१६८) उसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। मालवा के परमार शासक वाक् पतिराज द्वितीय के एक ताम्रपत्र में देशान्तर से आने वाले छब्बीस ब्राह्मणों का नाम मिलता है। उसमें कन्नौज के ब्राह्मणों का भी नामोल्लेख है (ए०इ०भा० २३पृ०१०२,भा०२५पृ०६१, र०ए०भा०६पृ०४८—मध्यदेशान्तः महग्राम विनिर्गत वह्वृच शाखिने ब्राह्मण सर्वानिन्दाय)। इससे प्रकट होता है कि कान्यकुब्ज से देशान्तर गमन करने वाले ब्राह्मणों का उज्जैन में स्वागत किया गया था। चन्देलवंशी राजा त्रैलोक्यवर्म देव (१२०५-४१ई०) ने भी कालिंजर के भूभाग में हिन्दी प्रदेश से जाने वाले ब्राह्मणों का स्वागत किया था। इस देशान्तर गमन के विशिष्ट कारणों को बतलाना कठिन है, पर यह अनुमान किया जाता है कि इस्लाम के अनुयायी हिन्दी प्रदेश में अपना घर बना रहे थे, इसलिए ब्राह्मणों ने संरक्षक की खोज में तथा उपजीविका के निमित्त कान्यकुब्ज (यह ब्राह्मणों का केन्द्र था) से बाहर जाना श्रेयस्कर समझा।

वर्ग तथा उपजातियाँ—आलोच्य युग में ब्राह्मण वर्ग में कई उपजातियाँ पैदा हो गई थीं। अभिलेखों में उपविभाजनों के सबल प्रमाण नहीं मिलते, किन्तु उनकी पहचान के लिए गोत्र तथा शाखाओं का प्रयोग किया जाता था। प्रायः सभी दानपत्रों में (१०वीं-१४वीं सदी तक) ब्राह्मणों के नाम के साथ गोत्र और शाखा का उल्लेख है। १२वीं सदी की चन्द्रवती प्रशस्ति (ए०

इ०भा०१४, पृ०२०२) में पाँच सौ ब्राह्मणों का उल्लेख गोत्र व शाखा के साथ मिलता है (नाना गोत्रेभ्यः चतुश्चरण चतुः श्रुति पाठकेभ्यः पंचशत संख्येभ्यः ब्राह्मणेभ्यो), जिसमें काश्यप तथा भारद्वाज की प्रधानता प्रकट होती है। सेमरा ताम्रपत्र (ए०इ०४, पृ०११५) में चौंतीस गोत्र तथा कलहा अभिलेख (ए०इ०७,पृ०८७) में भी नाना गोत्र और शाखाओं के नाम मिले हैं। जहाँ तक विशिष्ट उपजातियों का प्रश्न है, सह्याद्रि खण्ड (उत्तरार्द्ध १०, १-२) तथा 'राजतरंगिणी' में उत्तर भारत के ब्राह्मणों को 'पंच गौड़' के नाम से पुकारा गया है (सारस्वत, कान्यकुब्ज, उत्कल मैथिल तथा गौड़)। अभिलेखों के परीक्षण से इस बात की पुष्टि होती है कि भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया गया था। हिन्दी प्रदेश में कान्यकुब्ज ब्राह्मण की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त सरयू नदी के किनारे निवास करने वाले सरयूपारी के नाम से विख्यात हुए। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्रदेव के पाली ताम्रपत्र में 'सरयूपार' अथवा 'सरूवारा' भाग का उल्लेख है (ए०इ०भा०५,पृ०११४-गोविन्दचन्द्रदेवो विजयी सरूवारा)। सम्भवतः भौगोलिक दृष्टिकोण से ही ब्राह्मणों के एक वर्ग को सरयूपारी घोषित किया गया होगा। पंच गौड़ ब्राह्मणों के अतिरिक्त शकद्वीप से आने वाले शाकद्वीपी या मग ब्राह्मणों का भी नाम उत्तर भारत के लेखों में आता है, परन्तु हिन्दी प्रदेश में इनकी स्थिति के सम्बन्ध में सबल प्रमाण नहीं मिलते। उपनामों के कारण ब्राह्मणों में छोटी उपजातियाँ बन गईं। ब्राह्मण अपने ही वर्ग में विवाह करते रहे जिससे उपजातियों में भी विभेद बढ़ गया। इनमें पारस्परिक सम्बन्ध टूट गया और खानपान तथा विवाह की विभिन्न रीतियाँ रूढ़ हो गईं। कन्नौज के ब्राह्मण उत्तरी भारत में आचार तथा धर्म में शुद्ध समझे जाते थे, इसी कारण बंगाल के सेन नरेश वल्लालसेन ने १३वीं सदी में कन्नौज से ब्राह्मणों को निमंत्रित कर 'कुलीन प्रथा' को चलाया।

राउत तथा ठाकुर की उपाधियाँ—हिन्दी प्रदेश की प्रशस्तियों में ब्राह्मणों के लिए दो विशेष प्रकार की पदवियाँ मिलती हैं, जो राउत तथा ठाकुर शब्दों से उल्लिखित हैं। परमर्दि के सेमरा ताम्रपत्र (ए०इ०४,पृ०१५५) तथा चरखारी के लेख में (ए०इ०२०,पृ०१३३) इनका विवरण पाया जाता है। गहड़वाल नरेश जयचन्द्र के एक लेख (ए०इ०भा०१६,पृ०२७४) में क्षत्रिय के साथ भी (राउत श्री राज्यधर वर्मणे क्षत्रियाय) यह शब्द संयुक्त है। 'राउत' शब्द 'राज्यच्युत' शब्द का विकृत रूप हो सकता है। यह पदवी उन ब्राह्मणों के लिए भी थी, जो कभी राजा के सदृश शासक के पद को सुशोभित करते रहे। कार्टेलियर अपना मत व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट न कर सका कि सेमरा आदि प्रशस्तियों में ब्राह्मण के लिए राउत का प्रयोग क्यों हुआ? (ए०इ० भा०४,पृ०१५४)। इस सम्बन्ध में विशिष्ट मत स्थिर करना कठिन है। राउत की तरह मध्यदेश के लेखों में ब्राह्मणों के साथ 'ठाकुर' शब्द भी जुड़ा मिलता है। उनमें "ठाकुर श्री महीधर पुत्राय, ठाकुर श्री जसराम, ठाकुर श्री देवराय, ठाकुर श्रीभूपति, ठाकुर श्रीधर——एषु ब्राह्मणेषु" (ए०इ० १३, पृ० २१९), इस प्रकार उल्लेख मिलता है। गहड़वाल लेखों में यह पदवी अनेक स्थानों पर उल्लिखित है (ए०इ०४,पृ०२३१,भा०७,पृ०१००,भा०१३,पृ०२१९, भा०८,पृ०१५२, भा० १९, पृ०२९४)। भारद्वाज गोत्री ठाकुर नारायण तथा ठाकुर देवपाल शर्मा आदि के नाम मिलते हैं।

हिन्दी प्रदेश के लेखों में व्यक्तिगत नाम के साथ शर्मन् और ठाकुर जुड़े रहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक शर्मन् के लिए ठाकुर पदवी दी गई थी। गोविन्दचन्द्र के एक लेख में ठाकुर उहिल के पौत्र ठाकुर जटेशर्मन् का नाम मिलता है (ए०इ०भा०४,पृ०११२)। स्यात् मंदिर के पुजारियों को ठाकुर की पदवी दी गई हो, जैसा बंगाल में आज भी प्रयुक्त होता है। चन्देल नरेश त्रैलोक्य वर्मन् के धरा ताम्रपत्र के अध्ययन से यह विदित होता है कि 'राउत' सेना के पदाधिकारी (ए०इ० भा० २०, पृ० १३२) तथा 'ठाकुर' पुजारी की पदवी थी।

क्षत्रिय—प्राचीन वर्णाश्रम संस्था में क्षत्रिय को द्वितीय स्थान दिया गया है, परन्तु प्रशस्तियों में 'राजपूत' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, जिनका मध्ययुग में (१०००-१४००ई०) प्रमुख स्थान था। इस काल में ब्राह्मणों के सदृश राजपूत भी समाज में अग्रणी थे, जिसका प्रमाण साहित्य तथा मुसलमान लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है। जहाँ गौतम ने ब्राह्मणों को सभी अपराध के लिए अवध्य (अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु) माना है जिसकी विज्ञानेश्वर ने भी पुष्टि की है (मिताक्षरान्यास०२,४), वहीं दसवीं सदी के मुसलमान लेखक अलबेरूनी ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है (साचू भा०१,पृ०१६२) कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण के सदृश विशेषाधिकारी थे। इस नवीन स्थिति का एक विशेष कारण था। आलोच्य युग में इस्लाम मतानुयायी भारत में प्रवेश करते जा रहे थे और उनसे देश की रक्षा करने का भार क्षत्रियों पर था। अतएव देश-रक्षक होने के नाते क्षत्रिय समाज में प्रमुख हो गए और ब्राह्मणों को प्रथम स्थान न मिल सका। अरब के एक लेखक इब्न खुरदवा (९१२ई०) ने दसवीं सदी के हिन्दू समाज में सात जातियों का उल्लेख किया है, जिसमें सावकुफ़िया (सत क्षत्रिय) को प्रथम स्थान दिया है। इल इद्रिसी ने भी क्षत्रिय को श्रेष्ठ माना है (इलियट, हिस्ट्री आफ़ इंडिया भा०१,पृ०१,६ तथा ७६)। इस प्रकार हिन्दी प्रदेश के क्षत्रियों को समाज में प्रमुख स्थान मिल गया। क्षत्रियों को इस कारण ब्राह्मण से सम्बद्ध गोत्र तथा प्रवर को अपनाने में कठिनाई न हुई (पुरोहित प्रवरो राज्ञाम्)। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध धर्म से हिन्दू मत में पुनरागम के अवसर पर क्षत्रियों से ब्राह्मणों के गोत्र एवं प्रवर को सम्बन्धित कर दिया गया।

राजपूत—हिन्दी प्रदेश के अभिलेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि प्राचीन क्षत्रिय वर्ग सर्वत्र राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हो गए। यद्यपि पाणिनि (अष्टा०२-४१) तथा व्यास ने भी (महाभारत, शा० प० ६४) राजन्य शब्द का प्रयोग क्षत्रिय वर्ग के लिए किया, पर राजपूत या राजपुत्र शब्दों से प्राचीन क्षत्रियों का ही बोध होता है। चाहमान लेख (ए०इ०भा०११,पृ०५३) में राजपुत्र जोज्जत को राजचिन्तक कहा गया है। गहड़वाल अभिलेखों में राजपुत्र राज्य के पदाधिकारियों की सूची में उल्लिखित पाए गए हैं। आलोच्य काल के राजपूत को क्षत्रिय से समता करने में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ तो राजपूत को क्षत्रियों से भिन्न मानते हैं। इस विवाद की गहराई में न जा कर यहाँ यह कहना उचित होगा कि राजपूत प्राचीन क्षत्रिय के वंशज थे और इसलिए चन्देल तथा गहड़वाल नरेश सूर्य अथवा चन्द्र वंश से अपना सम्बन्ध बतलाते हैं। तत्कालीन अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि क्षत्रियवर्ग में दो विभाग थे (पहला

शासक वर्ग तथा दूसरा राजपूत समाज, जो सैनिक का कार्य करता था और राजघराने से सर्वथा पृथक् था।

उपजीविका—मध्ययुग में शासक वर्ग 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' की पदवी से विभूषित थे तथा राज्य कार्य सँभालने के लिए अनेक पदाधिकारी नियुक्त थे, जिनके नाम उत्तर भारत की प्रशस्तियों में पाए जाते हैं। युवराज या राजपुत्र सर्वोच्च अधिकारी था, जो विभिन्न शास्त्र तथा कला में निपुण हो कर राज्य शासन में सहायता करता था। एक लेख में निम्न प्रकार की विद्या सीखने का उल्लेख है—

> **व्याकरणं तर्कों ज्योतिश्शास्त्रं कलान्वितं।**
> **सर्व भाषा कवित्वं च विज्ञात सुविलक्षणम्।।**
> (ए० इ० भा० १८, पृ० ९६)

इस पद्य में कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजकुमार को वेद-वेदांग तथा धनुर्विद्या की शिक्षा दी जाती थी। मुसलमान लेखकों ने गहड़वाल राजा गोविन्द-चन्द्रदेव को शक्तिशाली तथा राजकाज में निपुण समझ कर काशी का रक्षक कहा था। वह ब्राह्मणों के सदृश प्रगाढ़ विद्वान् था तथा उसका मंत्री लक्ष्मीधर भी प्रकाण्ड पंडित था। (ए० इ० भा०९, पृ०३२४)। उस युग के आल्हा-ऊदल ऐसे नवयुवक योद्धाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

यवन लोगों से युद्ध उस काल की एक साधारण घटना थी, अतः साधारण राजपूत युद्ध में भाग लिया करते थे। राजपूत सैनिक भृत्य तथा मौला नामक दो वर्गों में विभाजित हो गए थे। योद्धाओं को प्रोत्साहन देने के लिए 'मृत्युक वृत्ति' नामक धन मृत सैनिक परिवार को पालनार्थ दिया जाता था। शुक्र नीति (१, पृ०४२१) तथा मध्यभारत के अनेक लेखों (ए०इ०भा०१६, पृ०२७५, भा०२०,पृ०१३३) में 'मृत्युक वृत्ति' का उल्लेख पाया जाता है (मृत्युक वृत्तौ शासनं कृत्वा प्रदत्त इति)। गहड़वाल राजा जयचन्द्र के एक लेख में (ए०इ०भा० १८, पृ०१३५-४०) क्षत्रिय सैनिक राजधर को वृत्ति के रूप में भूमिदान का वर्णन मिलता है। कई प्रशस्तियों में प्रतिष्ठा-मुद्रा (मेडल) को राजपट्ट या श्रीपट्ट शब्दों से व्यक्त किया गया है, जो योद्धा को वीरता के उपलक्ष्य में दिया जाता था। प्रमाणपत्र—पदवी भी देने की परिपाटी थी और वीर सैनिक 'वीरमुख्य' की पदवी से विभूषित होता था।

हिन्दी प्रदेश के बाहरी भूभाग से जितने लेख उपलब्ध हुए, हैं उनमें वर्णन है कि गौड़ मालव, खस, कुलिक, हूण, भट, भाट, सेवकादि—राजपूत से भिन्न अन्य जातियाँ भी सेना में भरती की गई थीं। सम्भवतः हूण नामक विदेशी जाति के लोग भारतीय समाज में प्रवेश पा चुके थे। उनके सम्मिश्रण से हूण राजकुमारी क्षत्रियों से ब्याही गई थी। भारतीय संस्कृति को उन लोगों ने अपना लिया था, अतएव हिन्दू समाज में विदेशी निन्दनीय न रहे। उत्तर भारत, तथा मध्य भारत की प्रशस्तियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं (ए०इ०भा०२३,पृ०२९१,ए०इ०भा०५८, पृ०१६१,ए०इ०भा०२,पृ०४, भा०१४,पृ०२९८) कि हूण तथा खस आदि जातियाँ सेना में

भरती की गई थीं। इस तरह राजपूत वर्ग के लोग विदेशी आक्रमण से देश को बचाने में सदा संलग्न रहा करते थे।

वैश्य—वर्णाश्रम में तीसरा स्थान वैश्य का था, जो द्विज के अन्तिम वर्ग माने जाते थे (वेदव्यास १,४–ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः)। प्राचीन युग में वैश्य जाति का जो कर्त्तव्य था, वही मध्यकाल में भी उल्लिखित है। आठ सौ ईसवी के बाद अभिलेखों में वणिक लोगों का सर्वत्र उल्लेख है, जो अधिकतर वाणिज्य में लगे रहते थे। हिन्दी प्रदेश में स्यात् वैश्य लोगों का स्थान द्विज श्रेणी से गिर रहा था, इसीलिए बौधायन सूत्र (१,११,४) में शूद्र की श्रेणी में उनकी गणना की गई है। दसवीं सदी के मुसलमान लेखक अल्बेरूनी ने भी वैश्य तथा शूद्र को एक ही श्रेणी में रक्खा (साचू भा०२,पृ०१३६) और वेद-पाठ दोनों जातियों के लिए वर्जित बतलाया था। आलोच्य काल में वैश्य लोगों में कई उपजातियाँ हो गई थीं जो अपने में सीमित रहीं तथा जाति के पंचायती नियमों को मानतीं रहीं। इन लोगों ने देश की श्री-वृद्धि में हाथ बटाया तथा व्यापार में मुसलमानों का भी साथ दिया। यों तो दसवीं सदी में मथुरा, अयोध्या तथा काशी के मन्दिरों से अपार धन लूट कर ग़ज़नी भेजा गया, परन्तु बाद को मुसलमानी रियासत स्थिर हो जाने पर भारत का धन बाहर न जा सका। व्यापार के कारण देश की समृद्धि का अनुमान इस बात से लगता है कि दक्षिण भारत पर विजय कर अलाउद्दीन असंख्य धनराशि दिल्ली ले आया था। उस समय के वैभव तथा धन का अनुमान मन्दिरों की मूर्तियों, राजभवन और दुर्गों के निर्माण से लगाया जा सकता है। तत्कालीन धातु-देवप्रतिमाओं में हीरे जवाहरात लगाए जाते थे। मुसलमान लेखकों ने मन्दिरों में भेंट द्वारा अर्पित धन का वर्णन किया है। भारतीय संस्कृति के प्रसार में वणिक श्रेणी को ही श्रेय दिया जाता है, क्योंकि व्यापार के प्रसंग में इस जाति ने दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह, हिन्द-चीन तथा मध्य एशिया में सुन्दर उपनिवेश बसाए और धर्म तथा कला का प्रचार किया।

विभिन्न व्यापार व व्यवसाय—मध्ययुग की प्रशस्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैश्य चार प्रकार के कार्य में संलग्न रहते थे—(१) स्थानीय व्यापार, (२) विदेशी व्यापार, (३) सार्थवाह के कार्य, (४) बड़े उद्योग।

स्थानीय व्यापारी श्रेणी के समूह रूप में कार्य करते थे। वणिक लोग समीप के विभिन्न हाटों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया करते थे (ए०इ०भा०२०, पृ०५४,२१,४८)। उस समय की तैलिक, मालिक, तंतुवाय आदि श्रेणियों के नाम मिलते हैं (ए०इ०भा०१,पृ०१६०)। एक स्थान से सुदूर देश में व्यापारी लोग समूह में चला करते थे, जिसे 'सार्थ' कहते थे। चाहमान लेखों में समूह के लिए 'बनजारा' शब्द का प्रयोग किया गया है—अत्रेषु समस्त वणजारेषु (बनजारा) देसीमिलित्वा वृषभ भरित जतु पाइलाल...कि राउउआ मार्गेगच्छमान वणिजारकादि समस्ते लोकस्य (ए०इ०भा०११,पृ०४०)। समुद्री व्यापार के लिए जहाज ले कर वणिक पूर्वी बंगाल हो कर ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से पूर्वी द्वीपसमूह तथा चीन तक चले जाते थे। 'बृहत्कथा मंजरी' (लम्बक २) में धनगुप्त का नाम मिलता है जो प्रसिद्ध नाविक था।

अल् इद्रीसी तथा सुलेमान ने भी भारत के नाविक एवं समुद्र द्वारा सामग्री ले जाने का वर्णन किया है। हिन्दी प्रदेश के व्यापारी वणिक भी गंगा नदी द्वारा बंगाल और द्वीप समूह तक जाते थे।

हिन्दी प्रदेश के वणिक कई प्रकार के उद्योगों में भी लगे रहते थे। अभिलेखों में तेल का कारख़ाना तथा शराब तैयार करने के कार्यों का उल्लेख पाया जाता है। तेल के कारख़ाने को घाणक कहते थे जिस पर कर लगाया गया था (ए०इ०भा०११,पृ०४२)। शराब तैयार करने वाले व्यक्ति 'कल्लपाल' (कलवार) के नाम से पुकारे जाते थे (ए०इ०भा०१,पृ०१७४)। उस उद्योग पर जो कर लगाया गया था, उससे भगवान् विष्णु के मन्दिर में राग-भोग का प्रबन्ध किया जाता था। लेखों में अन्य कारख़ानों का नाम टैक्स (कर) के प्रसंग में लिया गया है। तैलिक श्रेणी प्रति मास मन्दिर में दीपार्थ तैल दिया करती थी (तैलिक श्रेणी प्रति कोल्हू मासि मासि शुक्ल नवम्यां तैलपलिका दातव्ये)। सामाजिक कार्य के निमित्त कर लगाने का कोई एक नियम नहीं था। बोझ तथा वस्तु की विभिन्नता के कारण कर की दर घटती बढ़ती थी। वैश्य व्यापारी को बैल, घोड़ा तथा बैलगाड़ी के भार पर क्रमशः अधिक कर देना पड़ता था। लेखों में निम्न तरह का वर्णन आता है—

राजा श्री जयसिंहेन अस्मै देवाय भक्तितः।
वृषभं प्रति भोगार्थं मार्गे विंशोपको दत्तः॥
—ए० इ० भा० २१, पृ० ४८।

समस्त वणजारेषु—वृषभ भरित चतु पाइलाल गमने ततु वींस प्रतिरूआ २ किराउऊआ गाडं प्रति रू० १ वणजारकै धर्माय प्रदत्तं (ए०इ०भा०११,पृ०३७)।

जो वणिक हाट में सामान विक्रय करता था, उसे भी चुंगी (हाटक दान) देना पड़ता था। लेखों में बाज़ार के चुंगीघरों के लिए 'मण्डपिका' शब्द का प्रयोग मिलता है जो प्रमाणित करता है कि चुंगी का प्रचलन सर्वत्र था (मण्ड-पिकोत्पत्ति धन दत्ता षटे प्रत्यहं द्रम्माः)। वणिक श्रेणी के लोग समूह में व्यापार अथवा व्यवसाय करते थे और लाभ का कुछ अंश दान में व्यय किया करते थे। मन्दिरों में राग-भोग का प्रबन्ध इसी दान से किया जाता था तथा देवालयों का जीर्णोद्धार भी सम्पन्न होता था। उसी धन से रथयात्रा आदि उत्सव मनाए जाते थे। इसीलिए वणिक वर्ग के लोग मन्दिरों की प्रबन्ध समिति के सदस्य बनाए जाते थे। समाज में वैश्य जाति को उनके कार्य तथा दान देने के कारण पूर्ण आदर तथा सम्मान मिला था।

कायस्थ—मध्ययुग की यह एक विशेषता है कि कायस्थ नामक उपजाति की स्थिति समाज में पाई जाती है। यद्यपि धर्मशास्त्रों में उल्लिखित चारों वर्णों (चत्वारो वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय विट् शूद्राः) के अन्तर्गत कायस्थ का नाम नहीं मिलता, परन्तु 'स्मृतिचन्द्रिका' में वृहस्पति को उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार कायस्थ को द्विज श्रेणी में रक्खा गया है। लेखक तथा गणक न्यायाधीश से सम्बन्धित थे और कायस्थ लेखक होने के नाते द्विज कहे गए (काने, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र भा०२, हि०१,पृ०७६)। वर्त्तमान काल में भी पटना तथा इलाहाबाद हाईकोर्ट में

कायस्थ को द्विज माना गया है (१२, इलाहाबाद, ३२८:इ०ला०रिपोर्ट भा०६,पृ०५१२-३०)। सब से प्रथम विष्णु धर्मसूत्र (३००ई०) में वर्णन आता है कि राजा ने कायस्थ को शासन लिखने के लिए नियुक्त किया (वि०ध०सू०७,३ राज्याधिकरणे तन्नियुक्तक कायस्थ)। विज्ञानेश्वर ने भी मिताक्षरा (याज्ञ०ज्ञ,३३५) में 'कायस्थेन लिखित :' या 'कायस्थ गणका लेखकाश्च' का उल्लेख किया है। अभिलेखों के आधार पर यह कहना उचित होगा कि पहली से छठी सदी तक कायस्थ राज्य के उच्च अधिकारियों की सूची में नहीं पाए जाते। गुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्र में सर्व-प्रथम कायस्थ नाम आता है (ए०इ०भा०१५)। हिन्दी प्रदेश के अभिलेखों में 'कायस्थ वंश' अथवा 'कायस्थजातीय' का उल्लेख यह बतलाता है कि आलोच्य काल में कायस्थ नाम से एक उपजाति समाज में प्रधान स्थान ले चुकी थी तथा शासन के विभिन्न पदों पर कार्य करती थी। चाहमान लेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि कायस्थ लेख पत्र के लिखने का कार्य करते थे। बंगाल के गौड़ कायस्थ सुन्दर अक्षर लिखने के लिए विख्यात थे (लिखिता रूचिराक्षरा गौडेन—ए०इ०भा०१,पृ०१२९व१४७)। कायस्थ मध्यप्रदेश में गौड़ देश से आ कर बस गए थे, जिससे शासन का प्रमाण-पत्र सुन्दर रीति से लिखा जा सके। गौड़ कायस्थ के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के निवासी कायस्थ भी सुन्दर लिखावट के लिए निमंत्रित किए जाते थे। हिन्दी प्रदेश के विषय में ऐसा ही वर्णन पाया जाता है—

द्विजवरनतिरक्त शुद्ध कायस्थ वंश्यो।
हृदयधरसमाख्यः श्रीशिवस्तंभसूनुः॥
अलिखदखिल वर्णव्यक्त पंक्ति प्रशस्यं।
नव किसलयकान्तं ताम्रमेतद्विजानाम्॥—ए० इ० भा० १४, पृ० १९५।

राजा परमर्दि के एक लेख में ऐसा ही उल्लेख है—

विरचित शुभकर्मान्नाम कायस्थ वंशः।
सकल गुण गुणानां वैश्य पृथ्वीधराख्यः॥
अलिखदवनिपालस्याज्ञया धर्मलेखी।
स्फुट ललितनिवेशैरक्षरैस्ताम्रपट्टम्॥

—ए० इ० भा० १६, पृ० १४।

ताम्रपत्र लिखने के अतिरिक्त राज्य में ऊँचे पदों पर कोषाधिकारी, वीरमुख्य या महाक्ष-पटलिक भी नियुक्त किए गए थे। विभिन्न प्रदेशों के निवासी होने के कारण कायस्थों में विभेद पैदा हो गया और वे पृथक्-पृथक् नामों से पुकारे जाने लगे। गौड़, माथुर, श्रीवास्तव पदवियाँ लेखों में मिलती हैं (ए०इ०भा०१, पृ०२११,भा०१९,पृ०५०, भा०४, पृ०१०४)।

शूद्र तथा अन्त्यज—वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्र का अन्तिम स्थान था। स्मृति ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि शूद्र द्विज मात्र की सेवा किया करें। याज्ञवल्क्य (१,१२०) तथा नारद (ऋणदान, ५८) ने यह भी उल्लेख किया है कि सेवा वृत्ति से यदि जीविका पूर्ण न

हो तो वैश्य का कार्य भी करना चाहिए। यद्यपि उपजीविका के कारण समाज में शूद्र का स्थान ऊँचा हो गया, परन्तु मध्यकालीन स्मृतिकारों ने उसे वेदाध्ययन से वंचित माना है (नाध्येतव्यं कदाचन—वशिष्ठ १८,११)। अल्बेरूनी ने इस कथन का समर्थन किया है तथा यहाँ तक कहा है कि वेद पढ़ने वाले शूद्र की जिह्वा काट ली जाती थी। अत्रि के कथनानुसार ऐसे शूद्र को राजा दण्डित करता था। स्मृति के अतिरिक्त मध्यकालीन अभिलेखों में शूद्र के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता, अतएव यह कहना उचित होगा कि हिन्दी प्रदेश में शूद्रों को समाज में उचित स्थान प्राप्त था, किन्तु वे वर्तमान युग की तरह अस्पृश्य नहीं थे। अग्रहार लेखों में चाण्डाल का नाम मिलता है, जो गाँव की सीमा पर निवास करता था। वह पंचम वर्ण माना गया है और साधारणतया अन्त्यज समझा जाता था।

पंचम वर्ण की स्थिति प्रतिलोम विवाह के कारण हुई, जब शूद्र का विवाह ब्राह्मण कन्या से हुआ (ब्राह्मण्यां शूद्र जनितः चाण्डालो धर्मवर्जितः)। ताम्रपत्रों में सर्वत्र ही चाण्डाल का नाम उल्लिखित है। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रतिलोम विवाह को समाज में प्रोत्साहन मिलता रहा। स्मृतिग्रन्थों में इस प्रकार के विवाह की घोर निन्दा की गई है और गौतम (१२, ३) ने तो ऐसे शूद्र को दण्डित करने का विधान किया है। प्राचीन युग के स्मृतिकारों ने लिखा है—चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः (मनु १०,४; औशनस ४७।१८)। उनकी दृष्टि में पंचम वर्ण की स्थिति न थी, पर अन्त्यज की कल्पना तथा स्थिति मध्ययुग की देन है। दानपत्रों में इसी कारण शूद्र के अतिरिक्त चाण्डाल का नाम आता है—चाण्डालपर्यन्तान् सम्वोधयति समाज्ञापयति (ए० इ० भा० २०, पृ०१३३; भा० ४, पृ १७०)। इसी पंचम वर्ण को 'सर्वधर्मबहिष्कृतः' कह कर उल्लिखित किया गया है। मध्ययुग की स्मृतियों में अन्त्यज कह कर सभी अस्पृश्यों का बोध किया जाता है। अत्रि (१९९) तथा वेदव्यास (१,११) ने निम्नलिखित अन्य सात जातियों को अन्त्यज में सम्मिलित किया है—

रजकः चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
कैवर्त्त मेद भिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजा स्मृताः॥

मुसलमान लेखक इब्न खुर्दबा ने मध्ययुग की सात जातियों में संडलिया यानी चाण्डाल को अन्तिम स्थान दिया है। अल्बेरूनी ने कार्य के अनुसार आठ जातियों को अस्पृश्य बतलाया है—रजक, चर्मकार, नट, बुरुड़, कैवर्त्त, मल्लाह मेद तथा तंतुवाय (साचू भा० १ पृ० १०१)। हाड़ी, डोम, चाण्डाल, बधतौ आदि अन्य अस्पृश्यों के नाम कुछ अभिलेखों में पाए जाते हैं। हिन्दी प्रदेश की इन उपजातियों से उच्चवर्ण के व्यक्ति पृथक् रहते थे और उनसे स्पर्श हो जाने पर प्राजापत्य तथा सान्तयन यज्ञ कर के शुद्ध होते थे। पाराशर ने किसी भी अवस्था में स्नान मात्र से शुद्ध हो जाने का विधान उपस्थित किया है—चाण्डाल स्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत् (पाराशर स्मृति ६।२४)। अत्रि संहिता में चाण्डाल का भोजन ग्रहण करने वाले शूद्र को दान देने की चर्चा है—शूद्रो दानं दत्वा विशुध्यति। इस विवेचन का सारांश यह है कि चारों वर्णों

के अतिरिक्त पंचम वर्ण समाज में स्थान पा चुका था। अधिकतर अछूत या चाण्डाल लोगों में कार्य की विभिन्नता के कारण भेद हुआ, जिनका नाम पृथक् उपजाति के रूप में आज भी समाज में प्रचलित है।

गुलाम—मुसलमान शासकों ने अस्पृश्यों की तरह गुलाम नियुक्त कर एक पृथक् समूह पैदा कर दिया था, जिन्हें बन्दगाने खास कहते थे। किसी राजा के पास गुलामों की संख्या सीमित न थी। अलाउद्दीन ख़िलजी तथा फ़ीरोज़ तुग़लक के शासन काल में गुलामों की संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई। सुल्तान ने उनके प्रबन्ध के लिए स्यात् एक पृथक् विभाग निश्चित कर दिया था। कभी-कभी अधीनस्थ राजा सुल्तान को गुलाम ही भेंट में दिया करते थे। गुलामों के लिए केन्द्रीय कोष से पर्याप्त धन व्यय किया जाता तथा सुल्तान के गुणग्राही होने पर गुलाम अच्छे पद पर भी नियुक्त किए जाते थे। अन्य देशों से भी गुलाम मँगाने की प्रथा मध्य युग में प्रचलित थी।

समय के परिवर्तन से हिन्दू समाज में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। सभी वर्णों में संस्कार, कार्य तथा भोजन आदि से खाई बढ़ती गई, यज्ञ प्रायः बन्द हो गए, मांस-मदिरा का प्रचार बढ़ गया, इसलिए शुद्धता तथा पवित्रता के विचार से ब्राह्मणों में संकुचित विचारों ने घर कर लिया। धर्मशास्त्रों के कथन का पालन अक्षरशः कठिन था। हिन्दी प्रदेश का समाज अवनति की ओर अग्रसर हो रहा था।

सामाजिक संस्थाएँ—हिन्दू समाज में आश्रम के सिद्धान्त के महत्व पर विशेष कहना युक्तिसंगत नहीं। इतना कहना आवश्यक है कि हमारे आलोच्य काल में आश्रम की कल्पना सर्वत्र वर्तमान थी और साहित्य तथा अभिलेखों में इसका उल्लेख मिलता है। चाहमान लेख में नैष्ठिक ब्रह्मचारी का नाम आता है (ए० इ० भा० २, पृ० १२३)। गृहस्थाश्रम के पश्चात् शासकों द्वारा कुमार के पक्ष में राज्य त्यागने का विवरण पाया जाता है। जयपालदेव नामक शासक ने पचास वर्ष की आयु में राज्य छोड़ दिया और गंगा के किनारे तपस्या आरम्भ की। उसी प्रसंग में अनशन द्वारा शरीर त्यागने की बात उल्लिखित है—अन्तेचानशनं कृत्वा स्वर्गं लोकं समागतः (ए० इ० भा० १३, पृ० २९२)। सम्भवतः उस समय आश्रमों की पूरी अवधि (यानी मनुष्य का जीवन) सौ वर्ष की मानी गई थी, इसलिए पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम करना श्रेयस्कर समझा जाता था।

इस युग में हिन्दी प्रदेश की पवित्र तपोभूमि में तपस्या कर प्राण छोड़ना सर्वोत्तम माना जाता था। काशी तथा प्रयाग की तपोभूमि में मोक्ष प्राप्ति के कई उपाय कार्यान्वित किए जाते रहे। प्रायः तीन उपाय प्रधान माने गए—(१) आग में जल जाना, (२) पानी में डूब जाना तथा (३) अनशन से मर जाना। हिन्दू शास्त्रों में निर्वाण के निमित्त इन मार्गों का उल्लेख मिलता है (अनुशासन पर्व २५, ६२ तथा मत्स्यपुराण १८६-३४)। ग्यारहवीं सदी के एक लेख में वर्णन आता है कि कलचूरी राजा गांगेयदेव ने अपनी सौ पत्नियों के साथ प्रयाग में आ कर गंगा में प्राण त्यागा—प्राप्ते प्रयाग वटमूलनिवेशबन्धौ, सार्द्धं शतेन

गृहिणीभिमुत्र मुक्तिम् (ए० इ० भा० २, पृ० ४)। इससे पूर्व की घटना ऐसी ही थी जब कि सातवीं सदी का गुप्त शासक तृतीय कुमारगुप्त प्रयाग आ कर अग्नि में प्रवेश कर गया था (गुप्त-लेख पृ० ४२)। चन्देल शासक धंग की भी यही दशा रही (ए० इ० भा० १ पृ० १३०)। प्रतिहार वंशी राजा शिलादित्य ने भी गंगा के किनारे उपवास करके मोक्ष प्राप्त किया—अन्ते च अनशनं कृत्वा स्वर्गलोकं समागतः (ए० इ० भा० १८, पृ० ९६)। अभिलेखों में इस प्रकार के कई उल्लेख हैं जिनमें तीन मार्गों का ही वर्णन है—अनशन विधिना वीरस्तेजसि माहेश्वरे लीनः आदि। हिन्दी प्रदेश के समान बंगाल, असम तथा दक्षिण भारत में भी मोक्ष के लिए विभिन्न उपायों से काम लिया जाता था।

संन्यास आश्रम में साधु समाज जन-कल्याण में लगा रहता था, परन्तु मठ में निवास करने के कारण उस संस्था में बुराइयाँ आ गईं। मठ प्रायः शिव मन्दिर के समीप बनाए गए थे और मन्दिर की दान सामग्री की देख-रेख तथा पूजा का प्रबन्ध मठ का स्वामी (वृद्ध संन्यासी) किया करता था। कालान्तर में वह प्रबन्धक मठाधीश बन गया और मन्दिर की चल तथा अचल सम्पत्ति का मालिक बन बैठा। हिन्दी प्रदेश में ऐसे अनेक मठ तीर्थस्थानों में वर्तमान थे, जिनकी परम्परा आज तक चली जा रही है। अभिलेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मठ तथा शिव मन्दिर को अनेक ग्राम दान में दिए गए थे, जो कालान्तर में मठाधीश (महन्त) की ज़मींदारी के रूप में परिणत हो गए। हिन्दू मठ की स्थापना बौद्ध मठों के अनुकरण पर हुई थी। बौद्ध संघ शिक्षा के भी केन्द्र थे, अतएव हिन्दू मन्दिरों में भी विद्यालय स्थापित किए गए। मठ में निवास करने वाले संन्यासी को भिक्षा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था, किन्तु अग्रहार से वहीं भोजन का समुचित प्रबन्ध था।

वैवाहिक रीति तथा स्त्रियों की अवस्था— समाज की अन्य संस्थाओं में संस्कार का भी अपना महत्त्व है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र के लेखों में उल्लेख पाया जाता है कि जातकर्म, नामकरण तथा चूड़ाकर्म नामक संस्कारों के अवसर पर राजा ने भूमि दान में दी थी। मध्य-कालीन स्मृति ग्रन्थों में विवाह को छोड़ कर अन्य संस्कारों का विशेष वर्णन नहीं मिलता। प्रश-स्तियों में यदा-कदा किसी संस्कार का वर्णन प्रसंगानुसार मिल जाता है। प्राचीनकालीन आठ प्रकार के विवाह की चर्चा मध्ययुग में नहीं रही। अनुलोम (उच्च वर्ण का वर तथा निम्न वर्ण की कन्या) तथा प्रतिलोम (नीच कुल का पुरुष तथा ऊँचे परिवार की कन्या) विवाह प्रणालियों की सूचना हमें मिलती है। असवर्ण विवाह में जाति विशेष की आवश्यकता न थी। विज्ञानेश्वर ने द्विज मात्र को शूद्र कन्या से विवाह करने का विधान बतलाया है। प्रतिलोम के कारण ही चाण्डाल की स्थिति समाज में पाई जाती है। साधारण जन को छोड़ कर राजघराने में स्वयंवर की प्रथा चल पड़ी थी। अल्बेरूनी के कथनानुसार ब्राह्मण अनुलोम प्रथा को नहीं मानते थे और ब्राह्मण वंश में विवाह करते थे। उत्तरी भारत के लेखों में ऐसे उदाहरण हैं जब ऊँचे परिवार का वर नीच वंशजा कन्या से विवाह करता था (ए० इ० २८, पृ० ९५; हर्षचरित उच्छ्वास १)। मध्ययुग में राजनीतिक परिस्थिति के कारण वर-कन्या की अवस्था में बहुत परिवर्तन हो गया।

पुराने समय में बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया जाता था, परन्तु मध्ययुग में यह प्रथा प्रचलित न थी और आलोच्य काल की स्मृतियों में वर्णन मिलता है कि ऋतुकाल से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए, अन्यथा माता-पिता तथा भ्राता नरक के भागी होते हैं —

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठ भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम्।।

(अंगिरस, १२७)

बृहत्यम ने दश वर्ष आयु वाली कन्या के विवाह को उत्तम माना है—

प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्या न यच्छति।
मासि मासि रजः तस्याः पिता पिबति शोणितम्।।

सम्भवतः धार्मिक परिस्थितियों ने भी कन्या की वैवाहिक अवस्था कम करने में हाथ बँटाया। इन्हीं कारणों से युवावस्था से पूर्व ही विवाह सम्पन्न होने लगे और हिन्दी प्रदेश के समाज में विधवाओं की संख्या अधिक मिलने लगी।

बहुपत्नीत्व—मध्ययुग में जन साधारण एक ही स्त्री से विवाह करते थे, परन्तु राजघराने की दशा सर्वथा भिन्न थी। प्रतिहार, चन्देल तथा चेदि वंशी लेखों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें एक शासक की अनेक पत्नियों के नाम मिलते हैं। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने बहुपत्नीत्व को राजाओं के विनाश का कारण माना है। चाहमान राजा राज्यपाल की रामा तथा पद्मा नामक दो स्त्रियाँ थीं (ए० इ० भा० ११, पृ० ६१)। चेदि राजा गांगेय देव की सौ पत्नियों का उल्लेख किया गया है। कन्नौज के गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्रदेव की पाँच रानियाँ थीं— गोसला देवी, नायनकेलि देवी, कुमार देवी, वासन्त देवी तथा, दल्हण देवी (ए० इ० भा० ९ पृ० ३२४, भा० ५, पृ० ११६, भा० ४, पृ० १०७, भा० ९, पृ० ३१९)। देवल के वाक्य से सारे समाज का कुछ चित्र सामने आ जाता है —

एका शूद्रस्य वैश्यस्य द्वे तिस्रः क्षत्रियस्य च।
चतस्रो ब्राह्मणस्यस्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छतः।। **(गृहरत्नाकर, पृ० ८५)**

स्त्रियों की अवस्था—हिन्दी प्रदेश के अभिलेखों से स्त्रियों की शिक्षा आदि का विवरण विशेष रूप से नहीं मिलता, परन्तु नामोल्लेख से उनकी विशेषता का अनुमान किया जा सकता है। राजकुमारियों के लिए शिक्षा तथा सांस्कृतिक कार्यों का समुचित प्रबन्ध था, जिसका वर्णन राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में धनवान तथा राजघराने की कुमारियों के विषय में उचित रीति से किया है। कात्यायन ने पत्नी को पतिसेविका बनने का उपदेश दिया है। स्मृतिकार वेदव्यास (अध्याय२), अत्रि (संहिता १८३-७) तथा देवल (५३,५४) स्त्रियों के सम्बन्ध

में उदार विचार रखते थे। उनका कथन था कि बलात् अपहरण करने पर स्त्रियों को पुनः उसी वर्ण में ग्रहण कर लेना चाहिए, जिससे उनकी पवित्रता नष्ट न हो सके।

विधवा––बाल विवाह के कारण समाज में विधवाओं की संख्या में वृद्धि हो गई थी। कलियुग में विधवा विवाह को निषिद्ध माना गया। अल्बेरूनी ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है, जो तत्कालीन समाज (१०वीं सदी) का चित्र प्रकट करता है। जहाँ तक विधवाओं का प्रश्न है, सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्पष्ट लिखा है कि वे सहमरण की रीति का पालन करें। पति की चिता पर साथ मरना श्रेयस्कर समझा गया। अतः सहमरण का प्रचार हो गया। अरब लेखकों ने तो सहमरण को सती की संज्ञा दी है। वीर जातियों में पति की मृत्यु का समाचार सुन कर अग्नि में जल मरना (अनुसरण) मध्ययुग की एक विशेषता थी। राजपूत इतिहास में इसे जौहर कहा गया है। सुलेमान ने सहमरण का भली भाँति वर्णन किया है (इलियट––हिस्ट्री भा० १, पृ०६) अल्बेरूनी ने लिखा है कि रानियों को अनिच्छा रहने पर भी पति (राजा) के साथ जलना पड़ता था (साचू भा० २, पृ० १५५)। वर्तमान समय के सती-स्मारक प्राचीन प्रथा की याद दिलाते हैं।

'स्मृतिचन्द्रिका' में स्त्रियों की आर्थिक दशा पर प्रकाश डाला गया है। पति द्वारा पत्नी के त्याग का विवरण मिलता है, परन्तु बिना दोष सिद्ध किए पतिव्रता नारी का पति ही दण्डित किया जाता था। पत्नी के त्यागने पर भी उसके भरण-पोषण का भार पति पर रहता था। पति-धन पर विधवा के अधिकार की प्रामाणिक चर्चा की गई है और उसकी अनुपस्थिति में नाती का स्वामीत्व माना गया है।

गणिका––मध्ययुगीन समाज में गणिका के सम्बन्ध में सर्वत्र एक-सा वर्णन मिलता है। साहित्य तथा अभिलेख के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि गणिकाएँ प्रत्येक राजवंश से सम्बन्धित थीं। बारहवीं सदी के चाहमान लेख में गणिकाओं पर लगाए गए कर (टैक्स) का भी उल्लेख है, जो दशबन्ध के नाम से ज्ञात था (आर० सर्वे, इण्डिया वार्षिक रिपोर्ट १९०८-९, पृ० ११९)। कालान्तर में गणिकाएँ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मन्दिरों में संगीत का प्रदर्शन करने लगीं। उन लोगों ने देव प्रतिमा की पूजा में भी सहायता की और वे देवदासी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। मध्ययुग के मन्दिरों में भगवान् की आराधना के लिए एक नट-मण्डप—एक नवीन मण्डप—जोड़ा गया, जिसमें कीर्त्तन तथा संगीत का आयोजन किया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि गणिकाएँ मन्दिरों के उत्सवों में देवता के प्रीत्यर्थ संगीत में हाथ बँटाया करती थीं।

वस्त्राभूषण तथा अंग संस्कार—हिन्दी प्रदेश के निवासियों के पहिनावों, आभूषणों तथा अन्य विन्यासों का वर्णन साहित्य तथा अभिलेखों में मिलता है। मध्ययुग की प्रतिमाओं तथा चित्रों से उसकी पुष्टि होती है। साधारणतया स्त्री-पुरुष धोती तथा चादर धारण किया करते थे। शृंगारप्रिय होने के कारण स्त्रियाँ शरीर के अंगों को अन्य रीति से सुशोभित किया करती थीं। बौद्ध प्रतिमाओं को देखने से वस्त्राभूषण के सम्बन्ध में विशेष जानकारी हो जाती है। अरब

यात्री सुलेमान ने भारतीय वस्त्रों का विवरण देते समय धोती-चादर का ही उल्लेख किया है। धोती कमर में बाँधते थे और चादर ऊपर धारण करते थे। सम्भवतः उस समय धोती (आजकल के सदृश) पाँच गज़ की न होती थी। उसे लुंगी (३ गज़) कह सकते हैं। सिले वस्त्रों के प्रसंग में कहा जाता है कि यह प्रथा आठवीं सदी से आरम्भ हुई। जब भारत पर बाहर वालों ने आक्रमण किया, उस समय से सिलने की रीति यहाँ चल पड़ी। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि बाघ की गुफाओं में स्त्रियों की आकृतियाँ अंगिया पहने चित्रित की गई हैं। स्त्रियाँ साड़ियों से कमर से निचले भाग को ढँकती थीं और कच्छा की तरह पीछे दोनों छोर बाँधती थीं। पहनने में सूती, रेशमी तथा कमख़्वाब आदि का प्रयोग किया जाता था। ह्वेनसांग के कथनानुसार राजा तथा धनीमानी व्यक्ति मूल्यवान वस्त्र पहनते थे (वाटर० भा० १, पृ० २८७)। कन्नौज के शासक रेशमी वस्त्र पहनते थे। ऐसे सुन्दर वस्त्र के निर्यात के सम्बन्ध में मुसलमान यात्रियों ने वहुत लिखा है (अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० ५४)। पगड़ी धारण करने का विशेष अवसर होता था। साधारण अवस्था में पुरुष या स्त्रियों के सिर पर कोई वस्त्र नहीं दिखलाई पड़ता था, सामाजिक उत्सवों में ही अच्छे वस्त्राभूषण तथा पगड़ी आदि का उपयोग किया जाता था।

स्त्रियों के केश-विन्यास का चित्रण भारतीय कलात्मक उदाहरणों में देखा जा सकता है। अभिलेखों में घुँघराले बाल का वर्णन मिलता है। पुरुषों की मूँछ तथा दाढ़ी के सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि मूँछें रखने की रीति विदेशी है। यूनानी सिक्कों पर राजाओं की आकृतियाँ मूँछ के साथ मिलती हैं। हिन्दी प्रदेश से हिन्दू देवताओं की जितनी प्रतिमाएँ मिली हैं, उन सब में मूँछ का अभाव है। केवल भैरव या रौद्र शिव मूर्ति की मूँछें दिखलाई देती हैं।

शरीर को सुन्दर दिखलाने के लिए स्त्रियाँ नाना प्रकार के आभूषण तथा सौभाग्य का चिह्न धारण करती थीं। सिंदूर, कुंकुम तथा चूड़ी का नाम लेखों में आता है, जिनका सौभाग्यवती नारियाँ प्रयोग करती थीं—सिंदूरभूषणविवर्जितमास्यपद्मं, उत्सृष्टहारवलयं कुचमण्डलञ्च (ए० इ० भा० १, पृ० १२९) तथा होठों में लाल रंग का लेप लगाया करती थीं (भारत कौमुदी भा० १, पृ० २७४)। सौभाग्यवती को आँखों में अंजन लगाना भी आवश्यक समझा जाता था (भ्रूभंगया रहितैरनन्यगतिभिः सत्यक्तकालाञ्जनैः)। उस समय आभूषण धारण करने की प्रथा कुछ कम नहीं थी। विभिन्न प्रकार के भूषण यत्र-तत्र पहने जाते थे। मुद्रा, कंकण, कुण्डल, हार, रामनामी, भुजबन्ध, उदरबंध, करधनी, नूपुर आदि का प्रयोग सँमाज में स्त्रियाँ किया करती थीं। दसवीं सदी के पश्चात् जीवन में बनावट का अधिक प्रवेश हो गया। भोग-विलास की सामग्री में कमी न थी। शृंगार चरम सीमा को पहुँच गया था। केशर मिला कर उबटन लगाना आदि अंगराग में अधिक प्रयोग किया जाता था।

भोजन तथा पेय—मध्ययुग से समाज में विभिन्न उपजातियों के विभाजन के कारण अनेक प्रकार की भोजन सामग्रियों का उल्लेख है। इस समय शाकाहारियों की संख्या घटती जा रही थी। शाकाहारी भोजन में चावल, गेहूं, दाल, दूध या घृत का प्रयोग किया जाता था (सम्यक् बहुघृतदधिभिः व्यञ्जनैः युक्तमन्नम्—ए०इ०भा०२०, पृ०४४)। मसाले के विक्रय तथा उपयोग

की चर्चा (किराना व्यापार) लेखों में मिलती है (ए०इ०भा०११, पृ०४३)। देवताओं के लिए नैवेद्य घृत तथा चावल से तैयार किया जाता और उपासकगण उस भोग को ग्रहण करते थे। हिन्दी प्रदेश में चावल की कमी थी। गंगा की घाटी में गेहूँ तथा जौ की उपज का वर्णन लेखों में मिलता है। मंदिरों में देव-पूजा के सम्बन्ध में हविष्य तथा नैवेद्य का वर्णन किया गया है, जिससे समाज में प्रयुक्त भोजन वस्तुओं का अनुमान किया जा सकता है। मध्ययुग के स्मृतिकार घृत, दूध तथा दही को उच्चवर्ग का भोजन मानते हैं (अंगिरस, ६०-८०, वेदव्यास, अध्याय ३)। समाज में ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय आदि वर्णों में मांसाहारी भोजन (मांस तथा मछली) का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता था। अल्बेरूनी ने ऐसा ही लिखा है कि ब्राह्मणों को छोड़ कर अन्य वर्गों को जीव-हत्या का पाप नहीं लगता था। भेड़, बकरी, भैंस, बतख, मछली आदि मारे जाते थे और गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की हत्या नहीं की जाती थी (साचू भा०२, पृ०१५१-२)। इतनी छूट होने पर भी विशिष्ट पर्वों के समय कोई जीव नहीं मारा जाता था।

पेय के सम्बन्ध में मध्ययुग के लेखों में अत्यधिक विवरण पाया जाता है। पेय को तीन विभागों में विभक्त किया गया था—(१) मधुपान, (२) सोमरस तथा (३) रसवती (ताड़ी)। अभिलेखों तथा यात्रियों के विवरणों से पता चलता है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी वर्णों के लोग मधुपान (शराब) किया करते थे। क्षत्रियों की स्त्रियाँ भी कभी-कभी शराब का स्वाद लिया करती थीं। सोमरस (मद्य) तैयार करने का कोई वर्णन नहीं मिलता, परन्तु सर्वसाधारण मधूक पुष्प से एक प्रकार का मद्य तैयार करते थे। समाज में कल्लवाल समूह का नाम ज्ञात था, जो मद्य तैयार कर विक्रय किया करते थे। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि प्रति मद्यभाण्ड पर आधे द्रम (आठ आना) कर लगाया जाता था (ए०इ०भा०१, पृ०१७४)। सम्भवतः मधुपान या सोमरस के वर्णन में ऊँचे या निम्न श्रेणी के व्यक्ति का विचार निहित है। रसवती ताड़ के रस को कहते थे। हिन्दी प्रदेश में मद्य का विशेष प्रयोग था और रसवती यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध न थी।

मद्य के प्रयोग से यह न समझना चाहिए कि इस पेय के लिए समाज लोगों को प्रोत्साहित करता था, प्रत्युत स्मृति ग्रन्थों में मद्य प्रयोग का निषेध किया गया है। होम तथा प्रायश्चित्त से ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अपने को शुद्ध करते थे। अत्रि (६१) तथा शंख (१७,४३) ने मद्य भाण्ड में भरे जल के प्रयोग की निन्दा की है तथा व्रत करने (मद्यभाण्डगताः पीत्वा सप्तरात्रं व्रतं चरेत्) का विधान उपस्थित किया गया है।

जहाँ तक भोजन में व्यय का प्रश्न है, भोजन वस्तुएं अत्यन्त सस्ते भाव पर बिकती थीं। घृत भी साधारण व्यक्ति के लिए सुलभ था। हिन्दी प्रदेश में अन्न आदि भोजन पदार्थ के सस्ता होने से समाज सुखी था और सर्वसाधारण के लिए व्यंजन के उपयोग का वर्णन किया गया है।

भिक्षा वृत्ति का निरोध—मध्ययुग की प्रशस्तियों के अध्ययन से प्रकट होता है कि समाज में भिक्षा वृत्ति को रोकने का उचित प्रबन्ध किया गया था। प्राचीन भारत में दान, विशेषकर गृहस्थों के लिए, एक पवित्र कार्य था। स्मृति ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है कि यति तथा

ब्रह्मचारी को भिक्षा दी जाय, क्योंकि ये भिक्षा पर ही जीवित रहते थे। वृद्ध हारीत ने ऐसा ही लिखा है–

यतिश्च ब्रह्मचारी च उभौ भिक्षाशिनौ स्मृतौ।
भिक्षा दद्यात् प्रयत्नेन यतीनाम् ब्रह्मचारिणाम्।।

समाज में भिक्षा वृत्ति का प्रसार होने पर यति या ब्रह्मचारी के अतिरिक्त अन्य लोग भी भिक्षु बन कर पेट पालने लगे। जिस समय से भिक्षाटन का संगठित रूप सामने आया, लोगों ने इस बुराई को मिटाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। व्यक्तिगत भिक्षा कार्य बन्द कर, संस्थाओं को दान देने की प्रवृत्ति काम करने लगी। इसीलिए प्रशस्तियों में मंदिरों तथा शिक्षा संस्थाओं के दान का वर्णन पाया जाता है। भिक्षा वृत्ति के निरोध का दूसरा मार्ग 'सत्र' की स्थापना थी, जहाँ पंगु और दुखी लोगों को भोजन बाँटने का प्रबन्ध था। ये सत्र (भिक्षा देने के स्थान) मंदिरों से सम्बन्धित रहते थे, जिसका उल्लेख "वलि चरू सत्र" वाक्य से लेखों में किया गया है। वलि का अर्थ पूजा तथा चरू को यज्ञादि के भाव में व्यवहृत किया जाता था। सत्र को भिक्षागृह के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है (ए०इ०भा०१९, पृ०१६, भा०१४, पृ०१७७)। पाँचवीं सदी के लेख में सत्र के स्थान पर धर्मसत्र का उल्लेख मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मंदिरों से सम्बन्धित भिक्षा स्थानों में भोजन बाँटने की व्यवस्था हो गई थी, ताकि समाज में भिखारियों की संख्या बढ़ने न पाए। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल द्वितीय के एक लेख में सत्र के लिए भूमिदान देने का वर्णन पाया जाता है (ए०इ०भा०१४,पृ०१७७)। अन्य लेखों में कई तरह से वर्णन आता है–मिष्ठान्नं पान सम्पन्ना सर्वसत्री व्यधादसौ (ए०इ०भा०२१,पृ०१६५), अथवा सततमुचितवृत्तिः कल्पयित्वान्नसत्रम् (वही, पृ० १३६-२९०)। तत्कालीन एक लेख में इस प्रकार का वर्णन है कि व्यंजनयुक्त अन्न को सत्र में साधु समाज में विभक्त किया जाता था (घृतदधिभिः व्यञ्जनैः भिक्षुभ्यः चतुर्भ्यां नित्यं तोयं सत्रे विभक्तं विभक्तं भिक्षुसंघाय दत्तम्)। हिन्दी प्रदेश के अतिरिक्त पूर्वी भारत में भी मंदिरों के समीप सत्र निर्माण करने का विवरण पाया गया है, जिसे भक्तशाला कहते थे (भक्तशाला क्षुधार्त्तानां महादेवस्य सन्निधौ—ए०इ०भा०२, पृ००१८१)। इस प्रकार का प्रशंसनीय कार्य सदियों तक हिन्दी प्रदेश में होता रहा। वर्तमान समय में भी काशी में 'छत्त' नामक संस्था मंदिरों से सम्बन्धित है, जहाँ संन्यासियों तथा भिखारियों को भोजन विभक्त किया जाता है। 'छत्र' शब्द 'सत्र' का बिगड़ा रूप है। अतएव संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन समाज में भिक्षा वृत्ति के संगठित रूप की निन्दा की गई तथा उसके प्रचार को सीमित करने के लिए सत्र (भिक्षा गृह) तैयार किए गए थे। वहीं दीन-दुखियों को भोजन आदि दिया जाता था। प्रायः मंदिर अथवा किसी विद्यालय से इनका सम्बन्ध रखा जाता था, जिससे सत्रों की सुव्यवस्था हो सके।

अन्धविश्वास—हिन्दू समाज में तन्त्र-मन्त्र का रिवाज बहुत पहले से चला आ रहा है। मंत्र फूंकना, जादू-टोना तथा सम्मोहन आदि की चर्चा साहित्य में मिलती है। मध्ययुग तन्त्र का

युग ही माना जाता है। वौद्ध धर्म में मंत्रयान के अनुयायी अर्थरहित वाक्य या धरणी का उच्चारण करते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि मंत्र के जपने या उच्चारण करने से मनुष्य दैवी शक्ति प्राप्त करता है। दसवीं सदी से तेरहवीं सदी के भीतर मंत्रयान तथा कालचक्रयान का प्रचार था और उस समय पिशाच या भूत-प्रेत के हटाने का भी उल्लेख है। तावीज़ पहनना, शकुन निकालना, इष्ट-सिद्धि के लिए बलिदान, भूत पर विश्वास आदि विभिन्न अन्धविश्वासों पर सामान्य जनता की आस्था थी। पूर्वी भारत के लेखों में मंत्रों का उल्लेख आता है। ब्राह्मणों द्वारा ज्योतिष पर विचार करने की वात भी कही गई है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी लिखा था कि निग्रन्थ लोग भविष्यवाणी करने में निपुण समझे जाते थे एवं फलित ज्योतिष में अधिक विश्वास रखते थे। इसका प्रभाव इतना वढ़ गया कि युद्ध में मनुष्य के पुरुषार्थ के बदले ज्योतिष की गणनानुसार मंत्रपूर्ण शस्त्रों का प्रयोग होने लगा। राजघराने में 'नैमित्तिक' नामक भविष्यवाणी करने वाले अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्रदेव के लेखों में 'नैमित्तिक' का नाम बार-बार आता है (ए०इ०भा०४, पृ०९७, भा०७, पृ०९९, भा०१८, पृ०२२२)। कहीं-कहीं 'ज्योतिषी' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जो शकुन तथा मुहूर्त्त पर विचार करता था। हिन्दी प्रदेश की जनता भूत-प्रेत पर अधिक विश्वास रखती थी। गहड़वाल नरेशों के तथा चन्देलवंशी लेखों में भूत तथा भगवान् शिव का सम्बन्ध उल्लिखित है (ए०इ०भा०१, पृ०१५६)। प्रत्येक यज्ञ के आरम्भ में पितृ-तर्पण का कार्य किया जाता था। भय के कारण प्रेत-पूजा की जाती थी, ताकि व्यक्ति संसार में सुखी रहे। इसी सिद्धान्त को ले कर भूतदामर की कल्पना मध्ययुग में प्रचलित हो गई, जिसमें भूत, पिशाच तथा राक्षस की पूजा का उल्लेख पाया जाता है। बंगाल में प्रेत छाया को मिटाने के लिए ब्राह्मण पुजारी परिवार में रखे जाते थे।

सब से प्रधान विश्वास स्वर्ग तथा नरक की भावना मानी जा सकती है। यद्यपि यह विचार अत्यन्त प्राचीन समय से समाज में था, परन्तु इस युग में स्वर्ग प्राप्ति के लिए नए मार्गों पर चलने का वर्णन मिलता है। अनशन कर, जल में डूब कर या अग्नि में जल कर प्राण त्यागने का विवरण हिन्दी प्रदेश के लेखों में भरा पड़ा है। प्रयाग इसके लिए मुख्य तीर्थ माना गया, जहाँ उपर्युक्त तीनों मार्गों से स्वर्ग जाने के निमित्त राजाओं ने प्राण त्यागा था। दान करने में स्वर्ग की भावना ही विशेष काम करती थी (ए० इ० भा० ३, पृ०२६६, भा०५, पृ०११४, भा०११, पृ०८, भा० १८, पृ० ९६)। प्रत्येक दानपत्र के अन्त में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद।
अच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्॥

इसके अतिरिक्त सूर्य और चंद्र ग्रहण के विषय में लोगों का विश्वास था कि राहु सूर्य-चन्द्र को ग्रस लेता है। हिन्दी प्रदेश की अनेक प्रशस्तियों से पता चलता है कि चन्द्र या सूर्य ग्रहण के अवसर पर भूमि दान में दी जाती थी। इस युग के अन्धविश्वासों के कारण ही समाज

में कुछ नई देवियों की कल्पना की गई। चामुण्डा, वज्रवराही, अष्टमातृका, शीतला, षष्ठी, मनसा आदि देवियों की पूजा नवीं सदी के बाद ही प्रचलित हुई और आज भी समाज में चल रही है।

खेल तथा आमोद-प्रमोद—समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए खेल तथा आमोद-प्रमोद का भी महत्त्व है। 'काव्यशास्त्र विनोदेन' के अतिरिक्त नाना प्रकार के खेल खेले जाते थे। राजघराने में शिकार को प्रमुख स्थान दिया गया था। साधारण लोगों के लिए मल्लयुद्ध तथा घर में शतरंज का उल्लेख पाया जाता है। जुआ खेलने का रिवाज कम न था, बल्कि जुआ खेलने के स्थान पर 'कर' लगाने का वर्णन मिलता है। ऊँची श्रेणी के लोग काव्य तथा संगीत से आमोद किया करते थे। राजपूत राजाओं के यहाँ भाट तथा विदूषक रहा करते थे, जो कविता पाठ या हास्यमय वार्त्ता से राजा का विनोद करते थे। सामाजिक जीवन में आनन्द लाने के लिए नाटक खेले जाते तथा धार्मिक अवसरों पर उत्सव मनाए जाते थे। रथयात्रा का ऐसा उत्सव था कि वाद्य, नृत्य तथा गान द्वारा देवता की पूजा की जाती थी। तीर्थस्थानों पर सामूहिक रूप में मेला संगठित किया जाता, जिसका आर्थिक महत्त्व भी था। पशु के क्रय-विक्रय का वह एक प्रधान स्थान था। वहाँ कथावाचक लोगों में सद्भावना जाग्रत करते थे। यह परिपाटी आज भी समाज में विद्यमान है। मेला सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का अवसर प्रदान करता था। इस तरह आनन्द तथा अच्छी प्रवृत्ति की भावना को ले कर ही मध्ययुग में उत्सव और त्यौहार मनाए जाते थे।

समाज में पशु-पक्षी पालने का रिवाज था। शुक के पालने का वर्णन लेखों में मिलता है तथा कलात्मक उदाहरणों में पिँजड़े में बैठा शुक दिखलाया गया है। हाथी, घोड़ा तथा ऊँट पालने का कार्य कई अर्थों में लाभकर था। ये सवारी के काम आते थे। घोड़ा रथ में लगाया जाता था, हाथी आखेट तथा युद्ध का विशेष यान था। मुसलमान लेखकों ने हिन्दू राजाओं के हज़ारों हाथी तथा घोड़ों का उल्लेख किया है। शासकों के मनोरंजन का सुन्दर वर्णन 'मानसोल्लास' (अध्याय ३) में मिलता है। सैनिक अभ्यास, हाथी-घोड़े का खेल, मल्लयुद्ध तथा पशु-पक्षियों की लड़ाई आदि विशेषरूप से उल्लिखित है।

मध्ययुग में सामाजिक या धार्मिक कार्य के लिए जनसाधारण एकत्रित होते थे। समाज में वसन्तोत्सव या दीपोत्सव के समय नर-नारी अनगिनत संख्या में एकत्रित हो कर आनन्द मनाते तथा संगठित रूप में संगीत आदि का आयोजन करते थे। इन उत्सवों में व्यय के लिए धन 'कर' के द्वारा एकत्रित किया जाता था। अधिकतर व्यापारी वर्ग ही सारे द्रव्य का प्रबंध करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वसाधारण से ले कर ऊँची श्रेणी तक के जनसमुदाय के लिए विभिन्न प्रकार के खेलों तथा आमोद-प्रमोद के आयोजन होते थे, ताकि सब की भौतिक उन्नति एक सी हो सके।

व्रत, उत्सव तथा त्यौहार—यद्यपि भारतवर्ष सदा से ही धर्मप्रधान देश रहा है, परन्तु मध्ययुग में उत्सव तथा त्यौहारों की परिपाटी सुदृढ़ स्थान बना चुकी थी और प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रकार के धार्मिक कृत्य से आरम्भ होता था। यज्ञ-यागादि की कमी को उत्सवों ने छिपा

दिया और मध्ययुग के जीवन में पवित्रता, शुचिता तथा शुद्धता पर जोर दिया गया। दसवीं सदी से चौदहवीं सदी तक के लेखों में दान का अधिक वर्णन पाया जाता है, जो पवित्र तिथियों—एकादशी, रामनवमी तथा ग्रहण पर अंकित किए जाते थे। यह सारा कार्य गंगा में स्नान, तर्पण तथा पूजा के पश्चात् सम्पन्न किया जाता था। एकादशी, शिवरात्रि, कृष्णाष्टमी, रामनवमी के त्यौहार पर व्रत किया जाता था और शासकगण ब्राह्मणों को दान दिया करते थे। निर्धनों को भोजन-वस्त्र बाँटा जाता था। प्रायः सभी धार्मिक कृत्यों के साथ त्यौहार मनाए जाते और उपवास आदि से पुण्य अर्जन किया करते थे। हरिशयनी तथा देवोत्थान का नाम प्रधानतया लेखों में मिलता है। शिवरात्रि का भी व्रत प्रसिद्ध था। युद्ध में विजय पा कर राजा धूम-धाम से उत्सव मनाया करता तथा ब्राह्मणों को भूमि दान में देता था। हिन्दी प्रदेश में तुला पुरुष दान का अधिक वर्णन मिलता है। कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्रदेव के लेख में यह उल्लेख मिलता है—"हेमात्मतुल्यम-निशं ददता द्विजेभ्यो।" (ए० इ०भा०४, पृ०११८; भा०१३, पृ०२१८; भा०२, पृ०३६२)। राजा अपने तौल के बराबर सोना ब्राह्मण को दान में देता था। अभिलेखों में इसे महादान कहा गया है। उत्तर प्रदेश में १०वीं-१४वीं सदियों के लेख इस प्रकार के वर्णन से भरे पड़े हैं। यह महा-दान विजयोत्सव के उपलक्ष में दिए जाते थे अथवा तीर्थस्थानों में शासक तुला पुरुष दान किया करते थे। राजकुमार का जन्म विशेष उत्सव का दिन समझा जाता था और कन्नौज के राजा जयचन्द्र के लेखों में कुमार-जन्म के अवसर पर दान देने का उल्लेख है। राजदरबार के लिए वह विशेष अवसर था जब संगीत तथा मंगलगान का आयोजन किया जाता था। ऐसे उत्सवों में स्वादिष्ट भोजन तथा शराब का व्यवहार होता था तथा जनता बेसुध हो कर जन्मोत्सव मनाया करती थी। मुसलमानों के शासक होने पर इस्लामी दुनिया में भी पुरानी रूपरेखा पर उत्सव तथा त्यौहार मनाए जाने लगे, जिनमें रमज़ान सर्वप्रसिद्ध है।

समाज में चरित्र—भारतवासियों का चरित्र सदा से उज्ज्वल तथा प्रशंसनीय रहा है, परिस्थितियों के कारण सामयिक ह्रास भले ही दृष्टिगोचर होता हो। समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, विश्वास तथा संस्थाओं के अनुशीलन से भारतवासियों के तत्कालीन चरित्र का परिज्ञान हो जाता है। मध्ययुग में भी भारतवासियों का चरित्र विशेष रूप से निम्न स्तर का न था। मुसलमान लेखकों के कथनानुसार न्यायप्रियता, ईमानदारी तथा सहिष्णुता के लिए भारतवासी विख्यात थे। अल्बेरूनी का कथन है कि भारत के निवासी विदेशियों से घृणा करते तथा अपने देश, समाज, धर्म तथा शासक के सदृश किसी की गणना नहीं करते थे। उनका विदेशियों से सम्पर्क न था (साचू, अल्बेरूनी का भारत भा०१, पृ०१९)। यद्यपि इद्रिसी तथा मार्को पोलो ने दक्षिण भारत के सम्बन्ध में वर्णन किया है, तथापि हिन्दी प्रदेश के निवासियों का चरित्र उस से घट कर न था। मुसलमान लेखकों ने विभिन्न क्षेत्रों में भारतवासियों के उच्च चरित्र, कार्यनिष्ठा, निश्चल विश्वास तथा बुद्धिस्थिरता की प्रशंसा की है। उनके आदर्श जीवन तथा सत्यनिष्ठा का विवरण मार्को पोलो ने उपस्थित किया है।

हिन्दी प्रदेश की चार जातियों में ब्राह्मण वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त था तथा शूद्र और

अन्त्यज घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। समय के अनुसार समाज तथा व्यक्तियों के चरित्र में परिवर्तन स्वाभाविक था।

मध्यकालीन समाज में स्त्रियों के चरित्र का वर्णन अपर्याप्त सा प्रतीत होगा। हिन्दू नारियाँ अपने पति को आदर्श से च्युत सोच ही न सकती थीं। युद्ध में पीठ दिखा कर भागना निन्दनीय समझा जाता था। यह सत्य है कि हिन्दू महिलाओं ने अपने आभूषण बेच कर यवनों के विरुद्ध युद्ध में आर्थिक सहायता की थी और युद्ध में पति के मरने पर जौहर द्वारा सतीत्व की रक्षा की थी। सती प्रथा पर विशेष बल दिया गया था और यदा-कदा मृत पति की चिता पर बलात् स्त्री जला दी जाती थी। जहाँ तक स्त्रियों की सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है, उन्हें पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त थीं।

यद्यपि मध्ययुग के समाज में कुछ ढीलापन दिखलाई पड़ता है, पर नीति-विरुद्ध कार्य करने वाले दण्डित किए जाते थे। अपराध के कारण हाथ, पाँव तथा कान तक काट लिए जाते थे। निबंध ग्रन्थों में साधारण अपराध के लिए प्रायश्चित्त का विधान पाया जाता है। यह सत्य है कि इस्लामी धारा के सम्मुख अधिक व्यक्तियों को झुकना पड़ा था, परन्तु राजपूत वीर आदर्श मार्ग पर चल कर समाज को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करते रहे।

हिन्दू समाज में स्मृति ग्रन्थों के नियमों पर प्रत्येक व्यक्ति चलता था। निबन्धकारों ने स्मृति नियमों में सामयिक टिप्पणी जोड़ कर हिन्दू समाज में नए भाव पैदा कर दिए थे। वही उस समाज का क़ानून था। शासन में मुसलमानों के आक्रमण से झगड़े पैदा हो गए। सर्वत्र राष्ट्रीय भावना के अभाव का अनुभव हो रहा था। भविष्य के विषय में कुछ न सोच कर निजी स्वार्थवश दूसरे की सहायता करने से शासक विमुख होते गए। मुसलमानों के लिए सुल्तान के कथन ही नियम, क़ानून का स्थान ग्रहण कर लेते थे। मुस्लिम राजवंशों में बड़ों की हत्या कर गद्दी पर बैठना साधारण सी बात हो गई। गुप्त विद्रोह खड़ा कर स्वयं शासक बनने की उत्कण्ठा जाग्रत हो गई, जिसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। राजा के साथ-साथ प्रजा में क्रूरता, चालबाज़ी तथा झूठ का बाज़ार गरम हो गया। हिन्दू मुसलमान शासकों द्वारा सताए जाने, जज़िया लगाने अथवा धार्मिक कष्ट पहुँचाने के कारण विरोधी बन गए। अतएव बारहवीं सदी के बाद भारतीय वायुमण्डल दूषित हो गया। ईर्ष्या, द्वेष, विषय-भोग, विलासिता, मद्यपान आदि की चर्चा सर्वत्र होने लगी। स्त्री-प्रेम के कारण बड़े-बड़े युद्ध होने लगे। इस प्रसंग में संयोगिता तथा पद्मिनी का नाम लिया जा सकता है, जिनके लिए अगणित नर-संहार हुआ। इतना होते हुए भी भारतीय वीरों में स्वामि-भक्ति का बीज भरा था। आल्हा-ऊदल इसके उदाहरण हैं, जिन्होंने परमाल के लिए सब कुछ न्योछावर कर दिया। बुराइयों के अतिरिक्त शासकों में कुछ ऐसे गुण थे, जिनका उल्लेख नितान्त आवश्यक है। अतिथि-सेवा, सजावट, सौंदर्य, ललित कलाओं में अभिरुचि, विद्वानों को आश्रय देने तथा सम्मान देने के गुण विद्यमान थे। हिन्दू राजा विशेष कर गुणग्राही थे।

यही कारण है कि मध्यकालीन साहित्य पूर्ण है। मुसलमान शासकों में फ़ीरोज़ तुग़लक का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसने पर्याप्त धन शिक्षा प्रचार में व्यय किया तथा मदरसे स्थापित

किए। इसी समय भव्य विशाल भवन, मंदिर, मस्जिद तथा क़िले बनवाए गए। जनता भी राजा के साथ प्रत्येक कार्य में भाग लेती थी। इस कारण जनता के गुण की भी प्रशंसा की जा सकती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि मुसलमान शासकों के आतंक से साधारण जनता में उचित-अनुचित तथा भले-बुरे का विभेद उठ गया था। राजा की बुराइयाँ करना तो दूर रहा, उस सम्बन्ध में छिप कर बातें करने का साहस भी लोगों में न था। इसलिए पढ़े-लिखे लोगों ने पशु-पक्षियों की कहानी के सहारे शासक के दुर्गुणों का विस्तार समाज में किया। यही नहीं, नीति, सदाचार तथा बुद्धिमत्ता की बातें भी कथा-कहानी द्वारा बतलाई जाती थीं। मुसलमानों के दण्ड से भयभीत हो कर तलवार के डर से अनेक हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार किया। इस्लाम मत स्वीकार करने के कई आकर्षण थे। यहाँ तक कि चंदेल शासक पृथ्वीराज को मुसलमान हो जाने पर आक्रमण से मुक्त हो जाने का प्रलोभन दिया गया। अरब वालों के पश्चात् तुर्क़ मुल्तानों ने यही नीति अपनाई। मुसलमानों में भी सामाजिक कमज़ोरियाँ थीं। अरब यात्रियों ने लिखा है कि इस्लाम के प्रचार के लिए अरब वाले भारत में आए थे। स्थान-स्थान पर मंदिरों को तोड़ा, मूर्तियों का नाश किया, परन्तु उन्होंने मुलतान के सूर्य मंदिर की बहुत समय तक रक्षा की। इस प्रकार आदर्श से गिरने के अनेक उदाहरण तत्कालीन समाज में पाए जाते हैं।

हिन्दू-इस्लाम सम्पर्क—भारतीय समाज सदा से ही उदार रहा है। मध्यकाल से पूर्व अनेक जातियों को शरण दे कर समाज में मिलाया गया था, परन्तु भारतवासियों की सम्मिश्रण की वह नीति इस युग में सफल न हो सकी। मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् इस्लाम मत का प्रचार होने लगा। उत्तरी भारत में अधिक संख्या में तुर्क आ कर बस गए। इस कारण समाज में दो विरोधी वर्ग काम करने लगे। स्वभावतः हिन्दू समाज में फूट पैदा हो गई। शूद्र तथा अछूत पृथक् होने लगे। उनके लिए इस्लाम मत का दरवाज़ा खुला था। अन्त्यज लोग वहाँ समान अधिकार तथा समान स्थिति के कारण मुसलमान हो गए और क्रमशः इनकी आबादी बढ़ने लगी। हिन्दू मत में शुद्धि की भावना पर्याप्त बलवान न थी। देवल स्मृति में शुद्धि के सम्बन्ध में मत प्रकट किया गया है, परन्तु ब्राह्मण जाति की शुद्धता के कारण शुद्धि के लिए अधिक अग्रसर न हुए।

मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ने से हिन्दुओं से सम्पर्क बढ़ने लगा। इब्न हैकल ने लिखा है कि दसवीं सदी में पश्चिमी भारत में हिन्दू मुसलमानों का पहनावा एक सा हो गया था। फ़ारसी लिपि को भी हिन्दुओं ने अपनाया। हिन्दी भाषा तथा हिन्दू धर्म का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। मुसलमान लेखक हिन्दी में लिखने लगे। मुल्ला दाऊद ने नूरक तथा चन्दा की कहानी हिन्दी में लिखी। ग़ुलाम वंश के सिक्कों पर देवनागरी में मुद्रा लेख अंकित किए गए। इस प्रसंग में अमीर ख़ुसरो का नाम लिया जा सकता है जो हिन्दी का एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। दोनों भाषाओं के सम्पर्क से कालान्तर में एक नई शैली उत्पन्न हुई, जो उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। विविध मतों के हटाने का भी प्रयत्न आरंभ हो गया था, जो आगे चल कर कबीर तथा नानक के शब्दों में सुनने को मिला।

बारहवीं सदी के पश्चात् हठधर्मी हिन्दुओं ने कलिवर्ज के नाम पर इस्लाम मत स्वीकार करने वाले हिन्दू की शुद्धि कर आर्य मत में वापस लेना अस्वीकार कर दिया। इस लिए समाज में इस्लाम मतावलम्बियों की संख्या बढ़ने लगी। अमीर खुसरो ने हिन्दुस्तान के वर्णन में लिखा है कि कर (जजिया) देने के कारण हिन्दुओं का अस्तित्व बच गया। जो लोग इस्लाम मत को स्वीकार न करते, वे जज़िया दे कर हिन्दू मत में रह सकते थे (इलियट-हिस्ट्री आफ़ इंडिया, भा० ३, पृ०५४६)। भारतीय संस्कृति की उच्चता को स्वीकार कर इस्लाम मतानुयायियों ने इस देश की संस्कृति को कुछ सीमा तक अपनाया तथा हिन्दुओं ने भी शासन में उच्च पद पाने की लोलुपता में मुसलमान संस्कृति एवं आचार-विचार को अपना लिया। भारतीय प्रणाली को छोड़ कर मसजिदों में मकतब आरम्भ किए गए जहाँ क़ुरान शरीफ़ तथा अरबी, फ़ारसी की (धार्मिक) शिक्षा दी जाने लगी। इस तरह हिन्दी प्रदेश में हिन्दू मुसलमानों का घनिष्ठ सम्पर्क सर्वप्रथम तथा सब से अधिक रहा।

५. भाषा का इतिहास

ऐतिहासिक पूर्वपीठिका

हिन्दी भाषा का इतिहास वैदिक काल से उपलब्ध होता है। उससे पहले इस आर्यभाषा का स्वरूप क्या था, यह सब कल्पना का विषय बन गया है। आर्य चाहे कहीं बाहर से भारत में आए हों अथवा यहीं सप्तसिंधु प्रदेश के मूल निवासी हों, यह निश्चित और निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान हिन्दी प्रदेश में आने से पहले उनकी भाषा वही थी जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है। एक तरह से यह कहना ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही प्राचीनतम हिन्दी है। इस भाषा के इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि युग-युग में इसका नाम परिवर्तित होता रहा है। सन् ईसवी पूर्व की तमिल और आज की तमिल में नाम-भेद नहीं किया जाता, भले ही आधुनिक तमिल के पंडित के लिए प्राचीन तमिल वैसी ही कठिन और दुर्बोध हो, जैसी हिन्दी जानने वाले के लिए संस्कृत। समूल परिवर्तन हो जाने पर भी अंग्रेज़ी अंग्रेज़ी ही है और जर्मन जर्मन। काल-भेद से हम उनके विभिन्न रूपों को प्राचीन अंग्रेज़ी , प्राचीन जर्मन; मध्यकालीन अंग्रेज़ी, मध्यकालीन जर्मन; आधुनिक अंग्रेज़ी और आधुनिक जर्मन कह देते हैं। किन्तु हिन्दी के अति प्राचीन रूप को वैदिक, प्राचीन रूप को संस्कृत, पूर्वमध्यकालीन को पालि, मध्यकालीन को प्राकृत, उत्तरमध्यकालीन को अपभ्रंश एवं आधुनिक रूप को हिन्दी कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाषा का साहित्यिक रूप वेद में सुरक्षित है, उसी की उत्तराधिकारिणी हिन्दी है। हिन्दी भाषा के मूल तत्त्व वैदिक भाषा में विद्यमान हैं।

यह माना जा सकता है कि यदि आर्य लोग बाहर से आए थे तो उनकी कई जातियाँ और विभिन्न बोलियाँ रही होंगी; और, यदि वे सप्तसिंधु प्रदेश के रहने वाले थे तो भी वे कई जातियों-उपजातियों में बँटे हुए थे और भौगोलिक पृथक्ता के कारण उनकी अनेक बोलियाँ थीं। इसका प्रमाण ऋग्वेद की ध्वनि-प्रणाली, शब्दावली और रूप-रचना की विविधता से मिल जाता है। किन्तु विविध बोलियों के रहते हुए भी वेदकालीन भाषा का एक साहित्यिक रूप निश्चित हो चुका था और शिष्ट या शिक्षित वर्ग की भाषा में एकसूत्रता आ चुकी थी। यह बात वैदिक भाषा के परवर्ती विकास को समझने के लिए उल्लेखनीय है, क्योंकि संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा हिन्दी का जो रूप हमें प्राप्त होता है और जिसकी दीर्घकालीन परम्परा अटूट मानी गई है, वह साहित्यिक ही तो है। भारत में किसी भी युग की साहित्यिक भाषा की प्रतिमा की मिट्टी भले ही लोक से ली जाती रही हो, किन्तु उसकी प्राण-प्रतिष्ठा पूर्वकालीन आर्यों की साहित्यिक भाषा से होती रही है, बल्कि लोकभाषा भी उसी साहित्यिक भाषा से अनुप्राणित होती आई है।

अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्य जातियों की बोलियों का एक साहित्यिक स्तर १५०० से १००० ई० पू० तक विकसित हो गया था। ऋग्वेद की भाषा और पारसियों की जेन्दावस्ता की भाषा में निकट का सम्बन्ध है। अवस्ता और जेन्द का परस्पर सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा वेद-संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों का। यह बात आकस्मिक और सांयोगिक नहीं है। इससे जान पड़ता है कि तत्कालीन भारतीय आर्यों और ईरानी आर्यों का घनिष्ठ सम्पर्क और सहज सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विनिमय रहा है। यह भी माना जाता है कि अवस्ता में ज़रथुष्ट्र ऋषि की वाणी संगृहीत है और ज़रथुष्ट्र ८वीं-९वीं शताब्दी ईसवी पूर्व हुए हैं। यदि अवस्ता की भाषा ८वीं या ९वीं शती ईसवी पूर्व की है, तो ऋग्वेद की भाषा उससे २-४ सौ वर्ष पुरानी हो तो हो, उन दोनों में सहस्राब्दियों का अन्तर कदापि नहीं है।

जिस समय सप्तसिंधु प्रदेश में ऋग्वेद की भाषा समझी और बोली जाती थी, उस समय यह प्रदेश, जिसे बाद में मध्यदेश और आधुनिक काल में हिन्दी प्रदेश कहा गया है, किन्हीं अनार्य जातियों का घर था। इतिहासकार यह बताने में तो असमर्थ हैं कि भारत के मूल निवासी कौन थे, किन्तु इतना विदित है कि आर्यों के आने से पहले यहाँ चार जातियों का प्रसार था—निग्रोटु, किरात, ऑस्ट्रिक (आग्नेय) या निषाद, और द्रविड़ या दस्यु। निग्रोटु लोग अफ़्रीका से आए अवश्य, किन्तु लगता है कि वे समुद्री तटों के निकटवर्ती प्रदेश में ही छा सके थे और वहीं से वे दक्षिण-पूर्वी द्वीपों की ओर खिसक गए थे। मध्यदेश के लोगों से उनका सम्पर्क नहीं हो पाया था। इसका प्रमुख कारण यही जान पड़ता है कि आग्नेय जातियों और द्रविड़ों की उच्चतर संस्कृति के सामने उनकी दाल नहीं गली। उनकी वन्य संस्कृति की भारत में समाई नहीं हो पाई। वैदिक साहित्य में तो इनका नाम तक नहीं मिलता। हो सकता है कि तटवर्ती जातियों में उनके किन्हीं वंशों के चिह्न हों और वहाँ की भाषाओं में कतिपय शब्द निग्रोटु बोलियों के ग्रहण कर लिए गए हों और कुछ-एक शब्द छन-छनकर मध्यदेश तक भी पहुँचे हों, किन्तु इसकी खोज करना दुस्साध्य, लगभग असंभव, कार्य है। किरात पहाड़ी लोग थे जिनके वंशज आज भी हिमालयी प्रदेश में पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए हैं। इन लोगों से आर्यों का सम्पर्क हुआ था और ये लोग सहज ही मित्र बन गए थे। ऐसी स्थिति में संस्कृतियों और भाषाओं का आदान-प्रदान भी अवश्य हुआ। यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध और किन्नर आदि पहाड़ी जातियों की संस्कृति परवर्ती आर्य साहित्य में भरपूर मिलती है। पौराणिक साहित्य में तो इनकी विशिष्ट महत्ता जान पड़ती है—इन्हीं के देवताओं, इन्हीं की पूजा-विधि, इन्हीं के विश्वासों और अन्धविश्वासों को सर्वप्रधान मान्यता दी गई है। इनका प्रदेश स्वर्ग और इन्द्रलोक कहलाने लगा। न जाने कितनी मणियों, पर्वतीय फलों-फूलों और अन्य उपजों के नाम इन जातियों से ग्रहण किए गए हैं। आर्य भाषा में अनार्य तत्त्व की खोज करने वालों के लिए यह क्षेत्र अछूता पड़ा है। आग्नेय या निषाद जातियाँ पंजाब से पूर्व में बसी थीं। ये लोग कृषिकर्मी थे और इनकी संस्कृति ग्रामीण थी। इन्होंने नदियों की घाटियों में अपनी छोटी-छोटी बस्तियाँ बनाईं। जौ, ज्वार, चावल, नारियल, केला, ताम्बूल, गुवाक, और संभवतः हरिद्रा, शृंगवेर (अदरख), बैंगन, लौकी तथा काशीफल इन्हीं की कृषिप्रधान संस्कृति

के फल हैं। आर्यों ने इन्हीं से कृषिकर्म सीखा या कम से कम उस कर्म में प्रगति की। ये लोग हाथी पालने और सुधारने में निपुण थे। भारतीय इतिहास में आर्य 'अश्व' की अपेक्षा आग्नेय 'हाथी' का महत्त्व बहुत अधिक रहा है। नावें चलाना और मछली पकड़ना भी इन निषाद जातियों का प्रमुख व्यवसाय था। इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति और भाषा के विकास में इनका विशेष योगदान रहा है। तीसरे प्रकरण में हम इनसे गृहीत शब्दावली पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे, किन्तु जब तक इनकी मूल भाषा का पुनर्निर्माण नहीं किया जाता तब तक विश्वस्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य भाषा की ध्वनि-पद्धति और उसके व्याकरण पर क्या प्रभाव पड़ा है एवं कितना आर्य भाषाओं ने आग्नेय भाषाओं से ग्रहण किया और कितना आग्नेय भाषाओं में आर्य भाषा से लिया गया है। वर्तमान समय में भारत में मुंडा, मुंडारी, मानख्मेर, खासी, शबर, हो, कुर्कू, कोल, संथाल, भूमिज आदि अनेक आदिम जातियाँ हैं। इनकी बहुधा भाषाओं पर आर्य प्रभाव छा गया है, किन्तु शबर आदि कुछ ऐसी आग्नेय भाषाएँ भी हैं, जिन पर यह प्रभाव कम से कम पड़ा है। इनके अध्ययन से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हो सकते हैं। मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि की खुदाइयों से अनुमान लगाया गया है, और प्रायः इतिहासकारों का यह निश्चित मत है कि सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेशों में द्रविड़ जातियों की प्रबल संस्कृति थी, जिससे आर्यों को कठिन संघर्ष करना पड़ा था। उत्तर-पश्चिमी पंजाब से अपना प्रसार करते हुए पहले तो आर्यों ने इस संघर्ष से बचने की चेष्टा की और इसीलिए दक्षिण पंजाब, सिन्ध अथवा गुजरात की ओर रुख करने के बजाय गंगा-यमुना की घाटियों को विजय किया। यहाँ आग्नेय जातियाँ उतनी संगठित और बलशाली नहीं थीं, जितनी इतर प्रदेशों में द्रविड़ जातियाँ थीं। यहीं वे दस्यु, असुर, राक्षस और दानव लोग थे, जिन्हें परवर्ती आर्य साहित्य में बड़ी घृणा और अवज्ञा से स्मरण किया जाता रहा है। ये जातियाँ अधिक संगठित और हठीली थीं। इनकी संस्कृति नागरिक थी। उत्तरी भारत को विजित कर लेने के बाद आर्यों ने द्रविड़ों से लोहा लिया और उन्हें वर्तमान हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी और दक्षिणी भागों से बाहर ढकेल दिया। रामायण काल तक बराबर आर्य उनके पीछे पड़े रहे, किन्तु दक्षिण में द्रविड़ जातियों तथा उनकी संस्कृति और भाषा का अस्तित्व बना रहा। अनार्य जातियों में आज इनकी संख्या सब से अधिक है। संघर्ष और घृणा की स्थिति के कारण आर्यों ने द्रविड़ों से बहुत कुछ ग्रहण नहीं किया होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है। किन्तु अब यह स्वीकार किया गया है कि आर्य संस्कृति के अंग-अंग में द्रविड़ प्रभाव मिलता है। भाषा के जिन पक्षों पर द्रविड़ प्रभाव पड़ा है, उसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायगी।

इन जातियों के अतिरिक्त न जाने कितनी और छोटी-बड़ी जन-जातियाँ ऋग्वेदकालीन मध्यदेश में थीं, जो या तो मूलतः नष्ट हो गईं या आर्यों के घेरे में पड़ कर विलीन हो गईं। हो सकता है कि किसी दिन भाषाशास्त्री किरातों, निषादों अथवा द्रविड़ों की मूल भाषा का पुनर्निर्माण कर भारत की भाषाओं में मिश्रित अनार्य तत्त्वों को छाँट कर दिखा सकें, किन्तु जिन जातियों का कोई नामलेवा ही नहीं है और जो भाषाएँ मूलतः विलुप्त हो गई हैं, क्या उनके अवशेष कभी काल के मुख से बाहर लाए जा सकेंगे ?

ऋग्वेद पंजाब के साहित्यकारों की कृतियों का संग्रह है। दसवें मण्डल में कुछ बाद की भाषा है। तब तक आर्य कुरु-पांचाल प्रदेश की ओर बढ़ गए थे और मध्यदेश की अनार्य जातियों का प्रभाव पड़ने लग गया था। सामवेद और यजुर्वेद की भाषा में बढ़ते हुए अनार्य तत्त्व का समीक्षण किया जा सकता है। अथर्ववेद की संस्कृति और भाषा में यह तत्त्व और भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों की भाषा पूरे तौर पर तत्कालीन मध्यदेश की आर्य भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। ऋग्वेदोत्तर साहित्य से वैदिक भाषा की दूसरी स्थिति का परिचय मिलता है। इसका काल-देश भाषाशास्त्रीय साक्ष्य के आधार पर १००० और ८०० ई० पू० का उत्तर पश्चिमी मध्यदेश निश्चित किया जा सकता है। इस समय तक आर्य सत्ता और भाषा पूर्व में गंगा-यमुना के द्वाबे तक व्याप्त हो गई थी। इसके बाद आर्यों का प्रसार दक्षिण और पूर्व दोनों दिशाओं में होता है। पूर्व और दक्षिण में रहते हुए भी शिष्ट और ब्राह्मण समाज अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपनी भाषा के लिए पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त करता था, किन्तु वह अनार्य प्रभावों से भी अपने को बचा नहीं पा रहा था। कौशीतकि ब्राह्मण में आता है कि पूर्वात्य लोग उदीच्यों के पास भाषा सीखने जाते थे; जो लोग उत्तर-पश्चिम से भाषा सीख कर लौटते थे, उसे सुनने की लोग इच्छा करते थे। पूर्व में व्रात्यों की अपनी भाषा थी, किन्तु वे लोग पश्चिम की आर्यभाषा बोलना गर्व की बात मानते थे—अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति। उनकी अपनी कठिनाइयाँ थीं—आर्यों के संयुक्त वर्ण, ळ, ऋ, ष, ण, और कुछ अन्य ध्वनियाँ उन्हें क्लिष्ट जान पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त अटनशील आर्य, जो पूर्व और दक्षिण को जाते थे, उनकी ध्वनियों का अनुकरण कर अपनी बात को सुबोध बनाने की चेष्टा करते थे। तात्पर्य यह कि पूर्व और पश्चिम के सान्निध्य से प्राचीन आर्य-भाषा में परिवर्तन हो रहे थे और भाषा में तरह-तरह के सम्मिश्रणों का समावेश हो रहा था। स्थिति कुछ ऐसी ही थी, जैसी आज खड़ी बोली हिन्दी में अनेक पूर्वी प्रयोगों के आ जाने से हो रही है और हिन्दी की व्यापकता और ग्राह्यता के नाते माँग यहाँ तक बढ़ गई है कि 'ने' का भूतकालिक सकर्मक-क्रिया के साथ प्रयोग क्यों न हटा दिया जाय, अथवा क्रिया में लिंग-भेद करने की क्या आवश्यकता है? उदीच्यों की आर्यभाषा जब प्राच्यों में पहुँची तो उसमें अनेक परिवर्तन होना स्वाभाविक और आवश्यक हो गया।

पूर्वी व्रात्यों की भाषा पर उदीच्यों के व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत का उद्‌गम हुआ एवं उदीच्यों की भाषा पर प्राच्यों के प्रभाव की परिणति पालि आदि प्राकृतों में हुई, अर्थात् संस्कृत ने वैदिक परम्परा को अपनाते हुए थोड़ा-बहुत समझौता व्रात्यों की सुविधा के लिए प्राच्य भाषा से किया, और पालि आदि प्राकृतों ने जन भाषा के अनुकूल आर्य भाषा को ढाला, किन्तु व्रात्य तत्त्वों की अधिक चिन्ता की। इस प्रकार आर्यभाषा का विकास भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में दो समा-नान्तर कोटियों में हुआ—शिक्षित शिष्ट साहित्यिक ब्राह्मण समाज में उच्च भाषा, जिसके संरक्षक पाणिनि और अन्य आचार्य माने गए हैं; और जनसाधारण में व्याप्त ग्राम्य भाषा, जिसे बाद में गौतम बुद्ध और महावीर जैन ने प्रचार के लिए अपना माध्यम स्वीकार किया। एक समय ऐसा आया कि पूर्व और पश्चिम का यह भाषा-भेद विचार-भेद के रूप में प्रकट हुआ, अथवा यों कहा जाए

कि पूर्व ने आर्यों की सत्ता को स्वीकार करके भी अपना मतभेद सुरक्षित रखा और यही भाषा-भेद में परिणत हो गया। बुद्ध और महावीर का विद्रोह आर्यों से विचार-भेद का ही प्रतीक नहीं था, भाषा-भेद का भी प्रतीक था——यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध के दो शिष्यों ने जब उनके उपदेशों को उदीच्य भाषा में अनूदित करने की आज्ञा माँगी तो बुद्ध ने इन्कार कर दिया। चुल्लवग्ग (५।६।१) में बुद्ध के मुख से उद्धृत किया गया है——"अनुजानामि भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचन परिया-पुणितुं", अर्थात् हे भिक्षुओ, मैं अनुमति देता हूँ कि अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखो।

इन दो संस्कृतियों, विचारधाराओं और भाषा-भेदों के बीच में मध्यदेश की स्थिति रही है, अतः दोनों का सामंजस्य और संतुलन स्थापित करने के लिए मध्यदेश का बहुत बड़ा हाथ रहा है। किन्तु इसकी चर्चा हम इस प्रकरण के अन्त में करना चाहेंगे जब कि यह विषय बहुत कुछ अपने आप स्पष्ट हो जायगा।

वैदिक काल में कितनी बोलियाँ थीं, अथवा संस्कृत काल में कौन-कौन बोलियाँ कहाँ-कहाँ बोली जाती थीं और उनका साहित्यिक भाषा के विकास में क्या योग रहा, ये प्रश्न एक दृष्टि से हैं तो महत्त्वपूर्ण, क्योंकि यह तो निश्चित है कि किसी प्रदेश विशेष की बोली को सामान्य एवं साहित्यिक भाषा बनने की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई होगी तो उसके पीछे उस प्रदेश का कोई अपना सांस्कृतिक एवं राजनीतिक महत्त्व रहा होगा; यह भी सत्य है कि जब कोई प्रादेशिक या क्षेत्रीय बोली भाषा की पदवी को प्राप्त होती है तो उसे आस-पास की अनेक बोलियों से समझौता करना पड़ता है, उनके शब्द, रूप और ध्वनिग्राम तक अपनाने पड़ते हैं; और यह भी सही है कि वैदिक आर्यों की विभिन्न बोलियाँ अवश्य थीं, बाद में तो इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही होगी। गांधार से ले कर कोसी तक के विशाल आर्य प्रदेश में एक ही बोली नहीं हो सकती थी, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उत्तर वैदिक काल में कोसल और अवन्ति में आर्यों की स्वतन्त्र बस्तियाँ थीं, इसके प्रमाण भी मिलते हैं। हो सकता है कि तत्कालीन जनपदीय बोलियों की जानकारी से अनेक ऐसे शब्दों का आर्यत्व सिद्ध हो जाए, जिन्हें हम अनार्य कहते आ रहे हैं, अथवा अनेक व्याकरणिक रूप आर्य बोलियों के हाथ आ जाएँ, जो साहित्यिक भाषा में ग्रहण कर लिए गए थे, किन्तु जिन्हें हम सामान्य नियम के अपवाद अथवा अनियमित संरचना समझते आ रहे हैं। किन्तु, साहित्यिक भाषा का एक सामान्य लक्षण यह होता है कि वह सब बोलियों का महत्तम समापवर्तक होती है और फिर भी किसी एक प्रदेश या क्षेत्र की नहीं होती। आज की साहित्यिक हिन्दी पूर्वी और पश्चिमी प्रदेश में सामान्य रूप से सरल या कठिन है। बल्कि वह एक पंजाबी या गुजराती के लिए उतनी ही शिक्षणीय और अभ्याससाध्य है, जितनी हिन्दी प्रदेश के निवासी के लिए। किसी भाषा को सामान्यता तभी प्राप्त होती है, जब वह एक क्षेत्र की न रह कर सब क्षेत्रों की हो जाय। सब के समन्वय, योगदान और सम्मिश्रण से उसका विकास होता है। उसे हम कृत्रिम भाषा नहीं कह सकते। ये सम्मिश्रण बड़े स्वाभाविक और सार्वजनिक ढंग से होते हैं। समय पा कर भले ही बोलियाँ कुछ शीघ्र गति से परिवर्तित होती हों और साहित्यिक भाषा अधिक स्थिर हो जाती हो, किन्तु अपनी सजीवता के एक दीर्घ काल में वह बोलियों का प्रतिनिधित्व तो करती ही है।

यह प्रश्न इस लिए उठाया गया है कि विचार का एक पक्ष यह भी हो सकता है कि हिन्दी के विकास में संस्कृत जैसी साहित्यिक भाषा का योगदान क्या हो सकता है? हिन्दी तो बोली मात्र थी—एक समय में ब्रजभाषा और दूसरे समय में खड़ी बोली—और बोली का इतिहास जानने के लिए वैदिक काल की, संस्कृत काल की एवं प्राकृत काल की बोलियों के क्रमिक विकास की जानकारी जितनी आवश्यक है, उतनी साहित्यिक भाषाओं—वैदिक संस्कृत, पालि और साहित्यिक प्राकृत—की नहीं। हमारा कहना यह है कि साहित्यिक भाषा बोलियों के योग से विकसित होती है और विकासमान होकर बोलियों को प्रभावित भी करती है। बाद में वह भले ही जनभाषा से दूर निकल जाती हो, किन्तु एक समय में वह उन बोलियों में से एक होती है; और यह भी ठीक है कि वह सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक अथवा भौगोलिक दृष्टि से उन सब बोलियों में महत्त्वपूर्ण होती है। कोई भी साहित्यिक भाषा प्रचलित भाषा को आधार बना कर चलती है, अलबत्ता उसे प्राचीन रूपों को अपनाने का मोह भी होता है। यह माना जा सकता है कि यदि किन्हीं उपायों से तत्कालीन विभिन्न आर्य बोलियों का अध्ययन हो सकता तो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इतर बोलियों के कुछ शब्दों, रूपों अथवा ध्वनिग्रामों का स्रोत जान लिया जाता।

अस्तु, हिन्दी के लिए संस्कृत का महत्त्व मूलभूत बोली या जनभाषा के रूप में भी है और साहित्यिक भाषा या देवभाषा के रूप में भी। प्रत्येक साहित्यिक भाषा की चार स्थितियाँ समझी जा सकती हैं—पहले वह जनभाषा होती है, अपने महत्त्व के कारण तत्कालीन आवश्यकता को पूरा करते हुए वह साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बन जाती है; ऐसी स्थिति में उसकी शब्दावली, रूप-रचना और वाक्य-योजना स्थिर एवं एकरूप होने लगती है तो वह जनभाषा से विभिन्न शिक्षित और विद्वद्वर्ग की (देव) भाषा के रूप में क्लिष्ट और सीमित हो जाती है, तब कोई जनभाषा उठकर साहित्य का माध्यम बनने लगती है और देवभाषा देवलोक को प्राप्त हो जाती है। वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत सब का यही इतिहास है।

पाणिनि-काल तक वैदिक साहित्यिक भाषा थी, किन्तु जैसा कि ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा से विदित होता है, वेदभाषा देवभाषा हो गई थी और कुरु-पाञ्चाल की जनभाषा साहित्यिक स्तर की ओर उठ रही थी। आरम्भ में इसका रूप अस्थिर था, इस में अनेक जनपदीय प्रयोग चल रहे थे और एक प्रकार की ऐसी ही अराजकता फैली थी जैसी आज हिन्दी में व्याप्त है। पाणिनि ने विषमता में एकता और विविधता में समरूपता ला कर उस भाषा को स्थिर और संस्कृत किया। पाणिनि ने वैदिक को देववाणी और इस को 'भाषा' कहा है। इस से स्पष्ट होता है कि उस काल में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी। किन्तु भाषा तो 'बहता नीर' है, स्थिरीकृत होकर वह 'कूपजल' हो गई। और यह 'कूप जल' धीरे-धीरे अधिक निर्मल, स्वादु और गहरा होता गया। इसके परम विकास की अवस्था तब जान पड़ी, जब यह बोल-चाल की भाषा नहीं रह गई। बौद्ध साहित्य और अशोक के शिलालेखों से प्रमाणित है कि तब तक कई बोलियाँ सिर उठा रही थीं। विद्वानों ने संस्कृत काल ५वीं शती ईसवी पूर्व तक माना है, किन्तु संस्कृत की वास्तविक उन्नति मौर्य

काल के अन्त से प्रारम्भ करके ९वीं-१०वीं शती तक बराबर होती रही है। तब वह संस्कृति, शिक्षा और शासन का माध्यम बनी। जितना उपयोगी, धार्मिक, लौकिक एवं ललित साहित्य संस्कृत में तब लिखा गया, उतना कई शताब्दियों आगे-पीछे संसार की किसी भाषा में नहीं लिखा गया। संस्कृत सारे देश की समन्वय-शक्ति बन गई और वह उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सर्वत्र छा गई। दक्षिण में द्रविड़-प्रदेश पर भी इसी का साम्राज्य स्वीकृत था, वल्कि संस्कृत के वहुत वड़े-वड़े आचार्य—शंकर, सायण, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि—दक्षिण ही में हुए। जिन बौद्धों और जैनों ने संस्कृत की विचारधारा से विद्रोह करते हुए जन-भाषाओं को प्रश्रय दिया, उन्हें भी आगे चल कर संस्कृत को अपनाना पड़ा। एक बहुत वड़े बौद्ध साहित्यकार अश्वघोष ने प्राकृत का व्यवहार दुष्टों और गणिकाओं के मुख से कराया है और संस्कृत का भद्र, शिष्ट और उच्च वर्ग से। यही बात राजपूत काल के पहले के सारे साहित्य में पाई जाती है। धर्म और राज्य शासन में संस्कृत की सत्ता आज तक सुदृढ़ रही है। ईसवी सन् की पहली १०-१२ शताब्दियों के राज्यादेशों और शिलालेखों में वहुत थोड़े ऐसे मिलेंगे, जो संस्कृत में नहीं हैं। परम्परागत राज्यों, जैसे राजस्थान, में तो मुग़ल काल में भी शासन कार्यों के लिए संस्कृत का प्रयोग होता रहा है, भले ही वह संस्कृत शुद्ध और समर्थ नहीं रह गई थी। इसी प्रकार धर्म कार्यों में संस्कृत की स्थिति रही है और इस के बिना कोई संस्कार, कोई उत्सव, पर्व, व्रत, त्यौहार ठीक रीति से सम्पन्न नहीं माना गया है।

यह ठीक है कि समय पाकर कोई जन-भाषा—पालि, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अपभ्रंश, ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि—साहित्यिक भाषा बनी हो, किन्तु इसमें कोई भी संस्कृत की सहायता के बिना समर्थ माध्यम नहीं बन पाई। इस प्रकार युग-युग के साहित्य में संस्कृत का हाथ रहा है।

ऊपर कहा गया है कि आर्य भाषा का पहला रूप ऋग्वेद में और दूसरा रूप ऋग्वेद के दसवें मण्डल से लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों तक की भाषा में निहित है। संस्कृत उसका तीसरा रूप है। ये तीनों रूप आर्य भाषा की प्राचीन अवस्था के हैं, यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत उस पूरे काल तक व्याप्त है, जिसे आर्य भाषा का मध्य काल (५वीं शती ई० पू० से १०वीं शती ई०) कहा जाता है। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, आर्य भाषा के इन प्राचीन रूपों में बहुत कम अन्तर है। पालि से आर्य भाषा का परिवर्तित रूप प्रकट होता है। 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति 'पंक्ति' अथवा 'पल्लि' (गाँव), अथवा पाटलिपुत्र>पालिपुत्त या पालि से बताई जाती है। एक विद्वान् का कहना है कि यह '—पा' धातु में णिच् प्रत्यय 'लि' जोड़ने से बना है, अर्थात् 'अर्थान् पालयति रक्षतीति तस्मात् पालि'। यह अर्थों की रक्षा करती है। किन्तु 'पालि' शब्द से इस बात का कुछ भी संकेत नहीं मिलता कि वह किसी प्रदेश की भाषा थी। मगध-सम्राट् अशोक के पुत्र महाराज कुमार महेन्द्र ने पालि-साहित्य ले जाकर सिंहल में थेरवाद का प्रचार किया था, अतः वहाँ के बौद्धों की यह धारणा है कि पालि मगध की भाषा है। बल्कि उन्होंने इसका वैकल्पिक नाम ही 'मागधी भाषा' रखा है। किन्तु विद्वानों ने मागधी के जो लक्षण बताए हैं और अशोक के पूर्वीय अभिलेखों में मागधी का जो रूप मिलता है, वह पालि से भिन्न है। यह भाषा अशोक के गिरनार शिलालेख से मिलती है, अतः यह

पूर्व की भाषा नहीं है। विद्वानों ने मथुरा और उज्जैन के बीच के प्रदेश को इसका क्षेत्र माना है। यह बुद्ध-वचन की भाषा नहीं है। अशोक के भाब्रू अभिलेख से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य का मूल प्राच्य रूप भिन्न था। जिन जन भाषाओं में उस साहित्य का अनुवाद हुआ था, उनमें पालि इसलिए सुरक्षित रह सकी कि महाराजकुमार महेन्द्र 'त्रिपिटक' ले जाकर लंका में छोड़ आए थे। अनुवाद के कारण पालि में कुछ मागधी रूप भले ही मिल जाते हों, किन्तु भाषा मध्यदेश ही की है। साहित्यिक भाषा होने के नाते भी जहाँ इस पर संस्कृत और पैशाची का प्रभाव है, वहाँ पूर्वीपन भी पाया जाता है। यह भी याद रहे कि महेन्द्र का जन्म और लालन-पालन उज्जैन में हुआ था। स्वभावतः लंका जाते समय वह उसी भाषा की कृतियों को साथ में ले गया, जिसे वह अच्छी तरह समझता-बोलता था और जिसके माध्यम से वह बुद्ध-वचन का प्रचार सहज में कर सकता था। यह भी संभव है कि महेन्द्र के समय तक बुद्ध के उपदेशों का पूर्वी रूप लुप्त हो गया हो।

प्राचीन आर्य भाषा और नव्य आर्य भाषा (हिन्दी आदि) के बीच की स्थितियों को समझने के लिए पालि का महत्व बहुत अधिक है। संस्कृत ध्वनियों का जन साधारण में कैसे उच्चारण होता था, उसकी व्याकरणिक जटिलताओं को सुलझाने का लोक में क्या प्रयत्न हो रहा था (देखिए अगले प्रकरणों में), और गत्यात्मक बोली में स्थित्यात्मक साहित्य-भाषा से अलग क्या-क्या परिवर्तन हो रहे थे, इन सब बातों की जानकारी पहले-पहल पालि के अध्ययन से प्राप्त होती है। संस्कृत से हिन्दी तक पहुँचने के लिए पालि पहली सीढ़ी है; मध्य भारतीय आर्य भाषा की वह पहली स्थिति रही है।

पीछे कहा गया है कि भगवान् बुद्ध और महावीर जैन ने पूर्व से उठ कर पश्चिम की संस्कृति और सत्ता के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और यह विद्रोही भावना भाषा के क्षेत्र में भी व्यक्त हुई। किन्तु संस्कृत और पालि की प्रगति से जान पड़ता है कि कम से कम पूर्व की भाषा-नीति सफल नहीं हो सकी। उत्तर-पश्चिमी भारत में अब भी संस्कृति, साहित्य और राजनीति के बड़े-बड़े केन्द्र थे और मध्यदेश की भाषा का दबदबा सारे भारत में ही नहीं बल्कि बाहरी देशों में भी माना जाता था। परन्तु एक समय आया, जब कि पाटलिपुत्र एक बहुत बड़े साम्राज्य की राजधानी बना। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी सत्ताओं को दबा कर मगध की सत्ता को व्याप्त किया। चन्द्रगुप्त की विजयों के बाद उनके पौत्र सम्राट् अशोक ने देश के निर्माण का कार्य किया। जिस भाषा-नीति को धर्म सफलतापूर्वक अग्रसर नहीं कर सका, उसे अशोक ने राजसत्ता द्वारा आगे बढ़ाया। उसने धर्म और शासनसम्बन्धी अपने आदेश साम्राज्य के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए शिलाओं, स्तम्भों और भित्तियों पर खुदवाए। ये अभिलेख कलिंग (आधुनिक उड़ीसा), नेपाल की तराई, ज़िला चम्पारन (बिहार), सहसराम (बिहार), आन्ध्र, मैसूर, कौशाम्बी, कालसी (देहरादून), दिल्ली, ज़िला अम्बाला, मेरठ, इलाहाबाद, सारनाथ, साँची (भोपाल), जबलपुर, जयपुर, अम्बाला, पेशावर आदि स्थानों के निकट पाए गए हैं। यद्यपि इनसे तत्कालीन तीन आर्य बोलियों का परिचय मिलता है—उत्तर-पश्चिमी, मध्यदेशीय, प्राच्य; किन्तु वास्तव में सर्वत्र पाटलिपुत्र की राजभाषा का रूप छाया हुआ है। मौर्यकाल के अंत तक पूर्वी भाषा का दबदबा रहा है, फिर

भी उसे उतनी व्यापकता अथवा मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, जितनी मध्यदेशीय आर्य-भाषा को।

हिन्दी के उद्गम की स्थितियों में अशोक के अभिलेखों की भाषा का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। पहली बात तो यह है कि पश्चिमी प्रदेश की भाषा का रूप पालि से बहुत भिन्न नहीं है और दूसरी बात यह है कि पूर्व का जो प्रभाव अभिलेखीय भाषा में लक्षित होता है, वास्तव में वह पश्चिम की जन-भाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर पड़ा नहीं है।

ईसवी पूर्व के दो और अभिलेख मिले हैं—एक कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा वाला और दूसरा यवन राजदूत हेलियोदोरस का बेसनगर वाला। इन दोनों की भाषा भी पालि से मिलती-जुलती है। ऐसा लगता है कि इन का प्रारूप पहले संस्कृत में तैयार किया गया और फिर लोक-भाषा में रूपान्तरित कर दिया गया। भाषा प्रौढ़ है और संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहीं से संस्कृत का पुनरुत्थान होता है। भले ही हिन्दू विरोधी धर्मों ने जनभाषा में अपना साहित्य-सृजन जारी रखा, किन्तु साम्प्रदायिक घेरों के बाहर संस्कृत प्रधान साहित्यिक भाषा रही है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी, सभी ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदायों के प्रोत्साहन और प्रयोग के कारण उठती रही हैं। इन में पालि का व्यवहार-काल, प्रभाव-क्षेत्र और साहित्य-रूप अति सीमित रहा है।

पालि के ह्रास के बाद जिस जनभाषा ने उठ कर साहित्यिक रूप ग्रहण किया, उसका नाम प्राकृत बताया गया है। यह नाम स्पष्टार्थ नहीं है। 'प्राकृत' शब्द 'प्रकृत' तथा 'प्रकृति' से व्युत्पन्न हुआ है। प्रकृति का अर्थ है 'मूल'। एक मत यह है कि प्राकृत ही मूल भाषा है, परन्तु दूसरे मत के अनुसार मूल भाषा से विकसित होने वाली भाषा का नाम प्राकृत है। मूल भाषा संस्कृत मानी गई है। वास्तव में जिसको हम लोग प्राकृत कहते आ रहे हैं, वह साहित्यिक प्राकृत है। साहित्यिक स्तर पर आ कर तो यह भाषा संस्कृत की पुत्री ही कहलाएगी। इसके ९५ प्रतिशत शब्द संस्कृत से मिलते हैं। इसका धातुकोष और व्याकरण संस्कृत के अनुरूप ढला है—कुछ रूपों का संक्षिप्तीकरण और कुछ का सामान्यीकरण अवश्य हुआ है। साहित्यिक प्राकृत सचमुच संस्कृत की परिचारिका बन कर चली है। इसका साहित्य पढ़ कर तो ऐसा लगता है, मानो संस्कृत से उल्था करके रख दिया गया हो।

'प्राकृत' शब्द का प्रयोग जनभाषा के अर्थ में भी हुआ है—'प्राकृतजनानां भाषा प्राकृतम्।' 'संस्कृत' का अर्थ है 'शुद्ध की हुई', 'मँजी हुई' भाषा। प्रश्न यह उठता है कि किसको शुद्ध किया गया, किस भाषा को माँजा गया? प्रकट है कि पाणिनि की 'संस्कृत' से पहले कोई अटपटी, सम्मिश्रित, अनेकरूपा, विकृतिबहुला भाषा चली आती थी। उसी का संस्कार और स्थिरीकरण हुआ तो 'संस्कृत' नाम पड़ा। साहित्य-भाषा किसी लोक-भाषा के ही विकसित रूप से बनती है। प्राकृत लोक-भाषा थी; संस्कृत देवभाषा बनी। वेद में अनेक प्रादेशिक और प्राकृत शब्द और प्रयोग मिलते हैं। पाणिनि ने भी अनेक जन-भाषाओं का उल्लेख किया है। आर्यभाषा का इतिहास साक्षी है कि जन-भाषा से ही वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, जन-भाषा से

संस्कृत का विकास भी हुआ और जनभाषा से उसका अपना साहित्यिक रूप भी विकसित हुआ।

भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, दाक्षिणात्या, बाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत-लक्षण' में महाराष्ट्री के अतिरिक्त गौण रूप से शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन किया है। वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' के नौ परिच्छेदों में माहाराष्ट्री भाषा का व्याकरण लिखा है; दशम परिच्छेद में पैशाची, ११वें में मागधी और १२वें में शौरसेनी के स्वरूप की व्याख्या की है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी माहाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत मान कर उसका विस्तृत वर्णन किया है और शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की विशेषताएँ बताई हैं। 'साहित्य दर्पण' में बारह प्राकृतों के नाम गिनाए गए हैं, जिनमें शाकरी, द्राविड़ी, आभीरी और चांडाली नए हैं। 'प्राकृत लंकेश्वर' में सोलह और 'प्राकृत-चन्द्रिका' में सत्ताईस भेद बताए गए हैं। समय के साथ-साथ बोलियों की संख्या और जानकारी बढ़ती रही है। किन्तु इन सब में साहित्य नहीं था। साहित्यिक महत्ता की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची और अपभ्रंश मुख्य हैं।

पिशाची पिशाचों की भाषा थी। पिशाच पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन अनार्यों को कहा जाता था, जिन्होंने आर्य संस्कृति को पूरी तरह नहीं अपनाया था। इसके अवशेष चीनी तुर्किस्तान, काफ़िरस्तान, गांधार आदि में पाए गए शिलालेखों में मिल सकते हैं। पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान और काश्मीर की भाषाओं में पैशाची का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' के कारण इसकी विशेष ख्याति है, परन्तु मूल कृति काल-कवलित हो गई है। उसके संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध हैं। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन (या सातवाहन, सन् ७८ ई० के आस-पास) के राज दरबार में रहते थे। राजा द्वारा निर्वासित होकर वे पिशाच देश में जा बसे थे। वहीं उन्होंने लोककथाओं का यह अपूर्व संग्रह सम्पादित किया था। ऐसा जान पड़ता है कि १२वीं शती तक मूल बृहत्कथा प्राप्य थी। पिशाची का हिन्दी प्रदेश से कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। मागधी मगध और उसके पूर्वीय प्रदेश की भाषा थी। बिहारी हिन्दी की बोलियों के विकास में इसका योग रहा है, किन्तु साहित्यिक स्तर शौरसेनी के निकट है। /र/ की जगह /ल/, /श/ /ष/ /स/ की जगह /श /, और / ज / /य / की जगह / य /, विसर्ग के स्थान पर /-ए / इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं। मागधी प्राकृत का साहित्य बहुत थोड़ा सा है। अर्धमागधी अवध और काशी जनपदों की तत्कालीन भाषा थी और महावीर जैन की वाणी का माध्यम मानी जाती है। इसका झुकाव शौरसेनी की ओर अधिक है, मागधी की ओर कम। शौरसेनी मथुरा और उसके आस-पास के प्रदेश (शूरसेन) की भाषा थी और इस तरह यह पश्चिमी हिन्दी बोलियों की जननी कही जा सकती है। एक समय में यह उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा थी। दिगम्बर जैन मत का सिद्धान्त-साहित्य इसी में है। संस्कृत नाटकों में यह गद्य की भाषा है। शौरसेनी संस्कृत के अधिक निकट है, अन्य प्राकृतों की अपेक्षा इसमें तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का

प्राचुर्य है। वास्तव में यही संस्कृत की उत्तराधिकारिणी थी। माहाराष्ट्री महाराष्ट्र की प्राकृत बताई जाती है—महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्राकृष्टं प्राकृतं विदुः (दण्डी)। इसी को वैयाकरणों ने प्रमुख और आदर्श प्राकृत माना है। डा० मनोमोहन घोष का मत है कि माहाराष्ट्री शौरसेनी की ही उत्तरकालीन शाखा है जिसमें विकास की अगली स्थिति प्रकट हुई है। तुलना कीजिए—शौर० **रअद**, माहा० **रअअ** (< **रजत**), शौर० **पासाण**, माहा० **पाहाण** (≼**पाषाण**); शौर० **जाणादि**, माहा० **जाणइ** (≼**जानाति**), शौर० **भोदि**, माहा० **होइ** (≼**भवति**)। भरत मुनि तथा प्राकृत के प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में माहाराष्ट्री का नामोल्लेख नहीं मिलता। हार्नले का मत है कि 'महाराष्ट्र' का अर्थ है 'महान् राष्ट्र'। यह भी सत्य है कि माहाराष्ट्री का व्यवहार एक समय में सारे उत्तरी भारत में होता था। बाद में तो प्राकृत और माहाराष्ट्री पर्याय हो गए थे। संस्कृत नाटकों में वह पद्य की भाषा है। ८० प्रतिशत प्राकृत साहित्य माहाराष्ट्री में लिखा गया है। 'सेतुबन्ध', 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग', 'गउडवहो', 'कुमारपाल चरित' प्रभृति प्राकृत के सभी महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य और गीति-काव्य इसी में हैं। कई जैन ग्रन्थों के गद्य भाग शौरसेनी में हैं तो पद्य भाग महाराष्ट्री में। इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी के विकास में मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी के अतिरिक्त अन्य जनपदीय प्राकृतों का भी हाथ रहा है, किन्तु कालक्रम से माहाराष्ट्री का विकास और व्यापक व्यवहार एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता है; और इन दो के बीच में एक और कड़ी है—अपभ्रंश।

संस्कृत वैयाकरणों ने संस्कृत से भिन्न समस्त भाषाओं को अपभ्रष्ट कहा है। किन्तु भारतीय भाषाओं के इतिहास में अपभ्रंश का रूढ़ार्थ 'आभीरों' आदि की भाषा माना गया है। 'काव्यादर्श' में आचार्य दण्डी लिखते हैं कि काव्य में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। आरम्भ में जब आभीर भारतीय संस्कृति में दीक्षित नहीं हुए थे, तो उन्हें और उनकी भाषा को अपभ्रष्ट कहा जाता था। उनके राजस्थान, सिन्ध और गुजरात में फैल जाने पर आभीरी और शौरसेनी प्राकृत के मेल से अपभ्रंश ग्रामीण भाषा के रूप में विकसित होने लगी। राजस्थान और गुजरात का इतिहास साक्षी है कि गुर्जरों और आभीरों के अतिरिक्त कई जातियाँ बाहर से आ कर पश्चिमी भारत में बस गई थीं और धीरे-धीरे राजसत्ता पाने पर अपने को 'राजपुत्र' कहलाने लगीं। वस्तुतः इन्हीं की भाषा को अपभ्रंश कहा गया है। आभीर के साथ 'आदि' जोड़ने का अभिप्राय उनके साथ इन नाना जातियों को भी सम्मिलित करना है, जिन्होंने आगे चल कर उत्तर-पश्चिमी भारत के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। राज सत्ता के विस्तार के साथ अपभ्रंश का विस्तार भी हुआ और वह पश्चिम की ग्रामीण भाषा के पद से उठ कर राजभाषा और देशभाषा बन गई और क्रमशः उसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा। दण्डी (७वीं शती) के बाद अपभ्रंश साहित्य की विशेष उन्नति हुई। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में अपभ्रंश भाषा के कवियों का उल्लेख किया है और बताया है कि राजसभा में उनके बैठने का स्थान पश्चिम में था। अपभ्रंश का पश्चिमी भाषा होना इससे द्योतित होता है। राजशेखर के अनुसार समस्त मरुभूमि (मारवाड़), टक्क

(दक्षिणी पंजाब) और भादानक में शुद्ध अपभ्रंश काव्य का प्रचार था और सुराष्ट्र तथा त्रवण में अपभ्रंश मिश्रित संस्कृत का।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और बहुत से अन्य भाषाविदों ने अपभ्रंश को भारतीय आर्य-भाषा के विकास की एक 'स्थिति' समझ लिया है। उनका कहना है कि ६ठी से ११वीं शती तक प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश रूप रहा होगा—जैसे मागधी प्राकृत के बाद मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी प्राकृत के बाद अर्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत के बाद शौरसेनी अपभ्रंश एवं माहाराष्ट्री प्राकृत के बाद माहाराष्ट्री अपभ्रंश, इत्यादि। यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या ज्ञात होती है। भरत, चण्ड, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने अपभ्रंश को प्राकृतों में गिना है। इसका अर्थ यह है कि शौरसेनी, मागधी आदि की तरह अपभ्रंश भी एक प्रदेश विशेष की बोली थी—यह अलग बात है कि उसका साहित्य कुछ बाद में विकसित हुआ, बिलकुल ऐसे जैसे खड़ी बोली का साहित्य वस्तुतः ब्रजभाषा साहित्य के बाद विस्तृत रूप में आता है और इसी भ्रान्ति से लोग खड़ी बोली को ब्रजभाषा से उत्पन्न मान लेते हैं। दूसरी बात यह भी है कि मार्कण्डेय और इतर आचार्यों के अनुसार इन के तीन रूप थे—नागर, उपनागर और व्राचड। नागर गुजरात की, उपनागर राजस्थान की और व्राचड सिंध की बोली थी। इस से भी यही सिद्ध होता है कि अपभ्रंश वास्तव में आभीर, गुर्जर आदि जातियों के देश की भाषा थी। साहित्यिक भाषा बनने के बाद इसी ने देश के एक बहुत बड़े भाग में मान्यता प्राप्त की और इस नाते इतर प्रदेशों की प्राकृतों को प्रभावित किया। अपभ्रंश की व्यापकता के साथ हम हिन्दी के उद्गम की ओर एक क़दम और बढ़ आए हैं। हिन्दी के ध्वनि-विकास, व्याकरण और शब्दकोश को समझने के लिए अपभ्रंश भाषा का अध्ययन उतना ही आवश्यक और अनिवार्य है जितना प्राचीन हिन्दी साहित्य की शैलियों, काव्यरूपों, वर्ण्य विषयों और साहित्यिक परम्पराओं को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का।

आगे चल कर हिन्दी प्रदेश में अपभ्रंश के दो साहित्यिक रूप विकसित हुए—पूर्व में अवहट्ट और पश्चिम में डिंगल। विद्यापति ने अपने समय की देशी भाषा और अवहट्ट को एक ही माना है। डिंगल राजस्थानी और 'पिंगल' का पूर्ववर्ती रूप है। डॉ० एल० पी० तेस्सीतोरी ने डिंगल को अनियमित, असंस्कृत और गँवारू भाषा कहा है, जिसका परिष्कृत साहित्यिक रूप पिंगल कहलाता है। चारणों ने इसकी परम्परा को सुरक्षित रखा, किन्तु तब तक यह बोलचाल की भाषा से बहुत दूर मात्र कृत्रिम भाषा बन कर रह गई। अतः राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) अथवा शुद्ध ब्रजभाषा को साहित्य में स्थान मिलने लगा। ये भाषाएँ मिल कर वीरता, शृंगार, भक्ति, राष्ट्रीयता, नीति, उपदेश आदि सब कुछ अभिव्यक्त करने में समर्थ थीं। ब्रजभाषा की शक्ति और समृद्धि तो इतनी बढ़ी कि वह उत्तरी भारत की सर्वमान्य साहित्यिक और राष्ट्रीय भाषा बन गई, यहाँ तक कि हिन्दी प्रदेश के बाहर पंजाब, गुजरात और बंगाल तक के कवियों ने भी इसे अपनाया। जब तक मथुरा और वृन्दावन का सांस्कृतिक महत्त्व रहा, जब तक कृष्ण-भक्ति का प्रचार ज़ोरों से होता रहा एवं जब तक आगरा की राजनीतिक महत्ता बनी रही, तब तक ब्रजभाषा का साहित्यिक आधिपत्य भी क़ायम रहा। इस बीच दिल्ली नए सिरे से राजधानी बनी। भक्ति की लहर

कम हुई। हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित संस्कृति ने मिश्रित भाषा की मांग खड़ी की। जो भाषा पंजाब के नगरों में और दिल्ली के शाही दरबार में पनप रही थी, वह दिल्ली, आगरा और लखनऊ के बाजारों में भी आई और दक्षिण में मुसलमानी राज्यों के प्रश्रय में वह साहित्य और शिक्षा का माध्यम भी बनी। यह बोली चुस्त, मुहावरेदार और खड़ी-खड़ी थी। जब तक ब्रजभाषा साहित्य की भाषा रही, तब तक हिन्दू और मुसलमान दोनों इसी में लिखते थे—यद्यपि दरबारों में फ़ारसी को मान्यता प्राप्त थी। किन्तु खड़ीबोली के उठते ही इसकी दो शैलियाँ अपनी-अपनी अलग विशेषताओं के साथ होड़ में आने लगीं। खड़ीबोली हिन्दी संस्कृत की ओर उन्मुख थी और देवनागरी में लिखी जाती थी, खड़ीबोली उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दावली के साथ अरबी-फ़ारसी लिपि का भी प्राधान्य हुआ। तब से दोनों शैलियों के बीच में एक खाई सी बनने लगी। अंग्रेजों ने इस खाई को और चौड़ा करने में सक्रिय भाग लिया, किन्तु अन्ततोगत्वा संस्कृताश्रित हिन्दी और देवनागरी की प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी इस रूप में आज राजभाषा, राष्ट्रभाषा और साहित्य-भाषा मान्य हुई।

ऊपर जिन आर्य भाषाओं और बोलियों का उल्लेख किया गया है और अगले तीन प्रकरणों में जिनकी प्रकृति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, उनका क्रमिक विकास साहित्य के क्षेत्र में ही दिखाया जा सका है, क्योंकि बोलचाल की भाषाओं का कोई अभिलेख-संचय न होने के कारण उनका क्रमिक विकास जाना ही नहीं जा सकता। कुछ बोलियों के तो नाम मात्र ज्ञात हैं, कुछ के दो-दो, चार-चार विशिष्ट लक्षण व्याकरणों में मिल जाते हैं और कुछ के एक काल विशेष का ज्ञान तो थोड़ा विस्तार से हो सकता है, किन्तु उस काल के आगे पीछे की उस बोली की जानकारी प्राप्त नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय की दृष्टि से साहित्यिक बोलियों का ऐतिहासिक परिचय आवश्यक है, यद्यपि भाषाशास्त्र के लिए सभी बोलियों का महत्त्व एक सा समझा जायगा। साहित्यिक भाषा के विकास में इतर बोलियों का सहयोग तो अवश्य होता है, पर वह इतना गौण होता है कि उनकी खोज में किया गया परिश्रम बहुत फलवान् नहीं कहा जा सकता। हिन्दी प्रदेश में कम से कम १५ बोलियाँ बोली जाती हैं—खड़ीबोली, बाँगड़, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली; अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी; भोजपुरी, मैथिली, मगही; गढ़वाली, कुमायूनी; मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इन सब का कोई न कोई कवि, कोई न कोई सन्त अवश्य हुआ है, किन्तु साहित्यिक परम्परा और भाषागत महत्ता दो-चार की ही मानी जायगी। पहाड़ी हिन्दी (गढ़वाली-कुमायूनी) साहित्यिक दृष्टि से सब से अधिक पिछड़ी हुई है। इस प्रदेश के कवि तो हुए हैं और आज भी हैं, किन्तु वे सदा उच्च और व्यापक हिन्दी में लिखते आ रहे हैं। सोचने की बात यही है कि क्या हिन्दी भाषा पर उनकी पहाड़ी बोली का कोई विशेष प्रभाव है? क्या सुमित्रानन्दन पन्त अथवा इलाचन्द्र जोशी की खड़ीबोली में कोई विशेष पहाड़ीपन है? राजस्थानी हिन्दी की बोलियों में थोड़ा बहुत साहित्य जयपुरी में है, इससे कुछ अधिक मारवाड़ी में। उस साहित्य को समझने के लिए तो राजस्थानी का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु हमारे विचार में राजस्थानी साहित्यकारों द्वारा लिखे हुए ब्रजभाषा साहित्य अथवा वर्तमान हिन्दी साहित्य को समझने के लिए राजस्थानी महत्त्वपूर्ण नहीं है। बिहारी हिन्दी की बोलियों में मैथिली का साहित्य अपेक्षाकृत समृद्ध है और उसकी परम्परा भी अविच्छिन्न

नहीं है। बिलकुल यही बात पूर्वी हिन्दी बोलियों में अवधी की है। तुलसी काल के बाद अवधी में राम साहित्य की परम्परा तो बहुत आगे नहीं चली, किन्तु सूफ़ी साहित्य १५वीं शती से २०वीं शती तक बराबर मिलता है। जायसी और कुछ थोड़े से अन्य कवियों को छोड़ कर शेष की साम्प्रदायिकता एवं विषय तथा अभिव्यक्ति की संकीर्णता उभर आई है। इस पर भी वह साहित्य महत्त्वपूर्ण है और उतने भर के कारण अवधी का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। पश्चिमी हिन्दी बोलियों में पहले ब्रजभाषा और अब खड़ीबोली का बोलबाला है। ब्रजभाषा में खड़ीबोली के और खड़ीबोली में ब्रजभाषा के प्रभावों की खोज भाषाशास्त्री के लिए उपादेय हो सकती है, साहित्यिक इतिहासकार को इस खोज से विशेष उपलब्धि नहीं होगी। इस अध्याय के अन्तिम प्रकरण में हम ब्रजभाषा, खड़ीबोली और अवधी की प्रमुख विशेषताएँ दे रहे हैं।

ऊपर हम ने हिन्दी बोलियों का नामोल्लेख कर के हिन्दी प्रदेश की सीमा का संकेत कर ही दिया है। ग्रियर्सन ने हिन्दी के दो ही रूप बताए हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। उनके अनुसार हिन्दी का क्षेत्र पूर्वी पंजाब में जगाधारी से ले कर पूर्व में बनारस तक और उत्तर में तराई से ले कर दक्षिण में होशंगाबाद तक बनता है। आज वे जीवित होते तो देखते कि हिमांचल प्रदेश, राजस्थान और बिहार ने अपने को हिन्दीभाषी घोषित किया है। मुसलमानी काल में 'हिन्दी' नाम सारे 'हिंद' की भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। यह शब्द ही ईरानी का है। भारत के कवि, विशेषतः दक्खिनी हिन्दी के कवि और मुसलमान लेखक अपनी भाषा को 'हिन्दी', 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' कहते थे। बाद में उत्तरी भारत के मुसलमान अरबी-फ़ारसी सम्मिश्रणों के कारण उसे 'रेख़्ता' और फिर 'उर्दू' कहने लगे। 'हिन्दी' शब्द इस विशिष्ट क्षेत्र की भाषा के लिए तभी से प्रतिबद्ध हो गया। १९वीं शती के आरंभ से अंग्रेज़ों ने इसको 'हिन्दुस्तानी' नाम देना चाहा, किन्तु धीरे-धीरे उर्दू और हिन्दुस्तानी को पर्याय माना जाने लगा और इसीलिए यह नाम नहीं चल सका।

ध्वनि विकास

पंजाब और मध्यदेश की आर्य भाषा में उच्चारणगत भेद अवश्य रहा होगा। प्रातिशाख्यों से विदित होता है कि पंजाब के आर्यों में भी उच्चारण भेद पाया जाता था। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उच्चारण में पारस्परिक विषमता पाई जाती है। यह विषमता भौगोलिक स्थितियों के कारण उत्पन्न हो गई होगी। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक रूप विकसित हो जाने के साथ-साथ एक सर्वमान्य और बहुमान्य उच्चारण-पद्धति अवश्य प्रतिष्ठित हो गई थी। इस पर भी वेद का गीतिकार कभी-कभी अपनी जनभाषा से प्रभावित होता दिखाई देता है। जब आर्य भाषा मध्यदेश में फैली तो अनार्य संस्कारों और प्रवृत्तियों में सीझे हुए नव्य ब्राह्मणों के लिए कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं। अनुकरण करने में अत्यन्त सावधान रहने पर भी उन से **र** की जगह **ल** और **भ** की जगह **ह** अनायास उच्चरित हो जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल में **रभ** के स्थान पर **लभ्**, **रोमन्** के स्थान पर **लोमन्** और **ग्रभ** के स्थान पर **ग्रह** (जैसे **जग्राह**) इस नई रुझान का प्रमाण हैं। परवर्ती साहित्य में बढ़ती हुई इस रुझान के अनेकानेक उदाहरण मिलने लगते हैं।

पूरे मध्यदेश में फैलते-फैलते और 'संस्कृत' की अवस्था को प्राप्त करते-करते वैदिक काल की प्रवृत्ति संस्कृत के लिए नियम बन गई। मध्यदेश की आर्य भाषी जनता के लिए वैदिक सुराघात तो एक समस्या ही बन गया; धीरे-धीरे सुराघात का स्थान बलाघात ने लिया। कुछ ध्वनियाँ लुप्तप्राय हो गईं और अनेक का स्थान और प्रयत्न परिवर्तित हो गया। शुद्धतावादी वेदपाठी घरानों में अपवादस्वरूप उच्चारण की वैदिक मर्यादा चलती रही और आज भी चल रही है, किन्तु जनसाधारण का प्रभाव बराबर बढ़ता रहा है। "वैदिक से संस्कृत, संस्कृत से पालि-प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक आर्य भाषा की अवस्था की परिणति वास्तव में और मुख्यतया ध्वनि-परिवर्तन के कारण है।"

ध्वनि विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए यह बात उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि भाषा की पूर्व स्थिति में उसकी परा स्थिति के बीज विद्यमान रहते हैं। वैदिक में ब्राह्मण काल की भाषा के, ब्राह्मण ग्रन्थों में संस्कृत के, संस्कृत में प्राकृत के, प्राकृत में अपभ्रंश के और अपभ्रंश में आधुनिक आर्य भाषा के विकास की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसका स्पष्टीकरण अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

व्यंजन—यह कह देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि गत ३००० वर्षों से भारतीय लिपियों का जितना विकास हुआ, उसमें उच्चारण-विशिष्टता का परिचय प्राप्त नहीं होता। बनावट और सजावट के भेद का ध्यान न किया जाय तो कवर्गीय ध्वनियों के प्रतीक युग-युग से लगभग इसी रूप में चले आ रहे हैं, जिस रूप में वे आज उपलब्ध होते हैं। किन्तु ध्वनिशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा में **क ख ग घ ङ** जिह्वामूलीय थे और संस्कृत में ये कण्ठ्य हो गए। अपने व्याकरण में संस्कृत की परम्पराओं को अपनाने वाले पंडित हिन्दी की कवर्गीय ध्वनियों को कण्ठ्य कहते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि हमारे उच्चारण में इनका उच्चारण-स्थान कोमल तालु है। वैदिक प्रातिशाख्यों और संस्कृत के शिक्षा ग्रन्थों में चवर्ग तालव्य माने गए हैं, हिन्दी में ये सोष्म स्पर्श अथवा स्पर्श संघर्षी हैं। ऐसा सोचा जा सकता है कि आग्नेय कुल की भाषाओं के प्रभाव से अथवा यों कहा जाय कि आग्नेय जातियों द्वारा संस्कृत के अपनाए जाने के कारण जन भाषाओं में स्वाभाविक रूप से यह परिवर्तन हुआ है। आज भी मुंडा भाषा में /**च**/ को /**त्स**/ कर के बोला जाता है। किन्तु हमारा मत यह है कि चवर्गों का विकास तवर्ग से हुआ है। तुलना कीजिए—**सत्य** और **सच; अद्य** और **आज; बुध्यते** और **बूझना**। आज भी तमिलभाषी **साहित्य** का उच्चारण **साहिच्च** करते हैं। टवर्गीय व्यंजनों के उच्चारण में भी अंतर आ गया है। वैदिक में ये प्रतिवेष्ठित ध्वनियाँ थीं, संस्कृत वैयाकरणों को लगा कि ये मूर्धन्य हैं। हिन्दी में पुनः ये प्रतिवेष्ठित हैं, किन्तु प्राचीन आर्य भाषा में इनका स्थान तालु के मध्य में था, हमारे उच्चारण में इनको तालु के कुछ अगले भाग से, वर्त्स के थोड़ा ऊपर से, बोलते हैं। प्राचीन आर्य भाषा में तवर्ग को दन्त्य बताया गया है, यद्यपि वैदिक काल में इनके दो उच्चारण थे—दन्त्य और वर्त्स्य। हिन्दी में ये वर्त्स्य हैं। मात्र पवर्गीय व्यंजन अक्षुण्ण रूप में चले आ रहे हैं। पञ्चमाक्षरों में ङ और

ञ वर्गाधीन व्यंजन हैं, अर्थात् अपने वर्ग के व्यंजन के साथ बोले जाते हैं—**क ख ग घ** के पहले **ङ** और **च छ ज झ** के पहले **ञ**। **युङ्धि** आदि कुछ शब्दों के साथ **ङ ञ** अपने वर्ग से भिन्न व्यंजन के साथ संयुक्त हुए मिल जाते हैं, किन्तु ऐसे शब्दों में वस्तुतः सवर्गीय ध्वनि लुप्त है—**युङ्धि<युङ्ग्धि**। कुछ इसी प्रकार की स्थिति हिन्दी की कतिपय बोलियों में दिखाई देती है। /**ण**/ का विकास बाद में हुआ जान पड़ता है। विद्वानों का मत है कि सभी टवर्गीय ध्वनियों का प्रादुर्भाव अनार्य भारतीय भाषाओं से हुआ है। धीरे-धीरे जब / **ऋ** / / **र** / और / **ष** / का मूर्धन्यीकरण हुआ तो इनके संयोग में अथवा परिवेश में / **न** / का समीकृत रूप मूर्धन्य / **ण** / बनने लगा। क्रमशः इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से तालव्य स्वरों के बीच में और तत्पश्चात् किन्हीं दो स्वरों के बीच में भी होने लगा। शब्द के आदि अथवा अन्त में इसका मूल रूप / **न** / बना रहा।[1] प्राकृत में जो कतिपय शब्दों के आदि में / **ण** / देखा जाता है वह /**न** / को बरबस / **ण** / कर देने की (अतिप्राकृतीकरण की) कृत्रिम प्रवृत्ति का परिणाम है। वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। हिन्दी में / **ण** / की वर्तमान स्थिति यह है कि पश्चिमी हिन्दी में / **ण** / का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है, किन्तु यह शब्द के आदि में कहीं नहीं आता। पूर्वी हिन्दी में / **ण** / है ही नहीं। पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी के प्राचीन रूप में भी यही बात है। इससे प्राकृतों में शब्द के आदि में / **ण** / का होना विचित्र और असंगत जान पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि / **ण** / का अस्तित्व उसी प्रदेश में विद्यमान है, जहाँ प्राग्वैदिक काल में द्रविड़ों का आधिपत्य माना जाता है। इस तथ्य के प्रकाश में अन्य टवर्गीय ध्वनियों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

/ **न** / / **म** / आदि काल से चले आ रहे हैं। अन्तर केवल इतना है कि / **न** / पहले दन्त्य ध्वनि थी, आज यह अन्य तवर्गीय व्यंजनों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से वर्त्स्य है। इनके अतिरिक्त दो और नासिक्य ध्वनियाँ हिन्दी में पाई जाती हैं—अनुनासिक और अनुस्वार। अनुनासिक वर्गीय स्पर्श से पहले और अनुस्वार / **य** / / **र** / / **ल** / / **व** / / **श** / / **ष** / / **स** / / **ह** / से पहले था। अनुनासिक स्वरों का विकास बहुत बाद में हुआ।

/**श**/ /**ष**/ /**स**/ वैदिक युग में मिलते हैं। संस्कृत ने /**ष**/ का अधिक व्यवहार-प्रसार नहीं किया। पालि-प्राकृत में तो यह लुप्त ही हो गया। यह भी याद रहे कि वैदिक भाषा में भी /**ष**/ वस्तुतः /**श**/ का मूर्धन्यीकृत रूप है और इसका विकास बाद में किन्हीं प्रभावों के परिणामस्वरूप हुआ। /**श**/ भी बहुत पुराना व्यंजन नहीं है, /**ष**/ से अधिक प्राचीन अवश्य है। संस्कृत पालि और पूर्वीय प्राकृतों में इसका अस्तित्व बराबर बना रहा और आज भी कतिपय भाषाओं में विद्यमान है। /**स**/ इन ऊष्म ध्वनियों में सब से प्राचीन और अधिक व्यापक है।

हिन्दी में /**श**/ और /**ष**/ भी /**स**/ में परिवर्तित हो गए हैं। अभ्यास से लोग /**श**/ का उच्चारण सीख लेते हैं, फ़ारसी के प्रभाव से भी इसका पुनरुद्धार हुआ है; किन्तु /**ष**/ को शुद्ध रूप में विरले पंडित ही बोल पाते हैं। पढ़े-लिखे /**ष**/ को /**श**/ की तरह और अनपढ़ युग-युग से /**स**/ की तरह उच्चरित करते आ रहे हैं।

---

१. ऋग्वेद में कोई मूर्धन्य व्यंजन शब्द के आदि में नहीं पाया जाता।

ऐसा जान पड़ता है कि /**ह**/ के दो उच्चारण थे—एक सघोष और दूसरा अघोष। हिन्दी में केवल सघोष रूप पाया जाता है। पश्चिम में इसे शुद्ध रूप में शब्द के आदि में बोला जाता है, अन्यत्र इसका स्थान आरोही सुर ले रहा है। /**ह**/ भी बहुत पुराना व्यंजन नहीं है, इसका विकास /**भ**/, /घ/ और /**ध**/ से हुआ जान पड़ता है—तुलना कीजिए, **ग्रभ** और **ग्रह, गाघ** और **गाह, घ्नन्ति** और **हन्ति**।

अन्तःस्थों में /**र**/ प्राचीनतम ध्वनि है। /**य**/ और /**व**/ का विकास /**इ**/ /**उ**/ से हुआ, यहाँ तक कि पाणिनि के समय में भी यह प्रवृत्ति जारी थी। /**ल**/ मध्यदेश की अनार्य भाषाओं से सम्पर्क होने के बाद अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने लगा था। इन चारों ध्वनियों के दो-दो रूप थे—एक व्यंजन के निकट और दूसरा स्वर के निकट। आज /**र**/ और /**ल**/ शुद्ध रूप में व्यंजन हैं। संभवतः संस्कृत में ही इनका अन्तःस्थ रूप नहीं रह गया था। /**र**/ वेद में दन्तमूलीय, संस्कृत में मूर्धन्य और हिन्दी में लुंठित ध्वनि है। /**ल**/ पहले दन्त्य था, अब पार्श्विक-सा हो गया है। कहा जाता है कि **र**-प्रधान शब्द पश्चिम के, **ल**-प्रधान पूर्व के और **र-ल**-प्रधान मध्यदेश के थे–जैसे **श्रीर, श्लील** और **श्रील**। प्राकृत काल में भी ऐसा ही था। किन्तु आधुनिक काल में /**य**/ व्यंजन के स्थान पर /**ज**/ और /**व**/ व्यंजन के स्थान पर /**ब**/ हो गया है। ईसवी पूर्व तक तो /**य**/ /**व**/ पाए जाते हैं, किंतु बाद में परिवर्तन होता गया। फ़ारसी-अरबी के प्रभाव से और संस्कृत के शुद्ध उच्चारण के प्रचार से लोग इन्हें सीख तो लेते हैं, किन्तु पूरब के लोगों को बराबर कठिनाई रहती है। जन-साधारण के उच्चारण के निकट रखने की चिन्ता से मध्यकालीन साहित्य में /**य**/ /**व**/ का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। /**व**/ की दो ध्वनियाँ थीं–एक द्वयोष्ठ्य और दूसरी दन्तोष्ठ्य। दन्तोष्ठ्य /**व**/ बाद में लुप्त हो गया।

वैदिक भाषा में कुछ ध्वनियाँ ऐसी पाई जाती हैं जिनका आगे चल कर लोप हो गया, जैसे उत्क्षिप्त प्रतिवेष्ठित **ळ** और **ळ्ह**, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय। **ळ** और **ळ्ह** पश्चिमी हिन्दी की कतिपय बोलियों और राजस्थानी में अब भी पाए जाते हैं, किन्तु संस्कृत-प्राकृत की परंपरा का निर्वाह करते हुए हिन्दी साहित्य में इनका लिपिगत प्रयोग नहीं मिलता। संस्कृत ही में इनका स्थान क्रमशः /**ड**/ और /**ढ**/ ने ले लिया था। /**क**/ से पहले विसर्ग का उच्चारण /**ख**/ के समान होता था, जैसे **ततः किम्** में—इसे पाणिनि ने जिह्वामूलीय कहा है; और /**प**/ से पहले विसर्ग की ध्वनि दीपक बुझाने की आवाज़ जैसी हो जाती थी, जैसे **पुनः पुनः** में—इसे उपध्मानीय कहा गया है। संस्कृत में इनका विसर्गीय उच्चारण एक सा किया जाता रहा।

विसर्ग की गणना अपनी वर्णमाला में स्वरों में की जाती है। आरंभ में यह अघोष /**ह**/ के समान था। संस्कृत में यह आरोही सुर बन गया और इसीलिए स्वरों के साथ गिना जाने लगा। पालि और उसकी बाद की अवस्थाओं में विसर्ग का लोप हो गया। केवल पंडितों द्वारा इसका उच्चारण तत्सम शब्द रूपों में किया जाता रहा है।

शताब्दियों तक वर्णमाला में कोई परिवर्तन न होने के कारण यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि किस काल में किन नई ध्वनियों का प्रवेश होता रहा है। सामान्यतः ऐसा लगता

है कि संस्कृत में वैदिक से भिन्न कोई ध्वनि प्रादुर्भूत नहीं हुई। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में अवश्य कुछ निराली लोक-ध्वनियाँ रही होंगी, किन्तु साहित्यिक स्तर पर आ कर इन भाषाओं ने भी अपने को संस्कृत के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। अतः सूक्ष्म ध्वनि-भेद लिपिबद्ध नहीं किए गए। हिन्दी में कुछ ध्वनियों का अस्तित्व इतना प्रबल और महत्त्वपूर्ण हो गया कि उनके लिए अलग चिह्न अनिवार्य माने गए। /ड़/ और /ढ़/ ऐसी ही विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। ये उत्क्षिप्त ध्वनियाँ हैं। अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से /ख़/ /ग़/ /ज़/ और /फ़/ को शिक्षित वर्ग की भाषा में स्थान मिला है। सन् १८५७ से पहले के हिन्दी साहित्य में इन ध्वनियों के हिन्दीकृत रूप /ख/ /ग/ /ज/ और /फ/ पाए जाते हैं। इसके बाद दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रही हैं। जन साधारण के निकट उच्चारण चाहने वाले /ख/ /ग/ /ज/ और /फ/ का प्रयोग करते हैं और विदेशी उच्चारण के अनुरूप बोलने वाले /ख़/ /ग़/ /ज़/ और /फ़/ का। शुद्धतावाद के पक्ष में इतना कहा जा सकता है कि शिष्ट और शिक्षित की वाणी को आदर्श और ग्रामीण बोली से कुछ भिन्न रहना ही होगा। दूसरी बात यह है कि अब ये ध्वनियाँ अर्थभेदक हैं, इसलिए इन्हें पृथक् ध्वनिग्राम स्वीकार करना पड़ेगा। ज़ और फ़ अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण भी सिद्ध हो गए हैं। तुलना कीजिए— **खोल** और **ख़ोल; रुख** और **रुख़; गौर** और **ग़ौर; बेगम** और **बेग़म; जरा** और **ज़रा; जंग** और **ज़ंग; फन** और **फ़न; कफ** और **कफ़**।

हमारा विचार है कि शिष्ट भाषा में ग्राम्य प्रयोग अपनाने की आवश्यकता नहीं है।

हिन्दी की वर्तमान व्यंजन ध्वनियों में पवर्ग, कवर्ग और तवर्ग सब से प्राचीन हैं। चवर्ग कवर्गों से विकसित हुए जान पड़ते हैं। तुलना कीजिए **वाक्, वाच्; युग, युज; शोक, शोच; इक्षा, इच्छा** आदि। टवर्ग बहुत बाद में आए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, / **ष** / से / **श** / और / **श** / से / **स** / अधिक प्राचीन है। / **ह** / बाद में विकसित हुआ। वास्तव में सभी सघोष व्यंजन अघोष व्यंजनों के बाद के हैं और महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण व्यंजनों के बाद के। महाप्राण व्यंजनों में भी /ठ/ /ढ/ और / ढ़ / बहुत बाद के हैं। / ढ़ / तो अपेक्षाकृत आधुनिक काल की ध्वनि है। अन्य महाप्राणों में / **ख** /./ **फ** / / **थ** / और / **घ** / / **भ** / / **ध** / वैदिक काल से चले आ रहे हैं। / **छ** / कुछ समय पीछे प्रादुर्भूत हुआ और इसके बाद / **झ** /। ऋग्वेद में / **झ** / एक ही बार आया है, अथर्ववेद में /**झ**/ है ही नहीं। पंचमाक्षरों में / **न** / का प्रयोग / **म** / की अपेक्षा बहुत व्यापक रूप से हुआ है। दोनों प्राचीन व्यंजन हैं। / **य** / / **र** / / **ल** / **व** / के तुलनात्मक विकास और प्रयोग के सम्बन्ध में पहले संकेत किया जा चुका है।

वैदिक और संस्कृत की सब से बड़ी विशिष्टता है इनके संयुक्त व्यंजन। इस दृष्टि से भी इन दोनों भाषा-स्थितियों में इतना अधिक साम्य है कि यह मानना पड़ेगा कि इनमें कोई बहुत बड़ा कालान्तर नहीं रहा होगा। इसी लिए वेद की छान्दस् भाषा और पाणिनि की संस्कृत भाषा में हमने जो ४-५ सौ वर्षों का अन्तर स्वीकार किया है, वह समीचीन ही है। संयुक्त व्यंजनों को कई वर्गों में विभक्त कर के देखा जा सकता है। संयुक्त व्यंजन के द्वितीय अथवा तृतीय अंग के रूप में अन्तःस्थ प्रायः सभी प्राचीन व्यंजनों से जुड़े मिलते हैं—

१.-य वाले—**क्य, क्क्य, क्त्य, क्न्य, क्ष्य, क्म्य, क्र्य, क्ल्य, क्व्य, ख्य, ग्य ग्र्य, ङ्ग्र्य, ङ्ख्य, घ्य, घ्न्य, घ्र्य, ङ्य, ङ्ग्य, ङ्घ्य, च्य, छ्य, छ्र्य, ज्य, ञ्ज्य, झ्य, ट्य, ठ्य, ड्य, ड्र्य, ण्ड्र्य, ढ्य, ण्य, त्य, त्त्य, त्न्य, त्म्य, त्र्य, त्स्न्य, थ्य, द्य, द्ध्य, द्म्य, द्र्य, द्व्य, ध्य, ध्न्य, ध्र्य, न्य, न्त्य, न्ध्य, प्य, प्त्य, ब्य, भ्य, म्य, य्य, र्य, र्ग्य, र्घ्य, र्त्य, र्स्त्य, ल्य, व्य, श्य, श्र्य, श्च्य, ष्य, ष्ट्य, ष्ट्र्य, ष्ठ्य, ष्ण्य, स्य, स्त्य, स्न्य, स्म्य, ह्य ।**

-र वाले—**क्र, क्त्र, ख्र, ग्र, ङ्ग्र, घ्र, छ्र, च्छ्र, ञ्छ्र, ज्र, ट्र, ठ्र, ड्र, ण्ड्र, ढ्र, त्र, त्क्र, त्त्र, द्र, ग्द्र, ब्द्र, व्द्र, ध्र, न्र, न्त्र, न्द्र, न्ध्र, न्प्र, प्र, ब्र, भ्र, म्र, म्भ्र, म्प्र, व्र, श्र, ष्ट्र, ष्क्र, ष्ठ्र, ष्प्र, स्र, स्त्र, ह्र।**

-ल वाले—**क्ल, ग्ल, प्ल, म्ल, श्ल, ल्ह ।**

-व वाले—**क्व, क्त्व, क्ष्व, ग्व, घ्व, ङ्क्ष्व, च्छ्व, ज्व, ट्व, ण्व, त्व, त्त्व, थ्व, द्व, ध्व, न्व, प्व, प्स्व, ब्व, भ्व, म्व, य्व, र्व, ल्व, व्व, श्व, ष्ट्व, ष्व, स्व, ह्व ।**

सबसे अधिक संख्या इस वर्ग के संयुक्त अक्षरों की थी।

२. इसके बाद उस वर्ग को लिया जा सकता है जिस में अंतिम अंग /**न**/ अथवा /**म**/ है—

क्न, क्थ्न, क्म, क्ष्ण, क्ष्म, ख्न, ग्न, घ्न, ङ्म, च्म, ज्म, ड्म, ण्ण, ण्म, त्न, त्म, त्स्न, न्द, द्म, ध्न, ध्म, न्न, न्म, प्न, प्म, ब्न, भ्न, म्न, म्म, र्ण, र्म, ल्म, व्न, श्न, श्म, ष्ण, ष्म, स्न, स्म, ह्न, ह्म ।

३. यह पहले बता दिया गया है कि नासिक्य **ङ ञ् ण् न् म्** अपने वर्ग के वर्ण के साथ प्रथम अंग के रूप में जुड़े हुए वैदिक और संस्कृत में मिलते हैं। बाद में यह पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिल कर अनुस्वार हो गए। इस प्रकार के संयुक्त व्यंजन निम्नलिखित थे;—

ङ्क, ङ्क्ष, ङ्क्त, ङ्ख, ङ्ग, ङ्घ, ञ्च, ञ्ज, ण्ट, ण्ठ, ण्ड, ण्ढ, न्त, न्थ, न्द, न्ध, म्प, म्फ, म्ब, म्भ ।

४. चौथे वर्ग में उन संयोगों को लिया जा सकता है, जिनमें सघोष वर्ण दूसरे सघोष वर्ण से और अघोष वर्ण दूसरे अघोष वर्ण से संयुक्त होता था। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के संयोग अत्यन्त सीमित मात्रा में संभव रहे हैं—

क्त, क्थ, क्ष, ट्क, ड्ग, ड्घ, त्क, त्प, त्फ, त्स, द्ग, द्घ, द्ब, द्भ, प्त, प्स, ब्ज, ब्द, ब्ध, श्च, ष्ट, ष्ठ, ष्प, स्क, स्ख, स्त, स्थ, स्प, स्फ ।

५. द्वित्व व्यंजनों को अलग वर्ग में गिनना चाहिए—

क्क, ग्ग, च्च, ज्ज, ट्ट, ड्ड, त्त, द्द, न्न, प्प, ब्ब, म्म, य्य, ल्ल, व्व, श्श, स्स ।

क्ख, ग्घ, च्छ, त्थ, द्ध, और **ब्भ** लिखने में अल्पप्राण और महाप्राण के संयोग दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में ये महाप्राण ही के द्वित्व रूप हैं। शुद्ध रूप में इन्हें, **ख्ख, घ्घ, छ्छ, थ्थ, ध्ध, भ्भ** लिखा जाना चाहिए था, किन्तु परिपाटी वैसी ही चलती रही है।

६. अंत में हम एक वर्ग उन संयोगों का मानते हैं जिन में /**र**/ और /**ल**/ प्रथम अंग के रूप में आए हैं—

र्क, र्ख, र्ग, र्घ, र्क्ष, र्च, र्च्छ, र्ज, र्त, र्थ, र्द, र्ध, र्प, र्ब, र्भ, र्य, र्श, र्ष, र्स, र्ह; ल्क, ल्ग, ल्प ।

संयुक्त व्यंजनों की इतनी लम्बी सूची देने का विशेष अभिप्राय यह है कि प्राचीन आर्य-भाषा के उच्चारण की जो बहुत बड़ी कठिनाई थी उसे मध्य भारतीय आर्य भाषाओं ने समीकरण करके दूर कर दिया। भारतीय भाषाशास्त्र के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसका आरंभ पालि से हुआ और जिसने प्राकृत से आगे चल कर हिन्दी को हिन्दी बनाया। इस एक प्रवृत्ति के कारण सहस्रों शब्द संस्कृत से बिछुड़ कर तद्भव रूप में आ गए। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के साथ सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के बहुत बड़े शब्द-भण्डार को समझने की यह नियामक कुंजी है। समीकरण की प्रक्रिया ने पहले पालि की संस्कृत से भिन्न सत्ता प्रतिष्ठित की। इस प्रक्रिया का पूर्ण विकास प्राकृत में आ कर हुआ, जब कि संयुक्त व्यंजन नियमतः द्वित्व व्यंजन में परिवर्तित हो गए। अपभ्रंश में इस द्वित्व व्यंजन की जगह एक सामान्य व्यंजन, और उससे पूर्व के स्वर का दीर्घीकरण आरम्भ हुआ। हिन्दी में इस नई प्रक्रिया की परिणति हुई—पश्चिम में आंशिक और पूर्व में लगभग सम्पूर्ण और व्यापक। पश्चिमी हिन्दी में अब भी ऐसे शब्द चल रहे हैं, जिनमें व्यंजन तो एक हो गया, परन्तु पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण नहीं हुआ है, जैसे **सच** (पूर्वी हिन्दी **साँच**)<प्रा०, पा० **सच्च**<सं० **सत्य**; **लग** (पूर्वी हिन्दी **लाग**) < प्रा०, पा० **लग्ग**<सं० **लग्न**। शब्द के आदि में अकेला व्यंजन पालि ही से मिलता है।

समीकरण की स्थितियों का ब्योरा नीचे दिया जाता है।

ऊपर दिए गए प्रथम वर्ग और छठे वर्ग के संयोगों में अन्तःस्थ का प्रायेण दूसरे व्यंजन के साथ समीकरण हुआ। अन्तःस्थ सदा दुर्बल तत्त्व रहे हैं। उदाहरणार्थ—

प्रथम वर्ग से—**माणिक्य>माणिक्क>मानिक; व्याख्यान>वक्खाण>बखान; योग्य >योग्ग>जोग्ग>जोग; ज्येष्ठ>जेट्ठ>जेठ; ज्योति>जोति>जोत; धान्य>धन्न>धान; शून्य> सून्न, सुन्न>सुन्न, सूना; स्थाप्यति>थाप्पइ>थापे; कल्य > कल्ल > कल>काल; श्यालकः> सालओ>साला; कांस्य>कंस्स>कांस(१); चक्र>चक्क>चाक; अग्रे>अग्गे>आगे; व्याघ्र >वग्घ, बग्घ>बाघ; रात्रि>रात्ति, रात्त>राति>रात; निद्रा>निद्दा>नींद; गृध्र>गिद्ध> गीध; प्रिय>पिय>पिय(१), पी; प्रग्रह>पग्गह>पगह(१); ब्राह्मण>बाह्मण>बाम्हन; आम्र>आम्म, अम्म>आम; तीव्र>पा० तिब्ब; मिश्र>पा० मिस्स; स्रोत>सोत्त>सोत(१); पक्व>पक्क>पक्का, पाका, पका; क्वथिता>कढ़िता>कढ़िआ>कढ़ी; खट्वा>खट्टा,<खाट; किण्व>पा० किण्ण; बिल्व>बिल्ल, बेल्ल>बेल; श्वास>सास>सांस; स्वन>सन; शुक्ल> पा० सुक्क।**

टिप्पणी—१. जब दो अन्तःस्थों का योग हो तो /र/ सब से निर्बल होता है, जैसे **कार्य >काय्ज, कज्ज>काज; दूर्वा>दुब्ब>दूब**। /र/ को छोड़ कर यदि किसी अन्य अन्तःस्थ से /य/ का संयोग होगा तो /य/ को अपनी सत्ता दूसरे में खो देनी होती है, जैसे **मूल्य>मुल्ल>मोल; कर्त्तव्य> करतब**। इन में /ल/ सब से अधिक सबल है, जैसे **बिल्व>बेल; कल्य>कल** में।

२. दन्त्य वर्णों के साथ /य/ के संयोग से चवर्ग और /व/ के योग से पवर्ग विकसित होते हैं, जैसे—

सत्य>सच्च>सच, साँच; मिथ्या>पा० मिच्छा; अन्नाद्य>अन्नज्ज>अनाज; वंध्या>बंझा>बांझ; वृद्धत्व>बुड्ढप्प>बुढ़ापा; द्वादश>बारह।

३. **ताम्र** से **ताम** होना चाहिए था, किन्तु **तम्ब** और **ताँबा** बने हैं।

४. **जिह्वा** में /**ह्व**/ का पहले /**भ**/ हो कर **जिब्भ** और फिर **जीभ** हुआ है।

५. **तवर्ग** और /**र**/ के संयोग से कभी कभी **टवर्ग** का विकास हुआ है। इसके उदाहरण आगे दिए जायँगे।

छठे वर्ग से—**पर्कटी>पक्कटी>पक्कड़ी, पक्कड़>पाकड़; मार्ग>मग्ग>मग; कूर्चिका>कुच्चिआ>कूची; खर्जूर>खज्जूर>खजूर; पर्ण>पण्ण>पान; वर्तिका>वत्तिआ बत्ती, बाती; चतुर्थ>चउत्थ>चौथ(१); गर्दभ>गद्दभ>गद्दह>गदह(१), गधा; अर्ध> अद्ध>आध(१); कर्पूर>कप्पूर>कपूर; दुर्बल>दुब्बल>दुबल(१), दूबर; गर्भिणी>गब्भिणी, >गाभिन; कर्म>कम्म>काम; दुर्लभ>दुल्लभ>दुल्लह>दूलह(१); दूर्वा>दुब्बा> दूब; पार्श्व>पास्स>पास; कर्षण>कस्सण>कसन(१); वल्कल>बक्कल; फाल्गुण>फग्गुण>फागुन।**

टिप्पणी–१. /**र्य**/ का /**य्य**/ होना चाहिए था, किन्तु यह /**ज्ज**/ में परिवर्तित हुआ, **कार्य> /*कय्य/ > कज्ज>काज।**

२. /**र**/ या /**ऋ**/ के परिवेश में तवर्ग का टवर्ग हो जाने का उल्लेख ऊपर किया गया है। उदाहरणार्थ—

त्रुट्>टुट्ट>टूट; कैवर्त>केवट्ट>केवट; मृत्तिका>मट्टिआ, मिट्टिआ>मट्टी, माटी, मिट्टी; धृष्ट>ढिट्ठ>ढीठ; द्वि-अर्ध>दिअड्ढ>डेढ़; वृद्ध>बुड्ढ>बूढ़(१); वर्धते> वड्ढई>बढ़े।

द्वितीय वर्ग के संयोगों में प्रायेण नासिक्य व्यंजन का पूर्वगामी व्यंजन के साथ समीकरण होता है। उदाहरणार्थ—

रुक्म>रुक्क>रोक; अग्नि>अग्गि>आगि, आग; नग्न>नग्ग>नंग(१); स्वप्न> पा० सोप्प; तीक्ष्ण>तिक्ख>तीख(१); रश्मि>रस्सी।

टिप्पणी—१. यदि दो नासिक्य ध्वनियों का संयोग हो तो पुरोगामी समीकरण होता है, जैसे **निम्न**>पा० **निन्न; उन्मूलयति>पा० उम्मूलेति।**

२. **आत्मन्** में /**त्म**/ का /**प्प**/ और फिर /**प**/ हुआ है—**अप्पण>अपन(१)।**

३. कभी-कभी ऊष्म+नासिक्य होने पर ऊष्म व्यंजन की जगह /**ह**/ हो जाता है, जैसे **कृष्ण>कह्‌ण>कान्ह; स्नात>न्हात>नहाया।** वास्तव में इनमें स्वरभक्ति और वर्ण-विपर्यय हो गया। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

तृतीय वर्ग के संयोगों में नासिक्य ध्वनि सुरक्षित रहती है, अल्बत्ता पूर्वी हिन्दी में पूर्ववर्ती स्वर में अनुनासिकता का आभास होता है। अघोष स्पर्श प्रायः सघोष हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—

कङ्काल>कंगाल; शङ्ख>संख; शृङ्गार>सिंगार; जङ्घा>जाँघ; पञ्च>पाँच

पञ्चक>पञ्चअ>पंजा; गुञ्ज>गूंज; कण्टक>काँटा; कण्ठ>कंठ, काँठा; दण्ड> डण्ड(ा), डाँड़; दन्त>दाँत; स्कन्ध>कंधा, काँध(ा); चन्द्र>चाँद; कम्पन>काँपना।

चतुर्थ वर्ग का समीकरण पुरोगामी होता है, जैसे **भक्त>भत्त>भात; च्युत कृ> चुक्क>चूक; उद्गलन>उग्गलण>उगलना; उद्घाटन>उग्घाडण>उघाड़ना; मुद्ग> मुग्ग>मूँग; दुग्ध>दुद्ध>दूध; नप्तृ>नत्ति>नाती; उत्पद्यते> उप्पज्जइ>उपजे>; स्थान >थान; अंगुष्ठ>अंगुट्ठ>अंगूठ(ा); स्फुट>फूट।**

टिप्पणी— १. स्पर्श से पहले ऊष्म व्यंजन हो तो पुरोगामी समीकरण के साथ महा-प्राणत्व भी आ जाता है, जैसे **स्कम्भ>खम्भ>खंभा; शुष्क>सुक्ख>सूख(ा); वृश्चिक> बिच्छिअ>बीछी, बिच्छू; धृष्ट>ढिट्ठ>ढीठ; प्रस्तर>पत्थर; मस्तक>मत्थअ>माथा।**

२. ऊष्म बाद में आए तो उसका /**छ**/ हो जाता है, जैसे **अप्सरा>अच्छरा, अछरा; ऋक्ष>रिच्छ>रीछ; वत्स>बच्छ>बछ(ड़ा)।**

३. /**क्ष**/ के दो विकास हैं—**क्ख** और **च्छ**—जैसे **क्षीर, द्राक्षा, पक्ष** से क्रमशः **खीर, दाख,** और **पाख;** एवं **ईक्षा, क्षमा, कक्ष** से **इच्छा, छमा** और **कांछ**। कभी-कभी एक ही शब्द के दो रूप प्राप्त होते हैं—जैसे **क्षुर** से **छुरा** और **खुर; लक्ष्मण** से **लछमन** और **लखन; क्षार** से **खार** और **छार,** इत्यादि। **ख**-प्रवृत्ति पश्चिमी प्राकृतों की और **छ**-प्रवृत्ति पूर्वी प्राकृतों की बताई जाती है। आदि /**क्ष**/ का /**झ**/ भी हुआ है, जैसे **क्षरति>झरइ>झरे; क्षीण>झीण> झीन(ा)।**

पंचम वर्ग के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। ये संयोग प्राकृत रूप में ही हैं—अर्थात् यह स्वीकार कर लेना है कि प्राचीन आर्य भाषा संयुक्त व्यंजन प्रधान है और मध्य आर्य भाषा द्वित्त्व व्यंजन प्रधान है।

समीकरण का यह सिद्धान्त आर्य भाषा में तब से देखा जा सकता है, जब से वैदिक का सम्पर्क मध्यदेश से हुआ। वेद में **दूढभ(∠दुर्दभ), उच्छेक(∠उत्सेक),** आदि रूप, एवं संस्कृत में **उज्झ(∠उद्हा, उज्जहाति), कुट्टयति(∠कर्तति), कन्दति (∠क्रन्दति), टलति (<ट्वलति), पठ् (<प्रथ्), शुभ (∠शुभ्र), कोट (∠कोष्ठ), केवट (∠**वैदिक **कैवर्त), सूर(∠सूर्य), लांछन (∠लक्षण), पुत्तल(∠पुत्रल), नापित (∠स्नापित), पश्यति (∠*स्पश्यति,** 'स्पष्ट' में यह रूप प्रकट है), **तायु (∠स्तायु), नल्ल (∠नल्व), फल(∠*स्फल), भट्ट (∠भर्तृ)** इत्यादि बहुत से शब्द मध्यदेशीय प्राकृत प्रवृत्ति के कारण बने हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि समीकरण की इस प्रवृत्ति का आरंभ प्राचीन आर्य भाषा के सन्धि-नियमों से होता है। अन्तर इतना ही है कि सन्धि एक स्वतन्त्र और सार्थक पद के अन्तिम व्यंजन के परवर्ती दूसरे स्वतन्त्र और सार्थक शब्द के प्रथम व्यंजन की होती थी और समीकरण एक ही पद के बीच में उसी प्रकार के व्यंजन का होने लगा। उच्चारण सिद्धान्त वही था। पहले चिन्ता यह थी कि शब्द का अपना रूप प्रकट रहे, किन्तु देखा गया कि इसका निर्वाह वैसे सन्धि कर देने पर भी नहीं हो सकता। तो समीकरण का सिद्धान्त व्यापक रूप में लागू होने लगा। तुलना के लिए

निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उत्+सादन>उच्छादन; एवं **उत्सव>उच्छव, उत्साह>उच्छाह;**

तद्+नगरम्>तन्नगरम्
तद्+च>तच्च;
तत्+टीका>तट्टीका। } एवं { **फूत्कार>फुक्कार>फुंकार;**
भक्त>भत्त>भात;
उद्घाटन>उग्घाडण>उघाड़न(१)।

पालि के बाद संधियुक्त पद, सुप्तिङन्त पद और स्वतन्त्र शब्द में ध्वनि संयोजन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रह गया।

संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण भाषा में एक गड़बड़ी सी मच गई, जिसकी विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी।

जिन व्यंजन-संयोगों के स्थान पर पालि और प्राकृत में द्वित्त्व या दीर्घ व्यंजन किए गए थे, वे पंजाबी, लहँदी आदि भाषाओं में प्राकृत रूप में अब भी विद्यमान हैं। हिन्दी ने सरलता की दिशा में एक पग और आगे बढ़ कर उन के स्थान पर सामान्य एकल व्यंजन कर दिए, जिसका अर्थ यह हो गया कि यहाँ से उस कोटि के परिवर्तनों की वैसी ही गुंजायश निकल आई, जैसी कि संस्कृत-प्राकृत के सामान्य व्यंजनों में थी और जिसका उल्लेख अभी किया जाने वाला है। किन्तु यह सब भविष्य के गर्भ में है।

नीचे हम हिन्दी के उन सामान्य व्यंजनों की सूची दे रहे हैं, जो उपर्युक्त परिवर्तनों के फलस्वरूप नाना संयोगों से अवतरित हुए हैं—

क<सं० क्य, क्र, क्ल, क्व, क्म, क्न, त्क, त्क्र, क्क, र्क, ल्क, स्क इत्यादि।

ख<सं० ख्य, ख्र, क्ष, क्ष्य, क्ष्व, क्ष्ण, क्ष्म, ख्न, स्क, स्ख, ष्क, क्ख, र्ख, ष्यं, ष्य इत्यादि।

ग<सं० ग्य, ग्र, ग्ल, ग्व, ग्न, द्ग, द्ग्र, ग्ग, र्ग, ल्ग इत्यादि।

घ<सं० घ्य, घ्र, घ्न, द्घ, ग्घ, र्घ, र्घ्य इत्यादि।

च<सं० च्य, च्म, त्य, च्च, र्च, र्च्य इत्यादि।

छ<सं० छ्य, छ्र, र्च्छ, श्च, श्र, त्स, प्स इत्यादि।

ज<सं० ज्य, द्य, र्य, य्य, ज्ज, ज्र, ज्व, ज्म, र्ज, र्ज्य इत्यादि।

झ<सं० ध्य, क्ष, ह्य इत्यादि।

ट<सं० त्र, र्त, ट्ट, ट्व, ट्र, ष्ट, ष्ट्र, ट्च इत्यादि।

ठ<सं० र्थ, ट्ठ, ठ्य, ष्ठ, ष्ट, ठ्र, त्थ इत्यादि।

ड, ड़<सं० र्द, ध्र, ठ्र, ड्य, ड्ड, ड्म इत्यादि।

ढ<सं० र्ध, ध्र, ढ्र, ढ्य, ड्ढ इत्यादि।

त<सं० त्र, त्व, त्न, क्त, क्त्र, त्त, र्त, प्त इत्यादि।

थ<सं० स्त, स्थ, त्थ, र्थ इत्यादि।

द<सं० द्र, द्व, द्न, द्य, ब्द, द्द, र्द, द्र्य, र्द्र इत्यादि।

ध<सं० ध्र, ध्व, ध्न, द्ध, ब्ध, र्ध इत्यान्दि।

प<सं० त्व प्य, त्म, प्र, प्ल, प्व, प्न, प्प, र्प, ल्प इत्यादि।

फ<सं० ष्प, स्प, स्फ इत्यादि।

ब<सं० द्व, ब्य, व्य, व्व, ब्र, व्र, र्व, द्ब, ब्ब, र्ब इत्यादि।

भ<सं० भ्य, भ्र, भ्व, र्भ, भ्न, द्भ, ब्भ इत्यादि।

स<सं० स्य, स्र, श्र, श्य, स्व, श्व, श्ल, स्न, र्श, र्स, र्ष इत्यादि।

इत्यादि कहने का यहाँ यह तात्पर्य है कि दो व्यंजनों के बाद तीसरा व्यंजन हो तो भी सिद्धि वही रहती है; दूसरे यह कि **क** आदि व्यंजनों की सिद्धि सामान्य व्यंजनों से भी अनेक प्रक्रियाओं द्वारा होती है एवं हिन्दी के ये व्यंजन संस्कृत से अक्षुण्ण रूप में भी (विशेषत: शब्द के आदि में) चले आ रहे हैं। इनका-विवरण आगे दिया जा रहा है।

संयुक्त व्यंजनों के समीकरण सिद्धान्त के अपवाद स्वरूप भी संयोग नहीं बने रह सके। ऐसी स्थिति में स्वरभक्ति द्वारा संयोगों में वियोग ला कर सरलता लाने की चेष्टा की जाती रही। अनुकरण करते समय आज भी हिन्दी प्रदेश के अनपढ़ या कमपढ़ लोग अपरिचित व्यंजन-संयोगों का विभाजन स्वरभक्ति द्वारा कर लेते हैं, संयुक्त व्यंजन नहीं रहने देते। उदाहरणार्थ—

संस्कृत में **मनोरथ<मनोऽर्थ; मुसल<मुस्ल; पुरुष<**वैदिक **पूर्ष।**

प्राकृत में **सलाह<श्लाघ; किलेस<क्लेश।**

हिन्दी में **आसरा<आश्रय; सनेह<स्नेह; मिसिर<मिश्र; परब<पर्व; बरत<व्रत; मूरख<मूर्ख।**

भारतेन्दु युग से पहले के हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति सब कालों की अपेक्षा अधिक है कवि जब भी कोई संस्कृत का शब्द लेना चाहते तो उसे बोलचाल के उच्चारण में ढाल लेते थे और संयुक्त व्यंजनों को स्वरभक्ति द्वारा फाड़ देते थे।

/ऋ/ /र/ के परिवेश में तवर्ग को टवर्ग करने की जिस प्रवृत्ति का उल्लेख ऊपर किया गया है उसके उदाहरण भी वैदिक और संस्कृत में मिल जाते हैं। यह भी मध्यदेश की मूल भाषाओं के प्रभाव से हुआ है। आगे चल कर मूर्धन्यीकरण की रुझान बहुत बढ़ने लगी और **/ऋ/ /र/** की निकटता के बिना भी यह परिवर्तन होता रहा है। उदाहरणार्थ—

वैदिक में—**विकट (<विकृत), उत्कट (<उत्कृत), जठर (**तुल० **जर्तु)।**

संस्कृत में—**भट (<भृत), नटति (<नृतति), दाडिम (<दालिम), क्वण (<क्वन), अटति (<अतति), पठ् (<प्रथ्), वट (<वृत), पट्टन (<पत्तन)।**

पालि में—**निगण्ठ (<निर्ग्रन्थ), वण्ट (<वर्त्), डंस (<दंश), डाह (<दाह), उट्ठान (<उत्थान), ओणत (<अवनत)।**

प्राकृत में **/न/** का **/ण/** तो पश्चिम में व्यापक रूप से हो गया, साथ ही अन्य टवर्गीय ध्वनियों का विकास भी हुआ, जैसे **बहेडओ (<विभीतक:, हिं० बहेड़ा), डोला (<दोला), डण्ड (<दण्ड, हिं० डाँड़, डंडा), सिढिल (<शिथिल, हिं० ढीला), डर (<दर); टसर (<त्रसर); वट्ट (<वर्त्म, हिं० बाट); गण्ठि (<ग्रन्थि, हिं० गाँठ)।**

हिन्दी में न केवल मूर्धन्यीकृत शब्दों की संख्या ही बढ़ी है अपितु विकास की एक और अवस्था प्रकट हुई है अर्थात् दो स्वरों के बीच में हो तो /ड/ से /ड़/ और /ढ/ से /ढ़/ होने लग गया है। उदाहरणतया—

घोटिका>घोडिआ>घोड़ी; पठति>पढइ>पढ़े; वृद्ध>वुड्ढ, बूढ>बूढ़(ा); घट>घड>घड़(ा); नीड>नीड़ इत्यादि।

हिन्दी के अन्य उदाहरण—

ठाँव<स्थानम्; ठिया<स्थितः; टेढ़ा<तिर्यक्+अर्ध; ठग<स्थग।

इसी प्रसंग में व्यंजन संबंधी अन्य परिवर्तनों का विवरण दे देना आवश्यक होगा। यह बताया जा चुका है कि पालि में /**श**/ और /**ष**/ के स्थान पर /**स**/ आने लगा था जैसे **शत>सद, तुष>थुस, शब्द>सद्द।** अशोक लिपियों में /श/, /ष/ पाए तो जाते हैं किन्तु गिरनार के शिलालेखों में केवल /**स**/ मिलता है। वास्तव में पश्चिमी भाषाओं में /**श**/ /**ष**/ नहीं रह गए थे। पूर्वी मागधी और उसकी परवर्ती भाषाओं में /**श**/ बराबर बना रहा, /**ष**/ का स्थान सर्वत्र /**स**/ ने ले लिया। लगता है कि मध्यदेश में /**श**/ /**ष**/ को /**स**/ कर देने की प्रवृत्ति आरम्भिक काल से चल पड़ी थी। संस्कृत में **केशर** के साथ **केसर, शटा** के साथ **सटा, शस्य** के साथ **सस्य, शीर** के साथ **सीर, कोशल** के साथ **कोसल, कषा** के साथ **कशा** और **कसा, कुषीद** के साथ **कुसीद, मारिष** के साथ **मारिस,** एवं **शूर-सूर, राशभ-रासभ, शरट-सरट** आदि रूपों में मध्यदेश की पूर्ववर्ती भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आगे चल कर यह प्रवृत्ति सारी आर्य भाषा पर हावी हो गई। हिन्दी के निम्नलिखित शब्दों का परीक्षण कीजिए—

पूस<पोस<पौष; संख<शंख; सलाई<सलाइआ<शलाका; बरस<बरिस<वर्ष; साँकल<संकल, संखल<श्रृंखला; संकी<शंकिन्; सेवाल, सेवार<सेवाल<शैवाल; सेस<शेष; सूखा<सुक्ख<शुष्क; सूँड़<सुण्ड<शुण्ड; सरेस<सिलेस<श्लेष; सिर<शिर; सिंगार< श्रृंगार; सीख<सिक्खा<शिक्षा; सान<शाण; साग<शाक; कसैला<कषाय+प्रत्यय; **केस<केश; कोस<क्रोश; चूसना<चूषण** इत्यादि।

आगे चल कर /**-स-**/ का /**-ह-**/ भी हुआ है। उदाहरणार्थ—

एकादश>एआरह, एगारह>ग्यारह; षोडश>सोड़स>सोलह; द्विसप्तति>बहत्तर; अनुसार >अनुहार; पाषाण>पाहाण>पाहन; चलसि>चलहि; केसरी> केहरी; चाष> चास> चहा। किन्तु यह प्रवृत्ति बहुत आगे नहीं चली।

एक प्रवृत्ति **श ष स** को /**छ**/, और /**ष**/ को /**ख**/ कर देने की भी रही है। यह अशुद्ध उच्चारण का परिणाम है। उदाहरणार्थ—

षष्ठी>छठी; शव>पा० छव; शल्कल>छिलका; शकटक>छकड़ा; शाव>छाव> छौ(ना); श्मश्रु>म्हच्छु>मूँछ; एवं **सुधा> प्रा० छुहा** एवं **रिखी (<ऋषि), ईरखा (<ईर्ष्या) पाखंड (<पाषण्ड), भाखा (<भाषा)।**

अन्य सामान्य व्यंजनों में पालि काल तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। स्वर मध्यग

अल्पप्राण ध्वनियाँ तब तो सुरक्षित रहीं, किन्तु प्राकृत काल में **क, ग, च, ज, त, द** एवं **य, व** का लोप होकर इनके स्थान पर /अ/ अथवा **य-व**-श्रुति का आगम हुआ। इससे अगला विकास-क्रम हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं तक इतना रह गया कि इस /अ/, /य/ अथवा /व/ के आस-पास के स्वरों की संधि हो जाए। उदाहरणार्थ—

कुम्भकार>कुंभआर>कुम्हार; सागर>सायर; सूचि>सूअि>सुई; वचन>वअण> बैन; भगिनि>भअिणि>भइण>बहिन; पाद>पाअ, पाव; जीव>जीअ>जी; गतः>गओ> गयो, गया; मातृ>माअि, माई; तादृश>ताइस>तैस(ा); मुकुट>मुअुड>मउर>मौर; खदिर>खइर>खैर; उपविष्ट>उवइट्ठ>बैठ; राजा>राया>राय।

प्राकृत में पदान्त व्यंजन का लोप हो गया। **पश्चा (<पश्चात्), युष्मा (युष्मत्)** आदि। कुछ उदाहरण वेद में भी मिलते हैं, किन्तु प्राकृत में नियमपूर्वक यह परिवर्तन हुआ, जिससे सब शब्द स्वरान्त हो गए।

प्राचीन काल ही से एक और प्रवृत्ति पाई जाती है और वह है अघोष ध्वनियों को सघोष करने की। संस्कृत में इसके निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं—

काक के साथ **काग, कपाट** के साथ **कवाट, पारापत** का **पारावत, अथ** के साथ **अध** आदि।

पालि में **क्षाम** के स्थान पर **झाम, रुत** के स्थान पर **रुद** और **शकल** के स्थान पर **सगल** इसी प्रवृत्ति के कारण हैं। प्राकृत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे **घट>घड** (हिं० **घड़ा**); **हरीतकी>हरडई** (हिं० **हरड़**); **कन्दुक>गेंदुअ** (हिं० **गेंद**); आगतः>शौर० आगदो; **कथयतु>** शौर० **कथेदु; भवति>होदि; शुक>सुग** (हिं० **सुग्गा**); **शोक>सोग; आकाश>आगास; पाक>पाग; प्राकार>पागार; वक>बग** (हिं० **बगुला**); **लोक>लोग** इत्यादि।

हिन्दी के कुछ और उदाहरण ये हैं—**गूँधना** (तुलना० **गूँथना**); **ग्यारह<एकादश; अंगूर<अंकुर; सगुन<शकुन; साग>शाक; कुंजी< कुंचिका; पंजा<पञ्चकः** इत्यादि।

संस्कृत पर प्राकृत के प्रभाव के कारण—**गर्त (<कर्त), तडाग (<तटाक), अंग (<अंक), नाधित (<नाथित)।**

य को **ज, व** को **ब, प** को **व, ट** को ड, **ठ** को **ढ** कर देने की प्राकृत से चली आती हुई जिस प्रवृत्ति का उल्लेख पीछे किया गया है, उसके मूल में भी सघोषीकरण की बढ़ती हुई व्यापकता है। **य** से **ज** परिवर्तनके उदाहरण—

योग्य>जोग, हिं० जोगा; यन्त्र>जंत>जाँता; यश>जस; यथा>जह, ब्रजभाषा **जहँ; युग>जुग; युक्ति>जुगुत; यूथी>जूही; योगिन्>जोगी; यौवन>जोव्वण>जोबन।**

संस्कृत में **जव (<यव), जवनिका (<यवनिका), जामातृ (<यामातृ)** इसी प्राकृत प्रभाव से बने हैं।

व से **ब** परिवर्तन के उदाहरण—

वाष्प>वप्फ>बाफ, भाप; वल्ली>बेल; वेतस्>बेंत; विद्युत्>विज्जु>बिजुली, बिजली; वानर>बन्दर; वाम>बायाँ; वर्धन>वड्ढण<बढ़ना; वत्स>बच्छ>बछ(ड़ा)।

संस्कृत में भी **कुबेर (कुवेर), क्लीब (क्लीव)** द्रष्टव्य हैं।

याद रहे कि /**य**/ की अपेक्षा /**ज**/ में और /**व**/ की अपेक्षा /**ब**/ में अधिक सघोषता है।

प से **व** के उदाहरण—

कपि>पा० **कवि; कूप**>**कूवो**<**कुवाँ; कपाट**>**कवाड**>**किवाड़; दीपक**>**दीवओ** >**दीवा; ताप**>**ताव; कच्छप**>**कच्छवो**>**कछुआ; प्रापयति**>**पावेइ**>**पावे** इत्यादि। आगे चल कर यह **अव** भी शुद्ध स्वर में परिवर्तित हो गया—देखिए आगे स्वरों के अंतर्गत।

ट से **ड** और **ठ** से **ढ** के उदाहरण दिए जा चुके हैं।

प्राकृत की एक अन्य प्रवृत्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह है /**ठ**/ /**ढ**/ /**छ**/ /**झ**/ को छोड़ कर शेष सभी महाप्राण व्यंजनों को /**ह**/ कर देने की। बार-बार यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों और /**य-**/'/**व-**/ के अतिरिक्त बहुत ही कम व्यंजन-परिवर्तन होते हैं।

पालि में **रुधिर**>**रुहिर, लघु**>**लहु, साधु**>**साहु** आदि थोड़े से स्वर मध्यग महाप्राण व्यंजन से /**ह**/ के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रवृत्ति पालि काल के बाद से मिलने लगती है। प्राकृत की राह से आए हुए हिन्दी के उदाहरण—

दधि>**दहि**>**दही; सखी**>**सही**>**सहेली; बधिर**>**बहिर**>**बहरा; सौभाग्य**>**सोहग्ग**> **सोहाग; मुख**>**मुह**>**मुँह; नख**>**नह; शेखरकः**>**सेहरओ**>**सेहरा; आखेट**>**आहेड**>**अहेर; मेघ**>**मेह**>**मेंह; श्लाघ**>**सलाह**>**सराह; प्राघुणकः**>**पाहुणओ**>**पाहुना; पितृगृह**>**पिइहर**> **पीहर; कथ**>**कह; नाथ**>**नाह; मधु**>**महु (आ); वधू**>**बहू; प्रभात**>**पहा**>**पह, पौह; मुक्ताफल**>**मुकताहल।**

संस्कृत में प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप निम्नलिखित शब्द हैं—

सहाय (<सखायम्), हित (<धित), अर्ह (<अर्घ), मेह (<मेघ)।

पश्चिमी भाषाओं में महाप्राण से अल्पप्राण करने की और पूर्वीय भाषाओं में अल्पप्राण से महाप्राण करने की प्रवृत्ति मिलती है। मध्यदेश की भाषाओं में दोनों तरह के उदाहरण मिल जाते हैं—

पालि में **खील**<**कील, खुज्ज**<**कुब्ज, फरसु**<**परशु, थुस**<**तुष।**

प्राकृत और हिन्दी में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक मिलती है, जैसे **कर्पर**>**खप्पर; क्रीडा**>**खेल; पाश**>**पास** >**फाँस; वेष**>**बेस** >**भेस; सर्व**>**सब्ब**>**सभ; कासित**> **खासिअ**>**खाँसी** इत्यादि।

जब एक शब्द में दो महाप्राण व्यंजन आ जाते हैं तो पश्चिमी बोलियों में एक का लोप कर दिया जाता है। संस्कृत भी दो महाप्राण एक साथ ग्रहण नहीं करती थी, जैसे **बभूव, दधौ** आदि में। व्याकरण के अनुसार ये **भभूव, धधौ** होते। पश्चिमी हिन्दी के उदाहरण— **धोका** (पूर्वी हिं० **धोखा**) **भूक (भूख), भाप (भाफ),** हात **(हाथ), भीक (भीख), ढीट (ढीठ), झूट (झूठ), खोज (खोझ),** इत्यादि।

व्यंजन-विपर्यय के कारण कुछ शब्दों का ध्वनि-क्रम बदल गया है। **स्नात** से **न्हात** (हिंदी **नहाया**) पालि काल से और **विडाल** से **बिलार, बुड** से **डुब** (हिं० **डूबे**) तथा **लघु** से **हलु** (हिं० **हलका,** बोली में **हलु**) प्राकृत काल से चले आ रहे हैं। हिन्दी के अन्य उदाहरण—

पहिरना (परिधान); बनारस < वाणारसी < वाराणसी; मरहट्ठी < महारट्ठी < महाराष्ट्री।

/**न**/ और /**ल**/ का, /**ल**/ और /**र**/ का, /**द**/ अथवा /**ड**/ और /**र**/ का, (और हमने पीछे मूर्धन्यीकरण के प्रसंग में देखा कि /**द**/ और /**ड**/ का) /**ड**/ और /**ल**/ का विशेषतया और इन सब व्यंजनों का सामान्यतया आपस में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति भी प्राचीन काल से चली आई है। संस्कृत में **चर** और **चल, बहुर** और **बहुल, इडा** और **इला**; पालि में **नाडी** और **नाली, कीडति** और **कीलइ, एलः<एनः, मुळाल<मृणाल, गरुल<गरुड, नांगल<लांगल,** आदि; प्राकृत में **नडालिआ<ललाटिका,लज्ज<रज्जु, हलिद्द<हरिद्र;** और हिन्दी में **ग्यारह<एकादश, लिलार<ललाड<ललाट, तलाव<तडाग, बहलना<विहरण, सराह<श्लाघ, सांवरा<श्यामल, भला<भल्ल<भद्रक, चालीस<चत्वारिंशत, नखनऊ** अथवा **नखलऊ<लखनऊ, लोंनी<नवनीत** इत्यादि अनेक उदाहरण मिलते हैं।

ऊपर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन आर्य भाषा की किन्हीं प्रवृत्तियों को मध्य आर्य भाषा ने और मध्यकालीन भाषा की उन्हीं तथा अन्य नई प्रवृत्तियों को नव्य आर्य भाषा हिन्दी ने आगे बढ़ाया है। जो पहले प्रवृत्ति मात्र थी, वह बाद में नियम के रूप में ढल गई। विकास की कुछ नई दिशाएँ भी हिन्दी में प्रकट हुई, जैसे /**ड़**/ /**ढ़**/ का प्रादुर्भाव। एक और महत्त्वपूर्ण नया परिवर्तन यह हुआ कि /**-म-**/ का /**-वँ-**/ हो गया। इसके बीज अपभ्रंश में मिलते हैं। हिन्दी के उदाहरण **नाम>नाँव; ग्राम>गाँव; नमन>नवना; श्यामल>साँवला; चमर>चँवर; कमल>कँवल; भ्रमर<भँवर; आमलक>आँवला।** आगे चल कर अर्धस्वर /**वँ**/ का /**औं**/ स्वर हो गया—देखिए स्वर-परिवर्तन के प्रसंग में।

स्वर मध्यग /**व**/ यद्यपि मूल में आर्य भाषा से आया था और /**म**/ या /**प**/ से विकसित हुआ था, आगे चल कर लुप्त होने लगा। उदाहरणार्थ—

देव>देउ; जीव>जीउ, जी; वाम>बाँवा>बायाँ; धूम>धूवाँ>धूआँ; दीपक <दीवा<दीया; कूपक<कूवा<कूआँ।

स्वर—ऐसा जान पड़ता है कि संसार की किसी भाषा की लिपि में उसके सभी स्वर अनुलिखित नहीं किए जा सकते। अंग्रेज़ी में पाँच स्वर-चिह्न कम से कम १४ समान स्वरों और अनेक स्वर-संयोगों का काम देते हैं। हिन्दी में भी **अ, आ** आदि की कई छायाएँ हैं, ह्रस्व **ए, ओ** के लिए कोई चिह्न नहीं हैं एवं **ऐ औ** दो-दो काम करते हैं—सामान्य स्वरों का भी और सन्ध्यक्षरों का भी। प्रायः बोलियों में स्वरों की विभिन्नता कुछ अधिक होती है और साहित्यिक तथा शिष्ट नागरिक भाषा में स्वरों का सामान्यीकरण हो जाने से संख्या अवश्य कम रहती है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा में भी समान स्वर **अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ,** चार

संध्यक्षर **ए, ओ, ऐ, औ;** एक विसर्ग और दो अर्घ स्वर **य, व** थे। प्राग्वैदिक आर्य भाषा में **र** और **ल** भी अर्घ स्वर थे, तब से इनकी गणना अन्तःस्थों में होती आ रही है, किन्तु इनके परवर्ती विकास से सिद्ध होता है कि वैदिक काल ही में ये व्यंजन हो गए थे। पहले **/ल/** शुद्ध व्यंजन बना, फिर **/र/**—इसका प्रमाण पाणिनि के **ह य व र** (ट्) से मिलता है। इस वर्ग का **/ह/** विसर्ग है। व्यंजन **/ह/** शिव सूत्र के अंत में आता है।

समान स्वरों में **आ ई ऊ** ॠ की गणना पाणिनि के शिव सूत्र में नहीं हुई। ये तो मात्रा काल की दृष्टि से **अ इ उ ऋ** के दीर्घ रूप मात्र हैं। मात्रा काल की दृष्टि से **अ इ उ ऋ** के प्लुत रूपों को भी अलग स्वर मानना पड़ेगा। हो सकता है कि पाणिनि के समय तक इनमें मात्रा काल का ही अन्तर रहा हो, किन्तु बाद में स्थान और प्रयत्न का भेद भी प्रकट हो जाने से **अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ** ॠ को अलग-अलग ध्वनिग्राम मान लिया गया। **अ** की अपेक्षा **आ** अधिक विवृत और पश्चवर्ती स्वर है। **इ** की अपेक्षा **ई** अधिक संवृत और अग्रवर्ती स्वर है। इसी प्रकार **उ** की अपेक्षा **ऊ** अधिक संवृत और पश्चवर्ती स्वर है। **ऋ** ॠ स्वतन्त्र स्वर के रूप में आगे नहीं चले। पंडित वर्ग में परंपरागत शब्दों में इनका उच्चारण परिवर्तित रूप में होता रहा।

ऋक्प्रातिशाख्य में **ऋ** का उच्चारण-स्थान वर्त्स माना गया है, साथ ही इसे मूर्धन्य स्वर भी कहा गया है। इसी से पता चलता है कि यह प्राग्वैदिक आर्य स्वर था, जिसका उच्चारण वैदिक काल तक आते-आते अनिश्चित होने लगा था। बाद में मध्यदेश के लोगों ने अनुकरण करते समय इसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया और इसका उच्चारण जीभ को दो बार वर्त्स से छुआ कर किया जाने लगा। कुछ-कुछ ऐसा ही उच्चारण आज भी कहीं-कहीं प्रचलित है। जनसाधारण में **ऋ** ने अपना स्थान **अ, इ, उ** को दे दिया—पालि और प्राकृत में इस तरह **ऋ** का लोप ही हो गया। अब तो पंडित समाज में भी तत्सम शब्दों में **ऋ** का उच्चारण **/रि/** जैसा होता है।

ऌ केवल एक वैदिक शब्द **क्लृप्** में था। आजकल इसे **/लिर/** कर के बोलते हैं, जिससे इसकी स्वरीय प्रकृति का कुछ भी आभास नहीं मिलता।

ए ओ ऐ औ को पाणिनि ने एक वर्ग में गिना है। ये चारों संध्यक्षर थे और क्रमशः इनका उच्चारण **अइ, अउ, आइ, आउ** कर के होता था। संस्कृत में धीरे-धीरे **ए ओ** समान स्वर हो गए, जैसे वे आज भी हिन्दी में हैं और **एक, ओर, प्रेत, ओत-प्रोत** आदि शब्दों में पाए जाते हैं। इस परिवर्तन के फलस्वरूप **ऐ औ** क्रमशः **अइ अउ** हो गए। विसर्ग बना रहा किन्तु इसके उच्चारण में अवश्य अंतर आ गया। इस तरह संस्कृत में **अ आ इ ई उ ऊ ऋ** ॠ **ए ओ** १० समान स्वर और **ऐ औ** दो संध्यक्षर और विसर्ग थे। ॠ केवल संधि में आता था, किसी मूल शब्द में नहीं था। पालि में **ऋ** ॠ नहीं रहे। **ऐ औ** का स्थान क्रमशः **ए ओ** ने लिया, किन्तु दो नए स्वर मध्यदेश की लोक भाषाओं से प्रकट हुए—ह्रस्व **ए** और ह्रस्व **ओ**। इस प्रकार पालि में १० समान स्वर थे—**अ आ इ ई उ ऊ, ए** ह्रस्व, **ओ** ह्रस्व, **ए** दीर्घ, **ओ** दीर्घ। संध्यक्षर नहीं रहे। विसर्ग का भी या तो लोप हो गया या इसके स्थान पर **ओ आ** आ गए। समान स्वर प्राकृत में भी यही १० रहे। साहित्यिक हिन्दी में ह्रस्व **ए ओ** बोले तो जाते हैं लेकिन ह्रस्व और दीर्घ **ए ओ** में कोई लिपिगत अन्तर नहीं

दिखाया जाता। हिन्दी में तीन नए समान स्वरों का विकास हुआ—/**ऐ**/ जैसे **पैसा, रैन, ऐसा** आदि में, और /**औ**/ जैसे **बौना, औना-पौना, लौ** आदि में एवं /**ऑ**/ जो अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में स्थान पा गया है और **डॉक्टर, मॉडल** आदि शब्दों में दिखाया भी जाता है। अत: हिन्दी में १३ समान स्वर हैं—**अ आ इ ई उ ऊ**; ह्रस्व **ए ओ**; दीर्घ **ए ओ**; **ऐ औ ऑ**। बोलियों में स्वरों के उच्चारण सम्बन्धी कई छाया भेद हैं। उदाहरण स्वरूप ब्रजभाषा का **औ** सामान्य हिन्दी के **औ** से कुछ भिन्न है। किन्तु ये छायाएँ अर्थभेदक नहीं हैं।

इन सब स्वरों के सानुनासिक रूप भी मिलते हैं।

प्राकृत काल से संयुक्त स्वरों की संख्या में वृद्धि होती गई है। हिन्दी में पुनः स्वर-संयोगों में संधि कर देने के कारण यह संख्या कम हुई, किन्तु फिर भी ऐसे संयुक्त स्वरों की काफ़ी बड़ी सूची है (देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १११-११४)। वेद में **तितउ** जैसे कुछ-एक उदाहरण स्वर संयोगों के मिल जाते हैं, किन्तु संस्कृत में किसी शब्द में एक से अधिक स्वर एक साथ नहीं मिलते, व्यंजन एक साथ भले ही दो, तीन, चार हो जाएँ। प्राकृत में एक से अधिक व्यंजन संयुक्त हो कर नहीं आते, स्वर एक से अधिक कई संयुक्त हो जाते थे।

देश काल भेद से स्वरों की चार स्थितियाँ रहीं—१. सुरक्षितता, २. ह्रस्व से दीर्घ, दीर्घ से ह्रस्व अथवा एक स्वर का दूसरे स्वर में परिवर्तन, ३. लोप और ४. नवागम अथवा नव विकास।

जिस अक्षर पर स्वराघात बना रहा, उसका स्वर प्रायः सुरक्षित रहा है। उदाहरण—
कंकण>कंगन; कटाह>कुड़ाह; ग्राम>गाँव; शिर>सिर; कीटक>कीडओ>कीड़ा; क्षीर>खीर; युक्त>जुट; दूर>दूर; केश>केस; क्रोश>कोस इत्यादि। प्राचीन आर्य भाषा के /**ऋ**/ /**ऐ**/, /**औ**/ जो आगे चल कर रहे ही नहीं उनमें स्वराघात की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया।

/**ऋ**/ देश भेद से **अ, इ, उ** में परिणत हुआ। हमारा मत यह है कि पश्चिम में **इ**, पूर्व में **अ** और दक्षिण में इससे **उ** का विकास हुआ। आज भी हम इस परंपरा के अवशेष देख सकते हैं—**कृष्ण** को पढ़े-लिखे लोग भी पश्चिम में **क्रिशण**, पूर्व में **क्रष्ण**, दक्षिण में **क्रुष्ण** कर के बोलते हैं। **अमृत** का उच्चारण गुरु ग्रन्थ साहब में **अम्रत**, कबीर में **अम्रित**, और दक्षिण में **अम्रुत** रूप में मिलता है। धीरे-धीरे भाषा के साथ ये तीनों प्रवृत्तियाँ घुल मिल कर व्यापक हो गईं। उदाहरण—

ऋ>अ—घृष्टः>प्रा० **घट्टो, घट**; **वृषभ**>प्रा०, हिं० **बसह**; **वृंतक>बंट>बंड(ा)**; **मृत्तिका>मट्टिआ>मट्टी**।

ऋ>इ—अमृत>अमिअ>अमी; घृत>घिअ>घी; शृगाल>सिआल>सिआर; वृहस्पति>बिहप्फइ>बिप्फै; घृणा>घिणा>घिन।

ऋ>उ—पृच्छति>पुच्छइ>पूछे; मातृस्वसृका>माउस्सिआ>माउसी, मौसी; शृणोति>सुणइ>सुने।

कुछ विद्वानों का विचार है कि ओष्ठ्य व्यंजन के बाद ऋ का **उ** होता है, किन्तु **अमृत** से **अमी** और **मृत** से **मुआ,** अथवा **बृहस्पति** से **बिप्फे** और **वृद्ध** से **बुड्ढा** एवं **पृच्छति** से **पुच्छइ,** किन्तु **पृष्ठ** से **पिट्ठ** (हिं० **पीठ**) इस मत का खण्डन करने के लिए पर्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त **मृत्तिका** से **मट्टी** भी बना है, **मिट्टी** भी।

पालि में **ऋद्धि, ऋक्ष** और **ऋण** के लिए **इद्धि, अच्छ** और **अण** शब्द मिलते हैं, किन्तु बाद में ऐसा हुआ कि शब्द के आदि में /**ऋ**/ का /**रि**/ उच्चारण कर के उसे रहने दिया। हिंदी **रीछ; रुत<ऋतु; रिक्खी<ऋषि; रीसमूक<ऋष्यमूक** इसी प्रवृत्ति के कारण बने हैं।

ऐ का **ए** और **औ** का **ओ** पालि काल से ही हो गया था। उदाहरणतया पालि में **मैत्री>मेत्ती; गौतम>गोतम।** अशोक के शिलालेखों में **पोत्त<पौत्र,** प्राकृत में **एहिअ<ऐहिक; गेरिअ** (हिं० गेरू)<**गैरिक; तेल<तैल; सेवाल** (हिं० सेवार)<**शैवाल; सोहाग** (हिं० सोहाग) <**सौभाग्य; मोत्तिअ** (हिं० मोती)<**मौक्तिक; जोव्वण** (हिं० जोवन)<**यौवन।**

प्राकृत में कुछ ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जिनमें **ऐ औ** का **अइ अउ** रूप सुरक्षित है, जैसे **दइच्च** (<दैत्य), **भइरव** (<भैरव), **पउर** (<पौर), **कउसल** (<कौशल)। यह पूर्वी भाषाओं के प्रभाव का फल है। आज भी अवधी और भोजपुरी में **पैसा, जैसा, बैर, मैला** आदि शब्दों का उच्चारण **पइसा, जइसा, बइर, मइला** और **औरत, बौना, मौत, मौन** आदि का उच्चारण **अउरत, बउना, मउत, कउन** सुना जाता है। कबीर और जायसी में इस तरह के शब्द देखे जा सकते हैं।

संयुक्त व्यंजन को पालि में दीर्घ व्यंजन करते समय उससे पहले दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाने लगा, क्योंकि दीर्घ स्वर के बाद दीर्घ या द्वित्व व्यंजन का उच्चारण कठिन होता है। प्राकृत में इस प्रवृत्ति की परिणति हुई। हिन्दी ने दीर्घ व्यंजन को समान या ह्रस्व किया तो उससे पहले के स्वर को पुनः दीर्घ कर दिया अथवा संस्कृत का जो ह्रस्व स्वर था, उसे भी दीर्घ कर दिया। किन्तु पश्चिमी भाषाओं (लहँदी, पंजाबी) में प्राकृत की प्रकृति बनी रही, जिससे हिन्दी में दोनों तरह के स्वर मिल जाते हैं, उदाहरणतया—

ह्रस्व स्वर सुरक्षित—**सत्य>सच; कल्य>कल; सर्व>सब; सप्तति>सत्तर; पक्व>पक्का; कर्पट>कपड़ा; मत्स्य>मछ(ली); दुर्बल>दुबला** (पूर्वी **दूबर**)**; अन्ध>अंधा।**

ह्रस्व स्वर दीर्घीकृत—**चन्द्र>चाँद; दन्त>दाँत; पृष्ठ>पिट्ठ>पीठ; खट्वा>खट्टा>खाट; पित्तल>पीतल; शिक्षा>सिक्खा>सीख; मिष्ट>मिट्ठ>मीठ(ा); निद्रा>निद्द>नींद; दुग्ध>दुद्ध>दूध।**

दीर्घ स्वर सुरक्षित अथवा पुनःस्थापित—**वार्ता>बत्ता>बात; लाक्षा>लक्खा>लाख; कार्य>कय्य>कज्ज>काज; राज्ञी>रण्णी>रानी; शीर्ष>सिस्स>सीस।**

दीर्घ स्वर ह्रस्वीकृत—**मार्ग>मग्ग>मग; शून्य>सुन्न; व्याख्यान>वक्खाण>बखान; भाण्डागार>भण्डआर>भँडार; कूष्माण्ड>कुम्हड़ा।**

जब पालि में ह्रस्व **ए ओ** का प्रचार हुआ तो इनमें और **इ उ** में बहुत कम भेद रह गया।

अतः तब से प्राकृत की तरह हिन्दी में यह प्रवृत्ति रही है; पुष्कर>पुक्खर, पोक्खर>पोखरा; तुण्ड>तुंड, तोंड>तोंद; सुखकर>सोहर; निमन्त्र(ण)>निमंत>नेवता; मूल्य>मुल्ल, मोल्ल >मोल; बिल्व>बिल्ल, बेल्ल>बेल इत्यादि।

प्रत्येक भाषा में स्वरों के परस्पर संबंध की कुछ कड़ियाँ होती हैं। भारतीय आर्य भाषाओं में ० अ आ; इ ई ए ऐ य; उ ऊ ओ औ व—ये तीन प्रमुख वर्ग पारस्परिक सामंजस्य और सहज विनिमय के माने जा सकते हैं—प्रत्येक वर्ग की एक अपश्रुति या स्वर श्रेणिता है। वैदिक के निम्नलिखित शब्दों की परीक्षा कीजिए—

पतामि, अपप्तम्, अपाति, में आ, ०, अ के परस्पर विनिमय;

आप्नुमः, आप्नोमि; आहुति, हूति; धूति, धौतरो में उ ऊ ओ औ का परस्पर विनिमय; और गीत, गायति में ई, आय का परस्पर विनिमय हुआ है। ऊपर पोखर, बेल आदि रूप इस स्वर-सामंजस्य का परिणाम हैं। अन्य परिवर्तन—

इ, ई>ए, जैसे विभीतकः>बहेडओ>बहेड़ा; छिद्र>छेद।

उ, ऊ>ओ, जैसे ताम्बूल>तंबोल;

ऐ>ई, जैसे धैर्य>धीरज;

य>इ, जैसे व्यतीत>बितीत; छाया>झांई;

य>इ, वैदिक त्रयधा>त्रिधा;

य>ए, जैसे प्रा० कयल (सं० कदली)>केला; सं० शय्या>सेज्जा>सेज; सं० त्रयोदश >तेरस>तेरह;

व>ऊ, जैसे यज्ञोपवीत>जनेऊ; छुप>छिव>छू;

व>ओ, जैसे प्रतिवेशी>पड़ोसी; पुत्रवधू>पुतोहू; भाद्रपद>भद्दवअ>भादों; स्वपिति>सुवइ>सोए; लवण>लोण>लोन;

व>औ, जैसे धवल>धौला; भवन>भौन; कर्पादिका>कवड्डिआ>कौड़ी; सपत्नी> सवत्ती>सौत; कर्षपट्टी>कस्सवटी>कसौटी; अवतार>औतार;

वँ>औं, जैसे भ्रमर>भँवर>भौंरा; समर्प>सवँप्प>सौंप।

।य। और ।व। अर्धस्वर होते-होते बाद में स्वर ही हो गए और आस-पास के स्वरों से मिल कर एक प्रकार से संधि स्वर हो गए। प्राकृत तक के इन और दूसरे सब तरह के संधि-स्वरों या स्वर संयोगों को संक्षिप्त कर के समान स्वरों में परिवर्त्तित करने की प्रवृत्ति का अपभ्रंश से आरंभ हो गया था—जैसे सं० चतुर्थः<प्रा० चउत्थो>अप० चोत्थो; सं० द्विगुण>प्रा० दूउण>अप० दूण; सं० स्वर्णकार>प्रा० सोण्णआर, अप०>सोण्णार।

यह ज्ञातव्य है कि संस्कृत में संधि स्वर नहीं थे। प्राकृत के ही संधि स्वरों को अपभ्रंश ने छाँट कर समान स्वरों में परिवर्तित करना आरंभ किया। हिन्दी ने इस प्रवृत्ति को नियम के रूप में आगे बढ़ाया और निम्नलिखित ध्वनि रूप सिद्ध हुए—

अ+अ>ए, जैसे कदली>कअलि>केल(ा);

अ+अ>ऐ, जैसे मदन>मअण>मैन; रजनी>रअणी>रैन;

अ+अ या **आ+अ** के बीच में कभी-कभी **य**-अथवा **व**-श्रुति भी लाई गई, जैसे **गतः> गओ>गयो, गया; राजा>राआ>राया<राय; कातर>काअर>कायर; राजा>राआ>राव;**

अ या **आ+इ>ए**, जैसे **बदिर>बइर>बेर;**

अ या **आ+इ>ऐ**, जैसे **बलिवर्द>बइल्ल>बैल; उपविष्ट>उवइट्ठ>बैठ; महिष> भइंस>भैंस; तादृश>ताइस, तइस>तैसा; पदिर>पइर>पैर; ज्ञातिगृह>नाइहर>नैहर;**

अ या **आ+उ>ओ** या **औ**, जैसे **मयूर>मऊर>मोर; भ्रातृजाया>भाउज्जिआ> भौजाई; वातुल>बाउल>बौर(ा); पादऊन>पाअऊन>पौना;**

आ+आ>आ, जैसे **चक्रवाक>चक्कवाअ>चकवा;**

इ+अ या **आ>ई** (अंतिम), जैसे **मौक्तिक>मोत्तिअ>मोती; यूथिका>जूहिआ>जूही; शाटिका<साडिआ>साड़ी; मक्षिका>मक्खिआ>मक्खी**। शब्द के बीच में **इ आ** के बीच में विकल्प से **य -व** -श्रुति लाई गई है—**शृगाल>सियाल>सियार; नारिकेल>नारिअल>नारियल।**

उ+अ>ऊ (अंतिम), जैसे **भल्लुक>भल्लुअ>भालू; उल्लूक>उल्लूअ>उल्लू; लड्डुक>लड्डुअ>लड्डू।**

शब्द के बीच में होने से **य-व**-श्रुति से काम लिया गया है, जैसे **द्यूत>जूअ>जुवा** आदि।

इस प्रक्रिया का एक परिणाम यह भी हुआ कि संस्कृत के शब्दों की अक्षर संख्या, जो प्राकृत में आकर व्यंजन लोप के कारण कम हो रही थी, हिन्दी तक आते-आते स्वर संधि के कारण और भी कम हो गई। तुलना कीजिए—

सं० **पाद ऊन=पा द ऊ न** (चार अक्षर); प्रा० **पाअ ऊ न** (तीन अक्षर); हिं० **पौन** (एक अक्षर)।

सं० **उपविष्ट—उ प विष् ट** (चार अक्षर); **उ व इट् ठ** (चार अक्षर), **ब इ ट्ठ** (तीन अक्षर); **बैठ** (एक अक्षर)।

हिन्दी में अक्षरों की संख्या का ह्रास विशेषतः स्वरों के लोप के कारण हुआ। शब्द के अन्त में **-अ, -इ, -उ** और विसर्ग का लोप हो गया। उदाहरणतया—

पुत्र<पुत्त<पूत (हिन्दी में उच्चारण **पूत्**); **बिल्व>बेल्ल>बेल (=बेल्); रात्रि> रत्ति>रात (=रात्); अक्षि>अक्खि>आँख; लघु>हलु>हल्(का); इक्षु>इक्खु>ईख (=ईख्); गुरुः>गुरु; हरिः>हरि।**

टिप्पणी—कुछ बोलियाँ अब भी ऐसी हैं, जिनमें अन्त्य **-अ, -इ, -उ** का उच्चारण होता है। हिन्दी बोलियों में **-इ, -उ** ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी और भोजपुरी में भी पाया जाता है। उदाहरण—**मीचु (<मृत्यु), राति (<रात्रि)**। आगे चल कर प्रायः पुंलिंग एकवचन शब्द उकारान्त और स्त्रीलिंग एकवचन शब्द इकारान्त हो गए, जैसे **तरु, रोगु, देसु; बाँहि (<बाहु, बाँह), बाइ (<वायु), पीठि (<पृष्ठ)**। वर्तमान काल में खड़ीबोली के प्रभाव से यह अन्त्य **-उ** तथा **-इ** सामान्य भाषा में प्रयुक्त नहीं होते।

अन्त्य दीर्घ स्वरों का भी क्रमशः लोप हो गया, जैसे **संध्या>संझा>सांझ; बाला>बाल; भिक्षा>भिक्खा<भीख; घृणा>घिण्णा>घिन; सपत्नी>सवत्ती>सौत; नारी>नार; वल्ली>बेल; साधू<साहू; भगिनी>भइणी>भैण>बहन; रजनी>रयणी>रैन; श्वश्रू>सस्सू >सास।**

विसर्ग के स्थान पर प्राकृत में **-ओ** हो गया था, जैसे **बालकः<बालओ, घोटकः<घोडओ, गतः<गओ**। वह अब भी व्रजभाषा, बुंदेली, राजस्थानी आदि हिन्दी बोलियों में विद्यमान है, जैसे **बालो, घोड़ो, गयो** आदि में। यह अन्त्य **ओ** अपभ्रंश में /उ/ हो गया; यह भी कुछ बोलियों में अभी तक विद्यमान है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। ग्रामीण खड़ी बोली में **-ओ** और **-उ** दोनों के अवशेष मिल जाते हैं, किन्तु सामान्य और साहित्यिक हिन्दी में **-ओ** का **-आ** और **-उ** का लोप हो गया है। पूर्वी हिन्दी में इस **-ओ** का **-उ** होकर लोप हो गया, जैसे **घोड़, बड़, खोट, नीक** आदि में।

इस लोप का कारण यह है कि शब्द के जिस अक्षर पर स्वराघात पड़ता है वह पहले से अधिक स्पष्ट हो जाता है और उसके बाद का अक्षर निर्बल हो जाता है जैसे **कुक्कुर>कूकुर>कूकर;** अन्त्य स्वरों के लुप्त हो जाने का यही कारण है।

जिस प्रकार स्वराघात के बाद का स्वर निर्बल होकर धीरे धीरे लुप्त हो गया, उसी प्रकार स्वराघात से पूर्व का स्वर भी निर्बल अथवा लुप्त हो गया। उदाहरण—**अरघट्ट>रहट; अरिष्ट> रीठा; विभूति>बिभूत>बभूत; अधस्तात्>हेठा; राजपुत्र>रजपूत; वाराणसी>वाणारसी> बनारस; गभीर>गहीर>गहिरा>गहरा।**

अक्षर के निर्बल हो जाने पर दीर्घ स्वर का ह्रस्व भी हो जाता है, जैसे **हाथ,** किन्तु **हथकड़ी; काठ,** किन्तु **कठफोड़ा; बात,** किन्तु **बतरस; आठ,** किन्तु **अठखेली; सात,** किंतु **सतरह।**

अन्य उदाहरण—**आभीर>अहीर; शिरीष>सिरिस; आखेट>अहेर; आषाढ़>असाढ़; पुत्रवधू>पुत्तोहू>पतोहू; सुपुत्र>सपूत; विभीतकः>बहेडओ>बहेड़ा; परीक्षा>परख।**

इसी स्वराघातहीनता के कारण अक्षर के निर्बल हो जाने पर, कभी-कभी कोई स्वर काम देने लगा, जैसे—

पश्चात्>पच्छा>पिच्छे>पीछे; शाल्मली>सिम्बलि<सेमल; शय्या>सेज; हरिद्रा> हलद्दा>हलदी; ललाट>लिलार; पंजर>पिंजरा; नकुल>नेवला; नमन>निवना इत्यादि।

स्वरों के समानीकरण और विषमीकरण का कारण भी एक अक्षर में किसी स्वर की प्रबलता और साथ के अक्षर में दूसरे स्वर की निर्बलता है। उदाहरण—

समानीकरण—इम्ली<अम्लिका; उंगुल<अंगुलि; लोहू< रुधिर।

विषमीकरण—गेहूँ<गोधूम; कपूत<कुपुत्र।

इस तरह स्वर लोप के कारण विचित्र प्रकार के स्वरों का आगम होता है। हमने संयुक्त व्यंजनों के प्रसंग में देखा कि स्वरभक्ति के द्वारा कई स्वर (प्रायः ह्रस्व) व्यंजन संयोगों के बीच में लाए जाते हैं, जैसे—

जन्तर, मन्तर, जनम, जतन, पूरब, पूरुब, किलेस, मूरख, मूरुख आदि।

कभी-कभी (विशेषतः -स्-व्यंजन से संयुक्त) व्यंजन संयोगों को आदि स्वरागम द्वारा विभक्त किया जाता है। उदाहरणतया—

उस्तुति, अस्तुति, इस्टेशन, इस्थिति, (अ)स्थिर, इष्टाम आदि। बीच में स्वरभक्ति के कारण अक्षरों की संख्या अक्षुण्ण रही है, और आदि में स्वरागम के कारण एक अक्षर की वृद्धि हुई है।

अन्त में हम अनुनासिक स्वरों की चर्चा करना चाहते हैं। संस्कृत में दीर्घ स्वर के साथ और **ह य व र ल श ष स** से पहले ह्रस्व के साथ सानुनासिकता के उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे— **तांश्चक्रे, मांकथयति, किंशुक, नपुंसक, संहार** इत्यादि में; किन्तु मध्य आर्य भाषा काल से अनुनासिक स्वरों में वृद्धि हुई।

प्रथम श्रेणी में वे अनुनासिक स्वर आते हैं, जो नासिक्य व्यंजन + व्यंजन के विकास से प्राप्त हुए, जैसे—

दन्त>दाँत; मङ्गल>मंगल; शृङ्खला>साँकल; पञ्च>पाँच; चञ्चु>चोंच; दण्ड> डाँड़; मुण्डन>मूँड़ना; चन्द्र>चाँद; कम्पति>काँपे; अंक>आँक; सन्ध्या>साँझ; अन्त्र> आँत; स्कन्ध>कंधा; कङ्काल>कंगाल; पुञ्ज>पूँजी इत्यादि।

दूसरी कोटि में उन्हीं अनुनासिक स्वरों को ले लीजिए, जो अन्तःस्थ और ऊष्म व्यंजनों के पहले संस्कृत में थे, बाद में सुरक्षित रहे हैं; जैसे, **मांस, ऊँहूँ, काँसा** (<**कांस्य**) आदि में।

तीसरी श्रेणी में उन अनुनासिक स्वरों को ले लें, जो नकार या मकार की जगह आ गए हैं, जैसे **उंचालीस<ऊनचत्वारिंशत्; कोंहड़ा<कूष्माण्ड; भैंस<महिषी; कँवल<कमल** इत्यादि में।

सहवर्ती अनुनासिकता को, जो पड़ोस में पड़े नासिक्य व्यंजन के कारण आ जाती है, अलग श्रेणी में लेना होगा। उदाहरण—**मेघ>मेंह; मार्ग>मांग; नग्न>नग्ग>नंग(१); श्मश्रु> मूँछ; मार्जार<मंजार; महार्घ>मँहगा।** प्राचीन हिन्दी साहित्य और लोक-उच्चारण में **नांम, कांम, कांन, मींन, मौंन, भौंन, चूंम** आदि रूप मिलते हैं।

अन्त में हम स्वतः आगत अनुनासिकता का उल्लेख करना चाहते हैं। यह बताना तो कठिन है कि इस प्रकार की अकारण अनुनासिकता का उत्स क्या है, किन्तु पूर्वी बोलियों में अनुनासिक की अधिकता को देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि यह आग्नेय कुल की भाषाओं के प्रभाव से संभव है। तुलना कीजिए—

पश्चिमी हिन्दी—**सोच, बेच, पूछ, सच, कहार, बहूटी, ठोकना;** और पूर्वी हिन्दी— **सोंच, बेंच, पूँछ, साँच, कँहार, बहूँटी, ठोंकना।**

हिन्दी के अन्य उदाहरण—**अश्रु**>अप० **अंसु>आँसु; श्वास>साँस, भ्रू>भौं; यूका> जूं; अक्षि>आँख; उष्ट्र>ऊँट; सर्प>साँप; वक्र>वंक>बाँका; आपाक>आँवाँ; छाया>छाँह; पक्ष>पंख; उच्च>ऊँचा** इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी स्वरों के विभिन्न स्रोत हैं, यथा—

अ— <**अ** (पल), <**आ** (आभीर), <**उ** (अगुरु), <**इ** (हरिद्रा),

<**ऋ** (मृत्तिका), <**ए** (नारिकेल); <स्वरभक्ति (रतन); <**ओ** (शोभाञ्जन)।

आ— <**आ** (जाल), <**अ** (हस्त), प्रा० **अ**+**अ** (सुणआर<स्वर्णकार), <विसर्ग (कः) या प्रा०-**ओ** (घोडओ), <प्रा० **आ**+**आ** (कोट्ठा आरिअ<कोष्ठागारिक)।

इ— <**इ** (गर्भिणी), <**ई** (दीपावली), <**अ** (अम्लिका), <**ऋ** (घृणा)।

ई— <ई (क्षीर), <**इ** (इक्षु), <**ऋ** (शृंग)।

उ— <**उ** (क्षुर), <**ऊ** (सूची), <**अ** (अंगुलि)।

ऊ— <**ऊ** (कर्पूर), <**उ** (पुत्र), <**ऋ** (पृच्छति), <**औ** (पौष)।

ए— <**ए** (क्षेत्र), <**ऐ** (तैल), <**अ** (सन्धि), <**इ** (छिद्र), <**ओ** (गोधूम), <अय (त्रयोदश)।

ऐ—?

ओ—<**ओ** (ओष्ठ), <**औ** (गौर), <**अ** (चंचु), <**उ** (उद्खल)।

विदेशी शब्दों को भी हिन्दी अपनी ध्वनि प्रणाली में ढालती आ रही है। भारतेन्दु काल से पहले हिन्दी साहित्य में इनके प्रचलित बोलचाल के रूप प्रयुक्त होते थे। बाद में मूल के, या कम से कम उर्दू के, निकट उच्चारण रखने की चिन्ता प्रधान रही है। अरबी-फ़ारसी के **से स्वाद** उर्दू में आकर /**स**/ में ढल गए : **जे, जाल, ज्वाद** और **जोय** /**ज**/ हो गए, **तोय** /**त**/ का सा हो गया : **हे** (हुत्ती) /**ह**/ की तरह और **क़ाफ़** /**क**/ की तरह उच्चरित होता था। **ऐन** (व्यंजन) का उच्चारण /**अ**/ स्वर की तरह हो गया। /**ख़**/ /**ग़**/ /**ज़**/, /**फ़**/, के संबंध में इस प्रकरण के आरम्भ में देखिए।

संयुक्त व्यंजनों को हिन्दी ने प्रायः स्वरभक्ति लाकर हल किया, जैसे **गर्म**>**गरम; क़द्र**>**कदर; हुक्म**>**हुकुम** इत्यादि।

अन्त्य /**ह**/ का /**आ**/ हो गया, जैसे **किनारा, वरना** आदि में; किन्तु स्वराघातयुक्त अक्षर का यह /**ह**/ सुरक्षित रहा, जैसे **दरगाह, राह, मल्लाह** आदि में।

बोल चाल में /**व**/ का /**ब**/ और /**य**/ का /**ज**/ मिलता है।

उपर्युक्त नियमित परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ छिट-पुट शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनमें परिवर्तन की दिशा तो स्पष्ट है किन्तु व्यापकता नहीं है। उदाहरणतया—**काग़ज़**>**कागद; मज़दूर**>**मजूर; नक़्द**>**नगद**।

अरबी-फ़ारसी के स्वर प्रायः सुरक्षित हैं, किन्तु लिखाई में चिह्नों का प्रयोग कड़ाई से न होने के कारण कुछ शब्दों में हेर-फेर हो गया है।

अंग्रेज़ी के उच्चारण की अपेक्षाकृत कुछ अधिक कायापलट हुई है। अंग्रेज़ी की बहुत ही कम ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो हिन्दी में पाई जाती हैं। उन सब ध्वनियों को हिन्दी के साँचे में ढाला गया है। जैसे—अंग्रेज़ी में /**क**/, /**ग**/, /**प**/, /**ब**/, /**च**/, /**ज**/, /**ट**/, /**ड**/ महाप्राण व्यंजन हैं, हिन्दी में इन्हें अल्पप्राण कर दिया गया; उच्चारण स्थान भी हमने अपना ही रखा है। /**फ़**/, /**ज़**/ को पढ़े-लिखे लोग तो शुद्ध रूप में बोल लेते हैं, किन्तु जन-साधारण इन्हें अपने /**फ**/, /**ज**/ में परिवर्तित कर देते

हैं। /w/ और /v/ की अलग-अलग ध्वनियों को एक /**व**/ में बदल देते हैं। अक्षरान्त /**र**/ का उच्चारण हिन्दी में प्रायः किया जाता है, जैसे **मोटर, मास्टर, प्रोफ़ेसर** आदि में।

संयुक्त व्यंजन कभी तो तद्वत् संयुक्त रहते हैं, जैसे **पेट्रोल, डिग्री, स्टेशन, बक्स, मार्च** आदि में; कभी उनके बीच में स्वरभक्ति लाई जाती है, जैसे **फारम, बुरुश, बिरांडी** में और कभी आदि स्वरागम से उच्चारण को सरल कर लिया जाता है, जैसे **इस्कूल, इस्टाम** आदि में, और कुछ में द्वित्व व्यंजन हो जाता है, जैसे **कलट्टर (<कलक्टर), सित्तंबर (<सेप्टेम्बर)** इत्यादि।

/**ऑ**/ स्वर को पढ़े लिखे लोगों ने कुछ-कुछ अपना लिया है। शेष स्वर हिन्दी के अनुरूप पड़ते हैं। संयुक्त स्वरों को कभी संयुक्त रखा जाता है, कभी समान स्वर में परिवर्तित कर दिया जाता है; जैसे— **बोट, जेल, कोट, कौंसिल; किन्तु टाइप, बिअर, इण्डिया,** आदि में देखिए।

अंग्रेज़ी शब्दों में कुछ विचित्र परिवर्तन हो गए हैं। उदाहरणतया—

लंकलाट (<लाँग क्लॉथ), ठेटर (<थियेटर), लालटैन (<लैन्टर्न), बोतल (<बॉट्ल्) अप्रैल (<एप्रिल), रपट (<रिपोर्ट), सिकत्तर (<सेक्रेटरी), दिसम्बर (<डिसेम्बर), जर्नैल (<जनरल)।

शब्द-भण्डार

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल से ही हमें हिन्दी भाषा में चार प्रकार के शब्द प्राप्त होते हैं—तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। इनमें से जन-साधारण की भाषा में तद्भव और साहित्यिक भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता है। साहित्यिक स्तर पर आकर और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनते हुए हिन्दी को संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय सदा लेना पड़ा है—इस युग में भी, इससे पिछले युगों में भी। किन्तु अब और तब की प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर है। चंदबरदाई, कबीर, सूर, तुलसी, भूषण, बिहारी, सेनापति और पद्माकर तक देख जाइए। इन कवियों ने संस्कृत के सैकड़ों शब्द लिए हैं, किन्तु उनमें बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनको सामान्य स्तर की भाषा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता रहा है, जैसे **अधिकता** के स्थान पर **अधिकाई, प्रवृत्ति> परबिरती, वर्षा>बरखा, वानर>बानर, यथायोग्य>जथा जोग, स्वर्ग>सुरग, ज्ञान>ग्यान, दर्शन>दरसन, श्लोक>सलोक,** इत्यादि। ऐसे शब्दों को अर्ध तत्सम कहा जाता है। आज का साहित्यकार सामान्य स्तर से ऊपर उठ कर संस्कृत के शब्दों को अपने शुद्ध तत्सम रूप में लिखना ही उचित समझता है। खड़ी बोली हिन्दी के विकास के साथ विशेषतः तत्सम शब्दों की संख्या-वृद्धि होती रही है। हिन्दी ने अपना शब्द-भण्डार एक निश्चित और सुदृढ़ क्रम से प्राचीन आर्य भाषा के कोष से भरा है। संस्कृत शब्दावली की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के अनेक कारण हैं—राजनीतिक जागृति और सांस्कृतिक उत्थान, शिक्षा के प्रसार और यातायात के विस्तार के साथ सार्वदेशिक सामान्य स्तर की चिन्ता, अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी को सुबोध और सुगम बनाने की चेष्टा, ललित साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की माँग और पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता, राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा, आदि आदि।

तत्सम शब्द दो प्रकार के हैं—परम्परागत और निर्मित। परम्परागत वे शब्द हैं जो संस्कृत वाङमय में उपलब्ध हैं। दूसरे वे शब्द हैं, जो नए विचारों और व्यापारों को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत व्याकरण के अनुसार समय-समय पर गढ़ लिए गए हैं। वैज्ञानिकों की माँग को पूरा करने के लिए सैकड़ों-हज़ारों पारिभाषिक शब्द संस्कृत स्रोतों से बनाए गए हैं, यद्यपि वे संस्कृत अभिधानों में नहीं मिलते। साहित्यकारों ने, विशेषतया छायावादी युग और उसके बाद के कवियों ने भी, सैकड़ों शब्द गढ़े और न जाने कितने अन्य लेखकों, विचारकों और विद्वानों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार तत्सम शब्दावली का निर्माण किया है।

'परम्परागत' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे शब्द सदा से चले ही आ रहे हैं। वास्तव में हिन्दी में इनका पुनरुद्धार हुआ है। किन्तु यह ठीक है कि ऐसे शब्द उठाए गए हैं संस्कृत के वाङमय से।

वैदिक शब्द भण्डार का कितना अंश आर्य है और कितना अनार्य, इस पर अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ। हिन्दी भाषा के इतिहास को समझने के लिए यह विषय महत्त्वहीन तो नहीं है, किन्तु मुख्यतः यह विषय भारत-यूरोपीय भाषा विज्ञान से सम्बद्ध है और प्राग्वैदिक भाषाओं की जानकारी के बिना इस पर कुछ कह सकना संभव नहीं है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक शब्द भण्डार में से कितना रिक्थ हिन्दी को प्राप्त हुआ है। यजुर्वेद में आए हुए **क** अक्षर से आरंभ होने वाले निम्नलिखित शब्दों की परीक्षा कीजिए—

कक्षा, कक्ष, कण्ठ, कण्ठ्य, कथा, कदा, कनिष्ठ, कन्या, कपर्दिन, कपिंजल, कपोत, कर्कन्धु, कर्ण, कर्त्तन, कर्त्ता, कर्म, कलश, कल्याण, कवि, काम, काम्य, काव्य, काष्ठा, किल्लिष, कुक्कुट, कुक्षि, कुंज, कुमार, कुम्भ, कुलाल, कुलंग, कुल्या, कूजन, कूर्म्म, कृत, कृपा, कृमि, कृषि, कृष्ण, केतु, केश, केसर, क्रम, क्रान्त, क्रीडा, क्रीत, क्रूर, क्रोध आदि।

एवं, ऐतरेय ब्राह्मण के अ-वर्ण के अन्तर्गत कुछ शब्दों को देखिए—

अकाल, अक्षर, अक्षरशः, अक्षि, अंगुली, अग्नि, अग्र, अंक, अंग, अंगार, अतः, अति, अतिक्रमण, अतिथि, अतिवाद, अथ, अद्य, अधर, अधः, अधि, अधिजात, अधिपति, अधिराज, अनन्त, अनादृत, अनारब्ध, अनु, अनुकृति, अनुगमन, अनुचर, अनुचित, अनुद्धृत, अनुमति, अनुरूप, अनुवाद, अन्त, अन्ततः, अन्तर, अन्तरिक्ष, अन्तर्धान, अन्ध, अन्न, अन्नाद्य, अन्य, अन्यतर, अन्यत्र, अन्यथा, अन्वित, अप, अपर, अपराजित, अपराह्ण, अपरिमित, अपहृत, अपहृत, अपान, अपाप, अपि, अपुत्र, अपूप, अपूर्व, अप्रतिम, अप्रतिष्ठित, अप्रतीत, अप्रिय, अभय, अभि, अभिक्रान्ति, अभिजित, अभितप्त, अभिप्रेत, अभिभूत, अभिमुख, अभिशस्त, अभिषिक्त, अभिषेक, अभिहित, अभीष्ट, अभ्यस्त, अमति, अमर्त्य, अमृत, अरण्य, अरुण, अर्चन, अर्जन, अर्थ, अर्घ, अलंकार, अलोभ, अल्प, अव, अवधि, अवर, अवरोध, अवरोह, अवसाद, अवान्तर, अविच्छिन्न, अविज्ञात, अविद्या, अविमुक्त, अव्यथा, अव्रत, अशरीर, अशान्त, अश्रद्धा, अश्लील, अश्वत्थ, अष्टम, अष्टादश, असंभाव्य, असुर, असृष्ट, अस्त, अस्तु, अस्थि, अस्वादु, अहिंसा, अहित।

इनके साथ ही वेद के कुछ शब्द वर्गीकृत कर के नीचे दिए जा रहे हैं, इनको भी ध्यान में रख लीजिए—

एक, द्वौ, त्रयः, पञ्च, सप्त, दश, पंचदश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, नवम, दशम, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र . . . ;

वायु, अग्नि, धूम्र, वर्षा, विद्युत्, पवन;

सूर्य, चन्द्रमा, तारक, पृथिवी, क्षेत्र, आकाश, नक्षत्र, गिरि, नदी, धारा, गुहा, अन्तरिक्ष, समुद्र;

दिन, रात्रि, दिवस, सायं, प्रातः, उषा, ऊषा, मुहूर्त्त, ऋतु, मास, पक्ष, वेला;

अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढा, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अभिजित;

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर;

दुग्ध, दधि, मधु, घृत, रस, सुरा, क्षीर, पुष्प, फल, ओषधि, अन्न, यव, गोधूम;

वर्ण, गोत्र, जाति;

सुवर्ण, रजत, रत्न;

कृषि, क्षेत्र, दर्भ, हल, चक्र, रथ;

जीवन, मृत्यु;

धर्म, जप, तप, मन्त्र, यज्ञ, कर्म, सुख, दुःख, पाप, पुण्य, दान, दया, ज्ञान, विज्ञान, उपासना, श्रद्धा, प्रज्ञा, ध्यान, धारणा, समाधि, शान्ति;

पशु, गौ, गर्दभ, गोमृग, उष्ट्र, धेनु;

पक्षी, क्रौंच, श्येन;

कूर्म, सर्प, पिपीलिका;

शमी, खदिर;

पात्र, कलश, चित्र, पंक्ति;

पिता, माता, भ्राता, पुत्र, वधू, अतिथि, आचार्य, गुरु, पति, पत्नी, बाल, कुमार, किशोर, युवा, तरुण, वृद्ध;

सम्राट्, राजा, मन्त्री, पुरोहित, परिषद्, सेना, प्रजा, प्रजापति, मानव, मनुष्य, पुरुष, स्त्री, मित्र, शत्रु, दाता;

रथकार, मालाकार, मणिकार, गोपाल, अविपाल, अजपाल, नाविक;

वणिक्, भिषक्, कुम्भकार, लोहकार, गणक, अनुचर;

हृदय, हस्त, चरण, शिर, पाद, मुख, जिह्वा, अंगुलि, ग्रीवा, इन्द्रिय, कर्ण, नेत्र, चक्षु, वाक्, त्वचा, अंग, शरीर;

रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, अश्रु;

मन, प्राण, बुद्धि, चित्त;

मद, अहंकार, क्रोध, काम, ओज, सत्य, ज्योति, विद्या, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वाद, शब्द;

ऋद्धि, सिद्धि;

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण;

गम्भीर, घोर, क्रूर, साधु, सम, समान, ज्येष्ठ, प्रत्यक्ष, चारु, भीरु, पक्व, पूर्व, सर्व, कपिल, नूतन, नव, प्रिय, सनातन, नित्य;

जन्म, वर्धन, क्षय, नाश;

देवी, देवता, असुर, इन्द्र, अग्नि, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, हर, हरि, रुद्र;

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि।

वेद में इस प्रकार के हज़ारों शब्द हैं, जो आज अक्षुण्ण रूप में हिन्दी—कम से कम साहित्यिक हिन्दी—की निधि हैं। संसार की किसी भाषा में ३-४ हज़ार वर्ष से चले आते हुए शब्द अविकृत रूप में इतनी बड़ी संख्या में नहीं मिलेंगे।

देववाणी के इन शब्दों का कई बार लोप हो चुका है और कई बार (जब-जब अपनी भाषा को साहित्यिक स्तर पर आकर समृद्ध और सशक्त अभिव्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती रही है) उन्होंने प्रादुर्भूत होकर भारतीय भाषाओं की श्रीवृद्धि की है। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो सदा के लिए लुप्त हो गए हैं और कितने ही ऐसे हैं जो सहस्रों वर्ष गुप्त रहने के बाद पिछले दस-पंद्रह वर्षों में पुनरुद्धृत किए गए हैं।

किसी भाषा के शब्द भण्डार की स्थिति उस भाषा के बोलने वालों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर है। स्थितिशील समाज की भाषा स्थित्यात्मक और प्राचीन बनी रहती है, गतिशील समाज की भाषा विकासोन्मुख और नवीन होती जाती है। जो पदार्थ, विचार या व्यापार (जैसे **घर, तन, जन, धन, खाना, पीना, रोना** आदि) युग युग से चले आते हैं, उनसे सम्बद्ध शब्द भी उस समाज में इन दो स्थितियों—पश्चगामी तथा अग्रगामी—के अनुसार अपनी परम्परा से जुड़े हुए चलते ही रहते हैं। शब्द के ह्रास अथवा विकास की प्रक्रिया भी समाज की आवश्यकता के अनुसार चलती है। जब समाज से कोई पदार्थ, विचार अथवा व्यापार लुप्त होता है तो तत्सम्बन्धी शब्दों का भी लोप हो जाता है। जब वही पदार्थ, विचार या व्यापार कभी फिर प्रयोग में आने लगता है तो भाषा प्रायः चार साधनों से उसके लिए शाब्दिक प्रतीक तैयार करती है—प्रथम पुराने शब्दों का पुनरुद्धार कर के; दूसरे किसी ज्ञात भाषा में उसी पदार्थ, विचार या व्यापार के प्रतीक शब्द से प्रेरणा पाकर (प्रायः अनुवाद के रूप में) अपनी भाषा के तत्वों के संयोजन से नए शब्द का निर्माण कर के; तीसरे वस्तु या व्यापार के शब्द, रस, रूप, गन्ध आदि द्वारा सुझाए हुए तात्कालिक और ऐच्छिक ध्वनि प्रतिबिम्बों (जैसे अनुकरणात्मक शब्दों) का संयोजन कर के और चौथे किसी अन्य भाषा से उधार ले कर के। जब कोई बिल्कुल नया पदार्थ, विचार या व्यापार सामने आता है तो उसके लिए उपर्युक्त दूसरे, तीसरे और चौथे उपायों

से काम लिया जाता है। वैदिक से संस्कृत, संस्कृत से पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और फिर हिन्दी के काल तक आते-आते हम इन सभी प्रक्रियाओं का समावेश पाते हैं। हमने देखा कि सैंकड़ों शब्द जिनका सम्बन्ध हमारी मूल संस्कृति से है, वैदिक काल से बराबर चले आ रहे हैं। इनमें उच्च संस्कृति-सम्बन्धी शब्द और शिक्षित वर्ग में प्रचलित शब्द (अर्थात् स्थित्यात्मक) प्रायः तत्सम रूप में सुरक्षित हैं। जन संस्कृति सम्बन्धी शब्द (अर्थात् गत्यात्मक) तद्भव रूप में परिवर्तित हो गए हैं। संस्कृति से जो बात उठ गई, उससे सम्बन्धित शब्द भी भाषा से उठ गए; जैसे वैदिक **दिघ** (एक चमकदार हथियार), **हध्र** (बाड़े की रोक), **उशिज** (एक तरह का पुरोहित), **मेनि** (एक घातक अस्त्र), **निष्ठाव** (अन्तिम पंच), इत्यादि शब्द संस्कृत काल तक नहीं चले। इसी प्रकार संस्कृत के **आवसथ्य** (एक यज्ञीय अग्नि), **आवापक** (एक प्रकार का भूषण), **आवयाज्** (जो यज्ञ द्वारा निवारण करे), **आतापि** (एक पक्षी), **आच्छु** (एक वृक्ष), इत्यादि सैंकड़ों शब्द प्राकृतों में नहीं चले। प्राकृत के **दिआहम** (एक प्रकार का पक्षी), **पारय** (एक सुरा पात्र विशेष), **पारत्ति** (कुसुम विशेष), **पेम्मा** (छन्द विशेष), **पोअलय** (आश्विन मास का एक पर्व, खाद्य विशेष), **रासाणंदिअय** (छन्द विशेष), आदि शब्द हिन्दी में नहीं रह गए।

पर्यायवाची शब्दों में भी प्रायः एकाध बचा रह जाता है, अन्य में से कुछ एक साहित्य में तो कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं, किन्तु लोक में उनका व्यवहार छूट जाता है। वैदिक निघंटु में आकाश के लिए **अंबर, व्योम, वियत, बर्हि, धन्व, अंतरिक्ष, आकाश** आदि, और पृथ्वी के लिए **गौ, गमा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणी, क्षिति, अवनि, उर्वी, पृथ्वी, मही, भूः, भूमि, पूषा, इला, अदिति,** आदि अनेक शब्द थे। कभी-कभी पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद लाकर उन्हें जीवित रहने का अवसर मिलता है। **घोष, स्वर, शब्द, स्वन्,**; अथवा **दुःख, खेद, कष्ट, क्लेश** आदि इसी तरह के शब्द हैं। आज हिन्दी में **कलम** और **लेखनी, कागज़** और **पत्र, श्रेणी** और **कक्षा, दर्द** और **पीड़ा, कीचड़** और **दलदल, प्रथम** और **पहला** आदि सैंकड़ों समानार्थक शब्द मिल जाते हैं। इन जोड़ों में से एक को या तो लुप्त हो जाना होगा या अपने अर्थ में वैशिष्ट्य लाना होगा।

समान ध्वनि भिन्नार्थक शब्दों में भी एक का लोप हो जाता है। वैदिक में **असुर** (स्वामी, दैत्य), **अरि** (भक्त, शत्रु), **कारु** (गवैया, कारीगर), **रजः** (स्थान, धूलि), **परुष** (मटमैला, गाँठदार), **फल्गु** (लाल, खोखला), **अन्धः** (रस, अंधा) आदि शब्दों में प्रथम अर्थ लुप्त हो गया, दूसरा शेष रहा।

कभी नई भाषाओं से संपर्क हो जाने के कारण नए शब्द अपना लिए जाते हैं तो पुराने छूट जाते हैं। उदाहरणस्वरूप वैदिक **अश्व, अश्मन्, श्वान, वृष, अवि, उक्षन्, वाह** या **रथ, रै, सहः, दम** या **वेश, द्रु, उदन्, असृक्, अद्, गृभ्, वक्ष, यज्, विज्** आदि शब्द धीरे-धीरे व्यवहारच्युत हो गए क्योंकि इनकी जगह क्रमशः **घोटक, प्रस्तर, कुक्कुर, षण्ड, मेष** या **एठक, बलीवर्द, शकट, धन, बल, वाटिका** या **गृह, वृक्ष, जल, रक्त** या **रुधिर, खाद्, प्राप्, वृध्, पूज्, कम्प्** आदि ने ले ली। हिन्दी में अनेक भारतीय शब्दों को अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि के शब्दों ने दबा लिया अथवा संस्कृत के पुनरुत्थान के फलस्वरूप नई लहर में तद्भव और देशी शब्द बह गए और उनका स्थान

संस्कृत के शब्दों ने ग्रहण कर लिया। उदाहरणतया अरबी-फ़ारसी के **सरदी, गर्मी, बादाम, अनार, हवा, अर्क, शर्बत, शराब, गुलाब, जुलाब**, अंग्रेज़ी के **पेन, बटन, लाइन, क्लर्क, कप्तान, मास्टर, डेरी**, आदि अथवा संस्कृत के **संघ, सभा, समाज, सम्मेलन, यथा, तथा, एवं, अनुसार** आदि। संस्कृत से दब कर लुप्त होने वाले शब्दों में हम उनकी भी गणना करेंगे जो संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश के द्वारा आती हुई परम्परा में बढ़ रहे थे। जैसे प्रा० **मुइंग, दंसण, पयास, चाय, नाण, झाण, आण, दइच्च, किवा, वेज्ज, कम्म, अस्स, उदु, वेण्हु, दिअर** आदि सैकड़ों शब्दों को कोश में देख कर आज पहचानना भी कठिन है कि यह तो **मृदंग, दर्शन, प्रकाश, त्याग, ज्ञान, ध्यान, आज्ञा, दैत्य, कृपा, वैद्य, कर्म, अश्व, ऋतु, विष्णु** और **देवर** ही के विकसित रूप थे। हमारे देखते-देखते **आस** की जगह **आशा, बरस** की जगह **वर्ष, ज़रूर** की जगह **अवश्य, किताब** या **पोथी** की जगह **पुस्तक** और इसी तरह के बीसियों संस्कृत के शब्द तद्भव, देशी और विदेशी शब्दों के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।

शब्द लोप का एक प्रमुख कारण यह भी है कि कालक्रम से घिसते-पिटते अनेक शब्द इतने दीन-हीन, निष्प्राण और स्वत्व रहित हो गए कि उनकी सत्ता को बचाना संभव नहीं रहा; जैसे—**प्रा० अईअ<अतीत** अथवा **अतीव; अउअ<अयुत; अइआअ<अतिकाय; आइ<आदि; आजि** (संग्राम); **आइय < आचित, आदृत; इइ<इति; उअअ<उदित, उचित; उउ<ऋतु।**

एकाध व्यंजन के सहारे भी अनेक शब्द सुरक्षित न रह सके; जैसे प्रा० **अत्त<आत्मन्, आर्त्त, आत्त** (गृहीत), **आप्त, आत्र, अत्र; अद्द<अब्द, आर्द्र, अर्द** (मारना); **अयण<अतन, अयन, अदन; अत्थ<अर्थ, अस्त, अस्त्र, अत्र;** आदि आदि। ऐसे शब्दों का अर्थ-निर्णय करना भी कठिन हो गया।

संस्कृति और साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ हिन्दी में धीरे-धीरे तद्भव शब्दों की संख्या घटती रही है और एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब हिन्दी हिन्दी नहीं रहेगी।

ऊपर की चर्चा से यह विचार नहीं बना लेना चाहिए कि शब्द भण्डार का ह्रास बहुत ज़ोरों से होता रहा है। बात कुछ उलटी सी है। हम तो देखते हैं कि वैदिक की अपेक्षा संस्कृत का शब्द भण्डार अधिक सम्पन्न है। इसका कारण यह है कि संस्कृत को वैदिक की सम्पत्ति भी दाय में प्राप्त हुई और उसने देशी-विदेशी स्रोतों से शब्दों का ग्रहण भी किया और उपसर्ग-प्रत्यय आदि साधनों से पुरानी धातुओं से नए-नए शब्द भी गढ़े। यह ठीक है कि वैदिक काल की इतनी ही शब्द-सम्पत्ति न रही होगी, जितनी हमें ग्रन्थों के द्वारा प्राप्त हुई है, किन्तु संस्कृत काल के भाषाभाषियों को तो वह सम्पत्ति लगभग पूरी-पूरी मिली होगी। और फिर संस्कृत के पक्ष में भी तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि उसकी शब्द सम्पत्ति प्राप्य मात्रा से कई गुना अधिक रही होगी। इसी तरह प्राकृत काल का शब्द भण्डार इतना ही नहीं था, जितना प्राकृत साहित्य से संकलित किया गया; किन्तु अपभ्रंश ने और हिन्दी की नाना बोलियों ने तत्कालीन प्रचलित शब्दावली का बहुत बड़ा अंश रिक्थ के रूप में पाया, इसमें सन्देह नहीं है। जो क्षति प्रयोग के ह्रास या शब्द लोप से भाषा की हुई, उससे अधिक पूर्ति उसने प्राचीन शब्दों का पुनरुद्धार करके,

नए-नए शब्दों का निर्माण करके, देश-विदेश की विविध भाषाओं से उधार ले कर की है—यह अलग बात है कि हिन्दी के उस सारे शब्द भण्डार का संकलन नहीं हुआ और न ही आकलन-विकलन का तुलनात्मक अध्ययन ही किया गया है, जिससे हम जान सकते कि वैदिक काल के बाद समय-समय पर कितनी क्षति हुई और कितनी अभिवृद्धि हुई। किन्तु ज्ञात सामग्री के आधार पर साहित्य और ज्ञान-विज्ञान तथा साधारण व्यवहार का माध्यम होने के नाते आज की हिन्दी पूर्ववर्ती आर्य भाषाओं से कई गुना समृद्ध है। इसने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ६०-७० प्रतिशत भंडार अपना लिया है (विशेषतः साहित्यिक और शिक्षित वर्ग की भाषा ने) और नव-निर्माण द्वारा शेष ३०-४० प्रतिशत शब्दों की क्षतिपूर्ति कर ली है। इसके अतिरिक्त तद्भव, देशी, विदेशी शब्दावली है, जो मिल मिला कर तत्सम शब्दावली से बहुत अधिक है। शुद्ध संस्कृत से भिन्न इस शब्दावली के सम्बन्ध में कुछ टिप्पण देना आवश्यक है।

अनेक कारणों से, जिनका विवेचन पिछले प्रकरण में किया गया है, संस्कृत-प्राकृत आदि की ध्वनियाँ घिस-पिट कर हिन्दी तक आते-आते परिवर्तित हो गई हैं। परिणामतः पूर्ववर्ती आर्य भाषाओं के शब्दों के जो रूप हमें प्राप्त हुए हैं, उन्हें तद्भव कहा जाता है। हिन्दी प्रदेश की बोलियों में आनुपातिक दृष्टि से सब से अधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। साहित्य में भी १९वीं शती से पहले तद्भव शब्दों की ही प्रधानता थी। सच तो यह है कि तब तक जन-भाषा ही साहित्यिक भाषा थी। खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के साथ हिन्दी में कृत्रिमता और पंडिताऊपन का प्रवेश होता है। कबीर, जायसी, तुलसी, बिहारी, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और पंत की भाषा में तद्भव शब्दों का क्रमिक ह्रास स्पष्ट लक्षित होता है। आज की परिनिष्ठित हिन्दी शब्द भण्डार की दृष्टि से है ही तत्सम रूप प्रधान। फिर भी शैली की विविधता और वातावरण की अनुकूलता के नाते तद्भव शब्दों का व्यवहार बराबर होता रहता है, कोई शब्द अव्यवहार्य नहीं हो गया। कभी-कभी अर्थ भेद के कारण शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप अनिवार्य से हो गए हैं; जैसे—**आत्मा** और **आप**; **गर्भिणी** और **गाभिन**; **चक्र** और **चाक**; **रश्मि** और **रस्सी**; **वंश** और **बाँस**; **स्थान** और **थान**।

हिन्दी के प्रायः सभी सर्वनाम तद्भव हैं। संज्ञा पदों की संख्या सब से अधिक है, किन्तु इनका व्यवहार देश, काल, पात्र आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत घटता-बढ़ता रहता है। क्रिया पद भी प्रायः सभी तद्भव हैं, परन्तु साहित्यिक या उच्च हिन्दी में इनका स्थान **करना, होना** क्रिया के साथ संस्कृत का कृदन्त रूप ले लेता है; जैसे **परिचित होना** (जानना), **स्वीकार करना** (सकारना, मानना), **ह्रासमान होना** (घटना), **विकृत करना** (बिगाड़ना), **उल्लंघन करना** (लाँघना), आदि। भारतेन्दु युग से पहले की साहित्यिक हिन्दी में ठेठ क्रिया पदों का प्राचुर्य है। यह सच है कि विशेषणों के लिए हिन्दी को संस्कृत का मुँह ताकना पड़ा है—संस्कृत में विशेषण पदों का निर्माण भी सहज में हो जाता है। तद्भव विशेषण हिन्दी में कम हैं। अव्ययों में **यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, अब, तब, जब, कब, चाहे, मानो, तक, ज्यों, क्यों, आगे, पीछे, नीचे, ऊपर, फिर कैसे, जैसे, ऐसे, वैसे, तो, ही, भी, और** आदि शब्द कभी स्थानच्युत नहीं किए जा सकते।

तथा, यथा, अतः, पुनः आदि कुछ संस्कृत अव्यय शैली के लिए व्यवहृत होते हैं। **यदि** का तद्भव रूप **जे** नहीं चल सका।

१०वीं ११वीं शती से आधुनिक आर्य भाषाओं का काल आरंभ होता है। तभी से लगभग एक सहस्राब्दी तक हिन्दी प्रदेश पर विदेशी शासन का प्रभाव रहा है। विदेशी शिक्षा, शासन, धर्म, संस्कृति और फ़ैशन के साथ विदेशी शब्द भी हिन्दी में प्रविष्ट हुए हैं। फ़ारसी के प्रभाव को लगभग ६०० वर्ष तक और अंग्रेज़ी के प्रभाव को २०० वर्ष तक हिन्दी ने ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी मुसलमान यहाँ की जनता में बिलकुल घुल-मिल गए, अतः हिन्दी के विदेशी शब्द तत्त्व में अंग्रेज़ी की अपेक्षा फ़ारसी का (अरबी तुर्की के शब्द भी प्रायः फ़ारसी के माध्यम से आए हैं।) अनुपात अधिक है। अनुमानतः २-३ हज़ार शब्द हिन्दी शब्द भण्डार में इस स्रोत से प्राप्त हुए हैं। इनमें तुर्की के शब्द कम हैं; अरबी के उससे अधिक और फ़ारसी के सब से अधिक हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनका प्रयोग केवल मुसलमानों में होता है और हिन्दी साहित्य में भी विशिष्ट वातावरण में, विशिष्ट पात्रों द्वारा इनका प्रयोग कराया जाता है—जैसे **दोज़ख़** (नरक), **बहिश्त** (स्वर्ग), **ख़ुदा** (परमेश्वर), **अल्लाह** (परमात्मा), **नमाज़** (उपासना), **रोज़ा** (उपवास), **ईद** (पर्व), **इमाम** (पुरोहित), **कलमा** (मन्त्र), **ख़ैरात** (दान), **मज़हब** (धर्म), **मुल्ला** (पण्डित), **मुसल्ला** (आसन), **हज** (तीर्थयात्रा) इत्यादि। शासन संबंधी शब्दों की संख्या अधिक है और समय-समय पर इनका व्यवहार होता रहा है, किन्तु अब नई शब्दावली के प्रचार से इन में बहुत से लुप्त होने लगे हैं, जैसे **फ़ौज** (सेना), **सरकारी** (राज-कीय), **वज़ीर** (मन्त्री), **मुलज़िम** (अभियुक्त), **नायब** (सहायक), **मातहत** (अधीन) इत्यादि। इसी तरह प्रत्येक क्षेत्र में सैकड़ों शब्दों का जीवन खतरे में पड़ गया है। किन्तु एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे शब्दों की भी अवश्य रहेगी जिनको किसी तरह से पदच्युत करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होगा; जैसे—**तोप, बन्दूक, मोर्चा, सिक्का, सिपाही, जमेदार, सूबेदार, वकील, दवात, स्याही, जिल्द, कारीगर, कारख़ाना, दर्ज़ी, कैंची, गज़; हलवाई, हकीम, मिस्तरी, बज़ाज़, मजदूर, दलाल, जुलाहा, सर्राफ़, साबुन, तंबूरा, तबला, शहनाई, सरोद, शतरंज; कुरता, कमीज़, चादर, रज़ाई, रूमाल, सलवार; प्याला, सुराही; आलूबुख़ारा, पिस्ता, बादाम, अनार, अमरूद; समोसा, बालूशाही, बरफ़ी, जलेबी, कुलफ़ी, क़ीमा; मेज़, कुरसी, हुक्का; शीशा, इत्र, ख़ुरमा।**

कुछ शब्दों की अर्थवत्ता इतनी विशिष्ट और सटीक हो गई है कि इनका ठीक-ठीक पर्याय ढूंढ़े नहीं मिलता। अन्य उदाहरण—**सिफ़ारिश, ख़ुशामद, चापलूसी, तमीज़, बीमा, बेगार, शिकायत; ताज़ा, नक़द, फ़ालतू, बराबर, बेईमान, बेकार, मुफ़्त, सादा; ख़ूब, बिलकुल, अलावा; कि, बल्कि, ताकि, बस** इत्यादि।

संसार में बहुत कम भाषाएँ हैं जिनके विदेशी शब्द तत्त्व में क्रियाविशेषण, क्रिया पद, समुच्चयबोधक, विस्मयबोधक सभी तरह के शब्द हों। हिन्दी ऐसी ही एक भाषा है जिसने फ़ारसी का इतना कुछ पचा लिया है, यद्यपि संज्ञा पदों की संख्या ही सब से अधिक है। इसके अलावा

हिन्दी ने फ़ारसी के **बे-**,**ग़ैर-**, आदि उपसर्ग और **-ई** (जैसे महँगी, ठंढी आदि में), **-गिरी** (जैसे गुंडागिरी), **-दान** (जैसे फूलदान, मच्छरदानी), **-दार** (जैसे थानेदार, साझेदार), **-वार** (जैसे नम्बरवार, पंक्तिवार), **-वान** (जैसे गाड़ीवान, कोचवान), **-बन्द** (जैसे हथियार बंद) आदि प्रत्यय भी अपनाए हैं। अंग्रेज़ी से ऐसे कोई तत्त्व ग्रहण नहीं किए गए।

इस प्रसंग में एक बात और बता देने की आवश्यकता है। भारतेन्दु युग से पहले अरबी-फ़ारसी शब्दों के हिन्दीकृत रूप प्रयुक्त होते रहे हैं। कबीर की शब्दावली में **असमान, अकलि, कागद, खुसी, जबाब, नीसान, नजीक, बखसि, परेसानी, भिस्त, सुरतान, हवालु,** वास्तव में जनभाषा के शब्द थे। किन्तु वर्तमान समय में यथासम्भव शुद्ध प्रयोग रखने का प्रयत्न होता रहा है। कथा-साहित्य में काव्य की अपेक्षा यह प्रवृत्ति कुछ अधिक है।

१९वीं शती से हिन्दी में अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश आरंभ हुआ। साहित्य में, विशेषतः गद्य साहित्य में, इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। पहले तो अंग्रेज़ी के शब्द अपने तत्सम रूप में ले लिए जाते थे, किन्तु भारतेन्दु युग के बाद प्रायः शब्दों का अनुवाद प्रस्तुत किया जाने लगा। साहित्य की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनूदित शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में हुआ है, जिससे संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या में वृद्धि हुई है। साथ ही साहित्य और ज्ञान-विज्ञान में अंग्रेज़ी के शब्द भी अपनाए गए हैं। अंग्रेज़ी अपनी भौतिक चकाचौंध और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कारण इस प्रदेश के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गई है। जिस व्यक्ति की शिक्षा का स्तर जितना ऊँचा है, उतना ही अधिक अनुपात उसकी भाषा में अंग्रेज़ी का है। ऐसे ही लोगों के द्वारा साधारण जनता में विदेशी शब्दों का प्रसार होता रहा है। हमारे साहित्य में, विशेष करके प्रसादोत्तर साहित्य में, अंग्रेज़ी के बहुत से ऐसे शब्द भी पाए जाते हैं जो जन-साधारण में प्रचलित नहीं हैं और हिन्दी शब्द भण्डार का अंग भी नहीं बन पाए हैं।

अंग्रेज़ी के हिन्दी में प्रचलित शब्द चार-पाँच सौ से अधिक नहीं हैं। इनमें शासन संबंधी शब्दों की संख्या अधिक है, जैसे—**अपील, अर्दली, इस्टाम, कांस्टेबिल, गारद, जज, जेल, पुलिस, मजस्ट्रेट, रपट, वारंट, समन** आदि। नए-नए आविष्कारों और नई भौतिक वस्तुओं और संस्थाओं के प्रचार के साथ उन से सम्बद्ध शब्द भी प्रचारित हुए हैं, जैसे **रेल, इंजन; अस्पताल, प्लस्तर, पुलटिस, डाक्टर, कम्पौंडर; इंजीनियर, ओवरसियर; पोस्टमास्टर, क्लर्क, अफ़सर, सुपरडंट; बैंक, चेक; कोट, वास्कट, पतलून, निकर, कफ, कालर, बटन, पाकेट, बूट, स्लीपर, स्वीटर; गिलास, ट्रंक, पलेट, लालटैन, पम्प, ट्यूब, मसीन, मोटर, बस, लारी, रेडियो, साइकिल, ग्रामोफोन, फोटू, केमरा; ब्रांडी, सोडा, बोतल, सिरगट, माचिस, बिस्कुट, केक,** आदि आदि।

इनके अतिरिक्त ऐसे शब्द हैं जिनका प्रचलन वैज्ञानिकों, कारीगरों, प्रोफ़ेसरों और विभिन्न विभागीय कर्मचारियों में सीमित रूप से है; जैसे—**नट, बोल्टू, रैंच; फ़ार्म, वार्ड, टूर्नमिंट; पीरियड, क्लास, रिज़ल्ट; अप, डाउन** आदि।

यह बात उल्लेखनीय है कि जन साधारण की भाषा में लगभग सभी अंग्रेज़ी से आगत शब्द संज्ञा पद हैं; और संज्ञा पदों में भी प्रायः जातिवाचक हैं। शिक्षित समाज के बाहर भाववाचक

संज्ञा पद नहीं मिलेंगे। कोई विशेषण, क्रियापद अथवा अव्यय भी सामान्य हिन्दी में प्रचलित नहीं है।

कुछ सीधे और कुछ अंग्रेज़ी के माध्यम से हिन्दी को पुर्तगाली, फ़्रांसीसी और डच शब्द भी प्राप्त हुए हैं। उनके उदाहरण—

पुर्तगाली—अनानास, अचार, आलमारी, आलपीन, आया, कमीज़, काजू, कनस्तर, कमरा, काज, क्रिस्तान, किरच, गमला, गिरजा, गोदाम, चाबी, तम्बाकू, नीलाम, परात, परेक, पाव (रोटी), पादरी, पिस्तौल, फ़ीता, फ्रांसीसी, बाल्टी, मस्तूल, संतरा आदि।

फ्रेंच—अंग्रेज, कार्तूस, कूपन आदि।

डच—तुरुप, बम (टाँगे का)।

एशिया की भाषाओं में चीनी से **चाय** और **लीची,** जापानी से **झम्पान** और **रिक्शा,** तिब्बती से **डांडी** आदि शब्द लिए गए हैं।

यहाँ नितान्त पारिभाषिक विदेशी शब्दावली के विषय में कुछ कहना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि उसके प्रचलन में जनता का नहीं, सरकार और विद्वन्मण्डली का अधिकार है।

देशी के अन्तर्गत उन शब्दों को लिया जाता है, जिन्हें संस्कृत से सिद्ध या संदर्भित नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि देशी वे शब्द हैं जो भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हैं। उनके विचार से **काफी** (तमिल **काप्पी**), **चुरुट** (तमिल **शुरुट**), **टुंडा** (संथाली **टुंट**), **कोड़ी** (संथाली **कुड़ी**), **पिल्ला** (तेलुगु), **पिरिच** (द्रविड़ **पिरिस**) आदि को देशी कहा जायगा; किन्तु हमारा प्रश्न यह है कि तब अनुकरणात्मक शब्दों—जैसे **पापड़, चिड़चिड़ा, गड़बड़, बड़-बड़ाना** आदि- को क्या संज्ञा दी जायगी? प्राकृत वैयाकरण ऐसे शब्दों को देशज कहते आए हैं। यह बात भी ठीक नहीं कि देशी वे शब्द हैं जिनका उद्गम प्राचीन आर्य भाषा से सिद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ तद्भव शब्द इतने अधिक विकृत हो गए हैं कि उनको अपने मूल संस्कृत से जोड़ना संभव नहीं जान पड़ता। दूसरे, संस्कृत की कुछ शब्दावली ऐसी भी हो सकती है जो अभिधानों में नहीं आ पाई, किन्तु जो लोक भाषा में चलती रही है। संस्कृत की अपूर्ण जानकारी के कारण अनेक शब्द असिद्ध रह गए हैं, किन्तु उन्हें देशी तो नहीं कहना चाहिए।

संस्कृत ने भी देशी भाषाओं से बहुत से शब्द अपनाए हैं। इन की एक बहुत लम्बी और उपयोगी सूची टी० बरो ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत लैंग्वेज', १९४५, के अध्याय ८ में दी है। उसमें से कुछ उद्धृत किए जा रहे हैं—

आग्नेय कुल की भाषाओं से—अलाबु (लौकी), **उन्दुरु**(चूहा), **कदली** (केला), **कर्पास** (कपास), **जम्बाल** (कीचड़), **जेमति** (जीमना), **ताम्बूल** (पान), **मरिच, लांगल** (हल), **सर्षप** (सरसों) आदि।

द्रविड़ कुल से—अगुरु, अनल, अर्क, अलस, आरभट (फ़िसादी), **उञ्छ्** (पोंछना), **उलप** (झाड़ी), **उलूखल, एड** (भेड़), **कज्जल, कटु, कठिन, करीर, कलुष, काक, काच, कानन, कुटि, कुटिल, कुट्ट्** (कूटना), **कुण्ड, कुण्डल, कुद्दाल, कुन्तल, कुवलय** (कमल), **केतक,**

कोटर, कोण, कोरक, खल, गण्ड, घुण, घूक, चिक्कण (चिकना), **चतुर, चन्दन, चपेटा, चुम्ब्, चूड़ा, ताडक** या **तालक** (ताला), **तामरस** (कमल), **ताल, तूल, दण्ड, नक्र, निबिड, नीर, पण, पण्डित, पल्ली, पालि, पिटक, पिण्ड, पुट, बक, बल, बिडाल, बिल, बिल्व, मयूर, मल्लिका, मषि, महिला, माला, मीन, मुकुट, मुकुल, मुक्ता, मुरज, लाला, वलय, वल्ली, शकल, शंठ, शव, शूर्प, हेरम्ब** (भैंस) इत्यादि।

एक और विद्वान् प्रिलुस्की ने सिद्ध किया है कि संस्कृत के **कपोल, नारिकेल, भेक, जंघा, कपोत, हलाहल, दाडिम, कदंब, शिम्ब, निम्ब, जम्बु, गुड** आदि शब्द भी मुंडा से आए हैं।

पहले प्रकरण में हम बता आए हैं कि आर्यों को यहाँ के आदिवासियों की भाषा के अनेक तत्व अपनाने पड़े होंगे। अब इस प्रश्न पर ठीक ढंग से विचार किया जा सकेगा कि क्या हिन्दी के जो शब्द—जैसे **आक** (मदार), **काजल, कड़ुआ, केवड़ा, घुन, डंडा, जाँघ, नीम** आदि—संस्कृत से सिद्ध किए जा सकते हैं, वे अनार्य नहीं रहे? क्या इन्हें देशी नहीं कहा जायगा?

प्राकृत ने भी अपने समय में **अट्टक** (हिं० अटकना), **कोरा** (हिं० कोरा), **खिल्ला** (हिं० खीला), **गोड्ड** (हिं० गोड़), **गोद्द** (हिं० गोद), **ढुंढ** (हिं० ढूँढ़ना), **फिक्का** (हिं० फीका) **लोट्ट** (हिं० लोटना), **लुक्क** (हिं० लुकना) आदि बहुत से शब्द अनार्य भाषाओं से लिए, जो हिन्दी में आज भी चल रहे हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। इस दिशा में अभी खोज करने की आवश्यकता है। हिन्दी ने सीधे तो बहुत ही कम शब्द अनार्य भाषाओं से अपनाए हैं, किन्तु मध्यकालीन आर्य भाषाओं के माध्यम से आई हुई एक बहुत बड़ी संख्या इसमें विद्यमान है।

हिन्दी में अनुकरणात्मक शब्द बनाने की प्रवृत्ति प्रमुख है। ये शब्द देशी कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने और देशी सम्पत्ति का मुख्य भाग हैं, उदाहरणतया—
टें टें, कांय कांय, चूं चूं, खुसर पुसर, भड़ भड़, बक बक, ठक ठक, पोंपों, डकार, झनकार, फटकार, डगमग, जगमग, तड़ातड़, गड़बड़, झिलमिल, ढुलमुल, लचक, थपक, ठनक, झक, धक्का, टक्कर, झुमका, बिदकना, पटकना, सटकना, खटकना आदि आदि।

कई शब्द प्रतिध्वनि के रूप में गढ़ लिए गए हैं, जैसे **सामने, पड़ोस** या **पास** से पहले क्रमशः **आमने, अड़ोस,** और **आस,** अथवा **गोल, रोटी, मेल, चुप, नंगा** आदि के बाद क्रमशः **मटोल, वोटी, जोल, चाप, धड़ंगा** आदि।

कभी-कभी प्रतिध्वनित शब्द स्वतन्त्र अर्थसत्ता स्थापित कर लेते हैं, जैसे **उलटा-सुलटा, टुंड-मुंड, डील-डौल में, सुलटा, मुंड** और **डौल**।

कभी-कभी स्वर भेद अथवा व्यंजन भेद कर के शब्दों का एक परिवार सा बना लिया जाता है। जैसे **तुण्ड** के आधार पर **तोंद, टोंट, टोंटी, ठोंडी, टुंडा; पुट** के आधार पर **पोट, पाट, पेट, पेड़** इत्यादि।

कई बार भाषा-दारिद्र्य के कारण और आवश्यकता पड़ने पर बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष अपना शब्द गढ़ लेते हैं और समाज द्वारा ग्रहण किए जाने पर ऐसे शब्दों में से अनेक भाषा की

सम्पत्ति बन जाते हैं; जैसे—**काका, बाबा, मामा, भाभी, बीबी, बआ, दीदी, नाना, चाचा, लाला, फूफी; टुच्चा, नाठी, गीदी, लोटा, मुस्टंडा, भोंदू** आदि इस प्रकार की देशी गढ़न के नमूने हैं।

दोगले शब्दों को भी इसी कोटि में रखना चाहिए। उदाहरण—**चोरदरवाजा** (हिं०+फ़ारसी), **जेबघड़ी** (फ़ारसी+हिन्दी), **तिमाही** (हिं०+फ़ा०), **दिलचला** (फ़ा०+हिं०), **फूलदान** (हिं०+फ़ा०), **रेलयात्रा** (अंग्रेज़ी+संस्कृत) इत्यादि।

अर्थ विचार

शब्द को साधन और अर्थ को साध्य कहा जा सकता है। शब्द और अर्थ की प्रक्रिया बड़े जटिल, किन्तु विचित्र, ढंग से विकासमान होती है। पिछले प्रकरण में हमने देखा कि संस्कृति और समाज के विकास के साथ भाषा का शब्द भण्डार विकसित होता है। परम्परागत शब्दावली के अतिरिक्त नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा नवीन वस्तुओं, विचारों और व्यापारों को नाम देने के लिए भाषा कभी तो अपने प्राचीन कोष से नाना तत्त्व जुटा कर उनसे अपना काम लेती है, कभी इतर भाषाओं से सहायता ले लेती है और कभी तात्कालिक स्फूर्ति से प्रादुर्भूत ध्वन्यात्मक अथवा प्रतीकात्मक शब्दों की सृष्टि करती है। किन्तु किसी भाषा के लिए नए शब्दों का सृजन करना इतना सहल काम नहीं होता। यदि हम इस बात की छान बीन करने लगें कि २०वीं शती में कितने नए शब्द—देशज अथवा विदेशी—हिन्दी में प्रविष्ट हुए, तो हमें १००-२०० से अधिक शब्द नहीं मिलेंगे; और उनमें भी बहुत से ऐसे होंगे जिनकी सामान्यता और व्यवहार्यता सन्दिग्ध मानी जायगी। प्रायः भाषाएँ, विशेषतया हिन्दी की तरह की भाषाएँ, जिनकी जड़ें शताब्दियों-सहस्राब्दियों पुरानी किसी भाषा में पड़ी हों, अर्थ-विस्तार द्वारा अपनी शब्द निधि को समृद्ध बनाया करती हैं। यह अर्थ विस्तार तीन ढंग से परिणत होता है—(क) पुराने शब्दों को नए नए अर्थ दे कर, जैसे—**पत्र**। जब पत्तों पर लिखा जाता था, तब तो वह 'पत्र' था ही, किन्तु जब मशीन से बना कर काग़ज़ पर लिखा जाने लगा तो भी वह 'पत्र' कहलाता रहा, चिट्ठी भी पत्र है और अख़बार भी पत्र। एक ही शब्द के नाना अर्थ हो गए। (ख) कभी दो-तीन शब्दों के जोड़ से नया शब्द नया अर्थ लेकर निकल पड़ा; जैसे **हथकड़ी, नैनसुख** (कपड़ा), **पंचांग, गोधूलि, समाजवाद,** इत्यादि; और (ग) प्रायः पुराने शब्दों में ध्वनि परिवर्तन कर के अथवा आगे-पीछे-बीच में ध्वनियाँ जोड़ कर शब्द और अर्थ दोनों में नई बात ला दी गई है; जैसे **चंड** से **चंडी, चंडू, चंडाल, प्रचंड, चंट, चाँटा**; अथवा **नड** से **नल, नली, नाल, नाला, नाली, नडी, नाड़ी, प्रणाली, नलका, नलुवा, नलिन, नलिनी** इत्यादि। किसी भी भाषा में जब इन तीनों प्रक्रियाओं की गति द्रुत होती है तभी उसकी शक्ति बढ़ती है। अंग्रेज़ी के समृद्ध और समर्थ होने का यही कारण है, और प्राचीन काल में ग्रीक, लैटिन और विशेषतया संस्कृत की सबलता और सम्पन्नता इसी कारण से थी। हिन्दी में यदि संस्कृत से प्राप्त रिक्थ न हो तो इसकी दरिद्रता और हीनता प्रकट होने लगती है। हिन्दी में समासयुक्त शब्द बनाने की अपनी प्रवृत्ति अत्यन्न न मात्रा में है; उदाहरणतया—

निडर, निधड़क, भरपेट, बेखटके, हाथोंहाथ, दिनोंदिन, रातोंरात, मन ही मन, एकाएक, धड़ाधड़, मनमाना, दईमारा, मुँहमाँगा, मदमाता, ठकुर-सुहाती, घोड़ागाड़ी, रसोईघर, हथकड़ी, रोकड़बही, देशनिकाला, कामचोर, बनमानुस, घुड़दौड़, बैलगाड़ी, पनचक्की, मृगछौना, अमचूर, आपबीती, कानाफूसी, कठफोड़ा, कनकटा, मुँहचोरा, बटमार, चिड़ीमार, घुड़चढ़ा, पनडुब्बी, अनबन, अनचाहा, अनदेखा, अनजाना, अटूट, अनगढ़, अकाज, अनहोनी, मझधार, भलामानस, कालापानी, छुटभैया, भलाबुरा, ऊँचनीच, खटमिट्ठा, मोटा-ताजा, अधमरा, पंसेरी, दोपहर, तिपाई चौमासा, सतसई, अठवाड़ा, छदाम, दुपट्टा, दहीबड़ा, गुड़म्बा, जेबघड़ी, चितकबरा, गीदड़भबकी, गाय बैल, दालभात, घटी-बढ़ी, दूधरोटी, खानपान, हुक्कापानी, भूलचूक, कपड़े-लत्ते, घासफूस, मारपीट, लूटमार, दियाबत्ती, सागपात, कूड़ाकचरा, बालबच्चा, मेलमिलाप, कीलकाँटा, मोलतोल, पान-तमाखू, घरबार, आगापीछा, कहासुनी, लेनदेन, चाल-ढाल, थोड़ा-बहुत, कनफटा, मिठबोला, दुधमुँहा, सिरकटा, टुटपूँजिया, बड़भागी, बहुरूपिया, बारहसिंगा, पतझड़, लमटंगा, बालतोड़, हाथी-पाँव, भौंरकली, अनमोल, दुनाली, चौकोन, सतलड़ी, मारामारी, बदाबदी, कहाकही कहासुनी, खींचातानी, रंगबिरंगा, टेढ़ामेढ़ा, उलटा-पुलटा आदि समासयुक्त शब्द बहुत ही सीमित संख्या में प्राप्त होते हैं और वे भी रूढ़ से हो गए हैं; ऐसा नहीं है कि संस्कृत की तरह आप स्वेच्छा से और आवश्यकतानुसार समास बनाते चलें। **मेज-कपड़ा, फूल-क्यारी, पानी-टंकी, बुरामानस, भरजेब, अनकरनी**, आदि शब्द व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी हास्यास्पद लगते हैं, क्योंकि हिन्दी में नए नए समास असंगत और विचित्र दिखाई देते हैं। साहित्यिक हिन्दी के विकास के साथ (विशेषतया २०वीं शती के आरम्भ से) एक बहुत उपयोगी प्रवृत्ति का ह्रास हो गया है। अब तो केवल संस्कृत शब्दों को समासयुक्त करना समीचीन माना जाता है।

जैसा कि हम अन्यत्र कह आए हैं, हिन्दी में उपसर्गों की भी बहुत कमी है, और जो उपसर्ग हैं भी उनसे स्वेच्छापूर्वक काम नहीं लिया जा सकता। इसकी तुलना में संस्कृत के थोड़े से उपसर्ग सहस्रों शब्द बनाने में समर्थ हुए हैं। इक्कीस उपसर्ग और थोड़े से गति शब्द—**सत्, अन्तः, आविः, प्रादुः, पुरः** आदि—शब्दों के पहले जुड़ कर नाना अर्थों की वृद्धि करते हैं बल्कि किन्हीं स्थितियों में इनके योग से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; उदाहरणार्थ—

	अर्थ वृद्धि	**अर्थ परिवर्तन**
अति (उल्लंघन, अधिकता)	**अतिक्रम, अतिनिद्रा**	**अतिसार, अतीत**
अधि (ऊपर)	**अधिराज, अधीक्षक**	**अध्याय, अध्यापन**
अनु (पीछे, साथ)	**अनुगामी, अनुज, अनुनासिक**	**अनुरोध, अनुवाद**
अप (दूर)	**अपहरण, अपव्यय, अपयश**	**अपराध, अपवर्ग**
अपि (निकट)	**अपिकर्ण, अतिकक्ष**	**अपिधान**
अभि (ओर)	**अभिगमन, अभिरुचि**	**अभ्यागत, अभिनय**
अव (दूर, नीचे)	**अवतार, अवनति, अवरोध**	**अवसर, अवस्था, अवधि**

	अर्थ वृद्धि	अर्थ परिवर्तन
आ (तक, कम)	**आजीवन, आमोचन**	**आहार, आवेश, आज्ञा**
उद् (ऊपर)	**उद्गम, उन्नति, उच्चारण**	**उद्यान, उत्सव, उत्कण्ठा**
उप (पास)	**उपासना, उपयोग**	**उपक्रम, उपहार**
दुर् (बुरा)	**दुराचार, दुराग्रह**	**दुर्ग, दुर्भिक्ष**
दुस् (कठिन)	**दुष्कर, दुःसह, दुष्काल**	**दुश्शंस**
नि (नीचे)	**निपात, निक्षेप**	**निगम, निकाय, निधि**
निर (बाहर, विना)	**निर्गम, निर्दोष**	**निर्देश, निर्णय**
निस् ,,	**निष्कासन, निस्संदेह**	**निश्चय, निष्ठा**
परा (पीछे, उलटा)	**पराजय, पराकोटि**	**पराभव, परामर्श**
परि (चारों ओर)	**परिखा, परिचर्या**	**परिवार, परिणय**
प्र (अधिक)	**प्रणाम, प्रबोध, प्रच्छन्न**	**प्रस्ताव, प्रधान, प्रवीण**
प्रति (ओर, उलटे)	**प्रतिगमन, प्रत्यक्ष**	**प्रतिमा, प्रतिज्ञा**
वि (विशेष, अलग)	**वियोग, विज्ञान, विकल**	**विकार, विचार**
सम् (अच्छी तरह)	**संतुष्ट, संरक्षक**	**संशय, समाधि**

गति-शब्दों से अर्थ विस्तार होता है, जैसे—**अन्तर्हित, अन्तःकरण, आविष्कार, आविर्भाव, तिरस्कार, तिरोभाव, पुरस्कार, पुरोहित, प्रादुर्भाव, प्राक्तन, बहिष्कार, सहपाठी, सटीक, स्वयंवर, सत्कार, साक्षात्कार, स्वीकार, नमस्कार** आदि में।

हिन्दी में इतनी शक्ति नहीं है, किन्तु आधुनिक काल में संस्कृत शब्दों के साथ ही उपसर्गों और गति शब्दों का योग करके हिन्दी ने अपनी शब्दावली को बहुत अधिक समृद्ध बना लिया है।

अन्तःसर्ग द्वारा शब्दार्थ-विस्तार की प्रक्रिया कम उदाहरणों में मिलती है। संस्कृत में इससे तद्धितांत और कृदन्त दोनों प्रकार के शब्द बनते हैं, जैसे—**निमिष** से **निमेष, क्षत्र** से **क्षात्र, स्मृति** से **स्मार्त, सुहृद** से **सौहार्द, पृथु** से **पार्थ, भू** से **भाव, कृ** से **-कार, हृ** से **-हार, पुत्र** से **पौत्र, भरत** से **भारत, व्याकरण** से **वैयाकरण, पुष्यति** से **पोषयति, लिखति** से **लेखयति**।

हिन्दी में इस परंपरा से सकर्मक और प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनाने की रीति और अन्य छुटपुट शब्द निर्माण करने की प्रवृत्ति विद्यमान है, उदाहरणार्थ—**लिखना, लिखाना, लिखवाना; मरना, मारना; देना, दिलाना; निकलना, निकालना; लुटना, लूटना; पेट, पाट, पोट; तुण्ड, तोंद** आदि।

सब से अधिक उपयोगिता प्रत्ययों की है। संस्कृत में १०० से अधिक तद्धित प्रत्यय और लगभग इतने ही कृत् प्रत्यय हैं, जिनकी सहायता से सहस्रों शब्द विकसित होकर अर्थविस्तार प्राप्त करते हैं। हिन्दी में तद्धितों की संख्या कृदन्तों से बहुत अधिक है। हिन्दी ने संस्कृत का

बहुत सा प्रत्यय-धन उत्तराधिकार में प्राप्त किया है और अपनी सामर्थ्य से उसमें पर्याप्त वृद्धि भी की है। किन्तु जो उत्पादकता संस्कृत प्रत्ययों में है वह हिन्दी के अपने प्रत्ययों में नहीं है। हिन्दी प्रत्ययों से जो शब्द बन गए हैं वे एक प्रकार से रूढ़ हो गए हैं, इस प्रक्रिया को बहुत आगे बढ़ाने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह गई। अब तो संस्कृत शब्दों में संस्कृत के प्रत्यय जोड़ कर शब्द-निर्माण करने की प्रवृत्ति ज़ोरों पर है। इन प्रत्ययों के योग से संज्ञाएँ (जैसे **सुन्दरता, सौन्दर्य, मनुष्यत्व, मति, बुद्धि, ग्लानि, बुद्धिमानी, खेद, गायक, चोर, मदन, मरण, स्थान, इच्छा, वेदना, दोषी, भिक्षु, नेता, नेत्र, खनिज, यत्न, पिपासा, वासुदेव, तार्किक, पक्षी, महिमा, राघव, आग्नेय, अमात्य, पितृव्य, मन्वंतर**), विशेषण (जैसे **दर्शनीय, प्राप्य, दयालु, सहिष्णु, हितेच्छु, भावुक, भंगुर, गत, लीन, पूरित, ज्ञातव्य, विद्यमान, हिंस्र, नैश, मासिक, पुष्पित, अर्वाचीन, अन्तिम, नवीन, त्वदीय, विकट, कर्मठ, सनातन, बुद्धिमान्, आशावान्, जलमय, मुखर, शीतल, कृपालु**) **और** क्रियाविशेषण (**जैसे अंशतः, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा, द्विधा, भस्मसात्, यावत्, पुत्रवत्**) ही नहीं बनते, बल्कि इन से अनेक अर्थों की सृष्टि होती है, जैसे अतिशयता (**लघुतर, श्रेष्ठ**), अनुकम्पा (**भिक्षुक, पुत्रक**), अपत्य (**दाशरथि, भागिनेय, वासुदेव, सौमित्र**), अधिकार (**दण्डी, रसवती, श्रीमान्**), उत्पत्ति (**प्राच्य, पैतृक, मागध, मूलक**), कर्म (**काव्य, होत्र, मौन**), काल (**मासिक, चैत्र, संध्या, अमावस्या, पौर्णमासी, चिरंतन**), गुण (**पैशुन्य, आधिपत्य, अश्वक**), धर्म (**पौरोहित्य, होत्र, माहिष**), प्रयोजन (**श्राद्ध, पार्थिव, स्वर्गीय**), छोटाई (**विद्वत्कल्प, शूद्रक, कुटीर**), भाव (**शिशुत्व, गरिमा, शौच**), मत (**आस्तिक, शैव**), योग्यता (**कर्मण्य**), रंग (**काषाय, हारिद्र**), विकार (**पैप्पल, और्ण**), शील (**तापस, चौर**), सम्बन्ध (**ग्रैष्म**), समूह (**गजता, जनता**), सत्ता (**दन्त्य**), संख्या (**द्वितय, चतुष्क, पञ्चम**), सादृश्य (**आंगुलिक**) हित (**गव्य, सार्वजनिक**)।

इनके अतिरिक्त पुंलिंग से स्त्रीलिंग, एकवचन से द्विवचन और बहुवचन, एवं कारक, कालादि के भेद बनाने के प्रत्यय हैं जिनमें केवल स्त्री प्रत्ययों का प्रयोग हिन्दी में होता है। हिन्दी के अपने प्रत्ययों में इसी प्रकार की सामर्थ्य है जैसी संस्कृत में उदाहृत की गई है। यहाँ केवल उन्हीं प्रत्ययों का उल्लेख करना इष्ट है, जिनके द्वारा अतिरिक्त अर्थवैशिष्ट्य लाया जा सका है, जैसे, **ऐत** से 'मारने में दक्ष' अर्थ प्राप्त होता है (**लठैत, बरछैत, भलैत**), **-इया** से 'रोज़गार करने वाला' (**जड़िया, धुनिया, लखिया**), **-अक्कड़** से हीनभाव (**भुलक्कड़, कुदक्कड़**), **-ऊ** से घृण्य भाव (**रट्टू, उजाड़ू, खाऊ**), **-आवट** से कर्म की स्थिति (**मिलावट, सजावट**), **-आस** से कार्य की इच्छा (**प्यास, बुलास**), **-प, -पा** से भाव (**मिलाप, बुढ़ापा**), **-आवा** से प्रेरणा (**बुलावा, बढ़ावा**), **-न, -ना** करणवाची (**झाड़न, बेलन, ओढ़ना**), **-आना, -आड़ा -क** स्थानवाची (**पैताना, गोंडवाना, पिछाड़ी, बैठक, सड़क**), लघुता वाची अनेक प्रत्यय (**पहाड़ी, खटिया, रोंगटा, टुकड़ा, हियरा, सँपोला,** आदि में)।

-ई बहुत ही समृद्ध प्रत्यय है, **लड़की** में स्त्रीलिंग, **गोली** में लघुतावाची, **हँसी** में भाववाचक, **तेली** में कर्तृवाचक, **हिन्दुस्तानी** में भाषा के अर्थ में, **बोली** में कर्मवाची, **सरकारी**

में विशेषणद्योतक। हिंदी में कर्तृवाचक, विशेषणद्योतक, अपत्यवाची, हीनताबोधक विविध प्रत्यय हैं। विस्तार के लिए देखें 'हिन्दी व्याकरण'—कामताप्रसाद गुरु।

शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन किए बिना अर्थ विस्तार करना प्रत्येक विकासशील भाषा का स्वभाव है और हिन्दी का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि उसके लिए यह प्रक्रिया आवश्यक और स्वाभाविक है। किसी हिन्दी शब्दकोश को उठा कर देखिए, विरले ही ऐसे शब्द मिलेंगे जिनका एक ही अर्थ है। कभी-कभी तो ऐसे शब्द मिल जाते हैं जैसे **दण्ड, और, रस, पड़ना** आदि जिनके आठ-आठ, दस-दस और इससे भी अधिक अर्थ हैं। आरम्भ में किसी शब्द का अर्थ एक ही होता है, किन्तु धीरे-धीरे उसके प्रयोगों में इतनी विविधता और विभिन्नता आ जाती है कि उससे सम्बद्ध अर्थों का एक परिवार सा जुट जाता है। इस प्रक्रिया को शब्द और अर्थ का सम्बन्धान्तरण कहा जा सकता है।

शब्दार्थ-सम्बन्धान्तरण के कई भेद हैं—अर्थसंकोच, अर्थप्रसार, उत्कर्ष, अपकर्ष, मूर्त्तीकरण, अमूर्त्तीकरण, अंगांगी अन्तरण, सादृश्यान्तरण, सहान्तरण, विकासमान अन्तरण, व्याकरणगत अन्तरण इत्यादि।

प्राय: शब्दों के निरुक्तार्थ या यौगिक अर्थ व्यापक होते हैं, अर्थात् उस शब्द द्वारा द्योतित गुण या व्यापार अन्य वस्तुओं में भी पाया जाता है, किन्तु संभवतः शब्द की सृष्टि के दिन से ही उसका सम्बन्ध वस्तु विशेष या व्यापार विशेष से जुड़ा रहता है। निम्नलिखित शब्दों के यौगिक अर्थ और रूढ़ अर्थ की तुलना करने से अर्थ संकोच की मूलभूत वृत्ति स्पष्ट होगी—

कुंजर (जो कुंजों में विचरता है), **हाथी;** **धान्य** (धन से सम्बद्ध), **अन्न, चावल;**
सर्प (जो सरकता है), **साँप;** **मोदक** (प्रसन्न करने वाला), **लड्डू;**
बाढ़ (बढ़ने की क्रिया), **जलावेग;** **लगान** (जो लगाया गया), **कर।**

उपसर्ग और प्रत्यय के योग से शब्दों में अर्थ वैशिष्ट्य आ जाता है, जैसे—

भू (होना) से **भाव, प्रभाव, संभव, भवन, भव्य;**
हृ (ले जाना) से **आहार, प्रहार, उपहार, संहार;**
पुंज (ढेर) से **पूँजी** (मूलधन);
मांस से **मसूड़ा, मस्सा** इत्यादि।

विशेषण लग जाने से शब्द में अर्थ संकोच हो जाना सिद्ध ही है; तुल० **बार** (द्वार) और **चौबारा; पुरुष** और **राजपुरुष; कुवाँ** और **अन्धा कुवाँ; रोग** और **पीलिया रोग; काल** और **महाकाल; शास्त्री** और **भाषाशास्त्री;** इत्यादि। कभी-कभी विशेषण लुप्त होकर विशेष्य में और विशेष्य लुप्त हो कर विशेषण में समाया रहता है; तब अर्थसंकोच प्रकट रहता है। उदाहरणार्थ—

पत्र=समाचार-पत्र; **सम्पादक**=पत्र-सम्पादक; **सामग्री**=हवन-सामग्री; **मंजन**=दन्त-मंजन; **कुँवर**=राजकुँवर; **जन्माष्टमी**=कृष्णजन्माष्टमी; **लगन**=शुभ लगन; **चाल**=

खोटी चाल; **गंध**=बुरी गंध; **चलित्तर**=दूषित चरित्र; **दुलड़ा**=दोलड़ा हार; **मध्यमा**=मध्यमा परीक्षा; **गाढ़ा**=गाढ़ा कपड़ा; **खरी खरी**=खरी खरी बातें; **कर्त्तव्य**=कर्त्तव्य कार्य, इत्यादि।

इसी प्रक्रिया के कारण बहुत से विशेषण संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे **छोटे-बड़े हिन्दी, सती, श्रीमती, अभिमत, अतीत, भविष्य।**

जब भाषा में समानार्थक शब्द इकट्ठे हो जाते हैं, तो ऐसे जोड़ों में एक का अर्थसंकोच करके उसकी भेदक सत्ता निश्चित कर दी जाती है; जैसे **भात** और **भत्ता**, **गर्भिणी** और **गाभिन**, **चून** और **चूना**, **खीर** और **दूध**, **वैद्य** और **डाक्टर।**

ऊपर हमने देखा कि समय पाकर एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होने लगते हैं; किन्तु जब किन्हीं अर्थों में अराजकता आ जाती है तो भाषा उसे सहन न कर स्पष्टता के नाते एक अर्थ विशेष को सुरक्षित कर लेती है और अन्य अर्थों का त्याग कर देती है; उदाहरण—सं० **ऋक्ष** (नक्षत्र, रीछ, ऋषि), हिं० **रीछ** (भालू); सं० **गौ** (इन्द्रिय, पृथ्वी, गाय इत्यादि), हिं० **गौ** (गाय); सं० **आदर्श** (दर्पण, प्रतिलिपि, टीका, अनुकरणीय बात), हिं० **आदर्श** (अनुकरणीय बात), **आरसी** (दर्पण); सं० **आशा** (दिशा, इच्छा), हिं० **आशा** या **आस** (इच्छा); सं० **अवतार** (उतार, रूप, उत्थान, अड्डा, लक्ष्य, भूमिका, अनुवाद, देवता का जन्म), हिं० **औतार** (देवता का जन्म), आदि-आदि।

कुछ शब्द पहले पूरी जाति के लिए प्रयुक्त होते थे, समय पाकर वे उस जाति के एक वर्ग अथवा एक भाग के लिए प्रयुक्त होने लगते हैं। संबंध-संकोच के ये उदाहरण स्पष्ट हैं—

मृग सं० पशु, हिं० हिरन; **मुर्ग़ा** फ़ा० पक्षी, हिं० कुक्कुट; **मदक** सं० नशीला, हिं० अफ़ीम और पान का मिश्रण; **खाजा**⩽सं० खाद्य, हिं० एक मिठाई; **अन्न** सं० खाया हुआ, हिं० चना, गेहूँ आदि; **लोह** सं० धातु, हिं० लोहा।

प्रत्येक व्यवसाय, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक विशेषज्ञ अर्थ-संकोच द्वारा पारिभाषिक शब्दावली सिद्ध करता है—**भाँवरी, गौना, अम्ल, पाटी, जीभी, श्राद्ध, लीला, रास, बरत, सगाई** आदि अर्थ-संकोच के उत्तम उदाहरण हैं।

जातिवाचक संज्ञा का व्यक्तिवाचक संज्ञा बन जाना भी अर्थ-संकोच का निदर्शन है, जैसे **शिव, गौरी, पार्वती, भगवती, हनुमान, भारतेन्दु, अकबर, वंशीधर, गद्दर, लखदाता** इत्यादि।

ऋषि वाजप्यायन का यह कथन सही है कि शब्द मूलतः वर्ग या जाति के द्योतक होते हैं, उनका सापेक्षिक प्रयोग उनके सम्बन्ध को सीमित कर देता है। इस बात को यों कहा जा सकता है कि भाषा में सापेक्षता और सुनिश्चितता लाने के लिए अर्थसंकोच की प्रवृत्ति बढ़ती रहती है।

विकासशील भाषा में अर्थसंकोच आवश्यक भी हैं। जिस प्रकार किसी भाषा में विशेषणों की अधिकता उसकी सम्पन्नता का परिचय देती है, उसी प्रकार अर्थसंकोच से उस भाषा का व्यवहार स्थिर और समृद्ध होता है। अतः अर्थसंकोच की अपेक्षा अर्थप्रसार की प्रक्रिया कम होती है, क्योंकि भाषा का लक्ष्य विचारों को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करना होता है, विशेषतया जब वह साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बन जाती है।

आलंकारिक प्रयोग द्वारा अर्थ में प्रसार होता है, जैसे **आँख,** आलू की आँख; **चूड़ामणि** (सिर का भूषण), सर्वोत्तम; **चोला** (कुरता), शरीर; **लाठी** (लकड़ी), सहारा; **शेर** (सिंह), बलवान; **गधा** (गर्दभ), निर्बुद्धि; इत्यादि।

व्यक्तिवाचक संज्ञा का जातिवाचक संज्ञा में प्रयोग होना भी इसी प्रकार की लाक्षणिकता के अन्तर्गत आता है, जैसे 'यशोदा हमारे घर की **लक्ष्मी** है', 'कलियुग के **भीम**', **शेख-चिल्ली, लाल-बुझक्कड़, दामाशाह, यवन।**

कुछ शब्द सादृश्य के नाते उसी प्रकार के पदार्थों या व्यापारों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जैसे—**तेल** (मूलतः तिल से बना हुआ), **प्रवीण** (मूलतः वीणा बजाने में चतुर), **स्याही** (मूलतः काली) आदि।

अन्य प्रक्रियाओं के उदाहरण—

अर्थापकर्ष—जयचंद, विभीषण, देवदासी, पांडे, महाजन, गँवार, देहाती, चमार (जैसे 'चोर-चमार' में), **पाखंड** (मूलतः संन्यासी-सम्प्रदाय), **चाल, पीना, जमादार, भगत जी, हजरत, फिरंगी, जापानी माल, चार्वाक, सीधा, सदा सुहागिन** आदि के अर्थ में हीनता आ गई है।

अर्थोत्कर्ष—कृष्ण (काला), **भीष्म, भीम, मंदिर, कुम्भ, कलश, त्यौहार** (<तिथि वार), **मुहूर्त, नाम, कुलीन, कपड़ा** (<कर्पट, चिथड़ा) आदि में अच्छाई और बड़प्पन का भाव आ गया है।

मूर्त्तीकरण—उपन्यास (मूलतः कथन), **सुहाग** (सौभाग्य), **सामग्री** (मूलतः संचय); **बात उड़ाना, विचार बिखर गए; विरहाग्नि, विचारधारा, विद्याधन;** **देवता** (मूलतः देवभाव), **जनता, सफ़ेदी** (श्वेतता), **उतराई** (उतरने का किराया), **धुलाई, रंगाई, सवारी, चेती** आदि अब मूर्त्त रूप प्रस्तुत करते हैं।

अमूर्त्तीकरण—काँटा (दर्द), **लाठी** (सहारा), **भार** (जिम्मेदारी), **निमग्न** (मूलतः डूबा हुआ, अब व्यस्त), **गधा** (मूर्ख), **पूँछ** (उपाधि) **आँख दिखाना, माथा ठनकना, कंगाल** (<कंकाल, ढाँचा), छायावादी कविता में—**अन्धकार** (निराशा), **पतझर** (दुःख),



जुगनू (बुद्धि, चेतना), **पतवार** (साहस), **रश्मि** (ज्ञान), **शलभ** (सांसारिक मोह), **समुद्र** (आत्मा)।

अंगांगी-अंतरण—अर्थात् पूर्ण से अंश का अर्थ और अंश से पूर्ण का अर्थ, जैसे **बाजार** मंदा है (=गेहूँ या सोना मंदे भाव में बिकता है), **मकान** खुला है (=द्वार खुले हैं); अथवा **जलपान** (=जलपान और मिष्ठान्न आदि का भोजन); **रोटी** बनाना (=रोटी, तरकारी आदि बनाना); **फाटक** (=काँजी हाउस)।

कार्य-कारण-अन्तरण—**आँखों में धूल डालना** (धोखा देना), **मिट्टी में मिलाना** (नष्ट करना), **खाक डालना** (छिपाना); **गाल पिचकना** (कमज़ोर होना), **गर्दन हिलाना** (इन्कार करना)। मुहावरों और काव्य भाषा में जो व्यंग्यार्थ है, उसी का यह एक भेद है।

आधार-आधेय-अन्तरण—**सभा** (सभा का भवन), **थाली परोसना** (थाली में भोजन परोसना); **कुवाँ सूख गया** (उसमें का जल सूख गया)।

स्थान और उपज के अन्तरण—**सिरोही** (राजस्थान में एक स्थान की तलवार), **कश्मीरा** (सब से पहले कश्मीर में बना), ऊनी कपड़ा; **बिदर** (दक्षिण में एक स्थान), बर्त्तन; **क़ालीन** (आरमीनिया में एक स्थान), ग़लीचा; एवं **पंचवटी** (पाँच वट वृक्ष), नासिक के समीप एक स्थान; इत्यादि।

प्राय: व्याकरण की एक कोटि के शब्द दूसरी कोटि में प्रयुक्त होते हैं, तो इससे उनके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है।

'खाना' क्रिया से **खाना** संज्ञा = भोजन;

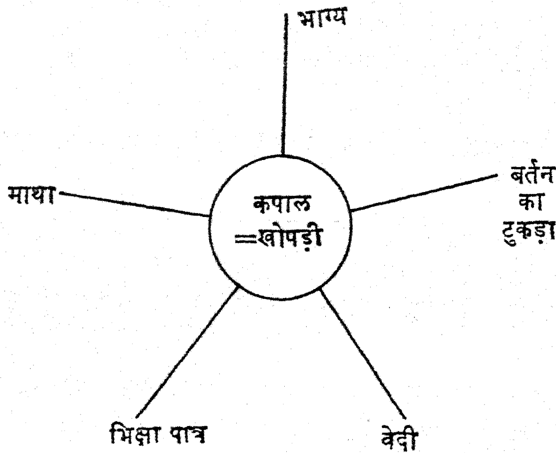
'पालना' क्रिया से **पालना** संज्ञा = खटोला या झूला;

'ओढ़ना' क्रिया से **ओढ़ना** संज्ञा = ओढ़ने का वस्त्र।

इसी प्रकार तुलना कीजिए—**दौड़** (क्रिया, संज्ञा), **देख-भाल** (क्रिया, संज्ञा), **मार-पीट** (क्रिया, संज्ञा), **समझ** (क्रिया, संज्ञा); **दृश्य** (विशेषण, संज्ञा), **अतीत** (विशेषण, संज्ञा), **श्रेय** (विशेषण, संज्ञा), **मैं** (सर्वनाम, संज्ञा), **तू-तू** (सर्वनाम, संज्ञा), **भीतर** (क्रियाविशेषण, संज्ञा), **हाय-हाय** (विस्मयादि बोधक, संज्ञा), **अपने राम** (संज्ञा, सर्वनाम)।

तुलना कीजिए—**बरस बीत गए, बरसों बीत गए; पिता बालक देता है, पिता बालक को देता है।**

कभी कभी अर्थ के विकास में अनेक प्रक्रियाओं का हाथ रहता है। जिस प्रकार सूर्य से अनेक किरणें फूटती हैं, इसी प्रकार एक शब्दार्थ सम्बन्ध से नाना अर्थ विकसित होते हैं, जैसे **कपाल** (खोपड़ी) के अर्थ माथा, भाग्य, भिक्षापात्र, टुकड़ा, वेदी आदि निकले। ये सब एक ही अर्थ की अनेक शाखाएँ हैं—

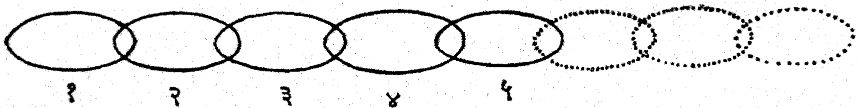


अर्थ-परिवर्तन में कभी-कभी एक श्रृंखला सी बन जाती है। एक अर्थ से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा विकसित होकर क्रमशः अपने मूल से हटता जाता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि शब्द के मूल अर्थ और अंतिम विकसित अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। जैसे—

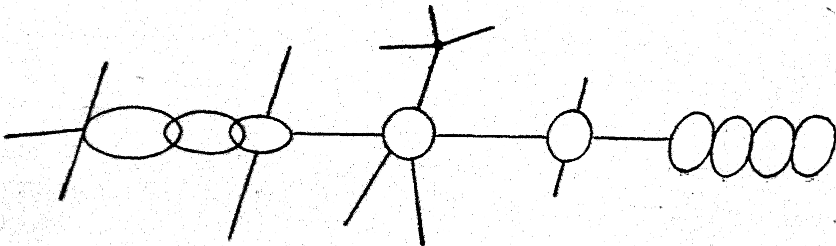
देवर सं० द्विवर या दूसरा पति, मृत पति का भाई, पति का भाई, पति का छोटा भाई।

शकुन—पक्षी, शुभ पक्षी, शुभ, शुभ लक्षण, लक्षण।

यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार चलती है—



भाषा के विकास में ऐसा भी हुआ है कि एक अर्थ से विकिरण और फिर उनमें से किसी एक से श्रृंखला और फिर एक में से विकिरण बनती चलती है। यह क्रम कुछ इस प्रकार से होता है—



निम्नलिखित शब्दों के अर्थों पर इस दृष्टि से विचार कीजिए—

अंक—चिह्न, संख्या का चिह्न, संख्या, कलंक, डिठौन, वक्र रेखा, मोड़, हुक, एक भूषण, नाटक का एक खंड, नकली लड़ाई, पाप, गोद, बग़ल, स्थान।

अड्डा—इकट्ठा होने की जगह, डेरा, इक्के-टाँगों के रुकने का स्थान, केन्द्रस्थान, पिंजरे में चिड़िया के बैठने की लकड़ी, कबूतरों की छतरी, जुलाहे का करघा, छीपी का गद्दा, जाली काढ़ने का चौखटा, पुलीस चौकी।

उतारना—ऊपर से नीचे लाना, पहनी हुई चीज़ को अलग करना, दूर करना, निकालना (मलाई आदि), घटाना (साँचे पर), तैयार करना, पका लेना, खींचना, नक़ल करना, (ऋण) चुकाना, पार पहुँचाना, तोल में पूरा करना, ठहराना, न्योछावर करना, (आरती) घुमाना, तोड़ना।

व्याकरणिक विकास

भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास में जब हम रूप-परिवर्तन का अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है कि प्राचीन से अर्वाचीन तक आते-आते सब कुछ ही बदल गया है—आधुनिक भाषाओं ने मानों अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं के व्याकरण से कुछ ग्रहण ही नहीं किया, सब कुछ त्याग दिया है, और जो कुछ है वह नया ही नया है। वैज्ञानिक विश्लेषण न होने के कारण स्थिति कुछ ऐसी ही लगती है। प्राचीन आर्यभाषा के मुख्य-मुख्य लक्षण ये थे—

(१) यह भाषा योगात्मक थी, अर्थात् शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी अर्थवृद्धि अर्थतत्त्व में कोई ध्वनि-तत्त्व जोड़ देने से हो जाती थी। इस ध्वनि-तत्त्व की अपनी स्वतन्त्र अर्थवत्ता नहीं थी। यह तत्त्व अश्लिष्ट, श्लिष्ट तथा प्रश्लिष्ट होकर मूल शब्द के साथ जुड़ता था। इसके उदाहरण क्रमशः **देवस्य, धार्मिक,** और **वैभव** दिए जा सकते हैं। (२) इस प्रकार के ध्वनितत्त्व इस भाषा में तीन प्रकार के थे—उपसर्ग, प्रत्यय और अन्तर्सर्ग, जैसे **अभिनव, अनुभव; सुप्त, कर्तव्य;** एवं **तैल, भौम** आदि। (३) कभी-कभी एक से अधिक तत्त्व जोड़े जाते थे, जैसे **अत्याचार, आध्यात्मिकता, साहित्य** में। (४) पदरचना अथवा वाक्य में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से वह भाषा श्लिष्ट या विभक्ति-प्रधान थी। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया विकारी पद थे और इनके साथ विविध सम्बन्धार्थ यौगिक परसर्ग लगते थे, जैसे **रामस्य** (राम का), **तेन** (उस से), **विशालाभिः तृष्णाभिः** (विशाल तृष्णाओं द्वारा), **भवन्ति** (होते हैं)। (५) इनमें संज्ञा (एवं विशेषण) तथा सर्वनाम के आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग थे। क्रिया के परस्मैपद, आत्मनेपद, उभयपद रूपभेदों के अतिरिक्त दस गण, तीन पुरुष, तीन वचन, और लट् लकारादि भेदों से नाना रूपान्तर होते थे। (६) क्रिया में लिंग-भेद नहीं था। (७) कृदन्त का वैदिक में विशेषण के रूप में तथा संस्कृत में क्रिया के रूप में प्रयोग होता था।

इनके अतिरिक्त अन्य व्याकरणिक कोटियों के विकास को समझने में हम देखना चाहेंगे

कि प्राचीन आर्य भाषा की तुलना में वर्त्तमान आर्य भाषाओं या हिन्दी में क्या अन्तर आ गया है।

वैदिक और संस्कृत के तीन वचनों की जगह पालि में ही दो वचन रह गए थे—एकवचन और बहुवचन। वास्तव में वैदिक भाषा में भी द्विवचन के स्थान पर बहुवचन मिलता है, जैसे **सुरथा, मित्रावरुणा, अश्विना, नरा** आदि में; यहाँ तक कि **द्वौ** (द्विवचन) के स्थान पर **द्वा** (बहुवचन) रूप प्राप्त होता है। इससे जान पड़ता है कि लोक में विकल्प रूप से द्विवचन का व्यवहार चल रहा था। किन्तु संस्कृत के वैयाकरणों ने नियमितता और एकरूपता रखने के लिए द्विवचन के प्रयोग को अनिवार्य माना। उनका यह आग्रह साहित्यिक भाषा में तो माना गया, किन्तु बोलचाल की (व्यावहारिक) भाषा में धीरे धीरे द्विवचन का नितान्त लोप हो गया। तभी तो जनभाषा होने के नाते पालि में उसका प्रयोग नहीं हुआ। तब से जनभाषाओं में दो ही वचन रहे हैं और साहित्यिक भाषा में भी संस्कृत का अनुकरण नहीं किया गया, क्योंकि प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी क्रमशः जनभाषा ही से उठ कर साहित्यिक बनीं।

तीन लिंगों की स्थिति तो संस्कृत में भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रही। नपुंसक लिंग के रूप केवल कर्ता और कर्म कारक में पुंलिंग से भिन्न थे। अन्य कारकों में पुंलिंग और नपुंसकलिंग के रूपों में भेद नहीं था। कर्ता और कर्म के रूप भी एक समान थे—**फलम्, फले, फलानि** कर्ता में भी और कर्म में भी। प्राकृत ने अच्छा ही किया कि कर्ता-कर्म के एकवचन और बहुवचन के रूप को भी पुंलिंग रूपों के अनुरूप कर दिया। तब से उत्तरी अपभ्रंशों और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में नपुंसक लिंग का व्यवहार उठ गया। वास्तव में वैदिक में ही नपुंसक के स्थान पर पुंलिंग रूप व्यवहृत हुए मिल जाते हैं, जैसे **नामानि, विश्वानि** के स्थान पर **नामा, विश्वा**। हो सकता है कि लोक में ऐसे प्रयोग तब से बढ़ते रहे हैं। वहीं से प्राकृत और आधुनिक भाषाओं ने भी मात्र दो लिंगों के रूप ग्रहण किए हैं।

यदि प्राकृत ने सभी नपुंसकलिंग रूपों को पुंलिंग रूप दे दिया था तो हिन्दी में यह गड़बड़ कहाँ से आ गई कि **सड़क** स्त्रीलिंग, **रास्ता** पुंलिंग; **ग्रंथ** पुंलिंग, **पुस्तक** स्त्रीलिंग; **नदी** स्त्रीलिंग, **नाला** पुंलिंग; **फूल** पुंलिंग, **कली** स्त्रीलिंग; **कान** पुंलिंग, **आँख** स्त्रीलिंग; **नाव** स्त्रीलिंग, **जहाज** पुंलिंग; **पानी** पुंलिंग, **छाछ** स्त्रीलिंग; इत्यादि। इस तरह की अनिश्चितता संस्कृत में भी थी—**नगर** नपुंसकलिंग, **ग्राम** पुंलिंग; **जलमुच्** पुंलिंग, **वाच्** स्त्रीलिंग; **स्त्री** स्त्रीलिंग, **दारा** पुंलिंग, **कलत्र** नपुंसकलिंग (तीनों का अर्थ एक ही है); **द्वार** नपुंसकलिंग, **भार** पुंलिंग; **मधु** नपुंसकलिंग, **तन्तु** पुंलिंग। यही अनिश्चितता और अनियमितता क्रमशः बढ़ती गई। इस प्रक्रिया का विकास कई कारणों से हुआ है। हिन्दी में कुछ का लिंगनिर्णय प्रत्यय अथवा अंत्य ध्वनि से होता है—**पानी, मोती, दही** आदि चार-पाँच शब्दों को छोड़ कर शेष ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग हैं, जैसे **लाठी, नदी, गली, कली, बोली, खिचड़ी** आदि; **–आहट, –वट** प्रत्यय से युक्त शब्द स्त्रीलिंग हैं, जैसे **घबराहट, आहट, मिलावट, बनावट** आदि।

कुछ शब्दों का लिंग-निर्णय रूप से नहीं, अर्थ से होता है, जैसे **बुद्धि, मति** संस्कृत से ही स्त्रीलिंग थे, तो **अक्ल, सूझ, समझ** भी स्त्रीलिंग हैं; **भार** पुंलिंग था तो **बोझ** भी पुंलिंग है, **पुस्तक** स्त्रीलिंग है तो **किताब** स्त्रीलिंग है। शायद ऐसे शब्दों के लिंग-निर्णय में अरबी-फ़ारसी का प्रभाव रहा है, और हम यों भी कह सकते हैं कि अरबी **किताब** स्त्रीलिंग है, इसलिए **पुस्तक** भी स्त्रीलिंग हो गया। **शरारत, आफ़त**, आदि अरबी से ही स्त्रीलिंग, और **क़त्ल** अरबी से ही पुंलिंग है, भले ही सं० **हत्या** शब्द स्त्रीलिंग है। **दिन** प्राकृत काल से पुंलिंग और **रात्रि** (प्रा० रात्ति, हि० रात) संस्कृत से स्त्रीलिंग चला आ रहा है। इस तरह के अनेक कारणों से हिन्दी में लिंग-निर्णय-सम्बन्धी रूपवैविध्य हो गया है।

पुंलिग से स्त्रीलिंग रूप बनाने के नियमों में आदि काल से अब तक बहुत ही कम अन्तर आया है। संस्कृत के स्त्रीप्रत्यय थे—**आ, -ई, -नी, -आनी**, जैसे **बाला, पाठिका, दासी, मानिनी;** हिन्दी में **-ई** (जिसका एक बोलीगत रूप **-इया<-इका है), -नी, -आनी, -इन** हैं, जैसे **बकरी, बुढ़िया, रीछनी, नौकरानी, लुहारिन** में। चार प्रत्ययों में तीन वही हैं जो संस्कृत में थे। संस्कृत का **-आ** प्रत्यय स्वीकार नहीं किया जा सकता था, क्योंकि पुल्लिग के लिए एक **-आ** प्रत्यय हिन्दी में विकसित हो गया था।

विशेषण के रूपों में अत्यन्त सरलता आ गई है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में विशेषण अपने विशेष्य लिंग-वचन-कारक के अनुरूप रहता था। हिन्दी में केवल आकारान्त पुल्लिग विशेषण पदों का रूप थोड़ा बहुत बदलता है—पुल्लिग बहुवचन में एकारान्त और स्त्रीलिंग एकवचन तथा बहुवचन दोनों में एक समान ईकारान्त, यथा **अच्छा लड़का, अच्छे लड़के, अच्छी लड़की, अच्छी लड़कियाँ**। पुंलिग में तिर्यक् रूप एकवचन-बहुवचन एकारान्त ही रहता है, उसके साथ परसर्ग भी नहीं लगता, केवल विशेषण के तिर्यक् रूप के बाद परसर्ग जुड़ता है, जैसे **अच्छे लड़के से, अच्छे लड़कों को**। विशेषण का स्त्रीलिंग तिर्यक् रूप भी अपरिवर्तित ईकारान्त रहता है, यथा **अच्छी लड़की ने, अच्छी लड़कियों ने।** आकारान्त से भिन्न विशेषण-पदों में लिंग-वचन-कारक में कोई विकार नहीं होता।

संख्यावाचक विशेषणों में केवल ध्वनि-परिवर्तन विचारणीय है—**एक, दो (द्वौ), तीन** (त्रीणि), **चार** (चत्वारि), **पाँच** (पञ्च), **छः** (षट्), **सात** (सप्त), **आठ** (अष्ट), **नौ** (नव), **दस** (दश) आदि। क्रमवाची संख्याओं में से **पहला** (प्रथम+इल्ल), **दूसरा, तीसरा** (द्वि, त्रि+सरट्), **चौथा** (चतुर्थ) और बाद में सब का प्रत्यय **-वाँ** संस्कृत के **-मः** का विस्तार और व्यापक प्रयोग है।

विशेषण की अवस्थाओं के जो **-ईयस्, -इष्ठ**, तथा **-तर, -तम** प्रत्यय थे, वे भी हिन्दी में नहीं रहे। इनके बिना ही, सादे शब्द से, काम चलने लगा।

इससे भी अधिक परिवर्तन संज्ञा के कारक-रूपों में हुआ। यह परिवर्तन इसलिए भी अधिक दिखाई देता है कि संज्ञा पदों का प्रयोग भाषा में बहुत होता है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में आठ विभक्तियाँ थीं, भले ही वैदिक में चतुर्थी के स्थान

पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाता है, जिसका अर्थ इतना ही है कि लोक में विभक्तियों को कम करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। साहित्यिक भाषा में आठ विभक्तियों में शब्दों के रूपान्तर किए जाते थे। प्राकृत तक आते आते चौथी और पाँचवीं विभक्ति लुप्तप्राय हो गई। चौथी का काम दूसरी या छठी से और पाँचवीं का तीसरी या सातवीं से लिया जाता था। अपभ्रंश में पहली, दूसरी और चौथी विभक्ति का भी लोप हो गया, जैसे **गय कुम्भह** (=हाथियों के गण्डस्थलों को) में। यह सब कुछ साहित्यिक भाषा तक में हो गया। जनभाषा में कारकों के संक्षेपण की प्रक्रिया और आगे बढ़ गई थी, और इसके प्रमाण पाणिनिकाल के बाद के कुछ निम्नलिखित प्रयोगों से प्राप्त होते हैं। **तस्मिन्** के स्थान पर **तस्य मध्ये** अथवा **तन्मध्ये, तस्मै** के साथ **तस्य कृते** अथवा **तत्कृते** अथवा **तस्य कार्ये, तम्** के स्थान पर **तस्य कक्षे, तस्मिन्** के स्थान पर **तस्य प्रति, तस्य** के बदले **तस्य कार्यकम्** इत्यादि। लगता है कि यह अनार्य प्रभाव से हुआ। इन्हीं शब्दों से हिन्दी के परसर्गों का विकास माना जाता है—

कक्ष अथवा **कृते** से **को, कहुँ;**
कार्य से **केर;**
कृत से **का, के, की;**
मध्य से **महँ, माँहि, में, मांझ;**
प्रति से **पै;**
उपरि से **पर;**
सम (एन) से **सौं, सों, सें, से।**

इन्हीं के सादृश्य से अन्य परसर्गों का विकास हुआ और भाषा योगात्मक से अयोगात्मक बनने लगी। अपभ्रंश में ही षष्ठी के लिए **केर, केरक;** सप्तमी के लिए **मांझ, उप्परि;** द्वितीया और चतुर्थी के लिए **केहि, कहँ;** तृतीया और पंचमी के लिए **सो, सजो, सहुँ;** आदि परसर्ग मिलने लगते हैं। कर्तृकारक में **तणेन** और **तणहुँ** प्राप्त होते हैं। **तणेन** से **णेन** और इससे हिं० **ने, तणहुँ** से **णहुँ** और इससे हिं० **नुं** (पंजाबी, बाँगड़ू) की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है। बीम्स **ने** को **ले** से और चटर्जी **कर्णे** से व्युत्पन्न मानते हैं। **कर्णे** से **कने** (पास) की सिद्धि भी स्पष्ट है। **लिए** क्रिया का परसर्गीय प्रयोग है। **लग** क्रिया से **लगे** और **लागे, लाइ, लगि** बोलियों में प्रयुक्त होते हैं।

हिंदी अभी संज्ञा पदों की दृष्टि से पूर्णतया अयोगात्मक नहीं हो पाई। **हाथों** (हस्ततः), **घोड़े** (घोटकेभिः), **घराँ** (गृहाणाम्), **घरे** (गृहके), **घोड़न** (घोटकानाम्) आदि विभक्तियुक्त रूप छुटपुट शब्दों में बच गए हैं।

संस्कृत में न केवल आठ विभक्तियों और उनके तीन लिंगों और तीन वचनों में रूपवैविध्य था, अपितु प्रातिपदिकों में अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, एकारान्त और हलन्त आदि भेद से रूपभेद हो जाते थे। इनमें भी यत्र-तत्र बड़ी जटिलताएँ थीं, जैसे **हरि** और **पति** दोनों इकारान्त पुंलिग शब्द हैं, किन्तु करण कारक में **हरि** से

हरिणा, और **पति** से **पत्या** बनता है। वैदिक भाषा में किन्हीं रूपों के कुछ विकल्प भी मिल जाते हैं, जैसे **वीर्येण, वीर्या; देवाः, देवासः; देवैः, देवेभिः; भगवस्, भगवन्; अक्षन्, अक्षणि; पथाः, पन्थानः; स्वप्नया, स्वप्नेन; नावया, नावा;** इत्यादि। इनसे जटिलता कुछ और अधिक थी। संस्कृत ने वैदिक विकल्पों में से एक को आदर्श और सिद्ध माना। यहीं से सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती रहती है। पालि में सप्तमी में **स्मि, म्हि** (<**स्मिन्**), षष्ठी में **स्स** (<**स्य**), और पंचमी में **स्मा, म्हा** (< **स्मात्**) सभी तरह के प्रातिपदिकों के रूपान्तर में प्रयुक्त होने लगे। प्राकृत तक अाते आते हलन्त प्रातिपदिक तो समाप्त ही हो गए, पुंलिंग अजन्त प्रातिपदिकों के रूप भी अकारान्त के समान होने लगे, जैसे **अश्वस्स, मुनिस्स, साधुस्स, पितुस्स**। वास्तव में **बाहु, मनस्, युवन्, जगत्** आदि शब्द ही अकारान्त **बाह, मन, जुव्वाण, जग** हो गए। इस तरह पुंलिंग शब्दों के रूपान्तर में एकरूपता आ गई। स्त्रीलिंग अजन्त शब्द पहले तो आकारान्त और इकारान्त हुए, तत्पश्चात् अन्त्य **-आ** का लोप हो जाने से प्रायः ऐसे शब्द पुंलिंग अकारान्त की तरह रूपान्तरित होने लगे। किन्तु वर्तमान हिन्दी में पुंलिंग प्रातिपदिकों का रूपान्तर दो कोटियों में और स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों का भी दो कोटियों में बँट गया है।

पुंलिंग आकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता है, जैसे **घोड़ा** से **घोड़े, लड़का** से **लड़के,** इत्यादि। यह **ए** करण कारक के **-एभिः** से विकसित हुआ है। शेष पुंलिंग शब्दों का एकवचन-बहुवचन वही रहता है, जैसे **पत्थर** से **पत्थर, साधु** से **साधु, पति** से **पति**। परसर्ग जुड़ने से पहले एकवचन में आकारान्त प्रातिपदिक एकारान्त होते हैं—जैसे **लड़के ने, लड़के से, लड़के का;** किन्तु शेष में कोई परिवर्तन नहीं होता—**पत्थर से, साधु को, पति का**। बहुवचन में **-ओं** (<**आनाम्**) का योग होता है, जैसे **घोड़ों ने, साधुओं से, पत्थरों पर, पतियों का**।

स्त्रीलिंग इकारान्त-ईकारान्त शब्दों का बहुवचन **-आँ** (<**आनि**) के योग से बनता है, जैसे **नदियाँ, गतियाँ;** शेष के बहुवचन में **-एँ** (<**-आनि**) होता है, जैसे **बातें, माताएँ, गौएँ,** इत्यादि। पुरानी हिन्दी और कतिपय हिन्दी बोलियों में सामान्यतः **-आँ** मिलता है, जैसे **बाताँ, गौआँ**। एकवचन तिर्यक् रूप में शब्द अक्षुण्ण रहता है, जैसे **लड़की ने, माता से, बात में,** बहुवचन में पुंलिंग की तरह **-ओं** लगता है—**लड़कियों का, बातों से, माताओं को, गौओं में**।

सर्वनामों के विकास की दिशाएँ भी प्रायः वही हैं—वचन दो रह गए, एकवचन और बहुवचन; पहले नपुंसकलिंग का लोप हुआ और बाद में स्त्रीलिंग का भी लोप हो गया। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में तो प्राचीन आर्य भाषा में भी लिंगभेद नहीं था; किन्तु हिन्दी में प्रथम पुरुष में भी भेद नहीं रहा, यह हिन्दी की विशेषता है। विभक्ति रूप पाने के बाद प्रयोग में हेर-फेर अवश्य हुआ है। **मैं** की उत्पत्ति **मया** से (करण से कर्ता) मानी जाती है, **अहम्** ब्रजभाषा के **हौं** के रूप में पाया जाता है। सम्प्रदान का मह्यम् हिंदी में तिर्यक् रूप **मुझ** बन गया और **मेरा** को **मम**+**केर** से विकसित किया गया। **अस्मद्** से **हम** और **अस्म**+**केरा** से **हमारा** सिद्ध हुआ। इसके अनुरूप **त्वं** से **तू, युष्मत्** और **तुभ्यम्** के सम्मिश्रण से **तुम, तुभ्यम्** से **तुझ,** और **केर** प्रत्यय से **तेरा, तुम्हारा** की सिद्धि हुई। **वह** को **असौ** से, **यह** को **एषः** से व्युत्पन्न माना जाता है। तिर्यक् रूप में

एतस्य (सम्वन्ध कारक) से **इस**, **अमुष्य** से **उस**, **एतानाम्** से **इन्ह**, **अमूनाम्** से **उन्ह** की उत्पत्ति हुई है। **यः** से **जो**, **कः पुनः** से **कौन**, **कोऽपि** से **कोई** मात्र ध्वनिपरिवर्तन से वन गए। **इस**, **इन** के सादृश्य से **जिस**, **जिन**, **किस**, **किन** भी बने।

वैदिक में समास कम थे। जो समासयुक्त शब्द थे भी वे प्रायः दो शब्दों से बने थे। संस्कृत में समासों की भरमार हो गई। किन्तु प्राकृत से पुनः समास इतने घटने लगे कि आज हिन्दी में इने-गिने रूढ़ समास पाए जाते हैं। हिन्दी व्यास-प्रवान भाषा है।

क्रियापदों के रूपान्तर में बड़ी जटिलता थी। सब क्रियापद विकरण की भिन्नता के अनुसार दस गणों में विभाजित थे—

१. भ्वादि गण— **अ** विकरण—	भू+अ+ति, भवति।
२. अदादि गण—विकरण रहित—	अद्+ति, अत्ति।
३. जुहोत्यादि गण—विकरण रहित पर धातु में द्वित्व—	हु+ति, जुहोति।
४. दिवादि गण—**य** विकरण—	दिव्+य+ति, दीव्यति।
५. स्वादि गण—**नु** विकरण—	सु+नु+ति, सुनोति।
६. तुदादि गण—स्वराघात युक्त **अ**—	तुद्+अ+ति, तुदति।
७. रुधादि गण—बीच में **न**—	रुध से रु+ण+ध+ति, रुणद्धि।
८. तनादि गण—**उ** विकरण—	तन्+उ+ति, तनोति।
९. क्र्यादि गण—बीच में **ना**—	क्री+ना+ति, क्रीणाति।
१०. चुरादि गण—**अय** विकरण—	चुर्+अय+ति, चोरयति।

इनमें प्रधानता भ्वादि गण की थी। गणपाठों में संकलित १९६० धातुओं में से १०५९ धातुएँ भ्वादि गण की थीं, ३९५ चुरादि गण की। चुरादि गण में **अय** का ध्वन्यात्मक विकास जिस दिशा में हुआ उससे इस गण और प्रथम गण के रूपान्तर समान हो गए। तुदादि गण (१४३ धातु) और प्रथम गण में कोई विशेष अन्तर था ही नहीं, पालि में ही तुदादि गण और भ्वादि गण की धातुएँ अभिन्न हो गईं और अदादि गण की ७२ धातुएँ भी भ्वादि गण के समान हो गईं। पंचम और नवम गण एक-से हो गए। शेष जुहोत्यादि, रुधादि और तनादि गणों में कुल ६० धातुएँ रह गईं। सादृश्य के आधार पर ये भी भ्वादिगणीय धातुओं की तरह रूपान्तरित होने लगीं। प्राकृत तक आते आते गणों का एकदम अभाव हो गया। इसी से हिन्दी में इतनी सरलता पाई जाती है।

पाणिनिकालीन आर्य भाषा में तीन पुरुष, तीन वचन, दो पद (परस्मैपद, आत्मनेपद), तीन वाच्य प्रयोग (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य), पाँच काल (वर्तमान, सम्पन्न, असम्पन्न और सामान्य), पाँच भाव या अर्थ (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावना, अभिप्राय और निर्बन्ध) थे। वैदिक में तत्सम्बन्धी विविधता और जटिलता कुछ अधिक थी। पालि-काल से द्विवचन का लोप हो गया। तीन पुरुष अब भी बने हैं। आत्मनेपद की अपेक्षा परस्मैपद की व्यापकता पालि में ही बढ़ने लगी थी। प्राकृत तक आते आते आत्मनेपद लुप्त हो गया। पालि में भूतकाल और लुट्

भविष्य के रूप कम हुए। वैदिक के बाद निर्बन्ध तथा अभिप्राय भावों का लोप हो गया। निर्बन्ध का प्रयोग केवल निषेवार्थक 'मा' के साथ रह गया; अभिप्राय भाव के उत्तम पुरुष के रूप अनुज्ञा (लोट्) में मिला लिए गए। प्राकृत में इतना कुछ भी नहीं रहा। सामान्य और असम्पन्न के रूप एक से हो गए, सम्पन्न धीरे-धीरे लुप्त हो गया। **सन्नन्त** (इच्छार्थक) और **यङन्त** (अतिशयार्थक) का प्रयोग घट गया। भूतकाल के रूप लुप्त होने लगे। दस लकारों में से अब वर्तमान, भविष्यत्, विधि और आज्ञा शेष रह गए।

प्रायः समझा जाता है कि पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरणबद्ध करके उसकी गति को अवरुद्ध कर दिया था; किन्तु भाषा अपनी निर्बाध गति से बढ़ती रही है। तभी तो पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में क्रमशः इतना अन्तर होता गया है। क्रिया के विकास में एक ओर तो संस्कृत के वैचित्र्य और वैविध्य का ह्रास है जिसका उल्लेख अभी किया गया है, और दूसरी ओर कृदन्त रूपों तथा उनके साथ सहायक क्रियाओं का व्यापक प्रयोग है।

संस्कृत की सूत्र-शैली में वाक्य की संरचना नाम और विशेषण के योग से सम्पन्न होने लगी थी। क्रिया की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। भाषा में क्रियाओं का विशेषण रूप अधिक प्रयुक्त होने लगा, और यह एक सामान्य शैली बन गई। क्रियापदों की जटिलता ने भी इस पद्धति को प्रोत्साहित किया। **अश्वमारुक्षत्** के स्थान पर **अश्वमारूढ़ः**, **सोऽवोचत्** की जगह **उक्तं तेन**, **मालामग्रथ्नात्** की जगह **मालां ग्रथितवान्** अधिक सरल हो गया। इसमें पुरुषभेद से रूपभेद करने की आवश्यकता भी नहीं रह गई। लगता है कि कृदन्तों का क्रियापदीय प्रयोग द्रविड प्रभाव के कारण भी प्रोत्साहित हुआ। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में और प्राकृत की अपेक्षा हिन्दी में यह प्रयोग अधिक व्यापक होता गया। हिन्दी में कृदन्तों से निम्नलिखित क्रियारूप विकसित हुए—

(क) भूतकृदन्तीय **-त** प्रत्यय से हिं० भूतकाल, जैसे **गतः** से **गया**, **उपविष्टः** से **बैठा**, **कृतः** से **किया**। इनके सादृश्य पर अन्य शब्दों के रूप सिद्ध होते गए—**पाया, खाया, सोचा, मिला, बुलाया** इत्यादि।

(ख) भूतकृदन्तीय **-इत** प्रत्यय से हिन्दी बोलियों में असमापिका क्रिया, जैसे **चलित** से **चलि**, **खादित** से **खाइ**, **मिलित** से **मिलि**। इनके सादृश्य पर **करि, जानि, जाइ** आदि सब रूप बनते गए।

(ग) वर्तमानकृदन्तीय-**अन्त** से हिन्दी सम्भाव्य वर्तमान क्रिया, जैसे **भवन्त** से **होत, होता**; **जानन्त** से **जानत, जानता**; इत्यादि।

(घ) पूर्वी हिन्दी के भूतकालिक **दीन, लीन** आदि रूप भूतकृदन्तीय **-न** (जैसे भग्न, **रुग्ण**, भिन्न) से बने हैं।

(क) और (ग) वर्ग के कृदन्तीय रूपों के साथ सहायक क्रिया—**है, था, होगा**, आदि—लगाकर अनेक काल-रूप सिद्ध होते हैं, जैसे **किया है, करता है**; **किया था, करता था; किया होता, करता होता, किया होगा, करता होगा**। भविष्यत् प्रत्यय **-गा** का विकास **गतः** से हुआ है—यह घटना बहुत पुरानी नहीं है।

सहायक क्रियाओं की व्युत्पत्ति **अस्**, **भू** और **स्था** धातुओं के रूपों से हुई है।

अस्मि>अम्हि>हूँ अथवा **भवामि>होऊँ, हूँ;**

अस्ति>अत्थि>अहइ>अहै, है;

भवति>होइ>हो, होवे;

स्थित>थिंअ>था अथवा **सन्त, असन्त>अहन्त, हन्तो, हतो, थो, था।**

भवन्त से **होता, भूत** से **हुआ**, आदि स्पष्ट हैं।

प्रसंगवश यहाँ काल-रचना की उस प्रणाली की व्याख्या कर देनी चाहिए जो प्राचीन लकार-रूपों से हिन्दी ने ग्रहण की है—

(क) वर्तमानकालिक रूपों से वर्तमान इच्छार्थक, जैसे **चलामि** से **चलूँ**, **चलसि** से **चले, चलति** से **चले; चलामः** से **चलें, चलथ** से **चलो, चलन्ति** से **चलें।**

ग्रियर्सन ने आज्ञार्थक **चल, चलो; चले, चलें; चलूँ, चलें** को भी इन्हीं से व्युत्पन्न माना **है। चल, पढ़, लिख** आदि को प्राचीन आर्य भाषा के **चल, पठ, लिख** ही से सिद्ध करना होगा। इसी तरह **चलानि** से **चलें** और **चलतु** से **चले, चलो** की सिद्धि स्पष्ट है।

हिन्दी इच्छार्थक रूप के साथ कृदन्तीय **-गा** जोड़ने से भविष्यत् काल के रूप बनते हैं—**जाऊँगा, जाएँगे; जाएगा, जाओगे; जाओगी** आदि।

(ख) प्राचीन आर्यभाषा के भविष्यत्कालीन रूप ब्रजभाषा और कुछ अन्य बोलियों में विद्यमान हैं—**चलिष्यामि** से **चलिहौं; चलिष्यामः** से **चलिहैं; चलिष्यसि** से **चलिहै; चलिष्यथ** से **चलिहौ; चलिष्यति** से **चलिहै; चलिष्यन्ति** से **चलिहैं।**

हिन्दी के क्रियारूपों में लिंगभेद देख कर बहुत से लोगों को आश्चर्य होता है कि जब संस्कृत-प्राकृत में ऐसा नहीं था तो हिन्दी में यह निरालापन कैसे आ गया! वास्तव में क्रियागत लिंगभेद क्रियारूपों से गृहीत हिन्दी रूपों में नहीं है, कृदन्तीय रूपों में ही है। कृदन्त विशेषण की तरह विकारी थे—प्राचीन आर्य भाषा में इनको लिंग-वचन-कारक भेद से रूपान्तरित किया जाता था; जैसे **तेन सर्पः हतः, तेन सर्पाः हताः, मया फलं गृहीतम्, मया फलानि गृहीतानि, तेन शाला निर्मिता, तेन शालाः निर्मिताः।** अतः हिन्दी में भी **उसने ग्रन्थ पढ़ा, उसने ग्रन्थ पढ़े; उसने पुस्तक पढ़ी, उसने पुस्तकें पढ़ीं** आदि रूप बने। (भूतकाल में हिन्दी कर्ता के साथ **ने** का प्रयोग भी संस्कृत करण कारक **तेन, रामेण** रूपों से व्युत्पन्न हुआ)।

[बंगला, असामी और उड़िया में अनार्य प्रभाव के कारण आख्यातों में लिंगभेद नहीं पाया जाता।]

प्राचीन आर्य भाषा के कर्मवाच्य रूप—**क्रियते, दीयते** आदि—से अपभ्रंश में-**इज्जइ** प्रत्यय का विकास हुआ। उसी से मारवाड़ी **पढ़ीजे, मरीजे** आदि बने। हिन्दी में **कीजिए, लीजिए, दीजिए, चाहिए** आदि रूप तो विद्यमान हैं, किन्तु कर्मवाच्य रूप विश्लेषणात्मक ढंग से **जाना** धातु के क्रियारूप जोड़ कर बनाए जाते हैं, जैसे **पढ़ा जाता है, लिखी जाती थी, सोचा गया** इत्यादि।

जैसा कि ऊपर बताया गया हिन्दी का कर्तरि प्रयोग **मैंने पुस्तक पढ़ी** प्राचीन कर्मणि प्रयोग **मया पुस्तकम् पठितम्** से परिवर्तित होकर बना है।

सकर्मक और प्रेरणार्थक रूप प्रा० आ० के **-आप** -(जैसे **प्रापयति, स्नापयति**) से **-आव-** और फिर **-आ-** से सिद्ध होते हैं। उदाहरण—**चढ़ना, चढ़ाना; लिखना, लिखाना; नाचना, नचाना।** ये सकर्मक रूप वास्तव में गुण-वृद्धि से बने हैं। अन्य उदाहरण—**फूटना, फोड़ना; मुड़ना, मोड़ना; छिलना, छीलना; कटना, काटना;** इत्यादि।

यद्यपि संस्कृत में **एधांवभूव, चालयांचकार** आदि संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं, किन्तु **देना, पड़ना, लेना, उठना, सकना, चुकना,** चाहना, लगना, पाना, रहना, आदि के योग से **मार देना, लेट पड़ना, खा लेना, चौंक उठना, पढ़ सकना, पी चुकना, देना चाहना, खाने लगना, दे पाना, लेटा रहना** आदि रूपों का विकास हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की अपनी विशेषता है। संभव है, इनके निर्माण में फ़ारसी और द्रविड़ का प्रभाव रहा हो।

क्रियाविशेषणों में **यथा, तथा, अन्यथा, द्विधा, बहुधा, सहस्रशः, शतशः, अतः, सर्वत्र, सर्वदा, सदा, यदि, आदि** अविकल रूप में वैदिक काल से चले आ रहे हैं। किन्तु इनको हम उसी कोटि में रखते हैं जिसमें हिन्दी के तत्सम शब्दों को रखा गया है। यह तो अविकारी शब्द मात्र थे, इसीलिए साहित्यिक भाषा में उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं। विकारी शब्दों के व्याकरणगत रूप कहीं भी अविकल नहीं रह पाए। प्राचीन आर्य भाषा में संज्ञा के कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक क्रियाविशेषण के अर्थ में प्रयुक्त होते थे। इनमें करण और अपादान के अनुवादस्वरूप **से** के योग से हिन्दी में क्रियाविशेषण बनाने की व्यापक पद्धति प्रचलित है, जैसे **शीघ्रता से, फुर्ती से, आराम से**, इत्यादि। अधिकरण कारकीय में के योग से भी कुछ क्रियाविशेषण बनते हैं, जैसे **सहज में, वास्तव में।** कतिपय विशेषण तत्सम रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे **सहसा, सायं, साक्षात्, अकस्मात्, विशेषतया, विशेषतः** आदि।

हिन्दी के वाक्ययोजन में पदक्रम—पहले कर्ता, फिर कर्म, अन्त में क्रिया, और विशेष्य से पूर्व विशेषण तथा क्रिया से पहले क्रिया विशेषण—की तुलना संस्कृत से करें तो ऐसा दिखाई देता है कि योगात्मक होने के कारण संस्कृत में अधिक स्वतंत्रता थी। **रामेण सर्पः हतः, सर्पः रामेण हतः, हतः सर्पः रामेण, हतः रामेण सर्पः** में पदक्रम के परिवर्तन से अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। हिन्दी में **राम ने साँप मारा** ही कहा जायगा, यद्यपि बल देने के लिए हम **साँप राम ने मारा** या **मारा साँप राम ने** कह सकते हैं। वैदिक और संस्कृत गद्य में हमें लगभग वही पदक्रम मिलता है जो हिन्दी में है। काव्य में वाक्ययोजन की पद्धति अस्त-व्यस्त हो जाती रही है।

तीन साहित्यिक उपभाषाएँ

हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए तीन बोलियों की जानकारी परमावश्यक है। इनमें **अवधी**, जायसी और तुलसी के समय में भाषापद को प्राप्त करने वाली थी, किन्तु उत्तर काल में

उनकी परम्पराएँ आगे नहीं चल पाईं। इसका व्यवहार अवधी प्रदेश के कवियों के घेरे के बाहर नहीं हो पाया; ब्रजभाषा की कोमल कान्त गुणवत्ता और ब्रजभाषा साहित्य की अधिक व्यापक लोकप्रियता ने अवधी को आगे नहीं बढ़ने दिया। ब्रजभाषा के साथ 'भाषा' नाम अब भी जुड़ा हुआ है। लगभग ३०० वर्ष तक ब्रज की यह बोली भाषा के पद पर आसीन रही। सच तो यह है कि हिन्दी के जन्मकाल से ही ब्रजभाषा हिन्दी कविता की प्रधान भाषा रही है। आरम्भ में इसको इतना गौरवान्वित करने का श्रेय वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों को है। धीरे धीरे यह समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा बन गई। २०वीं शती के आरंभ में महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में खड़ीबोली इसके स्थान पर काव्यक्षेत्र में प्रतिष्ठित हुई। तब से खड़ीबोली को बड़ी द्रुत गति से, विशेषतः गद्य साहित्य के विकास और पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, शिक्षा आदि के प्रसार के कारण, भाषा बनने का अवसर मिलता गया। पूर्व काल में अमीर ख़ुसरो के अतिरिक्त संत कवियों की वाणी में इसका प्रयोग मिलता है। तब यह बोली मात्र थी। किन्तु वर्तमान समय में इसकी होड़ भारत की कोई भाषा नहीं कर सकती। यह है ज़माने का फेर कि जो भाषा थी वह बोली बन कर रह गई और जो बोली थी वह भाषा बन बैठी।

अवधी—अर्धमागधी से विकसित पूर्वी हिन्दी बोलियों में अवधी सर्वप्रधान और प्रतिनिधि बोली है। खड़ीबोली की तुलना में अवधी के स्वरों की मात्रा कुछ कम होती है। **अ** अर्धसंवृत है। काव्य में छन्दों की गणना से सिद्ध होता है कि शब्दान्त **अ** का उच्चारण होता था, यद्यपि आज ऐसे शब्द व्यंजनान्त बोले जाते हैं—**नखत, ऊख** (जायसी); **मन, हिय, काज** (तुलसी); **अचरज, रात, जीभ** (नूरमुहम्मद)। **इआ** के बीच में य-श्रुति एवं **उआ** के बीच में व-श्रुति नहीं है, जैसे **सिआर** (खड़ी बोली में **सियार** या **स्यार**), **गुआल** (खड़ी बोली में **ग्वाल**)। **ऐ, औ** संध्यक्षर हैं=**अइ, अउ,** जैसे **जइसे, अउरत** में। ह्रस्व **ए, ओ** (जैसे **बेटवा, लोटवा** में) दीर्घ **ए, ओ** के अतिरिक्त पाए जाते हैं, यद्यपि लिखाई में दोनों का रूप एक ही रखा गया है। /**ण**/ के स्थान पर /**न**/ मिलता है, जैसे **गुन** (<गुण), **लछमन** (लक्ष्मण), इत्यादि। संस्कृत के शब्दों में /**ण**/ लिखा तो जाता रहा है, किन्तु वर्तमान समय में उसका उच्चारण **ड़ँ** की तरह करते हैं, जैसे **गौंड़, गुँड़**। /**श**/, /**ष**/ का उच्चारण प्रयत्न करने पर भी बहुत से लोग नहीं कर पाते; संस्कार /**स**/ का ही पड़ गया है, जैसे **रिसि बिस्वामित्र** (ऋषि विश्वामित्र), **भूसंड़** (भूषण), इत्यादि। साहित्य में तत्सम और अर्ध-तत्सम शब्दों में /**श**/, /**ष**/ मिलता है, जैसे **श्रुतकीर्ति, देश, भूषण, बिसेषि,** किन्तु **देषि** आदि शब्दों से लगता है कि /**ष**/ का प्रयोग /**ख**/ के लिए होता था और इसका **ख** उच्चारण व्यापक रहा होगा। /**व**/ को व्यंजन रूप में /**ब**/ और स्वर-रूप में /**उ**/, /**ओ**/ करके बोलते हैं, जैसे **बाहन, ब्याकुल, उकील, ओकील, हरदेउ**। इसी प्रकार /**य**/ का व्यंजन-रूप उच्चारण /**ब**/ और स्वर-रूप उच्चारण /**ए**/ जैसा होता है। नासिक्य ध्वनि के बाद /**ड**/ /**ढ**/ उच्चरित होते हैं, किन्तु साधारणतः केवल शब्द के आदि में /**ड**/ /**ढ**/ पाए जाते हैं, बीच में इनकी सहध्वनियाँ /**ड़**/ /**ढ़**/ ही मिलती हैं।

संज्ञा शब्दों के तीन-तीन रूप मिलते हैं—पुं० **घोर, घोरवा, घोरौना,** स्त्री० **बेटी, बिटिया,**

बिटीवा, किन्तु साहित्य में तीसरा रूप प्रायः नहीं मिलता। **-वा,-इआ** वाले रूप व्यक्तिवाचक और विदेशी शब्दों तक की बनावट में प्रयुक्त होते हैं, जैसे **जगदीसवा, रजिस्टरवा, जगदइआ, पिसिलिआ**। बहुवचन खड़ी बोली की तरह बनते हैं—**सपन** से **सपने, पत्थर** से **पत्थर, रिसि** से **रिसि, बात** से **बातें;** किन्तु एकवचन बहुवचन के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है—जैसे **लरिका जात रहिन**। **असीस** से **असीसो** खड़ीबोली के लिए अपरिचित रूप है। तिर्यक् रूप में एकवचन में वही मूल रूप रहता है, अथवा **-हिं,-इं** प्रत्यय जुड़ते हैं; बहुवचन में **-न, -न्ह, -नि, -न्हि** आदि प्रत्यय लगते हैं, जैसे **लोगन जान , मुनिन्ह कीर्ति गाई**। स्त्रीप्रत्यय अवधी और खड़ीबोली के लगभग एक-से हैं, किन्तु खड़ीबोली का **-न, -इन** या **-आइन** अवधी में **-नि, -इनि,** या **-आइनि** होता है, जैसे **मालिनि, नाउनि, पण्डिताइनि**। **मौसा** के लिए **मउसिआ** भी उल्लेखनीय है।

परसर्गों का विवरण इस प्रकार है—

कर्ता—(खड़ीबोली का **ने** पूर्वी हिन्दी में नहीं है)।

कर्म, सम्प्रदान—**का, क, कां,** साहित्यिक अवधी में **कहुँ** भी।

करण, -अपादान—**से, सेनी, सेन;** साहित्यिक अवधी में **सउँ, सौं, तें (रतन तें, केलि सौं), सेंति, हुत** आदि।

सम्प्रदान— **बरे, बदे**।

सम्बन्ध—**के, कर, केर, क, की कै** (स्त्रीलिंग) (**गाढ़े के साथी, दई कर नाउँ, गोसाईं केर, ओहि क पानि बारी की नाइँ**)।

अधिकरण— **में, म, पर;** साहित्य में **महुँ, महँ. मांहा, मांझ** भी।

साहित्यिक अवधी में बिना परसर्गों के भी सभी अर्थों में प्रयोग मिल जाते हैं, जैसे **गुनहि मनु राता** (अधिकरण लुप्त), **सोनै साजा** (करण लुप्त), **मैं चरित संछेपहि कहा** (कर्म लुप्त)।

अन्य परसर्ग—**संग, लगि, लागि, पांहि, पास, ताईं, बीच, लइ**।

निम्नलिखित विवरण से सर्वनामों की स्थिति स्पष्ट हो जायगी—

उत्तम पुरुष—एकवचन **मैं, मइँ;** तिर्यक् **मो-, मोहि-;** संबंध **मोर;**
बहुवचन **हम, हम लोग;** तिर्यक् **हमहिं;** संबंध **हमार;**
मध्यम पुरुष—एकवचन **तू, तै, तइं;** तिर्यक् **तो-, तोहि;** संबंध **तोर;**
बहुवचन **तुम, तुम्ह, तुम लोग;** तिर्यक् **तुम्हहिं;** संबंध **तुम्हार, तोहार**।

अन्यपुरुष—एकवचन : **वह,** (आधुनिक **ऊ**); तिर्यक् **ओ, ओहि;** संबंध **ओकर**
बहुवचन : **वेइ, तेइ** (आधुनिक **ऊ**); तिर्यक् **उन, उन्ह, तिन्ह, उन्हहिं;** संबंध **कर ;**
एकवचन : **यह** (आधुनिक **ई**); तिर्यक् **ए, एहि;** संबंध **एकर ;**
बहुवचन : **ए, ये** (आधुनिक **ई**); तिर्यक् **इन, इन्हि;** संबंध **इनकर ;**
एकवचन : **से;** तिर्यक् **ते;** संबंध **तेकर ;**

बहुवचन : **ते, तवन**; तिर्यक् **तेन**; संबंध **तेन कर**।

संबंधवाचक—**जो, जेइ, जवन**; तिर्यक् **जिह, जिहहिं**; बहुवचन **जिन, जिन्ह**।

प्रश्नवाचक—**के, कवन; का** (खड़ी बोली में **क्या**); **काहे**। साहित्य में **को, केइ, कहि, काहि** भी।

अनिश्चयवाचक—**कोइ, कौउ, काहु, केहुँ; कछू, कछुक, कुछ**।

निजवाचक—**आपु, आप; आपुहि; आपन**।

सर्वनाम मूलक विशेषण—**अस** (आधुनिक **अइस** इत्यादि), **जस, कस, एतन, ओतन, उत, कत**।

विशेषण प्रायः मूल में अकारान्त (अब व्यंजनान्त) होते हैं, जैसे **नीक, भल, बड़, खोट, थोर, मोर, हमार, केकर** इत्यादि। स्त्रीलिंग संज्ञाओं के रहते इन विशेषणों के साथ **-इया, -ई** प्रत्यय लगता है, जैसे **नीकी, मीठी, आपनि, घनि, ओकरी, मोरी**। कई प्रयोगों में लिंग-परिवर्तन नहीं होता, जैसे **नीक बात, खोट चाल**। बहुवचन में केवल पुंलिग में विकल्प से परिवर्तन होता है और **-ए** प्रत्यय जुड़ता है, जैसे **दुइ दीपक उजिआरे**।

गिनती के निम्नलिखित शब्द, जो खड़ी बोली हिन्दी से भिन्न हैं, उल्लेखनीय हैं—**दुइ, तीनि, छा, एगारा, एग्यारा; पहिल, दोसर** (**दूसर**), **दूजा, तिसरे**। निम्नलिखित अव्यय भी अवधी के विशिष्ट हैं—**कालि** (कल), **भोर** (सबेरे), **पुनि** (फिर), **बहोरी** (फिर), **बेगि** (जल्दी), **पाछे**—आधुनिक **फिन** या **फुन** (फिर), **इहाँ, उहाँ, तहाँ, तहवाँ, सउँह** (सामने), **निअरे, इत, उत, इमि** (यों), **तस, जस, नाईं, जिनि** (मत), **किन** (क्यों न), **अवसि** (अवश्य), **औ** या **अरु** (और), **बरु** या **बरुक** (भले ही); **-ऊ** या **-हू** (भी)।

अवधी में विविध सहायक क्रियापद प्राप्त होते हैं—(वर्तमान) **आटे, बाटे, है अहै;** (भूतकाल में) **भए, रहे**। साहित्य में **अछ** भी मिलता है, किन्तु यह उधार लिया हुआ रूप है। अवधी की एक प्रमुख बोली बैसवाड़ी में **आहि** और **आय** भी पाए जाते हैं।

अकाल-क्रिया या संज्ञार्थक-क्रिया प्रायः**-ब**-रूप होती है, जैसे **देखब** (देखना), **करब** (करना), **देखिबे का** (देखने को) अथवा **खाए क** (खाने को)। वर्तमान कृदन्त **देखते, देखित, करत**; भूत कृदन्त **देखा, करा, पावा, भवा** (हुआ); पूर्वकालिक कृदन्त **देखिके, करिके**। साहित्य में प्राप्त निम्नलिखित कृदन्तीय रूप उल्लेखनीय हैं—**सिराति न राति, पाइत भोगू, देखिअत; नारद जानेउ, रथ समेत रबि थाकेउ**। भविष्यत् काल में **-ह-** रूप, तथा **-ब** रूप होता है, जैसे **देखब, कहब; देखिहैं**। **-ह**-रूप वर्तमान अवधी में लुप्तप्राय है। कालों और अर्थों के शेष रूप अधोलिखित हैं। इनसे लिंग, वचन और पुरुष भी जाने जा सकेंगे।

संभाव्य वर्तमान—स्त्रीलिंग पुंलिग दोनों में—**देखउँ, देखौं** (देखूं), **देखी** (हम देखें); **देख, देखा** (तू देख), **देखउ, देखो** (तुम देखो), एवं **देखस** (तू उसको देख), **देखब** (तुम देखो); **देखइ** (वह देखे), **देखें** (हम देखें)।

वर्तमान आज्ञार्थ—**सुनु, सुन, सुनस** (तू उसको सुन), **सुनहि** (साहित्य में) ; **सुनौ, सुना, सुनब** (तुम सुनो), **सुनहु** (साहित्य में); **सुनउ** (सुनिए)।

भविष्यत् आज्ञार्थ—**देखसु** (तू देखना), **देखहु** (तुम देखना)।

भविष्यत्—**कहबूँ** (मैं कहूँगा), **कहब** (हम कहेंगे); **कहबे** या **कहबेस** (तू कहेगा), **कहबो** (तुम कहोगे); **कहे, कहिहै** (वह कहेगा), **कहिहैं** (वे कहेंगे); साहित्य में **जइहसि** (तू जायगा)।

भूतकाल—पुंलिग में—**सुनेउँ, सुना** या **सुनेन; सुनेस**, सुनेउ या **सुना; सुनेस या सुनै, सुनेन** या **सुनैं**।

स्त्रीलिंग में—**देखिउँ, देखी; देखिसि, देखी; देखी या देखिसि, देखी** या **देखिनि।**

सम्भाव्य भूत—पुंल्लिग में (मैं देखता आदि)-**देखतेउँ, देखित; देखतेस, देखतेहु, देखत, देखतेन।**

—स्त्रीलिंग में (मैं देखती आदि)—**देखतिउँ, देखित, देखतिस, देखतिन; देखित, देखतिन।** शेष रूप सहायक क्रिया और कृदन्तों से सहज में सम्पादित होते हैं। प्रेरणार्थक क्रिया-**-आव-** जैसे बनती है,जैसे **सुनावहि;** किन्तु पूर्व और पश्चिम के रूप भी साहित्य में मिल जाते हैं, जैसे **मिल** से **मेलाए, मिट** से **मेटे** एवं **बैठ** से **बैठारे।**

ब्रजभाषा—पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के अध्ययन के लिए ब्रजभाषा कुंजी का काम करती है। एक ओर बुंदेली और कन्नौजी, दूसरी ओर राजस्थानी बोलियाँ ही नहीं गुजराती तक, और उत्तर में गढ़वाली और कुमायूनी की प्रकृति को ब्रजभाषा की जानकारी के बाद सरलता से समझा जा सकता है—खड़ीबोली और बाँगड़ू अवश्य कुछ निराली हैं, इनका मेल पंजाबी से जा बनता है। शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न सभी बोलियों में ब्रजभाषा मुख्य उत्तराधिकारिणी है। शूरसेन का ही दूसरा नाम ब्रजमण्डल है। ब्रजभाषा की अनेक बोलियाँ हैं किन्तु साहित्यिक भाषा का जो सामान्य स्तर विकसित हुआ था उसी की विशेषताओं का विवरण यहाँ देना उपयुक्त होगा।

/ऐ/ /औ/ ब्रजभाषा की पहचान की विशेष ध्वनियाँ हैं। सामान्य हिन्दी के **/ऐ/ /औ/** मूलस्वरों की अपेक्षा ये कम विवृत हैं। खड़ीबोली में जहाँ **/ए/ /ओ/** (विशेषत: अन्त्य स्वर) पाया जाता है, वहाँ ब्रजभाषा में **/ऐ/ /औ/** उच्चारण मिलता है, जैसे **तो, को, पे, में, ने** के स्थान पर **तौ, कौ, पै, मैं, नै।** खड़ी में शब्द के अन्त में जो **/-औ/** मिलता है, उसके स्थान पर ब्रजभाषा में **/ -ओ/** (कभी कभी**-औ**) पाया जाता है, जैसे **आया, होता, कह्या, जाऊँगा, दूजा** का ब्रजभाषा में क्रमश: **आयो, होतो, कह्यो, जाऊँगो, दूजो** रूप होता है। खड़ीबोली **।ड़।** की जगह बहुधा **/र/** मिलता है; जैसे **जुरतो** (जुड़ता), **निबेरि** (निबेड़ कर), **परे** (पड़े), इत्यदि में। **-य-व-**श्रुति सामान्य रूप से मिलती है।

प्राचीन अवधी की तरह ब्रजभाषा में पुंल्लिग एकवचन के अन्त में **-उ** और स्त्रीलिंग एकवचन के अन्त में **-इ** प्रायेण रहता है। यह विशेषता आज भी ब्रजभाषा में विद्यमान है। उदा-

हरण **मालु, सबु, करमु; कालि, दूरि।** बहुवचन खड़ीबोली के अनुसार होता है, केवल उच्चारण का अन्तर है, जैसे **काँटे, घर, सखा; किलोलैं (किलोलें), लटैं (लटें), अँखियाँ, छतियाँ;** इत्यादि। तिर्यक् रूप में **-न, -नि, -अन, -न्ह** प्रत्यय लगते हैं, **बीथिन्ह, सखियन, तुरकान, कटाछनि।** खड़ीबोली की तरह **-औं** प्रत्यय भी व्यवहृत होता है, जैसे **घरौं, बातौं, नारियौं** में।

प्राचीन ब्रजभाषा में कारकों के कुछ विभक्ति-रूप मिल जाते हैं, जैसे **पूतहि, बांभनै, सपनें, हिये, जगति, द्वारै** आदि में। किन्तु साधारणतया परसर्गों का प्रयोग अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साथ ही मिलने लगता है। निम्नलिखित परसर्ग उल्लेखनीय हैं—

कर्ता—०, ने, नैं

कर्म—को, कौ, कौं, कूं, कु, कैं, कें

करण-अपादान—सो, सों, सौं, तैं, ते, तें

सम्बन्ध—को (कौ), के, कै, की, कि

अधिकरण—में, मैं, मांझ, पे, पैं, पर

अन्य उपसर्ग—काज, लए, लगि, ढिग, नाईं, पाछै, ताईं, लौं।

बिना परसर्ग के भी तिर्यक् रूप विभक्त्यर्थ प्राप्त होता है, जैसे **हाटनि बाटनि गलिन कहूँ कोउ चलि नहि सकत; पढ़े एक चटसार;** में।

विशेषण का प्रयोग खड़ी बोली के समान होता है, केवल पुंलिंग एकवचन में रूप का अन्तर है; जैसे **दूजो, दूजै, दूजी; उल्टो, उल्टै, उल्टी;** आदि। संख्यावाची शब्दों में **द्वै, तीनि, सोरह; पहिलो, दूजो** या **बियो; दोउ** या **उभै, तीन्यौ** उद्धरणीय हैं।

सर्वनामों में **हौं** (मैं) और इसके तिर्यक् रूप **मो-** का ध्यान रहने से शेष रूप खड़ीबोली के अनुसार बहुत कुछ समझे जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि साहित्य में विकल्प से अपभ्रंश के रूप विचारणीय हैं, जैसे **मोहि, हमहि, जाहि, जासु, ताहि, तासु, काहि, रावरो** (आप)। सर्वनामों की तालिका नीचे दी जाती है—

उत्तम पुरुष—मैं, हौं, मो (कौ)..., मोहि, मुजकौ, मेरौ / हम, हमन; हमैं, हमहि; हमारौ।

मध्यम पुरुष—तू, तूं, तैं, तो (कौ)...तोहि, तुजकौ, तेरौ। तुम, तुमहि, तुम्हैं; तुम्हारौ, तिहारौ।

अन्य पुरुष—वौ, वह; वा (कौ)..., वाहि; / वे, वैं; उन; उन्हैं;
ए, यह; या (कौ)..., याहि; / ये; इन; इन्हें;
सो, तौन; ताहि; तिन्हैं, तिन (कौं)...इत्यादि।

संबंधवाचक—जो, जे, जौ, जौन; जाहि, जा (कौ)...; जिन

प्रश्नवाचक—को, कौन; का, काहि; कहा (क्या)।

अनिश्चयवाचक—कोइ, कोऊ; काहू; कछू

ब्रजभाषा के कुछ विशिष्ट अव्यय नीचे दिये जा रहे हैं—
अजौं, पुनि, अजहूँ, सदाइं, ह्याँ, इत, इतै, तहँ, जित, कतहुँ; तौ, जौ लौं; सामुहें (सामने), अनत (अन्यत्र); जिमि (ज्यों), किमि (कैसे), मनौ (मानों), मनु, जनु, वर, भल; नहिं, नहीं नाहीं, नाहिन, न, ना, जनि; केतो, नैक; हू (भी), ही; औ, और, अस, कै, तौ, जौ, जौपै, ता तै।

क्रियारूपों में सहायक क्रिया के वर्तमान काल के रूप **हौं** (खड़ीबोली हूँ), **हौ** (खड़ीबोली **हो**) विशिष्ट हैं। भूतकाल में **हो, हतो, हुतौ, तो** (**था** के लिए), हे, हते, हुते, ते (**थे** के लिए), **ही, हती, हुती,** ती (**थी** के लिए) और **हीं, हतीं, हुतीं, तीं** (**थीं** के लिए) आते हैं। **भयो, भयौ, भो** (हुआ), **भए** (हुए), **भई** (हुई), एवं **भईं** (हुईं) पूर्वी हिन्दी से मिलते-जुलते रूप हैं। संभाव्यार्थ में **हौऊँ** (होऊँ या हूँ), **होहिं** (हों) **होय** या **होई** (हो) उल्लेखनीय हैं। भविष्यत् निश्चयार्थ में **ह्वैहै, ह्वैहें** आदि ब्रजभाषा के अपने रूप हैं।

संज्ञार्थक क्रिया के रूप हैं **देखन, देखनौ** (तिर्यक् **देखनै**), **देखिबौ** (तिर्यक् **देखिबे** या **देखिबै**), जसे '**हँसिबौ रमिबौ बोलिबौ,गयौ** बीरबल साथ' में; '**मारिबै कों** आयौ'। असमापिका क्रिया— **देखि, समुझि, देखि कै, देखि करि, खाय कै, ह्वै कै;** प्रेरणार्थक क्रिया खड़ीबोली के समान —**आ** अन्तःसर्ग से—,जैसे **समुझाऊँ, कहावै, करायो, छुवानौ, दिवायो,** वर्तमान कृदन्त— **मारत, मारतु; मारति;** भूतकृदन्त—**मार्‌यौ, कह्यो, ठयौ, कीनौ, लीनो, दीनो, दियौ, दयौ**— ऐसे ही भूतकाल के रूप भी बनते हैं। खड़ीबोली से केवल उच्चारणगत अन्तर है। वर्तमान काल और भविष्यत्‌काल के रूप विस्तार से दिए जा रहे हैं—

वर्तमान		वर्तमान संभाव्य	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. मारौं	मारैं	१. मारूँ	मारहिं
२. मारै	मारौ	२. मारहि	मारहु
३. मारै	मारैं	३. मारहि	मारहिं
भविष्यत् (१)	-ह- रूप	भविष्यत् (२) -	ग- रूप
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. मारिहौं	मारिहैं	१. मारौंगौ	मारैंगे
२. मारिहै	मारिहौ	२. मारैगौ	मारौगे
३. मारिहै	मारिहैं	३. मारैगो	मारैंगे

आज्ञार्थ में **सुन, सुनु, सुनि, सुनहि, सुनौ, सुनियो, सुनियै, सुनिजै** खड़ीबोली के रूपों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

खड़ीबोली—खड़ीबोली के अनेक नाम बताए जाते हैं—हिन्दुस्तानी, नागरी, सरहिन्दी, कौरवी; किन्तु खड़ीबोली नाम इस समय अधिक प्रचलित है। खड़ी का अर्थ है स्टैंडर्ड, जैसे पूना

की खड़ीबोली मराठी, जयपुर की खड़ीबोली राजस्थानी। वर्तमान साहित्यिक हिन्दी या सामान्य हिन्दी और उर्दू दोनों खड़ीबोली पर आधारित हैं। चाहे सामान्य हिन्दी के बोलने वालों की संख्या २०-२२ करोड़ के बीच में है, खड़ीबोली बोलने वाले ६० लाख से अधिक नहीं हैं। भाषा की सामान्यता प्राप्त होने से पहले बोली का ही प्रयोग उत्तरी और दक्खिनी हिन्दी में होता है और क्रमशः विकास होते-होते आधुनिक रूप बना है, अतः बोली का अध्ययन आवश्यक और उपयोगी होगा।

विशिष्टता और पहचान की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अवधी अकारान्त (अथवा व्यंजनान्त) प्रधान है, जैसे **करत, होत, होब, घोर,** या **घोड़, नीक, बड़, खोट**; ब्रजभाषा ओकारान्त प्रधान है, जैसे **आयो, लीनो, होतो, करैगो, करनो, करिबो, नीको, बड़ो, खोटो, घोरो, छोरो;** और खड़ीबोली आकारान्त प्रधान है जैसे **करता, किया, करना, करेगा, बड़ा, छोटा, खोटा, घोड़ा, छोरा।** /**ऐ**/ /**औ**/ का उच्चारण इतना संवृत होता है कि ये क्रमशः /**ए**/, /**ओ**/ सुनाई देते हैं, जैसे **बेठ, पेर, ओर** या **होर, दोरा** (**बैठ, पैर, और, दौरा** के लिए)। /**ह**/ के पहले /**अ**/ का उच्चारण /**ए**/ की तरह सुना जाता है, जैसे **केह्या** (कह्या), **रेह** (रह) आदि में। ठेठ बोली में /**ड़**/ के स्थान पर /**ड**/, स्वरमध्यग /**ल**/ के स्थान पर /**ळ**/ और स्वरमध्यग /**न**/ के स्थान पर /**ण**/ बोला जाता है, जैसे **गाडी** (गाड़ी), **बडा** (बड़ा); **माळ, नीळा** (माल, नीला); **जाणा** (जाना), **जाण्या** (जाना-समझा), **लेण-देण** (लेन-देन)। खड़ीबोली की एक और बड़ी भारी विशेषता है स्वरमध्यग द्वित्त्व व्यंजन जो दीर्घ स्वर के बाद भी उच्चारित होता है, किन्तु उस स्वर की दीर्घता कुछ कम हो जाती है। उदाहरण—**बाप्पू, बेट्टा रान्नी** या **राण्णी, लोट्टा,** एवं **पूच्छा** तथा **पुच्छा**। बाँगड़ू और खड़ीबोली में अन्य हिन्दी बोलियों की अपेक्षा बलाघात कुछ ज़ोर से पड़ता है जिसके कारण पूर्ववर्ती दीर्घ अक्षर तो ह्रस्व हो ही जाता है, कभी-कभी ह्रस्व स्वर का लोप भी हो जाता है, जैसे **मठाई** (मिठाई), **कट्ठा** (इकट्ठा) में।

संज्ञा शब्दों के प्रायः रूप वही हैं जो साहित्यिक हिन्दी में हैं; किन्तु बहुवचन तिर्यक् रूप **-ऊँ जैसे मरदूँ, मरदूँ का, बेट्यूँ** को; एवं वैकल्पिक स्त्रीलिंग बहुवचन **लड़कियें, लड़कीं, लड़कियाँ** उल्लेखनीय हैं। कारकों के अर्थ में निम्नलिखित परसर्ग प्रयुक्त होते हैं—

कर्ता—०, ने, नें   कर्म तथा सम्प्रदान—को, कूं, नूं, ने, के

करण तथा अपादान—तें, सेती, से, सों   सम्बन्ध—का, के, की।

अधिकरण—में, पे, प।

सर्वनाम और उनके विशिष्ट रूप नीचे दिए जा रहे हैं—

में, मुज, मेरा, हम, हमें, हमारा या **म्हारा; तू,** तिर्यक् **ते तुझ, तेरा, तम, तमें, तुम्हारा** या **थारा; यू, यो** (स्त्रीलिंग **या**), तिर्यक् **इस; आ, वाह** (स्त्रीलिंग **उस**); **जो** या **जोण; के** या **कोण; के** (क्या); **आप, अपणा; को** (कोई)।

कुछ प्रसिद्ध क्रियाविशेषण ये हैं—**कै** (कितने), **असे** (ऐसे), **जसे** (जैसे), **इब** (अब),

इभी (अभी), **जिब तिब** (जब तब), **ह्वां** (वहाँ), **जां** (जहाँ), **कीकर** (कैसे), **क्यूं** (क्यों), **नूं** (यों), **जूं** (ज्यों)।

खड़ीबोली के क्रियारूप साहित्यिक हिन्दी के समान हैं, किन्तु **है** का उच्चारण **हे** और विकल्प से **है** के स्थान पर **सै** का प्रयोग भी होता है, जैसे **लाया करे है** (लाया करता है)। दूसरी विशेषता यह है कि वर्तमान कृदन्त का जो रूप साहित्यिक अथवा सामान्य हिन्दी में काल और अर्थ बनाने में प्रयुक्त होता है, उसकी जगह खड़ीबोली में क्रियारूप से विकसित अकृदन्तीय प्रयोग चलते हैं—

वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ (मारता हूँ आदि)		सम्भाव्य (मारता)	
१. मारूँ	मारें	१. मारूँ	मारें
२. मारे	मारो	२. मारे	मारो
३. मारे	मारें	३. मारे	मारें

भूत अपूर्ण निश्चयार्थ के **मारूँ था, मारे था** आदि रूप भी इसी से बनते हैं। भविष्यत् काल के रूप इनमें **-गा, -गे, -गी** जोड़ कर सामान्य हिन्दी की तरह होते हैं, इनका उच्चारण भले ही **मारूँगा, जाएँगे** करके होता है। थोड़ा पश्चिम में पंजाबी प्रभाव के कारण **खांगा, जांगे** आदि रूप भी पाए जाते हैं।

भूतकालिक कृदन्तीय रूप एकवचन में **रिह्या, उठ्या** आदि और बहुवचन में सामान्य हिन्दी के समान **रहे, उठे** बनते हैं, यद्यपि उच्चारण में / **ह** / के अल्पप्राणत्व और व्यंजन के द्वित्व के कारण अन्तर अवश्य पाया जाता है। **करणा** से **कर्या, जाणा** से **गिआ** बनता है। आज्ञार्थ में **सुन, सुनो, सुनिए, सुनियो** साधारणतया सम्पन्न होते हैं। पूर्वकालिक क्रिया में **कर** की अपेक्षा **के** का प्रयोग अधिक व्यापक है, जैसे **सुन के, उठ के**।

६. कला का इतिहास

हिंदी प्रदेश के भौगोलिक विस्तार एवं उसकी साहित्यिक समृद्धि के अनुरूप ही इस प्रदेश का कलात्मक वैभव है। हिमालय से लेकर विन्ध्य शृंखला तक तथा पश्चिम में सरस्वती-दृषद्वती नदियों के कांठे से लेकर बिहार राज्य की पूर्वी सीमा तक का विस्तृत क्षेत्र भारतीय संस्कृति के उद्‌गम एवं विकास का प्रमुख क्षेत्र कहा जा सकता है। भारतीय धर्म और दर्शन, भाषा, साहित्य तथा कला एवं लोक-जीवन को समझने के लिए इस क्षेत्र का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

यहाँ हम हिंदी प्रदेश की कला के तीन मुख्य रूपों की चर्चा करेंगे—(१) वास्तुकला अथवा स्थापत्य कला (२) मूर्तिकला और (३) चित्रकला। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक इन तीनों रूपों का व्यापक प्रसार हिंदी प्रदेश में देखने को मिलता है। रूपड़ (जिला अंबाला) के उत्खनन से तथा बीकानेर क्षेत्र में, विशेषतः दृषद्वती नदी की घाटी में, किए गए आधुनिक सर्वेक्षण से यह निश्चित हो गया कि हड़प्पा-मोहन-जो-दड़ो आदि सिंधु घाटी के स्थानों में प्रवर्द्धित तथाकथित सिंधु सभ्यता का प्रसार पूर्व में अंबाला जिले तक था। हस्तिनापुर तथा उसके आस-पास उपलब्ध कुछ अवशेष भी उसी प्रागैतिहासिक सभ्यता के चिह्न माने जाने लगे हैं। भगवान् बुद्ध के समय से जो धार्मिक पुनरुत्थान हुआ, उसके फलस्वरूप अनेक धार्मिक केन्द्र ललित कलाओं के केन्द्रों के रूप में सामने आए। बुद्ध के कुछ समय बाद सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, साँची, (जिला सतना, म० प्र०), नालंदा, बोध गया आदि ने बड़ी उन्नति की; इनकी गणना भारत के प्रमुख कला-केन्द्रों में की जाती हैं।

भारतीय कला के विकास में धार्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता मानी जाती है। पर इसके साथ ही जन जीवन की साधारण प्रवृत्तियाँ भी कम महत्त्व नहीं रखतीं। साँची, मथुरा, कौशाम्बी आदि की कला में हमें स्पष्ट रूप से विविध लौकिक प्रवृत्तियों का मधुर मूर्त रूप देखने को मिलता है। भारतीय कला में यह रूप ई० पूर्व दूसरी शती से लेकर पूर्व मध्य काल तक (६००-१२०० ई०) बराबर मिलता है। शक-कुषाण-काल (ई० पूर्व १००-२०० ई०) और गुप्त काल (ई०चौथी से छठी शती) के कलाकारों ने लोक जीवन के विविध रूपों को सौंदर्य से मंडित कर उन्हें शाश्वत रूप प्रदान किया। मथुरा, कौशाम्बी, देवगढ़, अहिच्छत्र, विदिशा, एरण आदि के कलावशेष इसके प्रमाण हैं। पूर्व मध्य काल में कन्नौज, महोबा, खजुराहो, ग्यारसपुर आदि की कला में भी ऐहिक सौंदर्य अधिक प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है।

आध्यात्मिक भावना तथा ऐहिक श्री की अभिव्यंजना के अतिरिक्त भारतीय कला की तीसरी मुख्य विशेषता प्रकृति-चित्रण में देखी जा सकती है। हमारे यहाँ प्रकृति का मानव जीवन के साथ

गहरा संबंध माना गया है। प्रायः सभी दैविक-दैहिक कार्यों में प्रकृति का स्थान है। भारतीय कला में, साहित्य की तरह, पशु-पक्षी, वन-पर्वत, नदी-सरोवर, लता-वृक्ष—सभी मुखरित से लगते हैं। वे प्राचीन भारतीय परिवार के मानों अंग बन गए हैं।

हिंदी प्रदेश की प्राचीन वस्तु, मूर्ति एवं चित्रकला में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। आगामी पृष्ठों में कला के इन तीनों रूपों का विवेचन किया गया है।

वास्तु कला

बौद्ध स्तूपादि—इस प्रदेश में वास्तुकला के प्राचीनतम अवशेष बौद्ध धर्म से संबंधित मिले हैं। ये तीन प्रकार के हैं—(१) स्तूप, (२) चैत्य गृह और (३) गुफाएँ। स्तूप दो प्रकार के बनते थे—प्रथम प्रकार वाले विशाल इमारतों के रूप में स्मारक[1] या धातु चैत्य होते थे। द्वितीय दानार्थ निर्मित लघु (वोटिव) स्तूप होते थे। वैदिक युग में शव को धरती में गाड़ कर उसपर एक तूदाकार इमारत बनाई जाती थी। संभव है कि इसी का विकसित रूप स्तूप हो। इस तूदे का ढंग उलटे कटोरे का होता था। कभी कभी इसकी रक्षा के लिए चारों ओर एक कटघरा बनाया जाता था। भरहुत आदि स्थानों में जो प्राचीन स्तूप मिले हैं[2] उनका आकार-प्रकार ऐसा ही है,। साँची में अशोककालीन (ई० पू० २७३-२३२) बौद्ध स्तूप वहाँ पर स्थित वर्तमान बड़े स्तूप का लगभग आधा रहा होगा। वर्तमान बड़े स्तूप के तले का व्यास १२० फ़ुट है तथा स्तूप की ऊँचाई ५४ फ़ुट है। इसके चारों ओर दो प्रदक्षिणा मार्ग हैं। प्रवेश द्वार को तोरण द्वार भी कहते हैं (दे० चित्र संख्या १)। ई० पूर्व प्रथम शती में निर्मित इनके खंभों और बंडेरियों पर बहुसंख्यक दृश्य उत्कीर्ण हैं। भरहूत का विख्यात बौद्ध स्तूप तो नष्ट हो गया, पर उसकी वेदिका सुरक्षित रूप में जनरल कनिंघम को प्राप्त हुई थी, जो इस समय कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में है। इस वेदिका पर बौद्ध जातक कथाएँ तथा अन्य विविध दृश्य बड़ी सुन्दरता से उकेरे मिलते हैं। बैराट (जयपुर) में मौर्यकालीन एक स्तूप के कुछ अवशेष मिले हैं।

शुंग काल (ई० पूर्व द्वितीय-प्रथम शती) के बाद उत्तर भारत में बहुसंख्यक बौद्ध एवं जैन स्तूपों का निर्माण हुआ।[3] ये स्तूप चौकोर या आयताकार आधार पर बनाए जाते थे। आधार के ऊपर अंडाकार वितान तथा उस पर यष्टि (डंडा) सहित छत्र होता था। कभी कभी छत्रों

---

१. जैन स्तूप भी पहले इसी रूप के बनते थे। संभवतः कुछ जैन स्तूपों का निर्माण बौद्ध स्तूपों के पहले प्रारंभ हो गया था। द्रष्टव्य बी० ए० स्मिथ, जैन स्तूप आफ़ मथुरा, इलाहाबाद, १९०१, पृ० १-११, फलक १-५।

२. बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने भारत के विभिन्न स्थानों पर ८७,००० बौद्ध स्तूपों का निर्माण करवाया था। साँची, सारनाथ और तक्षशिला में अशोककालीन स्तूप मिले हैं। अशोक के पहले के केवल एक बौद्ध स्तूप का पता अब तक चला है। यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में पिपरावा नामक स्थान पर है।

३. जैन स्तूपों की निर्माण शैली प्रायः बौद्ध स्तूपों जैसी थी।

की संख्या सात तक होती थी। स्तूप के चारों ओर एक या अनेक वेदिकाएँ होती थीं। लघु (वोटिव) स्तूपों का निर्माण भी सिद्धांततः बड़े स्तूपों के ढंग पर होता था। उत्तर भारत के स्तूपों में अधिकतर ईंट तथा कभी कभी पत्थर का प्रयोग मिलता है।

चीनी यात्री फ़ाहियान और ह्वेनसांग ने उत्तर भारत के अनेक स्थानों पर अशोक के समय में तथा उसके बाद बनवाए गए स्तूपों को देखा था, जैसा कि उनके यात्रा-विवरणों से प्रकट होता है। परन्तु उनमें से अब कोई समूचा स्तूप नहीं बचा। सारनाथ में अशोक के धर्मराजिका स्तूप के केवल कुछ भाग अवशिष्ट हैं। यह ६० फ़ुट व्यास का, ईंटों का बना हुआ गोलाकार स्तूप था। इसके दक्षिण में एक ही पत्थर को काटकर बनाई गई वेदिका मिली है जिस पर मौर्य-कालीन ओप (पालिश) तथा ब्राह्मी लेख है। धर्मराजिका स्तूप का पुनर्निर्माण लगभग बारहवीं शती तक होता रहा। सारनाथ का दूसरा स्तूप धमेख (धर्मेक्षा) है। उसकी ऊँचाई १४३ फ़ुट है। इसकी नींव से लेकर ३७ फ़ुट की ऊँचाई तक पाषाण के नक्काशीदार शिलापट्ट लगे हैं। ये गुप्तकालीन हैं। इनपर पशु-पक्षी, पत्रावली आदि विविध अलंकरण सुन्दरता से उकेरे गए हैं।

पूर्वमध्यकालीन बौद्ध स्तूपों में नालंदा (बिहार) के स्तूप उल्लेखनीय हैं। इनका आकार अधिक विशाल नहीं है, परन्तु उनमें अलंकरण की मात्रा अधिक मिलती है। ये ईंट के बने हुए हैं।

चैत्यगृहों का उपयोग पूजा स्थानों के रूप में किया जाता था। ये पश्चिमी भारत में अधिक मिले हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सारनाथ स्थित प्राचीन मूलगंधकुटी विहार का जो वर्णन किया है उससे गुप्तकालीन बौद्ध मंदिरों की निर्माण शैली पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यह ६० फ़ुट की चौकोर इमारत थी। इसके तीन ओर आयताकार कोठरियाँ थीं और चौथी ओर ऊपर चढ़ने की सीढ़ियाँ थीं।

बिहार में गया से लेकर १६ मील उत्तर बराबर तथा नागार्जुनी नामक पहाड़ियों में मौर्य काल में बनाई गई कुछ गुफाएँ मिली हैं। इन पर तत्कालीन ओप मिलता है। मौर्य सम्राट् अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ के कई ब्राह्मी लेख इन गुफाओं में मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि ये आजीवक सम्प्रदाय के लोगों को दी गई थीं। उड़ीसा के पुरी ज़िले में कई शुंगकालीन जैन गुफाएँ मिली हैं। श्रावस्ती (जिला गोंडा), सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, नालंदा, साँची आदि स्थानों में अनेक विहार थे, जिनमें बौद्ध भिक्षु रहते थे। इन विहारों का निर्माण प्रायः इस प्रकार होता था— बीच में आँगन और उसके चारों ओर खंभों पर आधारित बरामदे होते थे। पीछे भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ रहती थीं। ये कोठरियाँ स्थान के सुविधानुसार बड़ी-छोटी बनाई जाती थीं। एक ओर बीचोंबीच प्रवेश द्वार होता था और उसके ठीक सामने मंदिर रहता था। सारनाथ के प्राचीन मूलगंधकुटी विहार का मुख्य द्वार पूर्वाभिमुख था। अन्य दिशाओं में लघु पार्श्व मंदिर बने थे। मुख्य मंदिर की दीवारें मजबूत थीं और सुन्दर भित्ति चित्रों से अलंकृत थीं। बड़े आँगन में कई चैत्य तथा स्तूप बने हुए थे।

श्रावस्ती के जेतवन तथा पुब्बाराम विहार, कौशाम्बी के घोसिताराम, कुक्कुटाराम आदि विहार तथा कुशीनगर, मथुरा और नालंदा के अनेक विहार बहुत बड़े रहे होंगे। बड़े बिहारों में कई सौ भिक्षु निवास करते थे।

सारनाथ में गाहड़वाल रानी कुमारदेवी ने बारहवीं शती में धर्मचक्रजिन विहार का निर्माण करवाया था। उसकी बनावट दक्षिण भारत के गोपुरों से मिलती-जुलती है। उसके अन्दर खुले आँगन के तीन ओर कोठरियाँ बनी हैं। बाहर दो विशाल परकोटे तथा सहन हैं। इसमें अन्दर एक छोटी सुरंग भी है, जो एक कोठरी तक जाती है। संभव है कि यह कोठरी भिक्षुओं की एकांत साधना का स्थान रही हो।

मंदिर—मंदिरों का निर्माण भारत में कब से प्रारंभ हुआ, यह बताना कठिन है। अब तक उपलब्ध मंदिरों में जो सबसे पुराना कहा जा सकता है, वह साँची का ४० संख्यक मंदिर है। पहले यह मौर्य काल या प्रारंभिक शुंग काल में निर्मित हुआ। इस मंदिर की पत्थर की कुर्सी के पूर्व और पश्चिम ओर सीढ़ियाँ हैं। मंदिर का ऊपरी भाग संभवतः लकड़ी का बना था, जो बाद में मंदिर का पुनर्निर्माण करते समय ढक दिया गया।

साँची के इस मंदिर के प्रायः समकालीन नगरी (प्राचीन मध्यमिका, चित्तौड़ के पास) में निर्मित मंदिर है। इसमें संकर्षण (बलराम) और वासुदेव कृष्ण की प्रतिमाएँ थीं। वर्तमान मध्य प्रदेश में विदिशा के समीप बेसनगर में भी भगवान् विष्णु का एक मंदिर शुंगकाल में बना था।

वाकाटक गुप्त काल (चौथी से छठी शती) में हिंदू मंदिरों का निर्माण अधिक हुआ। ये एक विशेष ढंग से बनते थे। इनमें मुख्य गर्भगृह होता था, जहाँ मुख्य प्रतिमा प्रतिष्ठापित होती थी। यह गर्भगृह चौकोर होता था। इसके आगे खंभों पर आधारित मंडप होता था। कभी कभी गर्भगृह के चारों ओर ढका हुआ प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाता था। गुप्त काल के आरंभ में निर्मित पाषाण-मंदिरों की छत सादी मिलती है, परन्तु ज्यों-ज्यों मंदिरों में ईंट का प्रयोग बढ़ता गया, छत का आकार शिखर की आकृति का होता गया। शिखर का पूर्ण विकास एकाएक नहीं, अपितु क्रमशः हुआ है।

गुप्तकालीन मंदिरों का द्वार प्रायः अलंकृत मिलता है। द्वार स्तंभों पर एक ओर मकरारूढ़ा गंगा का और दूसरी ओर कच्छप पर खड़ी हुई यमुना का चित्रण रूढ़ सा हो गया था। इन स्तंभों पर मंगल घट, लता आदि का अलंकरण भी मिलता है। द्वार के सिरदल पर बीच में प्रायः मंदिर के मुख्य देव की लघु प्रतिमा तथा अगल-बगल अन्य देव-प्रतिमाएँ मिलती हैं। आरंभिक गुप्त मंदिर अधिक सादे मिले हैं। इसमें साँची का १७ संख्यक मंदिर, तिगवा (जि० जबलपुर, म० प्र०) का विष्णु मंदिर तथा एरण (ज़ि० सागर, म०प्र०) के विष्णु तथा वराह-मंदिर उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रायः चार खंभों पर आधारित सादा वर्गाकार या आयताकार गर्भगृह मिलता है। सामने छोटा बरामदा है, जो मंडप का पूर्वरूप कहा जा सकता है। इसपर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इन मंदिरों की छत सपाट है और दीवारें भी सादी हैं। साँची के समीप उदय-

गिरि की गुप्तकालीन गुफाओं से संभवतः इन सादे मंदिरों के निर्माण की प्रेरणा मिली होगी।

परवर्ती गुप्तकालीन मंदिरों में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक मिलने लगती है। अब गर्भगृह के चारों ओर ढका हुआ प्रदक्षिणा पथ बनाया जाने लगा है। वर्तमान मध्यप्रदेश के अन्तर्गत विन्ध्यक्षेत्र में नचना तथा भुमरा के शिव-मंदिर ऐसे ही हैं। नचना वाले मंदिर के गर्भगृह के ऊपर एक दूसरी मंज़िल का भी निर्माण किया गया है। देवगढ़ (ज़ि० झाँसी, वर्तमान उत्तर प्रदेश) तथा भीतरगाँव (ज़ि० कानपुर) (दे० चित्र सं० २) के मंदिर एक अन्य वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनमें चौकोर गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है। ये दोनों ई० छठीं शती के हैं। "देवगढ़ में दशावतार का पाषाण-मंदिर (दशावतार) एक चौड़ी कुर्सी पर बना है, जिस पर पहुँचने के लिए चारों ओर सीढ़ियाँ बनी हैं। इस कुर्सी की दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट लगे हैं जिनमें से कुछ रामायण संबंधी तथा कृष्णलीला संबंधी भी हैं। गर्भगृह की तीनों सादी दीवारों पर अत्यन्त कलापूर्ण शिलापट्ट जड़े हैं। इनमें नर-नारायण तथा गज-उद्धार के दृश्य विशेष प्रभावोत्पादक हैं। भीतरगावँ का मंदिर ईंट का बना है। यह एक ऊँची चौकी पर खड़ा है। मंदिर की कुल ऊँचाई ७० फ़ुट है। इसका गर्भगृह तथा मंडप वर्गाकार है। दानों की बाहरी दीवारों के आलों पर मिट्टी की कलात्मक मूर्तियाँ लगी हैं। इनमें विविध देवी-देवताओं तथा पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ अधिक हैं। यहाँ की कुछ कला कृतियाँ राजकीय संग्रहालय लखनऊ में प्रदर्शित हैं। मंदिर की कामदार ईंटों में विविध अलंकरणों का प्रयोग सुरुचिपूर्ण है। यह मंदिर उत्तर भारत में गुप्तकालीन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है।"

बोधगया का ईंट का बना हुआ महाबोधि मंदिर उत्तर गुप्तकाल में निर्मित हुआ था, परन्तु बाद में उसमें परिवर्धन होते गए (दे० चित्र संख्या ३)। इसका प्रारंभिक रूप भीतरगावँ के मंदिर जैसा रहा होगा। पटना ज़िले में राजगृह का मनियार मठ मंदिर भी ईंट का बना है। इसकी दीवारों के आलों में बनी सुन्दर मूर्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

गुप्तकाल के बाद हिंदू और जैन मंदिरों का निर्माण हिंदी प्रदेश में व्यापक रूप से हुआ। इन मंदिरों में शिखराकृति बराबर मिलती है। शिखर का अब अधिक अलंकृत रूप मिलने लगता है। विभिन्न प्रदेशों की स्थानीय विशेषताओं की झलक इन मंदिरों में देखी जा सकती है। सातवीं से दसवीं शती तक जिन मंदिरों का निर्माण उत्तर भारत में हुआ, उनमें अहिच्छत्रा, नालंदा तथा वर्तमान उत्तर प्रदेश के फ़तेहपुर ज़िले के तेंदुली और बहुवा के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इनमें अहिच्छत्रा (ज़ि० बरेली) तथा नालंदा के मंदिर विशाल आकार वाले हैं। ये काफ़ी ऊँचाई पर बने हैं और उन तक पहुँचने के लिए लंबी सीढ़ियाँ हैं। फ़तेहपुर ज़िले में सूर्य और विष्णु के अनेक लघु मंदिरों का निर्माण हुआ। कुछ में कामदार ईंटों की सजावट बहुत सुन्दर है।

वर्तमान मध्यप्रदेश के रायपुर, दमोह, जबलपुर आदि कई ज़िलों में पूर्व मध्यकाल (६००-१२०० ई०) में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। रायपुर में सिरपुर नामक स्थान में एक बड़े

मंदिर के जो अवशेष मिले हैं, उनसे पता चलता है कि इसकी निर्माण शैली भीतरगावँ वाले मंदिर के ढंग की है, परन्तु इसमें अलंकरण की मात्रा कहीं अधिक है।

हिंदी क्षेत्र के मध्यकालीन मंदिरों में खजुराहो (ज़ि० छतरपुर, म०प्र०) के मंदिरों का विशेष महत्त्व है। सौभाग्य से ये मंदिर नष्ट होने से बच गए हैं। इनका निर्माण चंदेलों के शासन-काल में १०वीं-११वीं शती में हुआ था। ये मंदिर पत्थर के बने हैं। इनकी कुर्सी पर्याप्त ऊँची है। उसपर प्रवेशद्वार, मंडप, अर्द्धमंडप तथा गर्भगृह व्यवस्थित ढंग से निर्मित हैं। इस मंदिर-समूह में प्रमुख कंवरिया महादेव का मंदिर है (दे० चित्र सं० ४)। यह संपूर्ण मंदिर भारतीय वास्तु कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका भव्य उच्च शिखर, पार्श्व के कंगूरे, छज्जों से युक्त प्रदक्षिणा पथ—सभी दर्शनीय हैं। मुख्य शिखर को छोड़ कर संपूर्ण मंदिर का बाहरी-भीतरी भाग विविध कलात्मक मूर्तियों तथा अलंकरणों से सुसज्जित है। कुछ कृतियाँ कामशास्त्र संबंधी हैं। खजुराहो के अन्य वैष्णव एवं शैव मंदिरों की तथा जैन मंदिर आदिनाथ की निर्माण-शैली कंवरिया जैसी है।

राजस्थान तथा मध्य भारत में आठवीं से बारहवीं शती तक अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ है। इनमें से अधिकांश वैष्णव हैं। ओसिया (जोधपुर, राजस्थान) के हरिहर के दो देवालय तथा सूर्य का मंदिर अपने अतिशय अलंकरण के लिए प्रसिद्ध हैं। सूर्य का मंदिर पंचायतन ढंग का है। इसमें मुख्य मंदिर के अतिरिक्त उसी के अनुरूप चारों कोनों में चार लघु मंदिर भी हैं। प्रवेशद्वार बहुत आकर्षक है। ओसिया में भगवान् महावीर का जैन मंदिर भी विशेषकर अपने अलंकृत तोरण के लिए प्रसिद्ध है। राजस्थान के अन्य मध्यकालीन मंदिरों में खेड़, किराडू तथा सादड़ी (जोधपुर) के वैष्णव मंदिर, बाड़ोली (उदयपुर) का शेषशायी नारायण का मंदिर, तथा झालरापाटन का कालिका मंदिर उल्लेखनीय है। मध्य भारत में ग्वालियर किले में स्थित सासबहू मंदिर तथा तेली का मंदिर—दोनों वैष्णव हैं। सासबहू मंदिर में तीन मंज़िल वाला मंडप दर्शनीय है (दे० चित्र सं० ५)।

पूर्व मध्यकाल के पिछले भाग में तथा उसके बाद निर्मित जैन मंदिरों की चर्चा भी यहाँ आवश्यक है। इस काल में भारत के विभिन्न मुख्य धार्मिक स्थानों में बड़ी संख्या में जैन मंदिर बनाए गए। कहीं कहीं तो इनकी संख्या इतनी अधिक है कि उन स्थानों को देवालय-नगर कहना अधिक उपयुक्त होगा। काठियावाड़ में गिरनार और शत्रुंजय पहाड़ियों पर, बिहार में पारसनाथ पहाड़ी पर, राजस्थान में आबू पर्वत पर, मध्य भारत में दतिया के समीप सोनागिरि और टीकमगढ़ के पास अहार पर बहुसंख्यक मंदिरों का निर्माण हुआ। श्रवण बेलगोला (मैसूर) आदि भारत के अन्य कितने ही स्थानों पर इस प्रकार के मंदिर-समूह बने। अकेले शत्रुंजय में लगभग ५०० जैन मंदिर बन गए। यों तो इन मंदिरों में कला की अपेक्षा धार्मिक भावना की प्रबलता मिलती है, परन्तु अनेक देवालय कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें आबू पर्वत के विमलशाह तथा तेजपाल के मंदिर विशेष प्रख्यात हैं (दे० चित्र सं० ६)। ये स्वच्छ संगमरमर के बने हैं। अलंकृत स्तंभों से निर्मित इन मंदिरों के भव्य गोल कक्ष

तथा अत्यन्त बारीकी के साथ कटी हुई छत वर्तमान कला-मर्मज्ञों को भी आश्चर्य-चकित करती है।

१६वीं शती में मथुरा-वृन्दावन भारत के प्रमुख वैष्णव केन्द्र बने। यहाँ अकबर और जहाँगीर के समय में अनेक विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ। मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर ओरछा के राजा वीरसिंह देव ने जहाँगीर के शासन-काल में तेंतीस लाख रुपए के व्यय से केशव-राय (श्रीकृष्ण) का मंदिर बनवाया। वृन्दावन में गोविंददेव, गोपीनाथ, मदनमोहन, राधा-वल्लभ तथा जुगलकिशोर के बड़े मंदिर बने जो सभी लाल पत्थर के हैं। जुगलकिशोर मंदिर का गर्भगृह अठपहलू है और उसके सामने आयताकार मंडप है। गोविन्ददेव मंदिर सबसे बड़ा है (दे० चित्र सं० ७)। यह २० फ़ुट ऊँची कुर्सी पर स्थित है। इसकी वर्तमान लम्बाई २०० फ़ुट और चौड़ाई १२० फ़ुट है। बाहरी जगमोहन ४० फ़ुट लंबा और २० फ़ुट चौड़ा है। जगमोहन के बाद रंगमंडप है। इस मंदिर की मेहराबों का कटाव कमानीदार पत्थरों से बनाया गया है तथा उसका गोल और सुघर गुंवद दर्शनीय है। इन मंदिरों पर तत्कालीन मुस्लिम वास्तु कला का प्रभाव स्पष्ट है। वीरसिंह देव ने दतिया, ओरछा आदि स्थानों पर भी कई उल्लेखनीय महलों एवं मंदिरों का निर्माण कराया था।

इमारतें—उत्तर भारत में मुसलमानों का आधिपत्य १२वीं शती के अंत से प्रारंभ हुआ। उन्होंने इमारतों के निर्माण की वह शैली प्रारंभ की जिसे हिंद-इस्लाम शैली कहते हैं। मुग़लों द्वारा भारत पर अधिकार स्थापित करने के पूर्व दिल्ली में क्रमशः गुलामवंश (१२०६-९० ई०), ख़िलजी वंश (१२९०-१३२० ई०), तुग़लक वंश (१३२०-१४१३ ई०), सैयद वंश (१४१४-४४ ई०) तथा लोदी वंश (१४५१-१५२६ ई०) का आधिपत्य रहा। इन सभी राजवंशों के शासन काल में हिंदी प्रदेश में बहुसंख्यक इमारतों का निर्माण हुआ। इन इमारतों में जहाँ एक ओर सासानी तथा ईरानी शैलियों के विविध रूप देखने को मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर अनेक भारतीय अलंकरणों और विधानों का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है। प्रारंभिक मुस्लिम इमारतों में भार-तीय मंदिरों की दृढ़ता और भव्यता का कुछ रूप आसानी से देखा जा सकता है। साथ ही ईरानी कला की रंगीनी की भी झलक उनमें मिलती है। गुंबद और मीनार का निर्माण, ज्यामिति के ढंग वाले अलंकरण, सुंदर लिखावट तथा विविध रंगों की मीनाकारी उत्तर भारत के मुस्लिम स्थापत्य में देखी जा सकती है।

मुसलमानी स्थापत्य का सबसे पहला नमूना क़ुवत-उल्-इस्लाम मस्जिद है। इसका निर्माण ११९१ ई० में गुलाम वंश के प्रथम शासक क़ुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा हुआ था। यह इमारत अनेक हिंदू मंदिरों के ध्वंसावशेषों से बनाई गई थी। इसकी पाँच मिहराबों को छोड़कर मस्जिद के शेष सारे अंग भारतीय हैं। १२३० ई० में इसी वंश के दूसरे शासक इल्तुतमिश ने मस्जिद का जो विस्तार किया उसमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। फिर भी हिंदू कला के स्तंभ, शीर्ष तथा सिरदल इस विस्तृत इमारत में अब भी विद्यमान हैं (दे० चित्र सं० ८)। इसी शासक ने दिल्ली में सुल्तान ग़ोरी के मक़बरे का निर्माण कराया, जो दिल्ली में सबसे प्राचीन मक़बरा कहा जा सकता

है। इस इमारत का भी अधिकांश भाग भारतीय है। इल्तुतमिश की क़ब्र १२३५ ई० में दिल्ली में बनी, जिसमें बढ़ता हुआ इस्लामी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

खिलजी शासन काल में दिल्ली के निकट हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के मक़बरे के पास जमाअतख़ाँ मस्जिद का निर्माण हुआ। यह पूर्णतया ईरानी शैली पर आधारित है (दे० चित्र सं० ९)। इसमें खिलजी तथा तुग़लक समय की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इस काल की दूसरी विशाल इमारत दिल्ली का अलाई दरवाजा है। सौंदर्य और भव्यता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण इमारत है। इसके विविध अंगों के निर्माण में लाल बलुआ पत्थर और संगमरमर प्रयुक्त हुए हैं। इसके मिहराब घोड़े के खुर के आकार वाले हैं और उनके बीच-बीच में जाली का उम्दा कटाव है।

तुग़लकों के शासन काल में भी दिल्ली और उसके आस-पास अनेक मुस्लिम इमारतों का निर्माण हुआ। इनमें तुग़लकाबाद का क़िला और तुग़लकशाह का मक़बरा उल्लेखनीय हैं। इन दोनों का निर्माण ग़यासुद्दीन तुग़लक (१३२१-२५ ई०) के द्वारा कराया गया। उसके बाद मुहम्मद तुग़लक ने आदिलाबाद के क़िले तथा जहाँपनाह नगर का निर्माण कराया। उसके उत्तराधिकारी शासक फ़ीरोज़शाह ने कोटलाफ़ीरोज़शाह जामा मस्जिद तथा हौज़ खास की इमारतों को बनवाया। इस काल की प्रारंभिक इमारतें अधिक विशाल और मज़बूत हैं। परवर्ती इमारतों में ऐसी बात नहीं। कोटलाफ़ीरोज़शाह में तुग़लक-काल के सैनिक-पड़ाव का आभास मिलता है। इसी काल में दिल्ली से कुछ दूर निज़ामुद्दीन के पास बना हुआ खानेजहाँ का मक़बरा भी उल्लेखनीय इमारतों में हैं। खानेजहाँ तिलंगानी फ़ीरोज़शाह का प्रधान मंत्री था, जिसकी मृत्यु १३६८ ई० में हुई थी। इसी मक़बरे की शैली के आधार पर सैयदों के समय की कई इमारतें बनीं। सैयदों ने अपने गुंबद और मीनार और अधिक ऊँचे बनवाए। उनके समय की इमारतों में रंगीन चौकों (टाइल) का काम, पलस्तर पर अलंकरण तथा भारतीय कला की सजावट संबंधी अनेक बातें विशेष रूप से देखने को मिलती हैं।

लोदी शासकों के समय में दोहरा गुंबद बनवाने की शुरुआत हुई। मुग़लकालीन स्थापत्य में भी ऐसा गुंबद देखने को मिलता है। प्रारंभ में यह परिपाटी सीरिया में थी, जहाँ ईराक़ तथा ईरान होकर वह भारत में आई। सर्वप्रथम जिस इमारत में दोहरा गुंबद देखने को मिलता है वह ताजख़ाँ का मक़बरा है। यह 'बाग़ आलम का गुंबद' नाम से प्रसिद्ध है। इसका निर्माण १५०१ ई० में हुआ। सिकंदर लोदी के मक़बरे में भी ऐसा ही गुंबद है। लोदी स्थापत्य शैली का सबसे उम्दा उदाहरण मोठ (ज़ि० हमीरपुर, उ० प्र०) की मस्जिद है जिसका निर्माण सिकंदर लोदी के प्रधान मंत्री ने कराया था। यह इस काल की सबसे बड़ी मस्जिद है। इसमें गुंबद और मिहराबों के अतिरिक्त सफ़ेद संगमरमर, रंगीन चौकों तथा लाल पत्थर का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया गया है।

दिल्ली की उपर्युक्त सल्तनतों के समय में विविध प्रादेशिक स्थापत्य शैलियाँ भी विकसित हुईं। इनमें मुख्य मुल्तान, बंगाल, गुजरात, मालवा, दक्षिण तथा जौनपुर की कला-शैलियाँ हैं।

मालवा में धार तथा मांडू की मस्जिदें और महल इस काल की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। जौनपुर में शर्की राजवंश का आधिपत्य १४वीं-१५वीं शती में रहा। इस वंश के कई शासकों को इमारतों के निर्माण का शौक था। उनकी बनवाई हुई अनेक इमारतों को बाद में बड़ी क्षति पहुँची। जो इमारतें बची हैं वे हैं—इब्राहीम नायब की मस्जिद और क़िला, अटाला मस्जिद, लाल दरवाजा मस्जिद और जामा मस्जिद। अटाला मस्जिद का निर्माण ख़्वाजा कामिलख़ाँ ने १३७८ ई० में प्रारंभ कराया और १४०८ ई० में इब्राहीम शाह के द्वारा पूरी की गई। यह मस्जिद बहुत विशाल है और शर्की स्थापत्य का एक सुन्दर नमूना है (दे० चित्र सं० १०)। इसमें और लाल दरवाज़ा मस्जिद में हिंदू अलंकरणों का भी भरपूर प्रयोग किया गया है। हुसेनशाह के द्वारा निर्मित जामा मस्जिद अपने भव्य लीवान के लिए मशहूर है।

१५२६ में बाबर ने उत्तर भारत में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। उस समय से लेकर लगभग १९वीं शती के मध्य तक यहाँ स्थापत्य की मुग़ल शैली का विकास विविध रूपों में होता रहा। बाबर ने कई सुन्दर उद्यानों तथा मस्जिदों का निर्माण कराया। उसके लड़के हुमायूँ (१५३०-१५५६ ई०) के समय में राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इस दिशा में प्रगति न हुई। १५ वर्षों (१५४०-५५ ई०) तक हुमायूँ शासन से च्युत रहा। इस काल में दिल्ली पर शेरशाह सूर और उसके वंशजों का अधिकार रहा। शेरशाह ने १५४१ ई० में दिल्ली के प्रसिद्ध पुराने क़िले में अपनी जो इमारत बनवाई वह इस काल की एक आदर्श इमारत मानी जाती है। अकबर ने इसी के अनुकरण पर आगरे का क़िला तथा अन्य कई इमारतें बनवाईं। सहसराम (ज़ि० शाहाबाद, बिहार) में निर्मित शेरशाह का मक़बरा स्थापत्य की उत्कृष्ट कृति माना जाता है। इसकी अठपहलू चौकी, विशाल गुंबद, मेहराबें तथा अन्य अलंकरणों में सुचारुता के साथ-साथ भव्यता दिखाई देती है।

प्रारंभिक मुग़ल इमारतों में हुमायूँ का मक़बरा भी है। इसका निर्माण हुमायूँ की पत्नी हाली बेगम के द्वारा १५६५-६६ ई० में कराया गया था। इसमें ईरानी कला की प्रायः सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। आगरे का ताजमहल कई बातों में हुमायूँ के मक़बरे से मिलता-जुलता है। मुग़ल-काल की अन्य कई इमारतों में भी हुमायूँ के मक़बरे का अनुकरण द्रष्टव्य है।

मुग़ल सम्राट् अकबर (१५५६-१६०५ ई०) ने अनेक नई महत्त्वपूर्ण इमारतों का निर्माण आगरा, फ़तेहपुर सीकरी, इलाहाबाद आदि स्थानों में कराया। आगरा का प्रसिद्ध लाल क़िला और फ़तेहपुर सीकरी के महल आदि अकबर के समय में ही बने थे। ये अपनी कला के लिए संसार में प्रख्यात हैं। अकबर ने भारतीय स्थापत्य को ऊँचा स्थान दिया। साथ ही उसने ईरान तथा अन्य कई देशों की उन शैलियों को भी ग्रहण किया जिनमें उसने कोई अच्छाई समझी। इस प्रकार देशी एवं विदेशी तत्वों का एक अच्छा समन्वय अकबरकालीन इमारतों में मिलता है। लाल पत्थर के साथ उसने कहीं कहीं सफ़ेद संगमरमर का भी इस्तेमाल कराया। अकबर-कालीन इमारतों के अधिकांश गुंबद लोदी इमारतों की तरह भीतर खोखले मिलते हैं। खंभों में

कई पहलू हैं तथा उन पर कोष्ठकनुमा शीर्ष होते हैं। इमारतों के अलंकरणों में गहरी नक़्क़ाशी का काम और पारदर्शी गवाक्ष उल्लेखनीय हैं। भीतरी दीवारें और छतें सुनहरे तथा दूसरे रंगों से रँगी हुई मिलती हैं।

आगरे में अकबर द्वारा बनवाई हुई सबसे बड़ी इमारत वहाँ का लाल क़िला है। यह आकृति में त्रिभुजाकार है, जिसका शीर्ष पश्चिम में दिल्ली दरवाज़ा है। क़िले की दीवारें लगभग ७० फ़ुट ऊँची हैं, उनके चारों ओर खाई है। दिल्ली दरवाज़ा क़िले का प्रमुख दरवाज़ा है, जिस पर हिजरी १०१४ (१६०५ ई०) का लेख है। दूसरा द्वार अमरसिंह का दरवाज़ा कहलाता है। क़िले के भीतर नगीना मस्जिद, मीना बाज़ार, दीवाने आम, खास आदि कई इमारतें हैं। कुछ इमारतों का निर्माण जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में हुआ।

आगरे से २४ मील दूर फ़तहपुर सीकरी एक सुन्दर नगर के रूप में निर्मित करने का श्रेय अकबर को है। दुर्भाग्य से यह नगर आगरा, दिल्ली आदि की तरह अधिक समय तक राजधानी के रूप में नहीं रह सका। जो स्मारक यहाँ बचे हैं, उनसे पता चलता है कि महान् मुग़ल सम्राट् ने इसको सजाने और आदर्श राजधानी बनाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी थी। सीकरी की मुख्य इमारतों में जामा मस्जिद भारत में अपने ढंग की अनोखी मस्जिद है। इसका अलंकृत पूजागृह, विशाल प्रांगण तथा प्रवेश-द्वार वास्तुकला की सुन्दर कृतियाँ हैं। शेख़ सलीम चिश्ती की दरगाह जामा मस्जिद के बड़े प्रांगण में अकबर के धर्मगुरु शेख चिश्ती की क़ब्र के रूप में है। यह स्वच्छ संगमरमर की बनी है। इसके विविध भागों की निर्माण-कला उत्कृष्ट कोटि की है। इसमें सुंदर अलंकरणों का प्रयोग किया गया है। जोधाबाई का महल पश्चिमी भारत के हिन्दू मंदिरों की शैली का बना हुआ है। संभवतः इसके निर्माता गुजरात के हिंदू कलाकार थे। बुलंद दरवाज़ा भारत के अत्यन्त विशाल दरवाज़ों में से है। इसकी ऊँचाई १३४ फ़ुट है। इनके अतिरिक्त दीवाने-खास, तुर्की सुलतान का महल, बीरबल का मकान आदि अन्य महत्त्वपूर्ण इमारतें फ़तहपुर सीकरी में हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इनमें स्थायित्व, सौंदर्य तथा संतुलन का कितना अधिक ध्यान रखा गया है।

जहाँगीर के समय (१६०५-२७) में भी कई इमारतें बनीं, जिनमें आगरे के पास अकबर का तिमंज़िला मक़बरा तथा एतमादुद्दौला का मक़बरा विशेष उल्लेखनीय हैं। अकबर का यह गुंबद रहित मकबरा अपने ढंग का अनोखा है। इसमें पत्थर का कटाव तथा चित्र-लेखन का कार्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। ज्यामिति तथा विविध पुष्पों की मीनाकारी का काम भी दर्शनीय है। इस काल में संगमरमर का प्रयोग बढ़ा और चटकीले-भड़कीले रंगों तथा पच्चीकारी को अधिक प्रश्रय दिया गया। अब स्थापत्य के भारतीय उपकरणों के स्थान पर ईरानी सजावट की चीज़ों का बाहुल्य मिलने लगता है। जहाँगीर ने वास्तुकला से कहीं अधिक चित्रकला की ओर ध्यान दिया, उसके समय में शबीह चित्रकारी की बड़ी उन्नति हुई।

शाहजहाँ का शासन-काल (१६२७-५८ ई०) इमारतों के निर्माण के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी समय शाहजहाँ की पत्नी मुमताज़महल का संसार-प्रसिद्ध ताजमहल आगरे

में बना। ताजमहल के अतिरिक्त शाहजहाँ ने अन्य कितनी ही इमारतें आगरा, अजमेर, लाहौर, श्रीनगर (काश्मीर) आदि में बनवाईं, जो वास्तुकला की विख्यात कृतियाँ हैं। इन कृतियों में जैसा सौंदर्य और निखारपन मिलता है वैसा पहले की मुग़ल इमारतों में दुर्लभ है। अकबरकालीन इमारतों की विशालता और दृढ़ता की जगह अब कोमलता और सुन्दरता ने ले ली। लाल पत्थर का स्थान अब रंग-बिरंगे संगमरमर ने ले लिया। पहले की सादी मेहराब के स्थान पर शाहजहाँ ने नौकटाव वाली मेहराब को प्रचलित किया। उसके समय की गुंबद, जाली के कटाव तथा रंगों में ईरानी कला का प्रभाव पग पग पर मिलता है। खंभों पर सपत्र घटों का और कहीं कहीं दो दो खंभों (स्तंभयुग्म) का भी एक साथ प्रयोग किया गया है। संगमरमर पर क़ीमती रंगीन पत्थरों का जड़ाव तथा विभिन्न पत्रावलियों का उकेरना भी इस काल की विशेषता है।

शाहजहाँ के समय में निर्मित इमारतों में आगरे का ताजमहल निस्संदेह सर्वोपरि है। (दे० चित्र सं० ११)। इसमें मकराना (जयपुर) का संगमरमर, आगरे का लाल बलुवा पत्थर और ईरान तथा अन्य देशों से मँगाए गए बेशक़ीमती पत्थरों का प्रयोग हुआ है। ताज के निर्माण में देशी-विदेशी कितने ही कुशल कारीगरों ने योग दिया था। एक फ़ारसी लेख से पता चला है कि ताज का नक़शा लाहौर के उस्ताद अहमद ने तैयार किया, गुंबद का निर्माण तुर्की के इस्माइल ख़ाँ ने किया, अभिलेखों को शीराज़ के अमानत खाँ ने उकेरा तथा संपूर्ण इमारत का निर्माण मकरमत ख़ाँ तथा मीर अब्दुल करीम के निरीक्षण में पूरा हुआ।

आगरा क़िले के अंदर अंदर मोती मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ ने कराया। स्वच्छ संग-मरमर की बनी हुई इस इमारत का नाम वस्तुतः सार्थक है। मनोहरता और कला की सफ़ाई में यह मस्जिद अद्वितीय है।

शाहजहाँ ने १६४८ ई० में अपनी राजधानी आगरा से दिल्ली में स्थानांतरित कर दी और वहाँ शाहजहाँनाबाद नामक एक नया शहर बसाया। यहाँ उसने जामा मस्जिद तथा लाल क़िले का निर्माण कराया। ये दोनों विशाल इमारतें बहुत प्रसिद्ध हैं। लाल क़िले से तत्कालीन मुग़ल शासकों के पूरे आवास का परिचय मिलता है। इसके अन्दर कई इमारतें हैं। इनमें विस्तृत दीवाने खास का अलंकरण विशेष रूप से दर्शनीय है।

शाहजहाँ की बड़ी लड़की जहाँनारा ने आगरा में जामा मस्जिद का निर्माण कराया। इसमें लाल पत्थर पर काले और सफ़ेद संगमरमर की पच्चीकारी का काम ऊँचे दर्जे का है।

शाहजहाँ के बाद स्थापत्य का ह्रास होने लगा। औरंगज़ेब (१६५८-१७०७ ई०) को कलापूर्ण इमारतों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसके समय में मथुरा, काशी आदि स्थानों में हिंदू मंदिरों को तोड़ कर मस्जिदें बनाई गईं। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के समय में बहुत निम्न कोटि की कुछ इमारतें बनीं।

१८वीं तथा १९वीं शती में लखनऊ के नवाबों ने अनेक इमारतों का निर्माण कराया। इनमें आसफ़ुद्दौला (१७७५-९५) का बड़ा इमामबाड़ा तथा रूमी दरवाज़ा गाज़िउद्दीन (१८१४-

२७) की शाहनजफ़, मोतीमहल आदि इमारतें नासिरुद्दीन हैदर (१८२७-३७) की छतरमंज़िल तथा वाजिदअली शाह (१८४७-५६) का क़ैसरबाग़ मुख्य हैं। इन इमारतों में मौलिकता का प्रायः अभाव है। उनमें तत्कालीन युरोप की स्थापत्यशैली का प्रभाव साफ़ दिखाई देता है।[1]

मूर्तिकला

स्थापत्य की तरह हिंदी प्रदेश की मूर्तिकला में भी विविधता एवं प्रचुरता का संयोग मिलता है। मूर्तियों के निर्माण में विभिन्न स्थानीय पत्थरों के अतिरिक्त मिट्टी तथा धातुओं का भी उपयोग किया गया है। मूर्तिकला के जो प्रमुख रूप इस प्रदेश में मिलते हैं वे हैं—(अ) बौद्ध मूर्तियाँ, (आ) जैन मूर्तियाँ, (इ) हिंदू या ब्राह्मण धर्म संबंधी प्रतिमाएँ (ई) अन्य विविध कलाकृतियाँ, अलंकरण एवं अभिप्राय।

बौद्ध मूर्तियाँ—बौद्ध मूर्ति-कला का प्रारंभ सम्राट् अशोक के समय से मिलता है। उनके शासन-काल में बौद्ध मत भारत का एक लोक धर्म हो गया था। अशोक ने उसके प्रसार में बहुमुखी योग दिया। इसी के लिए मूर्ति एवं वास्तुकला का भी उपयोग किया गया।

अशोक के पाषाण-स्तंभ कला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। भारत में ये खंभे पूरे या खंडित रूप में बिहार प्रांत के लौरिया, मठिया और रामपुरवा, दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के सारनाथ, कौशाम्बी, संकिसा आदि स्थानों में विद्यमान हैं। नेपाल राज्य की तराई में स्थित लुंबिनी, निगलीवा गाँवों में भी दो खंभे हैं। ये सभी स्तंभ चुनार के पत्थर के बने हुए हैं। अशोक को यह पाषाण बहुत पसन्द था। स्तंभों के दो भाग हैं—एक नीचे की लाट और दूसरा ऊपर का शीर्ष या परगहा। इन दोनों पर बहुत सुंदर पालिश (ओप) मिलती है।

स्तंभों के लाट गोलाकार तथा चढ़ाव-उतारदार हैं। ये ऊँचाई में ३०-४० फ़ुट तक हैं। प्रत्येक का वज़न हज़ार-बारह सौ मन के लगभग है। लाट के ऊपर के शीर्ष के पाँच भाग हैं—(१) इकहरी या दुहरी पतली मेखला, जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर कमल-पंखुड़ियों का अलंकरण, जो घंटाकृतियों जैसा है, (३) उसके ऊपर कंठा, (४) गोल या चौखूंटी चौकी, तथा (५) उसके सिरे पर बैठे हुए एक या अधिक पशु। अन्य अलंकरणों में सुन्दरता है ही, पर विशेष उल्लेखनीय पशुओं की आकृतियाँ हैं। इलाहाबाद, संकिसा और रामपुरवा के स्तंभों के ऊपर बैलों की आकृतियाँ बनी हैं। साथ में कमल आदि जो अलंकरण चुने गए हैं वे भी अत्यन्त सजीव हो उठे हैं। शीर्ष के सिरे पर जानवरों को चारों ओर से कोर कर गढ़ा गया है। ये जानवर सिंह, हाथी, बैल और घोड़े हैं। इन चारों का संबंध भगवान् बुद्ध के साथ माना जाता है (दे० चित्र सं० १२)। सारनाथ के शीर्ष पर परगहे की चौकी सबसे सुन्दर है। उस पर चारों जानवर

१. **मुस्लिम स्थापत्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य पर्सी ब्राउनः इंडियन आर्किटेक्चर, भाग २ (इस्लामिक पीरियड) तथा आर्केओलाजी इन इंडिया (दिल्ली, १९४९) पृ० १०९-३२।**

चार पहियों के बीच उभार कर बनाए गए हैं। चारों पहिए धर्मचक्र को सूचित करते हैं, जिसका प्रवर्तन सबसे पहले भगवान् बुद्ध के द्वारा सारनाथ में किया गया था। सिरे की चार सिंहाकृतियों के ऊपर भी एक धर्मचक्र था, जिसका व्यास दो फ़ुट नौ इंच था। सिरे के चारों सिंहों को पीठ से पीठ मिलाए हुए दिखाया गया है। उनके अंग-प्रत्यंग गँठीले हैं और बड़ी सफ़ाई से गढ़ कर बनाए गए हैं। उनके लहरदार बालों की बारीकी भी दर्शनीय है। पहले इन सिंहों की आँखों में मणियाँ जड़ी हुई थीं। यह परगहा निस्संदेह भारतीय मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमें सजीवता और निखारपन मिलता है और कहीं भी भद्दी या बेडौल रचना नहीं दिखाई देती।

मौर्यकालीन और उसके बाद की भारतीय कला में अनेक ऐसे अभिप्राय या अलंकरण मिलते हैं जो सुमेर, असीरिया, ईराक़ आदि की कला में भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ ये हैं—सपक्ष सिंह या बैल, नर-मकर, नर-अश्व, मेष-मकर, गज-मकर, वृष-मकर, सिंह-नारी आदि। इनके संबंध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता रही है कि भारतीय कलाकारों ने उन्हें ईरान या अन्य किसी पश्चिमी देश से ग्रहण किया। पत्थर पर चमकीले ओप को भी कुछ लोग बाहर से लिया हुआ मानते हैं, जो युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। आनंदकुमारस्वामी ने ऐसे मतों की समीक्षा करने के बाद अपना यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का पश्चिमी लघु एशिया से व्यापारिक संबंध बहुत पुराना रहा है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि भारत और लघु एशिया में अन्य क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुत सी बातें एक-दूसरे से साम्य रखती हुई पाई जायँ। संभव है कि उक्त अलंकरणों आदि का भारत तथा ईरान आदि देशों में आयात एक ही स्थान से हुआ हो।

अशोक के समय से ले कर ई०पूर्व प्रथम शती के अन्त तक भगवान् बुद्ध की मूर्त रूप में पूजा नहीं मिलती। बुद्ध तथा धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए कुछ सांकेतिक चिह्नों की कल्पना कर ली गई थी। ये चिह्न धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष, भिक्षापात्र आदि थे। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्म का जो प्रथम उपदेश किया गया था उसे एक चक्र द्वारा व्यक्त किया जाता था। यह नया धर्म 'धम्मचक्क पब्बत्तनसुत्त' की संज्ञा द्वारा अभिहित हुआ। परवर्ती कला में इसकी अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है कि भगवान् बुद्ध हाथों की उँगलियों को इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। बोध गया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे उन्हें बुद्धत्व या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उसकी संज्ञा बोधिवृक्ष प्रसिद्ध हुई। इस वृक्ष का चित्रण भी प्रारंभिक कला में मिलता है। वृक्ष को प्रायः एक बाड़े के अन्दर दिखाया जाता है। इसे वेदिका कहते हैं। तीसरा मुख्य चिह्न स्तूप था। बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष स्तूपों के नीचे रखे जाते थे। अतः स्तूप भी पूजा का एक प्रमुख चिह्न हो गया। इसी प्रकार बुद्ध की उष्णीष (पगड़ी), भिक्षापात्र आदि का पूजन भी सांकेतिक चिह्नों के अन्तर्गत था।

साँची, भारहुत और बोधगया से जो प्रारंभिक कला-कृतियाँ मिली हैं उनमें उक्त चिह्नों का ही पूजन मिलता है। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश के दो प्रमुख कला-केन्द्रों—मथुरा तथा सारनाथ

से ई० पूर्व के जो बौद्ध कलावशेष मिले हैं उन पर भी यही चिह्न मिलते हैं, मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा नहीं उपलब्ध होती। इसका एक मुख्य कारण यह है कि अशोक के समय में तथा उसके बाद उत्तर भारत में प्रायः थेरवादी (हीनयानी) बौद्धों का ज़ोर था। वे लोग प्रतीकों या स्मारकों की पूजा में ही विश्वास करते थे, मूर्ति-पूजा में नहीं। इन थेरवादियों की विभाज्यवादी, सर्वास्तिवादी आदि अनेक शाखाएँ हो गई थीं। उनके मुक़ाबिले में महासांघिक (महायान) मत वाले खड़े हुए। ये लोग मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा के पूजन में विश्वास करते थे। प्रारंभ में इनकी संख्या और शक्ति अधिक नहीं थी, अतः प्रतिमा-पूजन का प्रचलन न हो सका। मथुरा से शक शासक राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) का एक परगहा मिला है जिस पर खरोष्ठी लिपि में कई लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा में थेरवाद मत वाले बौद्धों की सर्वास्तिवादी शाखा का ज़ोर था। उनमें तथा महासांघिक लोगों में प्रायः धार्मिक विवाद होते रहते थे। एक बार सर्वास्तिवादियों ने महासांघिकों से शास्त्रार्थ करने के लिए नगर नामक स्थान में (अफ़गानिस्तान के जलालाबाद ज़िले में) से एक प्रसिद्ध विद्वान् को बुलाया था।

परन्तु मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण अधिक समय तक रोका न जा सका। उत्तर भारत में शुंगकाल (ई० पूर्व द्वितीय-प्रथम शती) में भक्ति की लहर प्रबल हो चली थी। विदेशी लोग तक विष्णु के भक्त होने लगे थे। यूनानी राजा अंतलिकित के शासन-काल में हेलियोदोर नामक यवन ने विदिशा नगर में गरुड़-स्तंभ की स्थापना की। हिंदू देवों तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण भी शुंग-काल में होने लगा था। भक्ति की जो धारा इस युग में बही उससे बौद्ध धर्म भी अछूता न रह सका। अपने धर्म की ओर अधिक से अधिक लोगों को उन्मुख करने के लिए बौद्धों ने यह आवश्यक समझा कि बुद्ध की ईश्वर रूप में कल्पना करके उनकी मूर्ति का निर्माण किया जाए।

ईसवी सन् के प्रारंभ से उत्तर भारत में कुषाणवंशी राजाओं का शासन भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध हुआ। कुषाण सम्राट् कनिष्क (७८-१०१ ई०) बौद्ध मत का पोषक होने के साथ-साथ कला-प्रेमी था। उसके समय में मथुरा के शिल्पियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मथुरा अब बौद्ध धर्म तथा मूर्ति-कला का एक बड़ा केन्द्र बन गया। यहाँ विविध धर्मों से संबंधित सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण कुषाण-काल में हुआ। मथुरा की बनी हुई मूर्तियों की माँग बाहर भी बढ़ी और वे सुदूर स्थानों तक भेजी जाने लगीं। ऐसी मूर्तियाँ साँची, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, कुशीनगर आदि में मिली हैं।

कनिष्क के शासन-काल के प्रारंभ में बोधिसत्व और बुद्ध की विशाल प्रतिमाओं का निर्माण होने लगा। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की मिली हैं—एक खड़ी हुई और दूसरी पद्मासन पर स्थित। ज्ञान या संबोधि प्राप्ति के पहले बुद्ध की संज्ञा बोधिसत्व थी और उसके बाद बुद्ध हुई। इन दोनों की प्रतिमाओं में अन्तर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट, ग्रैवेय आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राज-वेश में दिखाया जाता है; किंतु बुद्ध को इनसे रहित, केवल वस्त्र (चीवर) धारण किए हुए।

बुद्ध के सिर पर बालों का जटाजूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञान-सम्पन्नता का सूचक है। महायान संप्रदाय वालों की यह मान्यता है कि जीवों पर कृपा करने के लिए तथागत का पृथिवी पर आगमन बोधिसत्व रूप में होता है और वे बुद्धत्व या निर्वाण को प्राप्त होते हैं। भागवत मत के अवतारवाद से यह विचार बहुत मिलता-जुलता है। गौतम बुद्ध से पहले अनेक बुद्धों के होने की कल्पना बौद्ध धर्म में है। अशोक के समय में और उसके बाद भी यह विश्वास मिलता है। अशोक ने कनक मुनि नामक बुद्ध के स्तूप की मरम्मत कराई थी और नेपाल तराई के निगलीवा स्थान पर एक स्तंभ भी उनके सम्मान में बनवाया था। ये कनक मुनि गौतम बुद्ध के पहले बुद्ध हुए थे।

कुषाण-काल में मथुरा में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्व की जो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, वे प्रायः विशाल और हृष्ट-पुष्ट हैं। उन्हें चारों ओर से कोर कर निर्मित किया गया है, जिससे उसका दर्शन प्रत्येक ओर से सुलभ हो सके। इन मूर्तियों को प्रायः योगी रूप में प्रदर्शित किया गया है। इनमें मूँछें नहीं मिलतीं। परन्तु पश्चिमोत्तर भारत की गांधार कला की मूर्तियों पर मूँछें प्रायः दिखाई जाती हैं।

प्रश्न यह है कि भारत में सबसे पहले बुद्ध-मूर्ति का निर्माण कहाँ हुआ। इस विषय को ले कर विद्वानों में काफ़ी विवाद हुआ है। एक मत के अनुसार भारत के पश्चिमोत्तर गांधार प्रदेश में प्रचलित कला में सर्व प्रथम बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ। दूसरा पक्ष इसका श्रेय मथुरा कला को देता है। प्रथम मत के पोषक फ़ूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जान मार्शल हैं। इनका कहना है कि गांधार शैली, जो कि पूर्णतया यूनानी कला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है तथा मथुरा कला का स्रोत भी वही है। दूसरा मत इसके प्रतिकूल है। उसके समर्थक कुमारस्वामी, हेवेल, जायसवाल आदि हैं। इन लोगों की मान्यता है कि भारतीय कला के वस्तु-विषय तथा उपादान कुषाणों के समय में गांधार पहुँचे। यह दूसरा मत मानता है कि पद्मासन पर स्थित योगी रूप में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण बिलकुल भारतीय कल्पना है। इन विद्वानों ने इस बात की पुष्टि की है कि बुद्ध-मूर्ति का निर्माण मथुरा कला में आरंभ हुआ। वस्तुतः मथुरा की कला-शैली मध्य भारत की भारहुत तथा साँची की शैली के साथ-साथ चल रही थी। गांधार शैली का प्रारंभ बाद में हुआ। शुंग काल की तथा कुषाण काल के आरंभ की जो मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं, उन पर प्राचीन यक्ष-प्रतिमाओं तथा साँची और भारहुत कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह कला-शैली गांधार की वास्तविकता-प्रधान शैली से भिन्न है। पद्मासन पर बैठी हुई बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाएँ उस परम्परा की द्योतक हैं जिसे हम भारतीय साहित्य में तथा मोहेन-जो-दड़ो से ले कर प्राचीन जैन मूर्तियों में पाते हैं। इन बातों को देखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि मथुरा की प्राचीन मूर्ति-कला गांधार कला से प्रभावित है। मथुरा शैली में कुछ मूर्तियाँ ऐसी अवश्य मिली हैं, जिन पर गांधार शैली की छाप दिखाई पड़ती है, परन्तु वे अपवाद रूप ही कही जा सकती हैं।

साँची, भारहुत, बोधगया, मथुरा, सारनाथ, कौशाम्बी आदि स्थानों से बौद्ध कला-कृतियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। कुछ कृतियों पर गौतम बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं—यथा, जन्म,

ज्ञान-प्राप्ति, धर्मचक्र-प्रवर्तन, स्वर्गावतरण, महापरिनिर्वाण—का आलेखन मिलता है। बुद्ध के पूर्व जन्म की (जातक) कथाओं का भी मनोरंजक चित्रण कितने ही शिलापट्टों पर मिलता है। इन कथाओं के अनुसार गौतम के रूप में जन्मने के पहले बुद्ध अनेक योनियों में विचरे थे। कला-कृतियों पर वेस्संतर, रोमक, सुतसोम, छदंत, व्याघ्री, उलूक, कच्छप आदि अनेक जातक-कथाओं का चित्रण है।

कुषाण तथा गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। कुषाणकालीन भारी-भरकम तथा गोल-मटोल प्रतिमाओं के स्थान पर गुप्त युग में मनोहर अंग-विन्यास वाली बुद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं। सारनाथ तथा मथुरा की बुद्ध-प्रतिमाएँ तो उत्कृष्टतम कृतियाँ कही जा सकती हैं। इनमें सौंदर्य की अनूठी अभिव्यक्ति के साथ शांति, करुणा और आनंद का अद्भुत समन्वय मिलता है। सारनाथ से प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन वाली बुद्ध-प्रतिमा (संख्या बी—बी, १८१) ऐसी ही है। इसमें अर्धोन्मीलित नेत्र वाले बुद्ध भगवान् ध्यान-मुद्रा में बैठे दिखाए गए हैं (दे० चित्र संख्या १२)। मूर्ति के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। चौकी पर वे भिक्षु दिखाए गए हैं, जिन्हें बुद्ध ने सारनाथ में सर्व प्रथम उपदेश दिया था। मथुरा से भी बुद्ध की गुप्तकालीन अनेक सुंदर प्रतिमाएँ मिली हैं। एक मूर्ति (मथुरा संग्रहालय, सं० ए५) पर लिखे हुए ब्राह्मी लेख से ज्ञात हुआ है कि उसे यशदिन्न नामक भिक्षु ने प्रतिष्ठापित कराया था (दे० चित्र सं० १३)। मथुरा की दूसरी ऐसी ही प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। दोनों अभय मुद्रा में हैं और दोनों के सिर के पीछे विविध अलंकरणों सहित प्रभामंडल है। सुलतानगंज (ज़ि० भागलपुर) से प्राप्त ताम्र की साढ़े सात फ़ुट ऊँची बुद्ध-प्रतिमा भी इसी कोटि में आती है। यह अब बरमिंघम म्यूज़ियम में है। इन प्रतिमाओं को देखने से पता चलता है कि गुप्त काल के कलाकार शारीरिक सौंदर्य के साथ लोकोत्तर आनंद की भावना व्यक्त करने में कितने सिद्धहस्त थे।

गुप्त काल के बाद गांधार, मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, संकिसा, श्रावस्ती आदि उत्तर भारत के अनेक स्थानों में बौद्ध मूर्तियों का निर्माण प्रायः समाप्त हो गया। परन्तु सारनाथ, नालंदा, कुशीनगर, महोबा आदि स्थानों में पूर्व मध्यकाल के अन्त तक बौद्ध धर्म संबंधी मूर्तियों का निर्माण जारी रहा। पूर्व में वज्रयान संप्रदाय के उत्थान के फलस्वरूप कला भी प्रभावित हुई। सारनाथ, नालंदा, गया आदि स्थानों से वज्रयान मत संबंधी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें मंजुवर, हेरुक, वज्रघंट, तारा, मारीचि, सरस्वती, वसुधारा, चुंडा आदि की प्रतिमाएँ हैं। कला में मौलिक सौंदर्य के स्थान पर मध्यकालीन मूर्तियों में प्रतिमा-विज्ञान का शास्त्रीय पक्ष अधिक मिलने लगता है। उक्त मूर्तियाँ इसकी प्रमाण हैं। परन्तु कुछ मूर्तियाँ अपवादस्वरूप भी कही जा सकती हैं, यथा, महोबा (ज़ि० हमीरपुर, उ०प्र०) से प्राप्त सिंहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्ति (दे० चित्र सं० १४)। इस पर अंकित लेख के अनुसार यह प्रतिमा ई० ११वीं शती में निर्मित हुई। सिंह के ऊपर अत्यन्त शांत भाव में बैठे हुए बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का अंकन बहुत प्रभावोत्पादक है। कुर्किहार (ज़ि० गया) से प्राप्त बुद्ध, बोधिसत्व आदि की अनेक धातुप्रतिमाएँ भी उच्च कोटि की हैं। इनका निर्माण पाल राजाओं के समय में हुआ। इन राजाओं के शासन-काल में महायान

बौद्ध धर्म संबंधी बहुसंख्यक कला-कृतियों का निर्माण बिहार और बंगाल में हुआ। पत्थर की मूर्तियों में गया और बंगाल के काले पत्थर का प्रयोग अधिक मिलता है। उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के अनेक स्थानों में भी मध्यकाल में बौद्ध मूर्तियों का निर्माण होता रहा। परन्तु उनकी कला प्रायः साधारण कोटि की है।

कुशीनगर, सारनाथ, मथुरा, नालंदा, वैशाली, कौशाम्बी, संकिसा, पखना बिहार (ज़ि० फ़र्रुख़ाबाद) आदि स्थानों पर मिट्टी की मुद्राएँ भी मिली हैं, जिनमें अधिकांश अभिलिखित हैं। इन लेखों में बौद्ध संघारामों, भिक्षु-संघों शासकीय अधिकारियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। कुछ मुद्राओं पर स्तूप, बोधिवृक्ष तथा मृगादि पशुओं की आकृतियाँ भी अंकित हैं।

जैन मूर्तियाँ

जैन धर्म संबंधी जो प्राचीन कला-कृतियाँ उड़ीसा प्रदेश के उदयगिरि, खण्डगिरि आदि स्थानों से तथा उत्तरप्रदेश के मथुरा, कौशाम्बी आदि से प्राप्त हुई हैं, उनसे पता चलता है कि ईसवी सन् के पहले उत्तर भारत में कई जगह जैन स्तूपों, विहारों तथा तीर्थंकर-प्रतिमाओं का निर्माण शुरू हो गया था। उड़ीसा की हाथी-गुंफा से मिले हुए जैन राजा खारवेल के अभिलेख से यह आभास मिलता है कि ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी में मगध के राजा नंद (महापद्मनंद) तीर्थंकर की प्रसिद्ध प्रतिमा कलिंग (उड़ीसा) से पाटलिपुत्र ले गए थे। इस मूर्ति को कलिंग के शासक खारवेल मगध से फिर ले आए और उसे अपने राज्य में प्रतिष्ठापित किया। इस उल्लेख से पता चलता है कि तीर्थंकर-प्रतिमाओं का निर्माण महापद्मनंद के भी पहले प्रारंभ हो चुका था। मथुरा के प्रसिद्ध कंकाली टीले की खुदाई में मिली हुई वस्तुओं में एक तीर्थंकर की मूर्ति की भग्न चौकी भी है, जिसमें ई० दूसरी शताब्दी का एक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। इसमें लिखा है कि शक संवत् ७९ (१५७ ई०) में मुनि सुव्रतनाथ की इस प्रतिमा को देवताओं के द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप में प्रतिष्ठापित किया गया। इससे पता चलता है कि ईसवी दूसरी शती में मथुरा के इस प्राचीन जैन स्तूप का आकार-प्रकार ऐसा भव्य था तथा उसकी कला इतनी दिव्य थी कि मथुरा के कुषाण-कालीन कला-मर्मज्ञों को भी उसे देख कर चकित हो जाना पड़ा। फलस्वरूप लोग यह मानने लगे कि बौद्ध स्तूप संसार के किसी प्राणी की कृति न हो कर देवताओं की रचना होंगे, इसीलिए उन्होंने उसे देव-निर्मित की संज्ञा दी।

उत्तर भारत में जैन कला के प्राचीन केन्द्रों में मथुरा का स्थान अग्रगण्य है। सोलह शताब्दियों से ऊपर के दीर्घ काल में मथुरा में जैन धर्म का विकास होता रहा। यहाँ के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई सैकड़ों जैन कला-कृतियाँ अब तक मथुरा और उसके आस-पास के ज़िलों से प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें तीर्थंकरों तथा जैन देवियों (अंबिका, चक्रेश्वरी आदि) की प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौकोर आयागपट्ट, वेदिका-स्तंभ, सूची, तोरण तथा द्वार-स्तंभ आदि हैं। मथुरा के जैन आयागपट्ट (पूजा के चौकोर पत्थर) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रायः बीच

में तीर्थंकर-मूर्ति तथा उसके चारों ओर विविध प्रकार के मनोहर अलंकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मीन-युगल इन अष्ट मंगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिक्-कुमारियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए आकर्षक ढंग से मंडल-नृत्य में संलग्न दिखाई गई हैं। मंडल या चक्रवाल अभिनय का उल्लेख रायपसेनिय सुत्त नामक जैन ग्रन्थ में भी मिलता है। एक दूसरे आयागपट्ट पर तोरण-द्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुन्दर अंकन मिलता है। वास्तव में ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि में लगभग ई० पूर्व १०० से ले कर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख हैं। कौशाम्बी से भी इस प्रकार के आयागपट्ट मिले हैं।

मथुरा कला में तीर्थंकर तथा अन्य जैन प्रतिमाएँ एवं इमारती पत्थर बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। शुंग काल से ले कर गुप्तकाल तक की ऐसी मूल्यवान जैन सामग्री भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिली। इस सामग्री के द्वारा विभिन्न युगों की वेष-भूषा, आमोद-प्रमोद तथा अन्य सामाजिक पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। कुषाण काल की मूर्तियों में बहुत सी अभिलिखित हैं। लेखों की लिपि ब्राह्मी है तथा भाषा संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। इन लेखों द्वारा तत्कालीन जैन धर्म के संबंध में बहुत जानकारी प्राप्त हुई है, जिसकी पुष्टि प्राचीन साहित्य से भी होती है। मथुरा कला की मूर्तियों में हाथ में पुस्तक लिए हुए सरस्वती, अभय मुद्रा में देवी आर्यवती तथा नैगमेश देवता की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। तीर्थंकर-प्रतिमाएँ प्रायः ध्यान मुद्रा में बैठी हुई मिली हैं। कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई भी हैं। कुषाण, गुप्त तथा मध्य काल की अनेक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। कलाकारों ने तीर्थंकर-मूर्तियों के निर्माण में दिव्य सौंदर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का जो समन्वय किया है, उसे देख कर पता चलता है कि भावाभिव्यक्ति में ये कलाकार कितने अधिक कुशल थे।

मथुरा की जैन कला में जो सैकड़ों कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें अधिकांश कुटुम्बिनी श्राविकाओं द्वारा बनवाई गई थीं। ये कला-कृतियाँ हमारी मूल्यवान् निधि हैं और उन उदार-चेता महिलाओं की मधुर स्मृति दिलाती हैं, जिन्होंने इहलोक और परलोक के कल्याण का विस्तार करने के हेतु धार्मिक कृत्यों को निस्स्वार्थ रूप से निष्पन्न किया था। मूर्तियों का निर्माण कराने वाली स्त्रियों के नाम लेखों में उनके परिवार वालों के नाम, गण, कुल तथा शाखा के सहित दिए हुए हैं। ये दानदात्रियाँ न केवल उच्च परिवारों की थीं, बल्कि सभी वर्ग इनमें सम्मिलित थे। वणिक्, कारुक, गन्धिक, मणिकार, लौहकार आदि विभिन्न वर्गों की गृहिणियों ने सभी जीवों (सर्व सत्वों) के हित-सुख के लिए दान दे कर अपने नाम अमर किए। गणिकाओं, नर्तकियों तक ने पूरी स्वतंत्रता के साथ विविध धर्म-कार्यों में भाग लिया। मथुरा के एक अत्यन्त सुन्दर आयागपट्ट का निर्माण वसु नामक गणिका की पुत्री लवणशोभिका द्वारा कराया गया। इसी प्रकार फल्गुयश नामक नर्तक की भार्या शिवयशा ने एक दूसरे आयागपट्ट की रचना करवाई।

मथुरा के अभिलेखों में इन दानदात्री स्त्रियों के नाम बड़ी संख्या में मिले हैं। इनमें से कुछ नाम ये हैं—अमोहिनी, अचला, कुमारमित्रा, कौशिकी, गृहरक्षिता, गृहश्री, जया, जिनदासी, जीवनन्दा, दत्ता, धर्मघोषा, धर्मसोमा, बलहस्तिनी, मित्रा, यशा, विजयश्री, शिवमित्रा, शिवयशा तथा सोमा। जिन उपदेशिका भिक्षुणी आर्याओं की प्रेरणा से कुटुम्बिनी स्त्रियों ने धर्म और कला के प्रसार में भाग लिया उनके नाम अभिलेखों में सादिता, वसुला, जिनदासी, श्यामा, धर्मार्था, दत्ता, धान्यश्रिया आदि मिले हैं।

गुप्त-काल के बाद भी जैन कला का प्रसार उत्तर भारत के अनेक स्थानों में जारी रहा। मथुरा के कंकाली टीले से ग्यारहवीं शती के अंत तक की तीर्थंकर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अंतिम मूर्ति पर विक्रम संवत् ११३४ (१०७७ ई०) का लेख है। इसके पहले की एक मूर्ति पर संवत् १०८० (१०२३ ई०) लिखा है। इससे पता चलता है कि १०१८ ई० में महमूद ग़ज़नवी के मथुरा पर दुर्दान्त आक्रमण के बाद भी प्रायः ६० वर्षों तक बौद्ध स्तूप की पावन भूमि पर जैन कला विकसित होती रही।

मथुरा के अतिरिक्त उत्तर भारत में अन्य अनेक केन्द्र थे, जिनमें उत्तर गुप्त काल तथा मध्य काल में जैन प्रतिमाओं का निर्माण होता रहा। बिहार तथा उत्तरप्रदेश में अनेक स्थान तीर्थंकरों के जन्म, तपश्चर्या तथा निर्वाण के स्थान रहे हैं। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन स्थानों पर धर्म, कला तथा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना होती। कौशाम्बी, प्रभास, श्रावस्ती, काम्पिल्य, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, देवगढ़, राजगृह, वैशाली, मन्दारगिरि, पावापुरी आदि ऐसे ही स्थान थे। इन स्थानों से जैन धर्म की जो प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे पता चलता है कि इस धर्म ने भारतीय लोक-जीवन को प्रभावित कर दिया था। जैन धर्म की धारा उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि वह भारत के अन्य भागों को भी आप्लावित करती रही। मध्यप्रदेश में ग्वालियर, चंदेरी, सोनागिरि, खजुराहो, अजयगढ़, कुण्डलपुर, जसो, अहार और रामटेक एवं राजपूताना तथा मालवा में चन्दाखेड़ी, आबू पर्वत, सिद्धवरकूट तथा उज्जैन प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहे हैं। इसी प्रकार सौराष्ट्र, गुजरात तथा बम्बई प्रदेश में गिरनार, वलभी शत्रुंजय, अणहिलवाड़ा, एलोरा और बादामी तथा दक्षिण में बलूर, श्रवणवेलगोला तथा हलेपीड आदि स्थानों में भी जैन धर्म से संबंधित स्थापत्य, मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दीर्घ काल तक प्रवर्धित होती रहीं।

मध्यकालीन जैन प्रतिमाओं में अलंकरण की मात्रा मिलती है। इस काल के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं में प्रधान मूर्ति के चारों ओर परिचारक गण तथा अन्य विविध अलंकरण बहुलता के साथ उकेरे मिलते हैं। तीर्थंकर-मूर्तियों में उनके लांछन या चिह्न भी पाए जाते हैं, जिससे यह जानने में आसानी होती है कि अमुक मूर्ति किसकी है। अनेक तीर्थंकर-मूर्तियों में हिंदू देवी-देवता—इंद्र, कुवेर, गणपति, सरस्वती, लक्ष्मी आदि भी मिलते हैं। कुछ मध्यकालीन जिन-प्रतिमाओं में प्रभा-मंडल तथा छत्र सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण मिले हैं। मध्यकालीन सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। कुषाण एवं गुप्तकालीन मूर्तियों की तरह मध्य काल की भी अभिलि-

खित तीर्थंकर-मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। इन अभिलेखों द्वारा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है।

हिन्दू प्रतिमाएँ

बौद्ध तथा जैन धर्म की तरह हिंदू धर्म संबंधी कला का भी हिंदी प्रदेश में व्यापक प्रसार हुआ। इस क्षेत्र में हिंदू या पौराणिक धर्म के प्रति प्रबल आस्था थी। ईसवी पू० दूसरी शती में वैष्णवभक्ति की जो लहर उठी उससे विदेशी लोग तक प्रभावित हुए। विदिशा नगरी के आधुनिक बेसनगर नामक स्थान में एक ऊँचे खंभे पर खुदे हुए ब्राह्मी लेख से ज्ञात हुआ है कि शुंगवंशी राजा काशीपुत्र भागभद्र के समय में तक्षशिला के यूनानी शासक अंतलिकित ने अपने राजदूत हेलिओदोर को विदिशा भेजा, जिसने यहाँ उक्त खंभा (गरुडध्वज) स्थापित किया। लेख में राजदूत ने अपने को भागवत कहा है।

इस भागवत धर्म का आरंभ यादव या सात्त्वत क्षत्रियों में हुआ। इस वंश में उत्पन्न वासुदेव कृष्ण इस धर्म के केन्द्रबिंदु हुए। उन्हें विष्णु या नारायण का अवतार माना गया। भागवत धर्म को सात्त्वत, वासुदेव, पांचरात्र, ऐकांतिक तथा नारायण नामों से भी जाना जाता था। इस मत के चार व्यूह क्रमशः वासुदेव कृष्ण, उनके भाई संकर्षण (बलराम), पुत्र प्रद्युम्न तथा पौत्र अनिरुद्ध के नाम पर प्रचलित हुए। कृष्ण-बलराम को देव रूप में मानने का सर्वप्रथम शिलालेख चित्तौरगढ़ के पास घोसुंडी नामक स्थान में मिला है। इसमें भगवान् संकर्षण-वासुदेव के लिए पूजा-शिला तथा वेदिका के निर्माण का उल्लेख है। इस शिलालेख का समय ई० पूर्व दूसरी शती है।

उक्त भागवत मत को वैष्णव धर्म की प्रमुख शाखा कह सकते हैं। हिंदू त्रिदेव के विष्णु इस धर्म के इष्टदेव हैं। अन्य दो देवता ब्रह्मा तथा शिव हैं। हिंदू धर्म और कला में इन तीनों देवताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी, ब्रह्मा की सावित्री या सरस्वती और शिव की पार्वती हैं। त्रिदेव और उनकी पत्नियों के अतिरिक्त उनसे संबंधित अन्य कितने ही देवी-देवताओं की सृष्टि हुई, जिनसे हिंदू धर्म के देवों का परिकर बढ़ता गया।

ब्रह्मा की प्राचीन मूर्तियाँ कम मिली हैं। इनकी कुषाणकालीन केवल दो मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। एक (मथुरा संग्रहालय सं० ३८२) में उनके तीन मुख एक सीध में दिखाए गए हैं और चौथा बीच वाले सिर के पीछे है। कुषाणकालीन बौद्ध मूर्तियों की तरह इसमें भी पीछे सादा छायामंडल है तथा दायाँ हाथ अभय मुद्रा में है। ब्रह्मा की गुप्त तथा मध्य काल की बहुसंख्यक मूर्तियाँ उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में मिली हैं। महावन में मिली हुई एक कलापूर्ण मूर्ति[1] पर ब्रह्मा अपनी पत्नी के साथ बैठे हुए दिखाए गए हैं।

विष्णु की प्रतिमाओं की संख्या बहुत अधिक है। उनकी कुषाणकालीन कुछ चतुर्भुजी

---

१. यह मूर्ति अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है।

और अष्टभुजी मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति (संख्या २४८७) पर उन्हें बोधिसत्व मैत्रेय के समान दिखाया गया है। वहीं से मिले हुए एक अन्य शिलापट्ट (संख्या २५२०) पर विष्णु को अर्धनारीश्वर, गज लक्ष्मी तथा कुबेर के साथ प्रदर्शित किया गया है। विदिशा में भी विष्णु की एक कुषाणकालीन मूर्ति प्राप्त हुई है।

गुप्त काल में बुद्ध-प्रतिमा की तरह विष्णु-प्रतिमाओं में भी कला-सौष्ठव मिलता है। दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में मथुरा में प्राप्त (सं० ई ६) विष्णु की गुप्तकालीन मूर्ति तत्कालीन कला का उत्तम उदाहरण है। विष्णु को ध्यान-मुद्रा में दिखाया गया है और उनके विविध अंग तथा वस्त्राभूषण अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से अंकित हैं। देवगढ़ के दशावतार मंदिर में विष्णु (नारायण) की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की हैं। तिगवा (ज़ि० जबलपुर) तथा एरण (ज़ि० सागर, म०प्र०) के विष्णु-मंदिरों की प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं। गुप्त युग में महा-विष्णु की भी मूर्तियाँ बनने लगी थीं। इनमें बीच में भगवान् विष्णु का मुख तथा अगल-बगल नृसिंह और वाराहावतार के मुख बनाए जाते थे। विष्णु के विश्वरूप की भी कुछ सुंदर प्रतिमाएँ अलीगढ़, कामवन, कन्नौज आदि में मिली हैं।

विष्णु की मध्यकालीन मूर्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। प्रायः समस्त हिंदी क्षेत्र में इन मूर्तियों का निर्माण होता रहा। कन्नौज, कामवन (पूर्वी राजस्थान), सुहागपुर (ज़ि० शहडोल, म०प्र०), खजुराहो, पालीखेड़, किराडू और ओसिया (तीनों जोधपुर में) तथा बाड़ोली (उदय-पुर) में मध्यकाल में विष्णु की अनेक सुंदर प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से तो इनका महत्व है ही शुद्ध कलात्मक दृष्टि से भी ये बहुत सुंदर हैं। कन्नौज, कामवन, पाली, ओसिया तथा डीडवाना (मारवाड़) की कुछ विष्णु प्रतिमाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना और उन अवतारों की विविध लीलाएँ पुराणों में विस्तार से वर्णित हैं। कृष्ण-बलराम की पूजा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। राजस्थान, ब्रज, काशी तथा विदिशा से इनकी अनेक दुर्लभ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बलराम की एक शुंगकालीन प्रतिमा मथुरा से तथा दूसरी विदिशा से मिली है। इनमें बलराम को हल-मूसल लिए दिखाया गया है। देवगढ़ के कई शिलापट्टों पर कृष्ण की बाल-लीलाओं का सुंदर चित्रण है। अन्य अवतारों में वराह, नृसिंह, वामन और राम का आलेखन अधिक हुआ है। वराह की उदयगिरि वाली मूर्ति सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। एरण की वराह मूर्ति अपने ढंग की अनोखी है। इसकी पीठ पर वल्कल पहने हुए कमंडलुधारी ऋषियों तथा राशियों का आलेखन बड़ा मनोरंजक है। ये दोनों मूर्तियाँ गुप्तकालीन हैं। वराह की अनेक मध्यकालीन मूर्तियाँ खजुराहो, ग्वालियर तथा पूर्वी राजस्थान से मिली हैं। राम की कुछ गुप्तकालीन मूर्तियाँ देवगढ़ के शिलापट्टों पर अंकित हैं।

हिंदू त्रिमूर्ति में तीसरे देवता शिव हैं। इनके विविध रूपों की प्रतिमाएँ मिली हैं। कुषाण शासकों में से कई ने अपने सिक्कों पर नंदी बैल सहित एक या अनेक मुख वाली शिव मूर्तियों को अंकित कराया था। कुषाणकालीन शिवलिंग की एक मूर्ति मथुरा में मिली है (संख्या २६६१) जिसकी पूजा कोट और पायजामा पहने हुए शक लोग करते दिखाए गए हैं। कुषाण और

गुप्तकालीन कई सुन्दर प्रतिमाएँ मथुरा-कला में प्राप्त हुई हैं। इनमें एकमुखी, चतुर्मुखी और पंचमुखी शिवलिंग भी हैं। कुछ मूर्तियों में शिव-पार्वती को दंपति भाव में दिखाया है तथा कुछ में अर्द्धनारीश्वर भाव का चित्रण है। पंचमुखी शिवलिंग का सबसे प्राचीन उदाहरण इलाहाबाद के समीप भीटा से प्राप्त हुआ है। यह मूर्ति शुंगकालीन है।

शिव की गुप्तकालीन मूर्तियों में विन्ध्य प्रदेश के नचना और भुमरा की प्रतिमाएँ अग्रगण्य हैं। नचना का चतुर्मुख शिवलिंग कला की एक लोकोत्तर कृति सा लगता है। यहाँ का पार्वती मंदिर भी तत्कालीन कला के अध्ययन के लिए दर्शनीय है। भुमरा में शिव का एक अद्‌भुत मंदिर था, जो अब नष्टप्राय है। इसके अधिकांश अवशेष प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनकी कला में जो निखार और सजीवता है वह सचमुच सराहनीय है। ऊँचेहरा (जि० सतना) तथा उसके पास खोह से कुछ अलंकृत शिवलिंग मिले हैं, जिनकी कला उच्च कोटि की है। इनमें से अधिकांश एक मुख वाले हैं।

गुप्तकाल के बाद उत्तर और मध्य भारत के अनेक भागों में शिव मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। कन्नौज से कई सुंदर शिव-प्रतिमाएँ मिली हैं। यहाँ कुछ शिवलिंग ऐसे मिले हैं जिन पर चतुर्देव—ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सूर्य—का अंकन है। ऐसे शिवलिंग अजमेर, कालिंजर, टेहू (आगरा), खजुराहो, किराडू आदि स्थानों से भी मिले हैं। कुछ पर सूर्य के स्थान पर चौथा मुख देवी का है। पंचदेव वाले कुछ शिवलिंग भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर विष्णु, सूर्य, देवी और गणेश का अंकन मिलता है। पाँचवीं मूर्ति स्वयं शिव की मानी जाती है। इन लिंगों के आधार पर ११वीं-१२वीं शती में स्मार्तों की इस पंचदेवोपासना के प्रचार का प्रमाण मिल जाता है। कन्नौज से प्राप्त कल्याणसुन्दर (शिव-पार्वती-परिणय) की प्रतिमा अंग-सौष्ठव तथा भावाभिव्यक्ति में अद्वितीय है। इसका निर्माण काल ७०० ई० के लगभग है। एटा से ११वीं शती की इसी भाव की एक सुन्दर मूर्ति मिली है, जो भारत कला भवन, काशी में है।

मध्यप्रदेश में खजुराहो के शिव-मंदिर की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इन मंदिरों में शिव तथा उनके परिचारों की विविध मूर्तियों के दर्शन होते हैं। मंदिरों के चप्पे-चप्पे पौराणिक तथा अनेक अलंकरणों से ढके हुए हैं। इन देवालयों को मूर्त शास्त्र कह सकते हैं। कामशास्त्र विषयक कुछ अश्लील चित्रण भी इनमें हैं, जो तत्कालीन कौल-कापालिकों के बढ़ते हुए प्रभाव के द्योतक हैं।

भेड़ाघाट (जबलपुर) के चौंसठ योगिनी तथा वैद्यनाथ मंदिर, उदयपुर (विदिशा) का उदयेश्वर मंदिर, त्रिपुरी के गोलकी मठ एवं गुरगी, चंदेर तथा अमरकंटक के मंदिरों तथा राजस्थान एवं मध्यभारत के पूर्वोक्त मंदिरों में शैव एवं शाक्त मत संबंधी बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण मध्यकाल में हुआ।

त्रिमूर्तियों के अतिरिक्त जिन अन्य देवताओं की मूर्तियाँ विशेष रूप से मिलती हैं वे इंद्र, अग्नि, सूर्य, कार्तिकेय, गणेश, नवग्रह और कामदेव की हैं। देवियों में लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा तथा उनके विविध रूप (काली, चामुंडा, महिषमर्दिनी आदि), सप्तमातृका, गंगा, यमुना, मातृदेवी,

वसुधारा आदि की भी अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, मढ़खेरा (ज़ि० टीकमगढ़) और ग्वालियर से प्राप्त सूर्य की तथा काशी, कन्नौज, कामवन, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त कार्तिकेय की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

पूर्व मध्यकाल में वेरूल (एलोरा) के कैलास मंदिर तथा एलिफ़ैंटा (बंबई) के पास के गुफा मंदिर का नामोल्लेख यहाँ कर देना युक्तिसंगत है। ये दोनों यद्यपि हमारे हिन्दी प्रदेश से बाहर पड़ते हैं, किंतु हिंदू मूर्तिकला के विकास में इन स्थानों का जो व्यापक योग रहा है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। पौराणिक हिंदू देवी देवताओं की कितनी ही लीलाएँ इन दोनों स्थानों पर कलाकारों द्वारा अमर कर दी गई हैं।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ

उपर्युक्त तीनों प्रमुख धर्मों से संबंधित मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतिमाएँ मिली हैं। मथुरा से शक-कुषाण राजाओं तथा आभिजात्य वर्ग की कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, जैसी कि भारत में अन्यत्र नहीं मिलतीं। मथुरा से लगभग ८ मील दूर माँट नामक स्थान में कुषाण राजाओं का एक देवकुल[१] था, जहाँ से इन राजाओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। दूसरा देवकुल संभवतः यमुना-तट पर गोकर्णेश्वर टीले के समीप था। विम कैडफ़ाइसिस की विशालकाय मूर्ति (संख्या २१५) में, जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाए गए हैं। वे लंबा चोग़ा, गुलूबंद, सलवारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर उनका नाम लिखा हुआ है। कुषाण वंश के सबसे प्रतापी सम्राट् कनिष्क की प्रतिमा (सं० २१३) वेशभूषा में विम की प्रतिमा से बहुत मिलती-जुलती है। उसके दाएँ हाथ में राजदंड तथा बाएँ में तलवार है। मोटे जूते, जिन्हें गिलगिटी जूते कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम उसकी उपाधियों सहित लिखा है। चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप वंश का जन्मदाता था। इसकी मूर्ति (सं० २१९) की भी वेशभूषा उपयुक्त मूर्तियों के समान है। इसका चोग़ा ज़रीदार है तथा कमरबंद भी अलंकृत है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त यथोक्त वेशभूषा धारण किए हुए अनेक शक राजकुमारों तथा सरदारों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। गांधार कला में शक महिषी की मूर्ति (सं० एफ़ ४२) यमुना किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई है। यह सिलेटी पत्थर से बनी है। यद्यपि यह मथुरा कला से भिन्न गांधार कला की कृति है, तथापि मथुरा में इसका पाया जाना महत्त्व की बात है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के शिलालेख से ज्ञात हुआ है कि शक शासक राजुवुल तथा उसकी पत्नी कमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा में गुहा-विहार तथा एक बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया था। इस मूर्ति को उसी कंबोजिका की प्रतिमा अनुमान किया जाता है।

---

१. देवकुल उस स्थान की संज्ञा थी जहाँ मृत राजाओं की प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। धार्मिक दृष्टिकोण से ये स्थान पवित्र और पूज्य माने जाते थे। वाल्मीकि रामायण (अयोध्या-काण्ड) में अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के देवकुल का उल्लेख मिलता है।

कनिष्क और विम की उपर्युक्त पाषाण-मूर्तियाँ उनकी उन प्रतिमाओं से मिलती-जुलती हैं जो इन शासकों के सिक्कों पर मिली हैं।

यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि की प्रतिमाएँ

भारतीय कला में यक्ष, यक्षी, किन्नर, गन्धर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये योनियाँ कल्याण, सुख-समृद्धि तथा विलास की द्योतक मानी जाती हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ साँची, भारहुत तथा मथुरा कला में अधिक मिली हैं। मथुरा कला की सबसे महत्त्वपूर्ण यक्ष-मूर्ति परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय प्रतिमा (सी० १) है। यह संभवतः मणिभद्र यक्ष की है। इस यक्ष की मूर्ति पवाया (मध्यप्रदेश) से भी मिली है। ऐसी एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बरौदा गाँव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ कोर कर बनाई गई हैं। कुषाणकाल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्व तथा बुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। परखम वाली यक्ष मूर्ति की तरह दो बड़ी मूर्तियाँ पटना से भी मिली थीं, जो अब कलकत्ता संग्रहालय में हैं। दीदारगंज (पटना) से प्राप्त चमर-ग्राहिणी मूर्ति को भी यक्षी की प्रतिमा माना जाता है। इस मूर्ति की ठवन तथा उस पर का अशोककालीन ओप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान प्रधान है। उनकी अनेक मूर्तियाँ विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। कुबेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता माने गए हैं। बौद्ध, जैन तथा हिंदू—इन तीनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। बौद्ध धर्म में इनकी जंभाल संज्ञा प्रसिद्ध है। कुबेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा संग्रहालय में संख्या सी०२, सी०५ तथा सी०३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गए हैं। इनके हाथों में सुरापात्र, बिजौरा नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला है। कुछ वर्ष पूर्व कुबेर की एक सुंदर अभिलिखित मूर्ति (सं० ३२३२) मथुरा से प्राप्त हुई है, जो ई० तीसरी शती की है। कुबेर के साथ उनकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और उसका चित्रण प्रायः बच्चों को गोद में लिए हुए मिलता है।

साँची, भारहुत और मथुरा की कला में अन्य यक्षियों का चित्रण भी मिलता है। भारहुत की कुछ यक्षी-प्रतिमाओं पर उनके नाम भी लिखे हैं—यथा, चुलका देवता, सिरमा देवता, महा-कोका देवता आदि। पूज्य प्रतिमाओं के साथ विविध अलंकरणों के रूप में भी यक्ष-यक्षी, किन्नर, गन्धर्व, अप्सरा, सुपर्ण, विद्याधर आदि मिलते हैं। किन्नर स्त्री-पुरुषों को आधा मानव और आधा अश्व के रूप में दिखाया जाता है, जो संभवतः स्फूर्ति और शक्ति का प्रतीक है। गंधर्व गान-विद्या-विशारद माने जाते हैं और अप्सराएँ नृत्य-कुशल। सुपर्णों को सपक्ष पुरुष रूप में आलेखित किया गया है। विद्याधर-मिथुन पुष्प-वृष्टि करते हैं। साँची, मथुरा, सारनाथ आदि की अनेक प्रतिमाओं के ऊपर पुष्पों की डालियाँ लिए हुए विद्याधरों को दिखाया गया है। खजुराहो आदि मध्यकालीन

अन्य मृण्मूर्तियों पर उद्यान-क्रीड़ा, पान-गोष्ठी, संगीत, दंपति-विहार, प्रसाधन आदि के कितने ही रोचक दृश्य मिलते हैं। यक्ष-यक्षियों, गज-लक्ष्मी आदि की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा की शुंग तथा कुषाणकालीन मूर्तियों में कामदेव तथा गज-लक्ष्मी की कुछ सुंदर कृतियाँ हैं। एक मूर्ति पर मृगों के रथ पर सवार एक युवराज नगर-द्वार के बाहर जाता हुआ दिखाया गया है। व्यजनधारिणी तथा प्रसाधन करती हुई स्त्रियों के भी अनेक चित्रण हैं। विविध केश-शृंगार, आभूषण आदि इन लघु कला-कृतियों पर चित्रित हैं। पक्षी-क्रीड़ा, नृत्य, आखेट आदि के भी कुछ रोचक दृश्य हैं।

गुप्तकाल में राजघाट, अहिच्छत्रा, पवाया, कसिया, भीतरगाँव और सूरतगढ़ (बीकानेर) में मिट्टी की अच्छी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। राजघाट से ऐसी प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। इनमें विविध आकर्षक केश-विन्यासों से सज्जित स्त्री-पुरुषों के सिर उल्लेखनीय हैं। इन मृण्मूर्तियों में सौष्ठव के साथ बहुत निखार है। मूतियों को पकाने के बाद लाल, पीले हरे आदि रंगों से रँगा भी जाता था। ऐसी अनेक रँगी हुई मूर्तियाँ राजघाट से उपलब्ध हुई हैं। अहिच्छत्रा से गुप्तकाल की कुछ दुर्लभ कला-कृतियाँ मिली हैं। इनमें शिव-पार्वती के दो कलापूर्ण मस्तक उल्लेखनीय हैं। पार्वती का केश-प्रसाधन तथा मुख का भाव अत्यंत सराहनीय है। अहिच्छत्रा से विविध पुष्पालंकरणों से मंडित अन्य कुछ सिर तथा महाभारत तथा पुराणों के कई उपाख्यान भी आलेखित मिले हैं। पवाया (प्राचीन पद्मावती) से भी गुप्तकालीन मनोहर वेश वाले स्त्री-पुरुषों की कई मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें अंगों की बनावट बहुत सुडौल है। कसिया से कुछ बहुत बड़ी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक पर यशोदा के साथ कृष्ण-बलराम की बाल-लीला दिखाई गई है। भीतरगाँव के गुप्तकालीन मंदिर में अनेक कलापूर्ण दिलहे मिले हैं। इनमें से कुछ पर पौराणिक कथाएँ प्रदर्शित हैं। बीकानेर में सूरतगढ़ तथा उसके आसपास से मिट्टी के कई सुंदर कलावशेष मिले हैं। इनमें से कई पर कृष्ण-लीला के चित्रण हैं। एक पर दानलीला का रोचक दृश्य है। एक अन्य प्रतिमा पर पार्वती के साथ शिव कैलास पर्वत पर बैठे हुए दिखाए गए हैं। मथुरा से भी गुप्तकाल की कुछ बड़ी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक पर मयूर पर अधिष्ठित कार्तिकेय का वीर भाव बड़ी सक्षमता से प्रदर्शित है। दूसरी पर रनिवास का एक मनोरंजक दृश्य है, जिसमें एक सुंदरी विदूषक (?) के गले में दुपट्टा डाल कर खींच रही है। इन कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि मिट्टी में कला का प्राण फूंकने वाले कलाकार पाषाण पर काम करने वाले अपने सहयोगियों से न्यून नहीं थे।

मध्यकाल में भी मिट्टी की मूर्तियों का बनाना जारी रहा। ईटों पर विविध कलापूर्ण प्रतिमाएँ एवं अलंकरण रचे जाते थे। ऐसी कुछ ईटें सिरपुर (जि० रायपुर, म०प्र०) के मध्यकालीन मंदिर से प्राप्त हुई हैं।

धातु आदि की प्रतिमाएँ

गया और कुर्किहार से प्राप्त पूर्व मध्यकालीन कांस्य प्रतिमाओं का उल्लेख ऊपर किया जा

चुका है। इनमें बुद्ध, बोधिसत्व आदि की कुछ प्रतिमाएँ उच्च कोटि की हैं। अंगों के सुष्ठु निर्माण के साथ उनमें भाव-गांभीर्य भी मिलता है। सारनाथ, विदिशा और उज्जयिनी से भी कुछ प्राचीन धातु-प्रतिमाएँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त हाथीदाँत की कुछ सुंदर मूर्तियाँ कौशाम्बी, मथुरा तथा विदिशा से मिली हैं। अंतिम स्थान में हाथीदाँत पर काम करने वाले कुशल कलाकार रहते थे। कौशाम्बी और अहिच्छत्रा से विविध पाषाणों से निर्मित मनके (माणिक्य) बड़ी संख्या में मिले हैं। इनमें से कुछ पर पशु-पक्षियों आदि के रूप मिलते हैं। कौशाम्बी में यह कला बहुत उन्नत थी।

उत्तर भारत के विभिन्न राजवंशों के सिक्के भी बड़ी मात्रा में मिले हैं। कुषाण और गुप्त शासकों ने मुद्राओं के कलात्मक रूप पर अधिक ध्यान दिया। इन शासकों की कतिपय स्वर्ण-मुद्राओं पर शासकों तथा देवी-देवताओं की विविध भावपूर्ण मुद्राएँ बड़ी मनोहरता से अंकित हैं। विम, कनिष्क, हुविष्क, चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त की मुद्राएँ कलात्मक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। मुग़ल शासकों में अकबर तथा जहाँगीर की मुद्राएँ भी इसी कोटि में आती हैं।

चित्रकला

पूर्वोक्त दोनों ललित कलाओं की तरह हिंदी प्रदेश की चित्रकला की कहानी अधिक लंबी न होते हुए भी कम रोचक नहीं है। यद्यपि प्राचीन साहित्य में विविध चित्रों के निर्माण और उनके प्रदर्शन के अनेक उल्लेख मिलते हैं, किंतु १५ वीं शती के पहले के चित्र इस भूभाग में बहुत कम बने हैं।

प्रागैतिहासिक गुफा चित्रों में मध्यप्रदेश के पँचमढ़ी, होशंगाबाद आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनका निर्माण विविध रंगों से आदिम असभ्य मानवों द्वारा किया गया था। हाल में इन पंक्तियों के लेखक को मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में आबचंद नामक गुफा चित्रों का पता लगा, जो एक लंबी गुफा में बनाए गए हैं। इनमें लाल, पीले तथा सफ़ेद रंगों का प्रयोग किया गया है। इन चित्रों के विषय मृगया, नृत्य-गान, पशुओं की सवारी, जंगली पशु आदि हैं। उत्तरप्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले में भी इस प्रकार के कुछ गुफा चित्रों का पता लगा है।

ऐतिहासिक भित्ति चित्रों में सबसे पुराने सरगुजा (मध्यप्रदेश) के जोगीमारा गुफा में हैं। इस गुफा के पास ही सीताबोंगा नामक दूसरी गुफा है, जिसमें भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित प्रेक्षागार का चित्रण है। इस प्रेक्षागार की नटियों का आवास-स्थान जोगीमारा गुफा रही होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। दुर्भाग्य से इन दुर्लभ चित्रों की कुछ रेखाएँ ही शेष रह गई हैं—शेष भाग परवर्ती काल में खींचे गए भोंडे चित्रों के नीचे दब गए हैं। प्राचीन चित्रों का निर्माण मौर्य काल के अंतिम समय में किया गया था, जैसा वहाँ पाए गए कुछ अभिलेखों से पता चला है।

शुंग और कुषाण काल में बने कुछ चित्रों के अंश अजंता की नवीं-दसवीं गुफा में बचे हैं। इनकी मानवकृतियाँ तथा उनकी वेशभूषा साँची, भारहुत की शिल्प कला से बहुत मिलती-जुलती हैं। अजंता के अधिकांश चित्र गुप्त काल के हैं। स्वर्ण युग के भारतीय समाज का सूक्ष्म आलेखन

कर तथा आदर्श और यथार्थ का जीता-जागता चित्रण कर अजंता के कलाकार भारत ही नहीं, संसार के कलाप्रिय लोगों के लिए प्रातःस्मरणीय बन गए हैं।

अजंता की कला का कुछ न कुछ प्रभाव परवर्ती भारतीय कला में देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ मालवा प्रदेश के बाघ नामक स्थान में छठीं शती तथा सातवीं शती के प्रारंभ के जो भित्ति चित्र उरेहे गए उनमें अजंता की छाप मिलती है। इस स्थान का बाघ नाम नर्मदा की सहायिका बाघ (व्याघ्रा) नदी के पास होने के कारण पड़ा। यहाँ कुल नौ गुफाएँ हैं, जिनका कुल परिमाण लंबाई में ७५० गज़ है। चौथी-पाँचवीं गुफा के सम्मिलित ओसारे में मुख्य रूप से बाघ के चित्र हैं। ये बहुत कुछ क्षति-ग्रस्त हो चुके हैं। यहाँ का सबसे उल्लेखनीय चित्र वह है जिसमें आकर्षक वेश-भूषा वाली एक नृत्य-मंडली हाथों में लकुट लिए हुए एक घेरे या मंडल में नृत्य कर रही है। यह प्राचीन मंडलीबद्ध दंडरासक का रूप जान पड़ता है, जिसमें नृत्य करते समय डंडे बजा कर शब्द किया जाता था। स्त्रियों की कुछ मुद्राएँ, यात्रा संबंधी चित्र तथा लता-पत्रों का अलंकरण बाघ की चित्रकला में विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

पूर्व मध्यकाल में बिहार-बंगाल में प्रचलित पाल कला-शैली का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। १० वीं से १३ वीं शती तक इस शैली में बौद्ध पोथियों (प्रज्ञापारमिता आदि) से चित्रित काठ के पटरे मिले हैं। ये पोथियाँ उत्तम प्रकार वाले ताल-पत्र पर लिखी गई हैं और इनके चटकीले अक्षर बहुत कलापूर्ण हैं। उन पर बीच-बीच में बुद्ध तथा महायान देवी-देवताओं के चित्र बने हैं।

पश्चिम भारत में ११ वीं से १५ वीं शती के मध्य तक अपभ्रंश शैली[१] का प्रसार रहा। इसमें श्वेतांबर जैन संप्रदाय के अनेक ग्रंथों पर चित्र उरेहे गए हैं। धीरे-धीरे इस शैली के चित्र अन्य ग्रंथों पर भी मिलने लगे, यथा, बालगोपाल-स्तुति, गीतगोविंद, दुर्गासप्तशती आदि। गुजरात, मालवा तथा सौराष्ट्र में इस शैली में चित्रित कितनी ही पोथियाँ मिली हैं। यहाँ तक कि जौनपुर में भी इस शैली के चित्र बनने लगे थे। जौनपुर से मिले हुए कई सचित्र कल्पसूत्र ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। अवधी भाषा के एक कथा-काव्य के कुछ पन्ने भारत कला भवन में हैं, जिन पर इस शैली के चित्र अंकित हैं, यहाँ तक कि पंजाब, बंगाल और आसाम में भी ऐसे कुछ चित्र मिले हैं।

श्री राय कृष्णदास के अनुसार राजस्थानी चित्रकला इसी अपभ्रंश शैली से उद्‌भूत हुई।[२] कश्मीर की पुरानी कला ने भी राजस्थानी, मुग़ल तथा पहाड़ी शैलियों को प्रभावित किया। बौद्ध लामा तारानाथ के लेखानुसार कश्मीर के प्राचीन चित्रकार पुरातन पश्चिम शैली की मध्यदेशीय

---

१. कुछ लोगों ने इसका नाम जैन या गुजरात शैली रखा था, परन्तु श्री राय कृष्णदास के अनुसार अपभ्रंश शैली नाम अधिक युक्तिसंगत है। द्र० भारत की चित्रकला, (काशी, सं० १९९६) पृ० ६९-८४।

२. वही, पृ० ९९-१०४।

उपशैली के अनुयायी थे। इससे ज्ञात होता है कि कश्मीर चित्र शैली की परम्परा काफ़ी पुरानी है। १५ वीं शती में इसीके प्रभाव द्वारा पूर्वी गुजरात तथा मेवाड़ में राजस्थानी शैली का प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे राजस्थानी चित्र-शैली बहुत विकसित हुई।

मुग़ल सम्राट् अकबर के समय से मुग़ल दरबार की एक नई चित्र-शैली का जन्म हुआ, जो मुग़ल शैली के नाम से प्रसिद्ध है। अबुलफ़ज़्ल की आईनेअकबरी में इस चित्रकला का तथा तत्कालीन चित्रकारों का अच्छा ख़ासा वर्णन मिलता है। अकबर के समय में चार प्रकार के चित्र इस शैली में बनाए गए—(१) ईरान आदि बाहरी देशों की कथाओं पर आधारित, (२) भारतीय कथाओं के चित्र (रामायण, महाभारतादि संबंधी), (३) ऐतिहासिक चित्र तथा, (४) व्यक्ति-चित्र। अधिकांश चित्रों में ईरानी शैली के साथ-साथ कश्मीरी तथा राजस्थानी शैली का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अकबर जैसे समन्वयवादी उदार व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक था। उसने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को चित्रित कराया। कुछ ऐसे ग्रंथ आज तक सुरक्षित हैं, यथा, तारीख़े ख़ानदाने तैमूरिया, रज़्मनामा (महाभारत का अनुवाद), अकबरनामा, अनवर-सुहेली आदि।

जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में मुग़ल चित्र-शैली की उन्नति जारी रही। जहाँगीर के समय में मुग़ल चित्र-कला अपने पूरे यौवन पर आ गई। उसके समय में तैयार की गई स्त्री-पुरुषों की शबीहें, यात्रा और आखेट के दृश्य तथा इन सब के विधान और अलंकरण बहुत उच्च कोटि के मिलते हैं। जहाँगीर के समय में फ़ारसी सुलिपि भी विकसित हुई। शाहजहां के समय में भी कुछ अच्छे चित्र बने, परंतु उसके बाद अन्य ललित कलाओं की तरह चित्रकला भी ह्रासोन्मुख हो गई।

कला में लोक-जीवन की झाँकी

उपर्युक्त भारतीय कला में लोक-जीवन की प्रभूत सामग्री देखने को मिलती है। साँची के तोरण-द्वारों, भारहुत, बोधगया और मथुरा की वेदिकाओं, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्रा, पटना आदि से प्राप्त मृण्मूर्तियों तथा अजन्ता, बाघ एवं उत्तर मध्यकालीन चित्रकला की कृतियों में प्राचीन धार्मिक एवं सामाजिक आचार-विचार, वेशभूषा तथा आमोद-प्रमोद की मनोरंजक झाँकी मिलती है। विविध मेलों, उत्सव-त्योहारों तथा धार्मिक क्रिया-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हुए स्त्री-पुरुष दिखाए गए हैं। नृत्य और संगीत उनके प्रमुख मनोविनोद थे। उक्त कलाकृतियों पर वंशी, वीणा, मृदंग आदि वाद्य यंत्रों के चित्रण बहुत मिलते हैं। उसी प्रकार नृत्य की विविध मुद्राओं में तल्लीन नर-नारी भी दिखाए गए हैं। मनोविनोद के अन्य साधन उद्यान-यात्रा पुष्प-संचय, सरोवर-स्नान, पक्षी-क्रीड़ा, हाथी-घोड़ों पर सवारी, आखेट, अक्ष-कीड़ा (जुआ), मधु-पान आदि थे। बग़ीचों में पुष्पित वृक्षों के नीचे बैठ कर काव्य, संगीत या पान-गोष्ठियों का आनंद लिया जाता था। स्त्री-पुरुषों द्वारा फूल तोड़ने तथा सामूहिक स्नान के भी कई दृश्य मिले हैं। दर्शनीय तथा मधुर स्वर वाले पक्षियों को पालना तथा उनके साथ विविध खिलवाड़ करना भी

लोगों को बहुत भाता था। सवारी तथा मृगया का भी बड़ा शौक था। इन कला कृतियों से विभिन्न युगों की वेशभूषा पर भी प्रकाश पड़ता है।

शुंग और कुषाण-कालीन वेदिका-स्तंभों पर आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई सन्नतांगी स्त्रियों का आलेखन भारतीय कलाकारों को बहुत रुचिकर था। इन स्तंभों पर मुक्ता-ग्रथित केश-विन्यास, कुंडल, एकावली (इकहरी माला), स्तनहार, बाजूबंद, चूड़ी, मेखला, नूपुर आदि धारण किए हुए सुंदरियाँ दिखाई गई हैं। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, तो कोई गेंद खेल रही है। कोई रक्ताशोक को अपने पदाघात से पुष्पित कर रही है या पुष्पित पेड़ के नीचे वीणा बजाने अथवा नृत्य में तल्लीन है। कहीं निर्झरों में स्नान का, तो कहीं स्नान के अनंतर वस्त्र-धारण का दृश्य दिखाया गया है। किसी वेदिका-स्तंभ पर स्नानागार से निकलती हुई महिला को बाल निचोड़ते हुए दिखाया गया है और हंस गिरती हुई पानी की बूंदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है। कहीं-कहीं वेणी-प्रसाधन का दृश्य है तो कहीं संगीतोत्सव या मधु-पान का। इस प्रकार लोक-जीवन के कितने ही मधुर दृश्य इन वेदिकाओं पर देखे जा सकते हैं। कुछ खंभों पर जातक कहानियों अथवा महाभारत या पुराणों की रोचक कथाएँ उत्कीर्ण हैं। इन वेदिका-स्तंभों को शृंगार के मूर्त रूप कहना चाहिए, जिनपर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत् की प्रभूत सौंदर्य-राशि को शाश्वत रूप प्रदान कर दिया है।

हास्य-व्यंग्य के भी अनेक मज़ेदार दृश्य प्राचीन कला में मिलते हैं। भारहुत वेदिका में एक स्थान पर बंदर लोग एक तुंदिल यक्ष को दंत-पीड़ा से मुक्त करते हुए दिखाए गए हैं। उन्होंने यक्ष के हिलते हुए दाँत को एक भारी संड़से से दबा रखा है, जिसे एक हाथी निकालने के लिए खींच रहा है। बंदर हाथी को ज़ोर लगाने के लिए ललकार रहे हैं। अंत में दाँत खट-से बाहर निकल आता है और उसे एक बंदर यक्ष के हाथ पर रख देता है। इसी प्रकार मथुरा के एक बड़े वेदिका-स्तंभ पर बंदर द्वारा उल्लू की आँख का आपरेशन किया जाना चित्रित है। बंदर शल्य-यंत्रों का थैला अपने कंधे पर डाले है और एक यंत्र से बड़े इत्मीनान के साथ जर्राही कर रहा है। इस प्रकार के कुछ व्यंग्य-चित्र साँची और अजंता में भी मिले हैं।

७. संस्कृत साहित्य

हिंदी प्रदेश की भाषा के इतिहास से प्रकट है कि भारतीय इतिहास के पूर्व मध्ययुग तक शिष्ट साहित्य की एक मात्र नहीं, तो प्रधान भाषा संस्कृत ही थी। यद्यपि संस्कृत का महान् साहित्य सम्पूर्ण देश का सम्मिलित दाय है और उसकी रचना देश के सभी भागों में हुई है, किंतु उसके मुख्य केन्द्र मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में ही थे। अतः संस्कृत साहित्य के द्वारा सामान्य रूप से संपूर्ण भारत और विशेष रूप से मध्यदेश के गत चार सहस्र वर्षों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का जीवित परिचय प्राप्त होता है।

साहित्य शब्द के विस्तृततम अर्थ में धार्मिक तथा इतर—महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, नीति काव्य, कथा-आख्यायिका तथा विज्ञान ग्रन्थ आदि—जितना भी विषय हो सकता है वह सब कुछ संस्कृत साहित्य में मिलता है। हमें भारत में केवल राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, फलित तथा गणित ज्योतिष, अंकगणित, ज्यामिति का ही बहुत-सा एवं कुछ पुराना साहित्य नहीं मिलता, अपितु संगीत, नृत्य, अभिनय कला, जादू, देव-विद्या तथा कामशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी पृथक्-पृथक् वैज्ञानिक शैली में लिखे गए मिलते हैं। संस्कृत का प्रसार आर्य जाति का प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जहाँ-जहाँ आर्य जाति की संस्कृति फैली है, वहाँ-वहाँ संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। चार सहस्र वर्षों तक निरंतर इस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा है। इस लंबी अवधि के बीच आर्यों में एक से एक उत्कृष्ट मेधावी हुए, एक से एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सब ने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया। संस्कृत भारोपीय शाखा की सब से प्राचीन भाषा है। अतः इसके साहित्य में भारोपीय शाखा के सब से पुराने साहित्यिक स्मारक उपलब्ध होते हैं। विषय-व्यापकत्व के साथ संस्कृत में रचना विषयक अद्भुत कौशल एवं मौलिकता मिलती है। सूत्र रचना-शैली संस्कृत साहित्य की अपनी शैली है, जिसने विश्व के मनीषियों को चकित कर दिया है। पशु-पक्षी संबंधी कथाएँ भारत की मौलिक रचनाएँ हैं, जिनसे अनेक विदेशी साहित्य अत्यधिक प्रभावित हुए तथा जिनका भू-मण्डल ने आदर किया। धर्म और दर्शन के विषय में तो संस्कृत का मानो एकाधिकार ही रहा है। विश्व के धर्म एवं दर्शन के विकास का परिचय हम तभी ठीक से पा सकते हैं जब हमें संस्कृत भाषा तथा साहित्य का पर्याप्त ज्ञान हो। इस विषय में डा० मेकडानेल के ये शब्द बड़े महत्त्व के हैं—"भारोपीय वंश की केवल भारतनिवासिनी ही शाखा ऐसी है, जिसने वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध धर्म नामक एक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य सभी शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखला कर बहुत

पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतंत्रता से अनेक दर्शन सम्प्रदायों को विकसित किया, जिनसे उनकी ऊँची चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है।" डॉ० विंटरनित्ज़ जैसे उच्च कोटि के विद्वान् का संस्कृत के महत्त्व के विषय में यह वाक्य कितना मूल्यवान है— "यदि हम अपनी संस्कृति के प्रारंभिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सब से पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हों तो हमें भारत की शरण लेनी पड़ेगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का प्राचीनतम साहित्य सुरक्षित है।"

संस्कृत—राष्ट्रभाषा

मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व प्रथम शताब्दी तक संस्कृत सहस्रों वर्षों से भारत की राष्ट्रभाषा तथा बोलचाल की भाषा रही। निरुक्तकर्ता महर्षि यास्क ने ई० पू० अष्टम शताब्दी के लगभग तथा अष्टाध्यायी रचयिता महामुनि पाणिनि ने ई० पू० षष्ठम शताब्दी के आसपास वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को भाषा (भाष्यते जनैः या सा) तथा लौकिक भाषा कहा है, जो इसको बोलचाल की भाषा सिद्ध करने में सबसे प्रमुख प्रमाण है। पाणिनि ने अभिवादन प्रत्यभिवादन में प्रयुक्त वाक्यों के स्वरों के उच्चारण का नियम बतला कर उसकी व्यवहारोपयोगिता बतलाई है। यास्क तथा पाणिनि दोनों ने संस्कृत बोली की प्राच्य और उदीच्य विशेषताएँ बतलाई हैं। कात्यायन स्थानिक भेदों की ओर संकेत करते हैं तथा शब्दों के प्रयोग का ज्ञान लोक-व्यवहार से बतलाते हैं (लोकतो प्रयुक्ते शब्द प्रयोगे)। पतंजलि ने संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों तथा अर्थान्तरों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने शब्दों के व्यवहार में शिष्टों को प्रमाण माना है—शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम् (महा० ६।३।१०९ सू०)। बौद्ध कहानियों के अनुसार कहा जाता है कि भिक्षुओं ने बुद्ध भगवान् से प्रार्थना की थी कि आप अपनी बोल-चाल की भाषा संस्कृत को ही बना लें, जो शिष्टों की व्यवहार की भाषा थी तथा जिसे सर्वसाधारण समझ सकते थे। संस्कृत नाटकों के निम्न कोटि के पात्र प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत में कही हुई उक्तियों को समझते तथा उसका प्रत्युत्तर देते हैं। संस्कृत नाटकों से भी प्रमाणित होता है कि ये नाटक इस प्रकार साधारणतया तभी खेले जाते होंगे, जब साधारण जनता भी समझती रही होगी। दूसरी शताब्दी ईसवी के पश्चात् मिलने वाले शिलालेख क्रमशः संस्कृत में अधिक मिलते हैं। छठी शताब्दी ईसवी से ले कर केवल जैन शिलालेखों को छोड़ कर शेष सभी शिलालेख तथा ताम्रलेख संस्कृत में ही मिलते हैं और यह सर्वविदित सत्य है कि ऐसे लेख प्रायः उसी भाषा में लिखे जाते हैं जिसे सर्वसाधारण समझ सकें। जनसाधारण में धार्मिक क्रान्ति फैलाने वाले महायानी बौद्धों के प्रायः सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही मिलते हैं। ह्वेनसांग का कहना है कि सातवीं शताब्दी में बौद्ध लोग धर्मशास्त्र संबंधी मौखिक वाद-विवाद में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। जैनों ने प्राकृत को एकान्ततः छोड़ तो नहीं दिया था, किन्तु वे भी संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे। बारहवीं शताब्दी तक प्रायः सभी भारतीय राज्यों में शासन कार्य-संस्कृत में ही होता था। सम्पूर्ण भारत में संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में दमयन्ती के स्वयंवर में आए हुए

नरेशों को परस्पर एक दूसरे की भाषा समझ न सकने के कारण सभी का संस्कृत में वार्तालाप करने का उल्लेख किया है—

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीते संस्कृत्विमां तत्र समाश्रयत्सु (नै० १०)। अतएव प्रो० ई० जे० राप्सन का कहना है कि—"संस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी, जैसी साहित्यिक अंग्रेज़ी है, जिसे हम बोलते हैं। संस्कृत उत्तर-पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी, जिसके विकास का पता सम्पूर्ण साहित्य दे रहा है।. . .धीरे-धीरे यह सारे भारतवर्ष में फैल गई। प्रारम्भ में एक ज़िले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की और अन्त में यह सारे भारतवर्ष में धर्म, राजनीति और संस्कृति की एक भाषा बन गई। समय पाकर तो यह विशाल राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी पदच्युत हुई जब मुसलमानों ने हिन्दू राष्ट्रीयता का विध्वंस किया।"

सामान्य रूप से तो संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के साहित्य को समझा जाता है, किन्तु यहाँ केवल संस्कृत के ही साहित्य के इतिहास का विवेचन किया जायगा। वैदिक संस्कृत का समय लगभग ई० पू० ५०० शताब्दी तक आता है, इसके पश्चात् लौकिक संस्कृत का युग प्रारम्भ होता है। यह संस्कृत पाणिनीय व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है। स्वर, छन्द, भाषा, व्याकरण तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत में बड़ा अन्तर है। लौकिक संस्कृत में काव्यों के अतिरिक्त पुराण, इतिहास, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अलंकार, गणित, संगीत तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ भी रचे गए हैं। संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग सामान्य ज्ञान, तथा काव्य साहित्य दोनों अर्थों में हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में उसके काव्य साहित्य रूप का ही विहंगावलोकन किया जायगा, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य काव्य, नाटक, चम्पू, कथा साहित्य आदि का परिगणन किया गया है।

संस्कृत काव्य साहित्य का क्रमिक विकास

भारत में प्रायः सभी विभिन्न ज्ञान विषयक स्रोतों का उद्गम वेदों को ही माना जाता है। ऋग्वेद के उषस् आदि संबंधी कुछ ललित सूक्तों को देख कर, नराशंस तथा दान-स्तुतियों में प्रशस्तियों को पढ़ कर, संवाद, आख्यानों में नाटकीय तत्त्वों को परख कर ब्राह्मण ग्रन्थों में रुचिकर आख्यानों को देख कर कुछ विद्वान् लौकिक काव्यों का उद्गम भी वैदिक साहित्य को मान लेते हैं। लौकिक काव्यों की गौण रूप से प्रेरणा वैदिक साहित्य से चाहे मान ली जाय, किन्तु प्रधान प्रेरणा तो वीर काव्यों से ही प्राप्त हुई। समस्त वैदिक साहित्य वस्तुतः धर्मानुप्राणित अथवा धर्म विषयक साहित्य है। वैदिक साहित्य के साथ ही ऐसे साहित्य की धारा चलती प्रतीत होती है जो धर्मेतर लौकिक विषयों से सम्बद्ध था। ये वीर काव्य उसी धारा के विकसित रूप जान पड़ते हैं, जिनमें वेदों की धर्मेतर सांसारिक तथा लोकप्रिय प्रवृत्तियों का विकास हुआ ज्ञात होता है।

ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियों के अभिलेखों में प्राकृत का प्रयोग देख कर गुणाढ्य की अप्राप्य बृहत्कथा तथा हाल की गाथा सप्तशती के पूर्व क्रमिक विकास के लंबे काल की कल्पना कर, ईसा के पूर्व तथा बाद की कुछ शताब्दियों में ग्रीक, पार्थियन, कुशन एवं शकों के विदेशी राज्य-शासन को

सोच कर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि संस्कृत काव्यों का उद्‌गम प्राकृत काव्यों से हुआ। किन्तु पाणिनि का समृद्ध एवं सम्पन्न व्याकरण तथा उसमें उद्धृत अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों का उल्लेख इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पाणिनि के समय तक व्याकरण शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त समृद्ध हो चुका था और यह स्वयं इस तथ्य को पूर्ण रूप से सिद्ध कर देता है कि उसके पहले अवश्य एक महान् सम्पन्न संस्कृत साहित्य विद्यमान था, जिसका विवेचन इस व्याकरण शास्त्र में किया गया है। राजशेखर, नमिसाधु तथा क्षेमेन्द्र को यदि प्रमाण माना जाय, तो स्वयं पाणिनि ने भी 'जाम्बवती-परिणय' अथवा 'पाताल-विजय' नामक काव्य की रचना की थी, और काव्य-रचना की यह परंपरा अविच्छिन्न चलती रही। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में होने वाले महाभाष्य-कार पतंजलि ने 'वाररुचकाव्य' (सू० ४-३-१०१) का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित कवियों द्वारा व्याकरण नियमों की अवहेलना का उल्लेख किया है—छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति (१-४-३ सू०)। साथ ही, कात्यायन की आख्यायिका पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' तथा 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने 'बलिबन्ध' नामक अभिनयों का भी उल्लेख किया है। काव्य ग्रन्थों से लगभग ४० पद्यांश उद्धरण के रूप में महाभाष्य में दिए हुए हैं, जिनके छन्द वैदिक न हो कर मालिनी, प्रहर्षिणी, वंशस्थविल, वसन्ततिलका, प्रमिताक्षरा, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि हैं। दुर्भाग्य से भाष्यकार के समय का कोई काव्य ग्रन्थ इस समय प्राप्य नहीं है, किन्तु उनके उल्लेख संस्कृत काव्यों की सम्पन्नावस्था को सूचित करने में पर्याप्त प्रमाण हैं। कुछ ही समय पश्चात् लगभग १५० ईसवी का महाक्षत्रप रुद्रदामन् का एक विशाल संस्कृत शिलालेख गिरनार में मिलता है। यह लेख संस्कृत की प्रौढ़ गद्य शैली का उत्तम नमूना है। रुद्रदामन् 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त- शब्दसमयोदारालंकृत - गद्य-पद्य-रचना' में प्रवीण कहा गया है। अलंकार तथा 'शब्द-समय' के उल्लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय तक काव्य साहित्य ही नहीं, अपितु साहित्य शास्त्र का भी अध्ययन पर्याप्त विकास पा चुका था। इसके पश्चात् की काव्य-कृतियाँ तो प्रायः सुलभ ही हैं। प्रथम शती ईसवी के आसपास बौद्ध कवि अश्वघोष का संस्कृत काव्य को अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए माध्यम के रूप में स्वीकार करना संस्कृत भाषा तथा काव्यों की लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का बहुत बड़ा प्रमाण है और उसकी प्रौढ़ कृतियों से पता चलता है कि उस समय संस्कृत काव्यों की रचना कितनी समृद्धा-वस्था को पहुँच चुकी थी। विदेशी नरेशों ने भी बहुत शीघ्र भारतीय (वैदिक अथवा बौद्ध) धर्म तथा संस्कृत भाषा को अपनाया जो उनके लेखों तथा सिक्कों से प्रमाणित होता है। अतः संस्कृत काव्यों का विकास प्राकृत काव्यों से मानना इतिहास विषयक भ्रान्ति ही कही जायगी। यह अवश्य माना जा सकता है कि संस्कृत काव्यों के साथ-साथ प्राकृत काव्यों की भी रचना चलती रही तथा परस्पर एक दूसरे से आदान-प्रदान भी होता रहा, किन्तु यह तो स्वाभाविक तथ्य है, जो सदा चलता रहता है—संस्कृत के महाकवि राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' की रचना कर इस तथ्य को और भी अधिक प्रमाणित कर दिया है। परिष्कृत साहित्य के साथ ही साथ लोकगीतों का जिस प्रकार सर्जन होता रहता है, उसी प्रकार संस्कृत के साथ प्राकृत का भी निर्माण होता रहा, जो हाल, गुणाढ्य

से ले कर शिलालेखों, नाटकों तथा राजशेखर आदि की कृतियों में हमें संस्कृत काव्यों के साथ ही क्रमशः विकसित रूप में मिलता है।

अतः संस्कृत काव्यों का उद्‌गम वीर काव्यों को ही मानना उचित है, जिनमें प्रधानतया रामायण तथा महाभारत, ये दो उपलब्ध होते हैं। यही दोनों संस्कृत काव्यों के प्रधान उपजीव्य रहे। इनमें रामायण महाकाव्य तो अपनी प्रौढ़ काव्य शैली के कारण न केवल आख्यानों के लिए, अपितु शैली के लिए भी आदर्श रहा, किन्तु महाभारत प्रायः आख्यानों के लिए ही आदर्श माना गया। इनके अतिरिक्त पुराण भी काव्यों के उपजीव्य माने जाते रहे हैं, किन्तु वे प्रधानतया खण्ड-काव्य तथा नाटकों के ही उपजीव्य थे।

वाल्मीकि रामायण

भारतीय साहित्य में वाल्मीकीय रामायण आदि काव्य तथा उसका रचयिता आदि कवि कहा जाता है। रामायण में केवल युद्धों तथा विजयों का ही वर्णन नहीं है, अपितु इसमें आलंकारिक भाषा द्वारा समस्त मानव जीवन तथा प्रकृति के अत्यन्त रमणीय चित्र अंकित किए गए हैं। इस प्रकार रामायण एक ऐतिहासिक महाकाव्य होने के साथ-साथ अलंकृत शैली का भी भव्य रूप प्रस्तुत करता है। संसार की समस्त रचनाओं में आदि कवि की यह कृति सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है और अपने रचना-काल से अद्यावधि यह समस्त कवियों एवं नाटककारों के हृदयों में नवीन चेतना तथा नव स्फूर्ति का संचार करती चली आ रही है। यह समस्त काव्यांगों की जन्मदात्री है और इसी के आधार पर विष्णु, गरुड़, भागवत, अग्नि आदि पुराणों में राम के पराक्रम की कथाएँ पाई जाती हैं। भास, कालिदास, भवभूति तथा अन्य संस्कृत कवियों ने भी इसी से प्रभावित हो कर अपने महाकाव्यों की रचना की। यहाँ तक कि बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी निस्संकोच रामायण से ही पर्याप्त सामग्री ली है। जैन साधु विमल सूरि (प्रथम शताब्दी ईसवी) का ग्रन्थ भी रामायण के आधार पर ही लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में भी राम के शौर्य-पराक्रम की कथाएँ विद्यमान हैं, जो संभवतः रामायण की ही देन हैं। स्याम, बाली तथा इनके समीप अन्य द्वीपों में रामायण के मुख्य-मुख्य पात्रों की बड़ी ही सुन्दर कलापूर्ण कृतियाँ मिली हैं। इस प्रकार रामायण का प्रभाव दूर-दूर तक दिखाई देता है। यह राम-कथा की आश्चर्यजनक चित्ताकर्षकता एवं सार्वभौमता का प्रमाण है।

रामायण में लगभग चौबीस हज़ार श्लोक हैं। पण्डितों में अनुश्रुति है कि महर्षि वाल्मीकि ने गायत्री मंत्र के एक अक्षर को रामायण में एक-एक सहस्र श्लोक का आदि वर्ण रक्खा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सात कांडों में विभक्त है, जिनका क्रम इस प्रकार है—बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध तथा उत्तर। राम के बाल्य काल से ले कर रावण पर उनकी विजय तक का वर्णन बाल-काण्ड से युद्धकाण्ड तक वर्णित है। उत्तरकांड में राम के अयोध्या में बीतने वाले अन्तिम जीवन, सीता विषयक लोकापवाद, सीता-निर्वासन, कुश-लव जन्म तथा सीता के भूमि-विलयन आदि का वर्णन है। वीर-चरित-प्रधान होते हुए भी रामायण का प्रधान पर्यवसायी रस करुण है—आनन्द-

वर्धन के शब्दों में 'रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः शोकः श्लोकत्वमागतः इत्येवंवादिना।'

रामायण में अनेक सुन्दर उपाख्यान भी हैं। वे विशेष रूप से प्रथम तथा सप्तम कांड में पाए जाते हैं। ये उपाख्यान ब्राह्मण धर्म से संबंध रखते हैं। इन उपाख्यानों का उल्लेख महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी मिलता है। इनमें ऋष्यशृंग, वसिष्ठ, विश्वामित्र, शुनः शेप, रोहिताश्व, हरिश्चन्द्र, वामन, कार्तिकेय, सगरपुत्र आदि के उपाख्यान मुख्य हैं। सप्तम कांड में भी महाभारत के समान धार्मिक कथाएँ हैं; ययाति, नहुष, इन्द्र-वृत्रासुर, वसिष्ठ, अगस्त्य, पुरुरवा आदि की कथाएँ इसमें वर्णित हैं। इसी में शम्बूक की कथा का भी वर्णन हुआ है।

रामायण के बालकाण्ड का अधिक भाग तथा सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड बाद की रचना मानी जाती है। रामायण के प्रक्षिप्त अंश तथा रचना-काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में विशेषतया यूरोपीय विद्वानों ने अनेक मत दिए हैं। संक्षेप में सभी मतों का सारांश इस प्रकार है—रामायण के बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड, जो प्रक्षिप्त अंश हैं, वास्तविक भाग के बहुत बाद में रचे गए। किन्तु महाभारत के शत-साहस्री संहिता रूप को प्राप्त होने से पहले ही प्रक्षितांश सहित रामायण की रचना हो चुकी थी। सम्भवतः ईसा की द्वितीय शताब्दी तक रामायण का वर्तमान स्वरूप पूर्ण बन चुका था, किन्तु महाभारत का मूल रूप रामायण से भी पुराना है। वेद में कहीं भी राम विषयक काव्य का उल्लेख नहीं है और उसमें राम-कथा का बहुत क्षीण संकेत ही मिलता है। बौद्ध त्रिपिटकों में रामायण का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु उन लोकगीतों की ओर संकेत अवश्य मिलता है जिनमें राम-कथा गाई जाती थी। रामायण में प्रकट रूप से बौद्ध धर्म का कोई उल्लेख नहीं है, यदि कहीं बुद्ध शब्द आया भी है, तो वह प्रक्षिप्त ही है; किन्तु राम के चरित निरूपण में, सम्भवतः दूर से ही सही, बौद्ध धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है। रामायण पर ग्रीक प्रभाव तनिक भी नहीं दिखाई पड़ता। सम्भवतः रामायण का प्रारम्भिक तथा मूल रूप तीसरी शताब्दी ई० पू० में वाल्मीकि द्वारा प्रचलित गीतों के आधार पर रचा गया था। किन्तु वाल्मीकि यदि बुद्ध के बाद हुए होते, तो वे इस प्रकार के सर्वप्रिय ऐतिहासिक महाकाव्य को प्राकृत में ही लिखते। अतः इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि रामायण की रचना बुद्ध से पहले ही हुई थी।

रामायण महाकाव्य राम-कथा पर लिखे गए परवर्ती समग्र साहित्य समुदाय का स्रोत तथा संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के समस्त रामकथाकार कवियों का उपजीव्य रहा है। वाल्मीकि ने एक आदर्श जीवन की प्रतिष्ठा अपने काव्य के द्वारा की, और इस प्रकार वे संस्कृत साहित्य के ही नहीं, अपितु भारत की महान् संस्कृति के भी प्रकाशयिता तथा संस्कर्ता रहे हैं।

महाभारत

महाभारत के महत्त्व के विषय में भारतीय दृष्टिकोण यह है कि महाभारत चारों पदार्थों का देनेवाला, सम्पूर्ण कार्यों का साधक तथा कोकिल के मधुर गान की तरह पूर्णतया तापनाशक है।

इसमें केवल कौरव-पाण्डव युद्ध ही नहीं गाया गया है, अपितु हिन्दू धर्म का समस्त स्वरूप निरूपित है। इसीलिए इसे पंचम वेद भी मानते हैं। भगवद्गीता, विष्णु सहस्रनाम, अनुगीता, भीष्मस्तवराज तथा गजेन्द्रमोक्ष जैसे अध्यात्म एवं भक्ति के ग्रन्थ रत्न महाभारत के ही अंश हैं। रामायण की भाँति महाभारत भी संस्कृत तथा बाद के साहित्य के लिए उपजीव्य रहा है। इतिहास, धर्म, राजनीति तथा साहित्य, सभी दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता की यह गर्वोक्ति है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो यहाँ है, वही अन्यत्र है; जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।

वर्तमान महाभारत एक लाख श्लोकों का मिलता है, जिसमें हरिवंश भी शामिल है। हरिवंश को महाभारत का खिल पर्व अथवा परिशिष्ट कहते हैं तथा उसे १९वाँ पर्व माना जाता है। महाभारत में कुल १८ पर्व हैं। इसके इस विकसित शत-साहस्री स्वरूप का उल्लेख गुप्तकालीन शिलालेखों में मिलता है। अतः यह शत-साहस्री संहिता ही गुप्तकाल से दो-तीन सौ वर्ष पुरानी तो अवश्य ही होगी। किन्तु यह उसका मूल रूप नहीं है। इसके विकास-क्रम में तीन सोपान माने जाते हैं—१. जय, २. भारत-तथा ३. महाभारत। इसका मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था—'जयनामेतिहासोऽयम्'। पाण्डवों की विजय का वर्णन होने के कारण ही संभवतः इसका यह नाम था और यही संजय द्वारा धृतराष्ट्र को सुनाया गया था। इसमें संभवतः आठ हजार आठ सौ श्लोक थे। विकास के दूसरे सोपान में इसका नाम 'भारत' पड़ा, जिसे वैशम्पायन ने राजा जनमेजय को सुनाया था और जिसमें संभवतः चौबीस हज़ार श्लोक थे—'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारत प्रोच्यते बुधैः।' यह रूप संभवतः वाल्मीकि रामायण के आदर्श पर बना था। महाभारत का अन्तिम विकसित रूप 'महाभारत' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सूत ने शौनकादि ऋषियों को सुनाया और जिसमें शत सहस्र श्लोक हो गए। आदि पर्व में इसकी ओर इस प्रकार संकेत किया गया है—'मन्वादिभारतं केचिदास्तिकादि तथापरे। तथा परिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते।'

महाभारत के आदि रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास माने जाते हैं, जिन्होंने तीन वर्ष तक निरंतर 'उत्थान' (परिश्रम) कर के इसकी रचना की थी—'त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः'।

महाभारत में मुख्य कथा के अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक उपाख्यान, उपदेशात्मक कथाएँ तथा ख्यातियाँ भरी हैं। उनमें कुछ प्रसिद्ध ये हैं—शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, ययाति उपाख्यान, शिवि उपाख्यान, रामोपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, नलोपाख्यान, नागयज्ञ की कथा, कद्रू-विनता की कथा, च्यवन-सुकन्या की कथा, मनु-प्रलय की कथा, अग्नि-प्रलय की कथा, मृत्यु कथा, ऋष्यश्रृंग कथा, अगस्त्य कथा, विश्वामित्र-वशिष्ठ कथा, उद्दालकारुणि कथा, नचिकेता कथा आदि। अधिक उपाख्यान वन तथा शान्ति पर्व में आए हैं, कुछ आदि पर्व में हैं और अन्य पर्वों में भी यत्र-तत्र बँटे हुए हैं। विंटरनित्ज़ महोदय का कहना है कि ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इन उपाख्यानों को गढ़ा था।

इसके रचना-काल के विषय में अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों ने इसके मूल रूप को रामायण से भी पुराना बताया है। सभी प्रकार के मतों का संक्षेप इस प्रकार है—महाभारत में वर्णित कुछ उपाख्यान तथा पद्यांश वेदकालीन हैं। महाभारत के अनेक उपदेशात्मक उपाख्यान तथा सूक्तियाँ वैखानस काव्य की हैं, जो ई० पू० छठी शताब्दी से प्रचलित थीं तथा जिनसे बौद्धों और जैनों ने भी अनेक गाथाएँ ली थीं। महाभारत यदि छठी से चौथी शताब्दी के बीच में था भी, तो वह बौद्धों के प्रान्त में प्रसिद्ध नहीं था। ई० पू० चौथी शताब्दी से पहले का कोई ठोस प्रमाण महाभारत की सत्ता के विषय में नहीं मिलता। ई० पू० चौथी शताब्दी तक महाभारत का यह शत-साहस्रमय श्लोक क्रमशः बना था। चौथी शताब्दी के पश्चात् भी यत्र-तत्र प्रक्षेप तथा परिवर्तन चलते रहे। इतना निश्चित है कि सम्पूर्ण महाभारत की रचना न एक साथ हुई थी, न एक व्यक्ति द्वारा। महाभारत में राम की कथा ही नहीं कही गई, अपितु वाल्मीकि और उनके रामायण महाकाव्य का भी उल्लेख हुआ है तथा कहीं-कहीं उसके श्लोकों का भी उद्धरण दिया गया है। इससे इतना तो प्रमाणित ही होता है कि महाभारत का कुछ अंश भले ही प्राचीन हो, किन्तु उसकी पूर्ण रचना समग्र वाल्मीकि रामायण के बाद ही हुई।

रामायण काव्य है, किन्तु महाभारत इतिहास। रामायण काल में आर्य सभ्यता अधिक विस्तृत नहीं थी, किन्तु महाभारत काल तक वह समस्त भारत में व्याप्त हो चुकी थी। रामायण पर पूर्वीय भारत का तथा महाभारत पर पश्चिमीय भारत का सांस्कृतिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। रामायण का समाज आदर्शवादी है, किन्तु महाभारत के समाज में उच्छृंखलता अधिक मात्रा में दिखाई देती है। महाभारत में रामायण की अपेक्षा युद्ध-कला भी विकसित दिखाई पड़ती है। रचना-काल तथा शैली में चाहे जो अन्तर हो, किन्तु ये दोनों आर्ष ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के आधार हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पुराण

भारतीय साहित्य में रचना-काल तथा वर्ण्य विषय की दृष्टि से पुराणों का स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। इतिहास में इनका स्थान जितने महत्त्व का है, उससे कहीं अधिक महत्त्व इनका धार्मिक साहित्य में है। वैदिक ग्रन्थों के बाद जिन ग्रन्थों ने हिंदू धर्म को सबसे अधिक प्रभावित किया, उनमें पुराणों का ही प्रथम स्थान है। इन पुराणों में प्रधानतया शिव तथा विष्णु—इन्हीं दो देवों का महत्त्व गाया गया है। वैदिक काल के पश्चात् भारत इन्हीं दो देवों तथा उनके वर्ग के देवों का उपासक बन गया। प्राचीनता की दृष्टि से तो पुराणों के आख्यान वैदिक काल की कथाओं एवं कहानियों को ही लिए हुए हैं। वेद मन्त्रों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आए हुए उपाख्यान कुछ परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में इनमें विद्यमान हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा प्राचीन बौद्ध साहित्य में पुराण शब्द प्रायः इतिहास के साथ प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में पुराण शब्द सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में आया है। महाभारत में इसका प्रयोग पुराणमाख्यानम् कह कर प्राचीन आख्यान के अर्थ में किया गया है। वायु, ब्रह्माण्ड

तथा विष्णु पुराण में असली पुराण की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार कहा गया है—व्यास ने चारों वेद अपने चार शिष्यों को सौंपे। बाद में उन्होंने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों और परंपरा-प्राप्त जनश्रुतियों को ले कर एक पुराण की रचना की और इतिहास के साथ उसे अपने पाँचवें शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया। इसके बाद उन्होंने महाभारत की रचना की। अर्थात्, जब धार्मिक मन्त्रों का संग्रह वेद संहिताओं के रूप में हो चुका था, तो जनश्रुतियों को पुराण के नाम से ही संग्रहीत किया जा सकता था। प्राचीन पुराणों में पुराण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—अनुलोम सृष्टि, प्रतिलोम सृष्टि, ऋषिवंशों, मन्वन्तरों, तथा राजवंशों का वर्णन करना, यही पाँच बातें पुराण का लक्षण हैं—(सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥)। किन्तु यह लक्षण वस्तुतः आदि पुराण के ही विषय की ओर संकेत करता है। उस समय तक धार्मिक सिद्धान्त, तीर्थ-माहात्म्य, सम्प्रदाय-मत, व्रत, पुण्यादि विषय पुराणों में सम्मिलित नहीं हो पाए थे। उपर्युक्त पंच लक्षण सभी पुराणों में पूर्ण रूप से मिलते हैं।

परम्परा के अनुसार पुराणों का निर्माण स्त्री, शूद्रों तथा अन्त्यजों के लिए हुआ था, क्योंकि इन तीनों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। पुराणों से पता चलता है कि पुराणों के प्रथम कर्ता अथवा रक्षक सूत, चारण आदि ही थे। ये लोग देवों तथा राजाओं की वंशावलियाँ रखते थे। सभी पुराणों का वर्णन सूत ही करते थे। सूत ब्राह्मण नहीं थे, उन्हें वेद से कोई मतलब नहीं था। वे कथावाचक होते थे। किन्तु परवर्ती काल में पुरोहितों का भी पर्याप्त प्रभाव पुराणों पर पड़ा।

वायु पुराण में एक स्थान पर लिखा है कि पहले केवल पाँच ही पुराण थे, किन्तु बाद में पुराणों की संख्या १८ पहुँच गई। १८ प्रधान पुराणों के नाम इस प्रकार हैं—१. ब्राह्म, २. विष्णु, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. मत्स्य, ६. स्कन्द, ७. कूर्म, ८. लिंग, ९. भविष्य, १०. पद्म, ११. भागवत, १२. ब्रह्माण्ड, १३. गरुड़, १४. मार्कण्डेय, १५. ब्रह्मवैवर्त, १६. वामन, १७. वराह, तथा १८. नारद। इन अठारह पुराणों में सब मिला कर चार लाख से अधिक श्लोक हैं। इनमें कोई ७ हज़ार श्लोकों का है, तो कोई ८१ हज़ार श्लोकों तक का। विष्णु पुराण, जो सबसे अधिक सुरक्षित माना जाता है, सात हज़ार से भी कम श्लोकों का है।

पुराणों में केवल उन्हीं प्रधान राजवंशों का तथा राजाओं का चरित्र दिया गया है, जो समाज के लिए कोई आदर्श उपस्थित करते हैं। अतः उनमें इतिहास-बुद्धि से प्रवेश करना तथा वंशावली का क्रमिक विवरण देखने की आशा करना भारी भ्रम है। पुराणों ने धर्म के गूढ़ तत्त्वों को सरस उदाहरणों द्वारा सर्वसुगम बनाया। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय पुराणों को ही है। क्षत्रिय वंशों की रूढ़ियों का ज्ञान पुराणों से भली प्रकार हो सकता है।

साहित्यिक दृष्टि से भागवत पुराण ने परवर्ती साहित्य को सब पुराणों से अधिक प्रभावित किया। कृष्ण विषयक काव्य परंपरा तथा भक्ति-काव्य परम्परा का, विशेषतया स्तोत्र साहित्य का, प्रधान स्रोत भागवत पुराण ही है।

पुराणों का संस्करण गुप्त काल में माना जाता है। पुराणों की रचना का समय निर्धा-

रित करना अत्यन्त कठिन है। इनकी रचना ई० पू० छठी शताब्दी से ले कर ७०० ई० तक की १३०० वर्षों की लंबी अवधि मानी जा सकती है। इन पुराणों में हर्ष के बाद के राजाओं का वर्णन नहीं मिलता। अतः अनुमान है कि ७०० ई० के पूर्व ही इनका सम्पादन हो चुका होगा।

महाकाव्य

संस्कृत काव्य साहित्य का स्वरूप आश्रमों की सादगी की अपेक्षा कवियों के आश्रयदाता नरेशों की वैभव-सम्पन्नता से अधिक प्रभावित हुआ है। कालिदास, राजशेखर, बाण, मंखक, कल्हण, श्रीहर्ष, मम्मट आदि की स्पष्ट उक्तियाँ इस बात के लिए प्रमाण हैं। श्री और सरस्वती दोनों के एकाश्रयभूत सहृदय नरेशों के संरक्षण में कवि भारती का स्वरूप अत्यन्त सम्पन्न, अत्यन्त सुश्लिष्ट एवं अत्यन्त प्रभावशाली रूप में निखरता रहा। राज-दरबार के साथ-साथ काव्य कला को प्रभावित करने वाला तत्कालीन नागरिक समाज होता था, जिसकी रुचि, प्रवृत्ति एवं संस्कृति का अनुरंजक काव्य होता था। संस्कृत काव्य का श्रोता तथा नाटकों का दर्शक कोई साधारण कलाहीन अरसिक व्यक्ति नहीं होता था, प्रत्युत वह सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण तथा कलाकोविद नागरिक होता था, जिसका कोमल हृदय कारुणिक दृश्यों को देख कर द्रवित हो जाता था, और आँसुओं के रूप में आँखों से बह निकलता था, तथा जो विभिन्न परिस्थितियों को पढ़ या देख कर उनमें तन्मय हो जाता था। ऐसे सहृदय को लक्ष्य में रख कर निर्मित होने के कारण ही संस्कृत काव्यों में ग्राम्यता का अभाव, सुश्लिष्टता, भाषा-सौष्ठव, भावुकता है। किन्तु नागरिक की रुचि से प्रभावित होने का तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि संस्कृत काव्य साधारण जन-जीवन की झाँकी नहीं दे पाता, अथवा उसमें प्रकृति का स्वाभाविक मनोरम रूप नहीं है। वस्तुतः वह अथ से इति तक जीवन के यथार्थ रूप को ही दिखाना चाहता है, क्योंकि उसे विदग्धों की गोष्ठी की सम्मति पानी रहती थी, जो विद्वान् होने के साथ सहृदय भी होते थे। यह बात अवश्य थी कि इधर भारवि के बाद से काव्य में कल्पना की प्रौढ़ता तथा भाषा एवं अलंकारों के प्रति अधिक आग्रह हो गया। बाद के काव्यों पर कामशास्त्र का भी प्रभाव अधिक पड़ा। फलतः स्त्री रूप का वर्णन परम्परा की बात हो गई, जिसमें कवि को अपना कामशास्त्र का ज्ञान दिखाना आवश्यक हो गया। वास्तव में संस्कृत कविता केवल एक भावुक हृदय का गान मात्र नहीं होती थी, अपितु कवि बनने के लिए सहज प्रतिभा तथा रचनाभ्यास के साथ विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान तथा उसका प्रदर्शन भी परम आवश्यक मान लिया गया था। अतः कविता भाव-प्रदर्शन के साथ कवि के वैदुष्य-प्रदर्शन का भी प्रधान साधन बन गई। कवि-समय-सिद्धियों ने इतना प्रधान स्थान कर लिया कि किसी भी वर्णन में तत्संबंधी प्रसिद्ध रूढ़ियों को अवश्य रखा जाता था।

कालिदास

संस्कृत काव्य-रचयिताओं की चर्चा करते ही सर्वप्रथम कालिदास का स्मरण होता है। कालिदास का स्थान काव्य सौंदर्य के विचार से तो प्रथम है ही, दैवयोग से कालक्रम के विचार से

भी प्रथम ही पड़ता है। 'पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः' यह उक्ति दोनों अर्थों में चरितार्थ है। वैसे कालिदास के विषय में—उनके स्थान, काल, जीवनी, कृति आदि सब के विषय में—अनेक मत तथा जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, किन्तु सर्वाधिक मान्य एवं संगत मत, जो अन्तः तथा बहिः दोनों साक्ष्यों से ठीक उतरता है, यह है कि कालिदास ई० पू० प्रथम शती में (शुंगवंशीय अग्निमित्र के बाद) विक्रम संवत् प्रवर्तक (गर्दभिल्लपुत्र शकारि) महाराज विक्रमादित्य के समय में हुए थे। उनका प्रधान निवास उज्जयिनीमें रहा। रघुवंश, कुमारसंभव—दो महाकाव्य, मेघदूत तथा ऋतुसंहार—दो खण्डकाव्य और मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञानशाकुन्तल—तीन अमर नाटक कालिदास की कृतियाँ हैं।

कुमारसम्भव मनोहर भाव-व्यंजना एवं अनुपम काव्य-माधुर्य की दृष्टि से कालिदास की सर्वोत्तम कृति मानी जा सकती है। इसकी उत्कृष्टता का प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि कुमारसम्भव में कालिदास अपने इष्टदेव शिव का चरित वर्णन कर रहे थे, अतः उसमें भावों का उद्रेक अपनी चरम सीमा पर हुआ हैं। किन्तु उसके केवल आठ ही सर्ग कालिदास ने लिखे। शेष नवें से आगे के सर्गों की रचना बाद की है। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवें सर्ग के अन्त में जगत् के माता-पिता की शृंगार चेष्टाओं का वर्णन हुआ देख कर स्वयं कालिदास को बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने आगे रचना ही बन्द कर दी। किन्तु उनकी अनिच्छा के होते हुए भी यह काव्यरत्न प्रकाशित हो ही गया। इसमें कुमार कार्तिकेय के जन्म की कथा कही गई है, किन्तु वह अधूरी रह गई। अस्तु, कुमारसम्भव एक महाकाव्य है। शृंगार रस प्रधान होते हुए भी उसमें महाकवि का अमर सन्देश है—वासना-जनित क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं, काम-वासनाओं को बिना जलाए सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिना तपस्या के स्नेह कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

रघुवंश समस्त संस्कृत साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। इसके १९ सर्गों में सूर्यवंशीय राजाओं का चरित गान किया गया है। प्रथम नौ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, रघु, अज और दशरथ—का वर्णन है, दस से पन्द्रह सर्ग तक राम-चरित का तथा अन्तिम चार सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन है। रघुवंश कालिदास की परिपक्व प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम है। उसमें अनेक रसों का मनोरम परिपाक हुआ है। कवि ने समाज में अनेक आदर्शों की स्थापना के लिए अनेक नायकों का चरित्र चित्रित किया है। रघुवंशियों के चरित के जिन अंशों को पूर्व के 'सूरियों' ने अछूता छोड़ा था, उन्हीं मार्मिक अंशों को कालिदास ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के साथ मधुरतम ढंग से चित्रित किया। यही रघुवंश की मौलिकता है।

अश्वघोष

संस्कृत के बौद्ध कवियों में अश्वघोष का स्थान सब से ऊँचा है। चीनी परम्पराओं के अनुसार उनका संबंध महाराज कनिष्क की राजसभा से माना जाता है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका के अनुसार वे साकेतक (अयोध्या के निवासी) थे, सुवर्णाक्षी के सुपुत्र थे तथा महाकवि होने के

अतिरिक्त वे महावादी थे (आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रकस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्...सौन्दरनन्दः)।

सौन्दरनन्द अश्वघोष का प्रथम महाकाव्य है। इसमें अठारह सर्ग हैं। बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी तथा अन्य सभी सांसारिक सुखों को त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते हैं—यही इस महाकाव्य का कथानक है। विषय की गम्भीरता तथा कोमल काव्य-भावना के अंकन की दृष्टि से सौन्दरनन्द बुद्धचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य बन पड़ा था। उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य रोचक काव्य शैली द्वारा जनता को बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों को समझाना तथा ऐहिक भोगों का त्याग करवा कर पूर्ण वैराग्य की ओर उन्मुख करना था (इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः। श्रोतॄणां ग्रहणार्थ-मन्यमनसां काव्योपरागात्कृता। यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं। पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृदयं कथं स्यादिति।)

बुद्धचरित अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है। इसके अठारह सर्गों में केवल सत्रह सर्ग ही मूल संस्कृत में मिलते हैं। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ के दो अनुवाद—एक चीनी (४०४ ई०) तथा एक तिब्बती (८०० ई०) अवश्य प्राप्त होते हैं।

इस महाकाव्य की कथा का प्रारम्भ तथागत के माता के गर्भ में आने के तथा अंत उनके बुद्धत्व प्राप्त करने के वर्णन से होता है। अश्वघोष की शैली प्रसाद गुण विशिष्ट शुद्ध वैदर्भी है। उनके ग्रन्थ ये प्रमाणित करते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि अश्वघोष जैसे बौद्ध धर्म के दुर्धर्ष आचार्य तथा प्रकाण्ड विद्वान् ने भी अपने दार्शनिक मत एवं धर्म के प्रचार के लिए संस्कृत काव्य शैली को माध्यम बनाया। अश्वघोष पर कालिदास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कथानक की सृष्टि, वर्णन शैली, अलंकार प्रयोग तथा छन्दों के चुनाव में और कहीं-कहीं पदों तथा भावों के चुनाव में अश्वघोष ने कालिदास का ही अनुगमन किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन कि अश्वघोष कालिदास के पूर्ववर्ती हैं तथा कालिदास पर अश्वघोष का प्रभाव पड़ा है, मान्य नहीं हो सकता।

भारवि

महाकाव्य रचयिताओं में कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि की प्रसिद्धि है। ये चालुक्यवंशीय पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। इनका समय ६०० ई० के आस-पास माना जाता है। इनकी अमर कीर्ति इनके एकमात्र प्राप्त महाकाव्य **किरातार्जुनीय** पर आधारित है। इसका कथानक महाभारत के वन पर्व से लिया गया है। द्यूतक्रीड़ा में हार कर द्वैतवन में रहते हुए पाण्डवों के बीच से अर्जुन महर्षि वेदव्यास की आज्ञा से हिमालय पर तपस्या करने जाते हैं और वहाँ किरात-वेशधारी भगवान् शंकर को प्रसन्न कर उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं। यह काव्य वीर रस प्रधान है। इसमें कुल १८ सर्ग हैं। काव्य का प्रारम्भ 'श्री' शब्द से होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है। भारवि का 'अर्थगौरव' प्रसिद्ध है। इनकी कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक तथा

तर्कात्मक ओज का प्राधान्य है। महाकाव्यों में अलंकृत शैली का प्रचलन करने वाले भारवि ही प्रथम महाकवि हैं। उन्होंने सर्वप्रथम काव्य को अलंकारों, प्राकृतिक वर्णनों तथा शाब्दिक चमत्कारों से भूषित करने की प्रथा चलाई। चित्र-काव्य का सूत्रपात करने वाले भारवि ही प्रथम कवि हैं, जिनका अनुकरण बाद के कवियों ने बहुत अधिक मात्रा में किया। भारवि का प्रभाव सबसे अधिक मात्रा में माघ पर लक्षित होता है।

कुमारदास

जनश्रुति के अनुसार कुमारदास (५१७-५२६ ई०) सिंहल के राजा थे। काव्य-मीमांसा की एक दन्तकथा के अनुसार तो कुमारदास जन्मान्ध होते हुए भी प्रतिभासंपन्न हुए। इन्होंने बीस सर्गों का रामचरित संबंधी **जानकीहरण** नामक महाकाव्य रचा, जिस पर कालिदास का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मौलिकता विशेष रूप से न होते हुए भी वैदर्भी रीति में प्रसाद गुण विशिष्ट यह एक मधुर रचना है। इसमें कवि ने अनुप्रास अलंकार की मनोरम छटा दिखाई है। राजशेखर ने कुमारदास की प्रशंसा इस प्रकार की है।—

जानकी हरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥ (सूक्तिमुक्तावली)

भट्टि

इनके द्वारा रचित **रावणवध** अथवा **भट्टिकाव्य** २२ सर्गों की एक सुन्दर तथा अद्भुत रचना है। इसमें राम की जीवन कथा रामायण जैसी ही है। इसकी विशेषता व्याकरण के जटिल नियमों के दुरूह उदाहरणों को उपस्थित करना है। वस्तुतः यह एक शास्त्र-काव्य हो गया है। कवि स्वयं कहता है—

दीपतुल्यः प्रबन्धोयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्शइवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते॥ (भट्टि २२।२३)

आगे चल कर उन्होंने अलंकारों के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में भट्टिकाव्य ने संस्कृत साहित्य में शास्त्र-काव्य की एक नई शैली ही चला दी।

माघ

महाकाव्यों के इतिहास में माघ का स्थान बहुत ऊँचा है। माघ का जन्म सुप्रसिद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था तथा पितामह सुप्रभदेव गुजरात के किसी प्रदेश के राजा वर्मलात के मंत्री थे। माघ का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्त-रार्ध माना जाता है। वे अपनी एक ही कृति **शिशुपालवध** महाकाव्य द्वारा संस्कृत साहित्य में अमर हो गए हैं। बीस सर्गों के इस प्रौढ़ महाकाव्य में माघ ने कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की महाभारतीय कथा का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

माघ का आदर्श अथवा मात्सर्य का विषय भारवि का किरातार्जुनीय था। भारवि शैव थे, माघ वैष्णव। सम्भवतः साम्प्रदायिक भाव से उत्तेजित हो कर माघ ने अपने पूर्ववर्ती भारवि से बढ़ने का प्रयत्न किया। आदि से अन्त तक माघ काव्य की रूपरेखा ही किरात के आधार पर बनी है। माघ में विद्वत्ता तथा काव्य-प्रतिभा इतनी उच्च कोटि की थी कि इस अन्धानुकरण के होते हुए भी शिशुपाल वध का संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है, प्रत्युत् यह किरात से भी बढ़ कर आदरभाजन बन गया है। माघ में सर्व शास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रवाह में माघ ने अनेक स्थानों पर काव्य-सौन्दर्य की हत्या कर डाली है, किन्तु यह तो उस युग के कवियों की प्रवृत्ति ही थी—काव्य उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन का साधन मात्र रह गया था। माघ नूतन शब्दों के प्रयोग, नूतन भावों की कल्पना तथा पर्वत, वन, ऋतु, क्रीड़ा आदि महाकाव्य की खानापूरियों को बलात् ठूसने में इतने अधिक तल्लीन हो जाते हैं कि काव्य का प्रबन्ध-सौष्ठव ही नष्ट हो जाता है। चतुर्थ सर्ग से एकादश सर्ग तक का कथानक इसी प्रकार का केवल औपचारिक काव्य कहा जा सकता है जिसमें नायक तक का पता नहीं चल पाता। किन्तु शिशुपालवध की भाषा संबंधी कठिनता के कारण ही संस्कृत पण्डितों में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा भी रही है। किंवदंती है कि मल्लिनाथ ने अपने किसी मित्र से कहा था कि माघ या मेघदूत के अध्ययन में ही उनकी अधिक अवस्था बीती (माघे मेघे गतं वयः)। कुछ भी हो, माघ ने काव्य-प्रतिभा तथा प्रकाण्ड वैदुष्य के समन्वय का एक अत्यन्त उच्च मापदण्ड बाद वाले कवियों के सामने छोड़ा। अतएव किसी ने कहा है कि—

माघेन विघ्नितोत्साहानोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

श्रीहर्ष

महाकवियों की गणना में सब दृष्टियों से चरम कक्ष पर श्रीहर्ष का नाम आता है। १२वीं शताब्दी के मध्य में गाहडवालवंशीय कान्यकुब्ज तथा काशी के अधीश महाराज जयचन्द से दो ताम्बूल तथा आसन पाने का श्रेय इस महाकवि को मिलता था। ये उच्च कोटि के दार्शनिक तथा अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि थे। चिन्तामणि मन्त्र की उपासना से इनमें प्रतिभा का उन्मेष हुआ था। इनका **नैषध** संस्कृत साहित्य का अद्वितीय रत्न है। २२ सर्गों के इस महाकाव्य में श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती के विवाह तथा संयोग-सुख-भोग का वर्णन किया है। कथानक का स्रोत महाभारत के वनपर्व में वर्णित नल-दमयन्ती की कथा है, किन्तु श्रीहर्ष की अलौकिक प्रतिभा ने इसमें अनेक नूतन उद्भावनाएँ की हैं, अतः पूरा महाकाव्य अत्यन्त मौलिक तथा मधुर बना है। इसका प्रधान रस श्रृंगार है, जिसके वियोग (पूर्वराग रूप) तथा संयोग, दोनों पक्षों का सांगोपांग चित्रण हुआ है। कवि की गर्वोक्ति है कि उसका महाकाव्य उस मार्ग का पथिक है, जिसे कविवरों ने देखा तक नहीं है। इस पर अनेक टीकाएँ हुई हैं। इतना पाण्डित्यपूर्ण होते हुए भी इसकी रचना प्रसादमयी वैदर्भी शैली में हुई है। बृहत्त्रयी में नैषध का सर्वोच्च स्थान सदा से विद्वानों ने माना है—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।'

अन्य महाकाव्यकार

हरविजय नामक संस्कृत साहित्य के सबसे विशाल महाकाव्य के रचयिता **महाकवि रत्नाकर** काश्मीर के राजा चिप्पड जयापीड तथा अवंतिवर्मा के आश्रय में रहे। हरविजय में ५० सर्ग हैं। कथानक अत्यन्त स्वल्प है। शिव द्वारा अन्धकासुर का वध ही इसका कथानक है। किन्तु संध्या, चन्द्रोदय, पान-गोष्ठी, सचिव-परामर्श, गण-विहार, दूत-संवाद, युद्ध आदि के द्वारा कवि ने इसे मांसल बना दिया है। रत्नाकर पर माघ का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता है। माघ के 'श्री' की भाँति इनके भी प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'रत्न' शब्द का प्रयोग हुआ है। माघ ने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहा है तो रत्नाकर ने अपने हरविजय को 'चन्द्रार्धचूडचरिताश्रयचारु' की पदवी प्रदान की है। काश्मीर शैवागम तथा शाक्तागम की भी पूरी झलक हरविजय में मिलती है। वस्तुतः कवि के पाण्डित्य के भार से उसकी काव्य-प्रतिभा सर्वत्र बोझिल हो गई है। रत्नाकर ने अपने काव्य के अन्त में गर्वोक्ति की है कि मेरे इस प्रबन्ध काव्य में रुचि रखने वाला अकवि भी कवि तथा कवि भी महाकवि हो जाएगा—

हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण।।

अवन्तिवर्मा के आश्रित एक अन्य कवि **शिवस्वामी** थे जिन्होंने स्वयं शैव होते हुए भी चन्द्रमित्र नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से एक बौद्ध अवदान को अपने महाकाव्य का विषय बनाया। **कप्फणाभ्युदय** बीस सर्गों का ललित शैली का काव्य है। कप्फण दक्षिण देश (लीलावती) का राजा था। श्रावस्ती के प्रसेनजित का इससे युद्ध हुआ अन्त में कप्फण बुद्ध के धर्मामृत का पान करने के लिए उनकी शरण में गया। यही इस काव्य का कथानक है। पर्वत, षड्ऋतु, कुसुमावचय, जलक्रीडा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, मदिरा-पान, काम-क्रीडा, प्रभात आदि का वर्णन यथावसर सुन्दर हुआ है। १८वें सर्ग में चित्र-युद्ध वर्णन है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में शिव शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः इस काव्य को **शिवांक** भी कहा जाता है।

नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में और भी अनेक महाकाव्य रचे गए, जिनकी अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। उनमें **अभिनन्द** का **रामचरित, वासुदेव** का **युधिष्ठिरविजय, जिनसेन** का **पार्श्वाभ्युदय, पद्मगुप्त** का **नवसाहसांकचरित** तथा **धनंजय** का **राघवपाण्डवीय** विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। **क्षमेन्द्र** ने एकादश शताब्दी में **दशावतारचरित** की रचना की।

क्षेमेन्द्र के पश्चात् एक शताब्दी के भीतर ही काश्मीर के प्रसिद्ध महाकवि **मंखक** ने भगवान् शिव की त्रिपुर-विजय का **श्रीकण्ठचरित** नामक महाकाव्य में वर्णन किया। अपने कैलासवासी पिता के आदेश से मंखक ने यह महाकाव्य रचा था। रुय्यक मंखक के गुरु थे। श्रीकण्ठचरित में कुल २५ सर्ग हैं। मूल कथानक छोटा होते हुए भी दोला, क्रीड़ा, संध्या, चन्द्र, प्रसाधन, पान, केलि आदि के वर्णनों के कारण काव्य का आकार बढ़ गया है। काव्य में माधुर्य है, जो काश्मीरी कवियों की एक विशेषता कही जानी चाहिए।

हर्षचरित के प्रारम्भ में बाण ने एक गद्यकार भट्टार हरिचन्द्र की प्रशंसा की है। परन्तु **धर्मशर्माभ्युदय** महाकाव्य के रचयिता **हरिचन्द्र** उनसे भिन्न थे। धमशर्माभ्युदय का बहुत कुछ प्रभाव वाग्भट के नेमिनिर्णय तथा श्रीहर्ष के नैषधीयचरित पर परिलक्षित होता है। अतः हरिचन्द्र का समय इनसे पूर्व ११वीं शताब्दी में सरलता से माना जा सकता है। इस पर माघ का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हरिचन्द्र कायस्थ जाति के थे। २१ सर्गों के धर्मशर्माभ्युदय काव्य में जैन धर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। वैदर्भी शैली में रचित यह काव्य बहुत मधुर है।

कुछ ऐसे काव्यों की भी रचना हुई है जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का चरित्र-वर्णन किया है। इन्हें ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है। १००५ ई० के लगभग रचा गया **पद्मगुप्त परिमल** का १८ सर्गों का **नवसाहसांकचरित** इसी प्रकार का काव्य है, जिसमें धारा-नरेश सिन्धुराज का शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ विवाह वर्णित है। **विल्हण** ने १८ सर्गों का **विक्रमांकदेवचरित** चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२७ई०) के चरित को ले कर लिखा। **कल्हण** का आठ तरंगों का **राजतरंगिणी** काश्मीर का १२वीं सदी तक का बहुत-कुछ प्रामाणिक इतिहास-रूप काव्य माना जाता है। **जयचन्द्र सूरि** का **हम्मीरमहाकाव्य** भी इसी प्रकार का चौदह सर्गों का महाकाव्य है।

जैन मतावलम्बियों में भी अनेक संस्कृत के उच्च कोटि के महाकवि हुए हैं। **धनेश्वर सूरि** (६१० ई०) का १४ सर्गों का **शत्रुंजय, वाग्भट्ट,** (११४० ई०) का १५ सर्गों का **नेमिनिर्णय, अभयदेव,** (१२२१ ई०) का १९ सर्गों का **जयन्तविजय, अमरचन्द्र सूरि** (१९४३ ई०) का ४४ सर्गों का **बालभारत, वीरनन्दी** (१३०० ई०) का १८ सर्गों का **चन्द्रप्रभचरित, देवप्रभसूरि** (१२५० ई०) का १८ सर्गों का **पाण्डवचरित, वस्तुपाल** (१३वीं सदी) का १६ सर्गों का **नरनारायणानन्द** तथा **देवविमल गणि** (१७वीं सदी) का १७ सर्गों का **हरिसौभाग्य** उल्लेखनीय महाकाव्य हैं।

बारहवीं शताब्दी के **कविराज** के श्लेष-काव्य **राघवपाण्डवीय** के आदर्श पर इधर १८वीं सदी में अनेक द्विसन्धान तथा कुछ त्रिसन्धान काव्य रचे गए, जिनमें उल्लेखनीय **हरिदत्त सूरि** का **राघवनैषधीय, सोमेश्वर** का **राघवयादवीय, अनन्ताचार्य** का **यादवराघवपाण्डवीय, विद्यामाधव** का **पार्वतीरुक्मिणीय** तथा **अनन्त सूरि** का **नलहरिश्चन्द्रोदय** हैं। इस प्रकार का शाब्दिक कौतूहल संस्कृत भाषा तथा साहित्य की अपनी विशेषता है।

महाकाव्यों की रचना, विशेष रूप से दक्षिण भारत में, मुसलमानी शासन काल में भी होती अवश्य रही, किन्तु उच्च कोटि के मौलिक साहित्य की रचना का अभाव हो गया।

खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, संदेश काव्य, मुक्तक, स्तोत्र तथा उपदेश काव्य

संस्कृत में गीतिकाव्यों को खण्डकाव्य कहते हैं। जिन काव्यों में महाकाव्य के सभी गुण या लक्षण नहीं मिलते, उन्हें खण्डकाव्य कहते हैं—(खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि

च—सा० द० ६।३२९)। उनका आकार महाकाव्य से स्वभावतया छोटा होता है। महाकाव्य में कवि समग्र जीवन की झाँकी देने का प्रयास करता है और गीति अथवा खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक पक्ष का उद्घाटन अथवा चित्रण होता है। किन्तु उस चित्रण में अत्यधिक आकर्षण, अति सबल अभिव्यंजना तथा जीवन की उस एकदेशीयता में पूर्ण तन्मयता होती है। ये गीतिकाव्य संस्कृत साहित्य के परम रम्य अंग हैं। ये मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं। मुक्तक का प्रत्येक पद्य अपने आप में पूर्ण होता है। रस की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा विषय का सांगोपांग चित्रण एक ही पद्य में हो जाता है। प्रत्येक पद्य परस्पर स्वतंत्र तथा नितांत निरपेक्ष होता है—(पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्—ध्वन्यालोक)। **भर्तृहरि** तथा **अमरुक** के शतक इसके उदाहरण हैं। प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य वे हैं, जिनमें आद्यन्त किसी एक ही विषय या कथानक का रसपेशल गीति शैली में विवेचन रहता है जैसे **मेघदूत** अथवा **गीतगोविन्द**। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त एक तीसरा भी रूप गीतिकाव्यों का मिलता है जिसे वर्णनात्मक कहा जा सकता है, जैसे कालिदास का **ऋतुसंहार**। इन वर्णनात्मक गीतिकाव्यों में विषय विशेष से संबंधित अनेक पद्य रचे जाते हैं, यद्यपि उन पद्यों में परस्पर कोई संबंध नहीं रहता, फिर भी एक ही प्रतिपाद्य वस्तु के विभिन्न चित्र होने के कारण उनमें एकवाक्यता रहती है।

गीतिकाव्य प्रतिपाद्य विषयों के अनुसार दो रूपों में विभक्त किए जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक गीतिकाव्य विशेषतया दो रूपों में मिलते हैं—शृंगार संबंधी अथवा नीति संबंधी। धार्मिक गीतिकाव्य विशिष्ट देवता की स्तुति से संबंध रखते हैं। दोनों प्रकार के गीतिकाव्य संस्कृत साहित्य में पर्याप्त मात्रा में प्राचीन समय से मिलते आ रहे हैं।

संस्कृत गीतिकार के लिए किसी भाव या विषय की सीमा नहीं है और न उसके व्यक्तीकरण में कोई बन्धन ही। गीति में कवि किसी भी भाव विशेष को व्यक्त कर सकता है, जिसका उसके हृदय में उद्रेक हुआ हो। महाकाव्यों की रूढ़ियाँ उसे आबद्ध नहीं करतीं। इसी कारण काव्य के उत्तुंग शिखरों के बीच गीति-मुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है, जो न उनसे दबकर टूटता है और न बँध कर रुकता है। इन गीतिकाव्यों में रागात्मक वृत्तियों का विकास होने के कारण जीवन के अनुरंजनकारी चित्र ही अंकित हुए हैं। अधिकतर उनमें प्रसाद और माधुर्य की ही व्यंजना हुई है। उनके वर्ण्य विषय प्रायः शृंगार, नीति, धर्म अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य हैं। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए उनमें स्थान नहीं है। उनका कमनीय सौन्दर्य किसी वीभत्स घटना से भी आक्रान्त नहीं हो सकता। उनके छोटे छोटे गेय पदों में एक ही भाव विशेष की तीव्रता और सरस, सुस्पष्ट एवं सामंजस्यपूर्ण शैली का सहज स्वाभाविक समन्वय दिखाई देता है। भावों की कोमलता, विचारों की शिष्टता निरीक्षण की नवीनता और कल्पना की चारुता—ये सभी गुण उनमें पाए जाते हैं।

इन गीतिकाव्यों में नारी के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों रूपों का जितना आकर्षक तथा मार्मिक चित्रण हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है, तो कहीं करुण रस की फल्गु धारा; कहीं जीवन के उल्लासमय संगीत हैं तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्वास।

गीति का संबंध हृदय की कोमल वृत्तियों के साथ होने के कारण हमें उसमें सुख-दुःख और हर्ष-विषाद की अभिव्यंजना मिलती है—कहीं वह अपने अश्रुकणों से सजलता ला देती है, तो कहीं अपने हास्य से उज्ज्वलता और निर्मलता।

पाश्चात्य समालोचक संस्कृत गीतिकाव्यों में वर्णित शृंगार में इन्द्रियवासनाविकार तथा अश्लीलता की गंध पाते हैं। किन्तु इसे हम उनका दृष्टि-दोष ही समझते हैं। गीतिकाव्यों के सूक्ष्म अध्ययन से हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें यदि नारी का बाह्य सौन्दर्य चित्रित है तो उससे कहीं अधिक दीप्तिमान उसका अन्तस् हो रहा है। पुरुष नारी के उस अन्तस् पर कहीं अधिक अनुरक्त दिखाई पड़ता है। नायिकाओं के इतने भेद बहुत कुछ इसी अन्तःसौंदर्य के ही तारतम्य पर किए गए हैं। नारी का हृदय प्रणय की अजस्र पावन मन्दाकिनी है। कुलवधू अपना हृदय जिसे समर्पित कर चुकती है उसका बाह्य रूप उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता—

यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतोऽपि विरूपोऽपि।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति।।—गाथा सप्तशती।

वास्तव में गीतिकाव्यों के अनुशीलन से हमारे हृदय में स्त्रियों के प्रति सम्मान की नई भावना जाग्रत होती है।

संस्कृत गीतिकाव्यों में शृंगार भावना अत्यन्त परिष्कृत एवं संस्कृत रूप में हमारे सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है, पर वह शरीर की प्राकृतिक भूख नहीं है। उसमें मन की कोमल सौन्दर्य वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। गीतिकाव्य वास्तव में रूप और रस की कोमल मधुर भावनाओं से समृद्ध एक ललित काव्य है जिसमें शृंगार रस शरीर की आवश्यकता न हो कर मन का विलास है। इसीलिए उसमें तीव्रता एवं उत्कटता के स्थान पर माधुर्य और मसृणता मिलती है। मेघदूत की यक्षपत्नी, सप्तशती की ग्राम-तरुणियाँ, गीतगोविन्द की राधिका आदि रस-सृष्टियाँ ही हैं, जिनमें हमारे मन की सौंदर्य चेतनाएँ मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव, विलास और कल्पना के शत-शत रंगों के स्पर्श से इस शृंगार में भारतीय रोमानी भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कान्ति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

अन्तर्दर्शन सम्पन्न वैदिक ऋषियों ने अपनी वर्णन-विभूति के बल पर महनीय वेद मंत्रों के रूप में अपनी स्निग्ध भावनाओं का भव्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य-सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्त-दृष्टि उन्मिषित करने के लिए नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलास है, तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों तथा हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना भी है। उषा विषयक मंत्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र विषयक मंत्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य। अग्नि के रूप वर्णन में यदि स्वभा-वोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभि-

व्यक्ति। इस प्रकार वेद के मंत्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

लौकिक संस्कृत में गीतिकाव्य संबंधी सब से प्राचीन रचनाएँ महाकवि **कालिदास** की हैं। उनमें एक तो निबन्धात्मक है, ऋतुसंहार तथा दूसरा प्रबन्धात्मक है, मेघदूत। **ऋतुसंहार** कालिदास की प्रथम कृति होने के कारण भाव, भाषा तथा अन्य काव्य कौशल की दृष्टि से कम परिष्कृत बन पाया है। इसकी सरलता को दृष्टि में रख कर ही सम्भवत: कालिदासीय काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने ऋतुसंहार की टीका न की। परवर्ती आचार्यों ने कालिदास के अन्य प्रौढ़ एवं परिष्कृत ग्रन्थों से ही उदाहरण प्रस्तुत किए, ऋतुसंहार के अप्रौढ़ होने के ही कारण उससे उदाहरण न लिया। किन्तु उसकी प्राचीनता तथा कालिदास की रचना होने में कोई सन्देह नहीं। वत्सभट्टि ने अपने मन्दसोर के शिलालेख में ऋतुसंहार के कुछ भावों को लिया है (देखिए ऋ० सं० ५-९ तथा मन्दसोर शिलालेख श्लोक ३३), जो इसकी प्राचीनता का प्रमाण है। मेघदूत के पूवार्ध की वर्णन शैली बहुत कुछ इसमें मिलती है। ग्रीष्म को प्रथम स्थान देना तथा उसके वर्णन में शाकुन्तल जैसी तन्मयता एवं पक्षपात इस बात को स्पष्ट द्योतित करता है कि यह कालिदास की ही कृति है।

ऋतुसंहार में छः सर्गों में ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त ऋतुओं का क्रमिक वर्णन है। ऋतुसंहार संस्कृत साहित्य में अपने ढंग की अकेली रचना है। महाकाव्यों तथा नाटकों में भी यथावसर ऋतुओं का वर्णन कवियों ने किया है। किन्तु एक साथ छहों ऋतुओं पर स्वतंत्र रचना किसी ने नहीं की। हिन्दी में अवश्य ऋतुवर्णन के लिए अनेक बारहमासा इस ढंग पर रचे गए। ऋतुसंहार में ऋतुओं का मनोरम चित्रण तो है ही, साथ ही उनका मानव-मनोभावों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी कवि ने निपुण निरूपण किया है। एक के बाद दूसरी ऋतु आती है। प्रकृति का साज-बाज नया हो जाता है और साथ ही युवकों तथा युवतियों के हृदयों में भी नूतन भावों का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। इस प्रकार ऋतु-संहार प्रकृति के बाह्य सौंदर्य और मानवीय मनोविकारों का मंजु मिलन है। कालिदास ने ऋतु-संहार में यौवनोल्लास के प्रथम उद्‌गारों को चित्रित किया है, साथ ही शृंगार की रंगस्थली में प्रकृति के उद्दाम विलास को अंकित किया है। इसमें किसी उच्च नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं है।

ऋतुसंहार में व्यंजना-विलास का एक प्रकार से पूर्ण अभाव ही कहा जा सकता है, किन्तु उनका प्रिय प्रसाद गुण तथा वैदर्भी शैली सर्वत्र विद्यमान हैं।

मेघदूत कालिदास का दूसरा गीतिकाव्य है, जो प्रबन्धात्मक शैली में रचा गया है। कालिदास की ख्याति और लोकप्रियता जितनी रघुवंश और शाकुन्तल पर आश्रित है, उतनी ही इस सरस खण्डकाव्य पर भी। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि यदि कालिदास अन्य किसी ग्रन्थ की रचना न करके मेघदूत की रचना करते तो भी संसार के श्रेष्ठ महाकवियों में उनकी गणना की जाती। इसके दो भाग हैं—पूर्व मेघ और उत्तर मेघ। अलकापति कुबेर के शाप से एक

वर्ष के लिए निर्वासित एक प्रेमी यक्ष प्रिया से दूर रामगिरि पर प्रवास करता है। आठ मास तो बीत जाते हैं, पर वर्षागम प्रेमी हृदय में विरह की तीव्र वेदना जागरित कर देता है। वह मेघ द्वारा प्रणय संदेश अपनी प्रेयसी के पास भेजता है। पूर्व मेघ में वह रामगिरि से अलका तक का रास्ता बताता है फिर उत्तर मेघ में अलकापुरी और अपनी पत्नी की विरह दशा का वर्णन करता है तथा अन्त में सन्देश सुनाता है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि मेघदूत की रचना की प्रेरणा कालिदास को वाल्मीकि रामायण में वर्णित सीता के प्रति हनूमान द्वारा ले जाए गए राम के सन्देश से मिली थी। संभव है कि कल्पना-बीज उन्होंने रामायण से लिया हो, किन्तु उसमें उनका रचना कौशल ऐसा अपूर्व रमणीय है कि वह उनकी नितान्त मौलिक कृति ही मानी जायगी। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कंठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्य प्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उतरमेघ अन्तःप्रकृति को अनुभूति के आधार पर किया गया अभिराम वर्णन है।

मेघदूत की काव्यशैली का प्रभाव परवर्ती कवियों पर बहुत अधिक मात्रा में दिखाई देता है। फलतः **संदेश काव्यों** की एक धारा ही चल पड़ी। जैन कवि **जिनसेन** ने **पार्श्वाभ्युदय** में मेघदूत के समस्त पद्यों के चरणों की एक प्रकार से समस्यापूर्ति की है, **विक्रम कवि** ने **नेमिदूत** में केवल चतुर्थ चरणों की पूर्ति की है। जयदेव के समकालिक राजा लक्ष्मण सेन के सभा-पण्डित **धोयी** ने **पवनदूत** की रचना की। अनेक कवियों ने **हंसदूत** काव्य लिखे। इनमें **वेदान्तदेशिक, वामनभट्ट, बाण** तथा **रूपगोस्वामी** के हंसदूत सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने दूतकाव्य में भगवती जनकनन्दिनी के पास राम का सन्देश भेजा है। रूपगोस्वामी ने पूरे एक सौ शिखरिणी छंदों में राधा की ओर से कृष्ण को प्रेम सन्देश भिजवाया है। इसके बाद तो **नेमिदूत, चातकदूत, कोकिलदूत, हंसदूत, शीलदूत, उद्धवदूत** जैसे विविध दूत काव्यों की सृष्टि हुई। किन्तु इन परवर्ती संदेश काव्यों की प्रगति एक नवीन दिशा की ओर हुई। वैष्णव कवियों तथा जैन कवियों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के लिए दूत काव्य का आश्रय लिया। प्रेम संदेश के स्थान पर पिछले दूत काव्य विज्ञप्ति पत्र का काम करते हैं, जिसमें शिष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में गुरु के पास सूचना भेजता है। यह सरणी जैन कवियों में विशेष रूप से जगती है। विक्रम कवि ने 'नेमिदूत' में जैन दर्शन के आध्यात्मिक तत्त्व का भी काव्य की सरस भाषा में विवेचन किया है। वैष्णव कवि रूपगोस्वामी ने अपने 'उद्धवदूत' में कृष्ण की विरहिणी गोपिकाओं द्वारा भक्ति तत्त्व का बड़ा ही सरस तथा रुचिर वर्णन प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन के लिए भी दूत काव्य का माध्यम स्वीकार किया गया है। हंस संदेश में मन को हंस बना कर भक्ति रूपी नायिका के पास भेजा जाता है, जिससे वह उड़ कर शिवलोक में शाश्वत आनन्द का सुख उठाए।

परंपरानुसार उसी विक्रमादित्य के **घटकर्पर** भी सभा-रत्न थे, जिसके कालिदास थे।

उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे यमक अलंकार के प्रयोग में जीत लेगा, उसके यहाँ घट-कर्पर अर्थात् घड़ों के टुकड़े से पानी भरूँगा।

घटकर्पर २२ पद्यों का एक अत्यन्त लघु काव्य है। इसमें मेघदूत का कथानक उलट कर काम में लाया गया है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय संदेश भेजती है।

भर्तृहरि

नीति, शृंगार तथा वैराग्य विषयक **शतकत्रय** के रचयिता भर्तृहरि के व्यक्तित्व के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण है, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वे वैदिक धर्म के आचारों, विचारों, प्रक्रियाओं आदि से भलीभाँति परिचित थे तथा उन पर विश्वास भी करते थे। वे अद्वैतवादी थे। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दी ई० पड़ता है। **नीतिशतक** में महाभारत तथा मनुस्मृति की गंभीर नैतिकता की बातें कालिदास की सी प्रतिभा के साथ अत्यन्त ललित ढंग से कही गई हैं। विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकारिता, गुणग्राहकता आदि उदार वृत्तियों का बड़ी सरस पदावली में वर्णन किया गया है। इनमें वर्णित सिद्धान्त मानव मात्र के लिए मान्य हैं।

शृंगारशतक में स्त्रियों के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों सौंदर्यों और चेष्टाओं का परम मनोरम चित्रण हुआ है। स्त्रियों का पुरुषों पर अद्भुत जादू आकर्षक शैली में दिखाया गया है। किन्तु शृंगार शतक अथ से इति तक पढ़ने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि का उद्देश्य शृंगार रस का वर्णन करना नहीं है। उसने पहले शृंगार रस के आकर्षण का चित्रण करके धीरे-धीरे उसकी अस्थिरता दिखला कर शान्त रस की तुलना में उसकी तुच्छता प्रकट की है। यदि स्त्री-रूप बाधा न होती तो इस भव सागर को मनुष्य अनायास पार कर जाता—'संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी। अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदिरेमदिरेक्षणाः।'

वैराग्यशतक कवि का काव्य-जीवित-सर्वस्व समझ पड़ता है। उसने वैराग्य को ही एक भयशून्य स्थान बताया है; विषयासक्त प्राणी का बड़ा दयनीय एवं उपहास्य स्वरूप अंकित किया है; संतोष को परम सुख बताया है; संसार को एक विचित्र पहेली के रूप में देखा है। वृद्धावस्था बाघिन की भाँति मुँह बाए डरा रही है; रोग शत्रुओं की भाँति आक्रमण कर रहे हैं, आयु फूटे घड़े के जल की भाँति क्षीण हो रही है, तब भी आश्चर्य है, मनुष्य दूसरे का अहित करने में लगे हैं—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥

और, अन्त में कवि अभिलाषा करता है कि सर्प हो या मुक्ताहार, शत्रु हो या मित्र, मणि हो या मृत्तिका, पुष्प शय्या-हो या पाषाण-शिला, तृण हो या तरुणी, सब पर एक सी भावना रखते हुए किसी वन में शिव-शिव जपते ही मेरे दिन बीतें—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा, मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः, क्वचित् पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः।।

अमरुक

अमरुशतक सहृदयों का हृदयहार तथा श्रृंगार रस से ओत-प्रोत सुभाषितों का अनुपम भाण्डागार है। आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपने ध्वन्यालोक में अमरुशतक की प्रशंसा करते हुए लिखा है–अमरुक का एक-एक श्लोक पूरा प्रबन्ध काव्य है–(मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्वेव रस-बन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यंते तथा ह्यमरुककवेमुंक्तकाः श्रृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।)

अमरुक कवि के विषय में निश्चित रूप कुछ नहीं मालूम है, किंवदंतियाँ अनेक प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि अमरुक कोई राजा थे; किन्तु कहाँ और कब हुए, इसका कुछ पता नहीं। आनन्दवर्धन तथा वामन के उद्धरणों से अमरुक को ८०० ई० के पूर्व ७५० ई० के लगभग माना जा सकता है।

अमरुशतक में श्रृंगार रस की सजीवता विद्यमान है। प्रेमियों की विभिन्न मनोवृत्तियों का वास्तविक एवं अति मनोहर चित्रण हुआ है। यद्यपि इसमें चित्रित श्रृंगार उद्दाम है, किन्तु भाव में कोमलता है तथा विचारों में शिष्टता। अमरुक रस-कवि हैं, शब्द-कवि नहीं। अतएव अमरुशतक के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव ने कहा है कि कहीं-कहीं पर दोष होने पर भी इनमें रस-क्षति नहीं होने पाई है। हिन्दी के बिहारी तथा पद्माकर की कविताओं पर अमरु-काव्य का भूरिशः प्रभाव लक्षित होता है।

बिल्हण

११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में **विक्रमांकदेवचरित** के रचयिता बिल्हण ने ५० पद्यों का एक निबन्धात्मक श्रृंगार रस का लघु काव्य बनाया, जो **चौरपंचाशिका** नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उस प्रकार के सुकुमार भावों की वैसी मार्मिक व्यंजना नहीं हो पाई है, जैसी अमरुशतक में है।

धोयी

कविराज धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के सभारत्न थे। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में धोयी को श्रुतिधर कहा है। इनका **पवनदूत** १०४ पद्यों का कालिदास के मेघदूत के आधार पर रचा हुआ छोटा सा प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य है। इसमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द प्रयुक्त हुआ है। मलयाचल पर कुवलयवती नामक गन्धर्व-कन्या के रूप पर मोहित हो कर राजा लक्ष्मणसेन घर आ कर पवन से प्रणय संदेश भेजते हैं।

गोवर्धनाचार्य

राजा लक्ष्मणसेन के एक अन्य सभा रत्न गोवर्धनाचार्य भी थे। हाल की प्राकृत भाषा

में लिखित गाथासप्तशती के आधार पर उन्होंने संस्कृत में आर्या छन्दों में श्रृंगार रस की मुक्तक सप्तशती बनाई। इस सप्तशती की रचना गोवर्धनाचार्य ने अकारादि वर्णानुक्रम से की है। आर्या छन्द में इस प्रकार की रचना उस समय तक किसी ने नहीं की थी। यद्यपि प्राकृत की मिठास इन संस्कृत आचार्यों में नहीं आ पाई है, जैसा कि स्वयं गोवर्धनाचार्य ने स्वीकार किया है—प्राकृत की सरस सूक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार पृथ्वीतल-वाहिनी यमुना को आकाश की ओर ले जाना—किन्तु श्रृंगाररस का **आर्यासप्तशती** में अपूर्व स्निग्ध चित्रण हुआ है। अतएव जयदेव ने गोवर्धनाचार्य को श्रृंगार रस के वर्णन में अद्वितीय कहा है—श्रृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्यधीकोऽपि न विश्रुतः ।

जयदेव

उन्हीं राजा लक्ष्मणसेन की सभा को **गीतगोविन्द** के अमर गायक जयदेव भी अलंकृत करते थे। इनकी रचना में भी वही श्रृंगार-विलास है, जिसका स्थायी भाव रति है, किन्तु वह रति भक्त की अपने भगवान् के प्रति है, अतः उसे भक्ति नाम दिया गया है। जयदेव अपने सहृदय पाठकों को गीतगोविन्द सुनने के लिए आमंत्रित करते हुए कहते हैं—यदि हरिस्मरणे सरसं मनः। यदि विलासकलासु कुतूहलम्। मधुरकोमलकान्तपदावली। श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ कहते हैं, जयदेव के गीतों के ताल पर उनकी पत्नी पद्मा नृत्य किया करती थीं (पद्मावती चरण-चारण-चक्रवर्ती)। जयदेव ने गीतगोविन्द को १२ सर्गों में विभक्त किया है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा का सूत्र बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। गीतगोविन्द में वर्णित राधा-कृष्ण के प्रेम के अनेक अर्थ लगाए जाते हैं, किन्तु उनका तो एक मात्र उद्देश्य समझ पड़ता है अपने मधुर-मूर्ति भगवान् कृष्णचन्द्र की प्रेम-लीलाओं का माधुर्य रस के साथ गान करना। समग्र संस्कृत साहित्य में इस कोटि की मधुर रचना अन्य कोई नहीं है। शब्द और अर्थ का ऐसा अनुपम सामंजस्य, नाद में रस की ऐसी अद्भुत अभिव्यंजना शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। दीर्घ समासों में भी विलक्षण प्रसाद गुण एवं स्वर-माधुर्य है। अनुप्रास के प्रयोग में उन-सा कुशल कोई अन्य कवि है ही नहीं। संस्कृत में गेय पदों का माधुर्य गीतगोविन्द में ही देखने को मिलता है। समग्र गुणों के उदाहरण के लिए 'ललितलवंगलतापरिशीलन कोमलमलयसमीरे' वाली अष्टपदी का पठन मात्र पर्याप्त होगा। वस्तुतः जयदेव संस्कृत साहित्य के अंतिम कवि हैं जिनकी रचना में संस्कृत काव्य की भाव तथा कला पक्ष की विशेषताएँ अपने चरम पर पहुँची देखी जाती हैं। जयदेव के बाद की रचनाएँ कुंठित एवं चेतनाशून्य जान पड़ती हैं।

गीतगोविन्द की रचना करके जयदेव ने संस्कृत साहित्य में एक नवीन रचना-शैली को जन्म दिया। गीतगोविन्द के अनुकरण पर **अभिनवगीतगोविन्द, गीतराघव, गीतगंगाधर, कृष्ण-गीता** आदि अनेक गीतिकाव्यों की रचना हुई। हिन्दी के राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेम काव्य पर जयदेव के गीतगोविन्द का श्रीमद्भागवत की भाँति ही अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

पंडितराज जगन्नाथ

जयदेव के पश्चात् गीतिकाव्य की परम्परा में पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। संस्कृत काव्य-प्रतिभा का अन्तिम दर्शन पण्डितराज में दिखाई पड़ता है। उन्होंने युवावस्था में दिल्ली के मुग़ल बादशाह शाहजहाँ के दरबार में प्रतिष्ठा पाई और वहीं पण्डितराज की उपाधि प्राप्त की। पण्डितराज ने अनेक सुन्दर काव्यों तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें साहित्य के लक्षण ग्रन्थ तथा अनेक स्तोत्र ग्रन्थ हैं। उनके गीत्यात्मक मुक्तक पद्यों का संग्रह **भामिनीविलास** के नाम से प्रसिद्ध है। इसके चार विलास (खण्ड) हैं—प्रास्ताविक, शृंगार, करुण तथा शान्त। भामिनीविलास सरस भावपूर्ण प्रभावक पद्यों का एक सुन्दर संग्रह है। अन्योक्तियों को लिखने की पण्डितराज में अद्‌भुत क्षमता है। उनकी शिखरिणी में अपूर्व माधुर्य है। पण्डितराज की गर्वोक्तियाँ भी उन्हें शोभा देती हैं। पण्डितराज का कहना है—कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः। नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः॥ वीणापाणि सरस्वती अपनी वीणा का बजाना रोक कर जिसकी मधुर वाणी का अमृत पान करने में लगती हैं, उन पण्डितराज के श्रवण-सुखद पद्यों को सुन कर जो वाह-वाह करता हुआ सिर न हिलाने लगे वह या तो नरपशु होगा अथवा फिर साक्षात् पशुपति ही होगा—

गिरांदेवी वीणागुणरणनहीनादरकरा यदीयानां वाचाममृतमयमाचामतिरसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपतेरधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः॥

स्तोत्र साहित्य

इन्हीं गीतकाव्यों में संस्कृत **स्तोत्र साहित्य** भी गिना जाता है, जो बहुत विशाल, सरस एवं हृदयग्राही है। अपने अराध्य की महत्ता के साथ अपनी दीनता तथा दयनीयता के निष्कपट भावों को भक्त कवियों ने अद्‌भुत तन्मयता के साथ अत्यन्त सरस ढंग से गाया है और ये ही स्वतः प्रादुर्भूत उद्‌गार सच्ची कविता कहलाने के योग्य भी होते हैं। इन स्तोत्रों में भारी मोहकता तथा हृदयद्रावकता है और इनकी गेयता से इनकी प्रभावोत्पादकता और भी बढ़ जाती है।

अनेक वेदान्त संबंधी स्तोत्र, जिनमें कुछ के रचयिता भगवान् शंकराचार्य माने जाते हैं, काश्मीर शैव स्तोत्र, जैन तथा महायान बौद्ध स्तोत्र, दक्षिण भारतीय शैव, वैष्णव स्तुतियाँ, बंगीय तांत्रिक तथा वैष्णव स्तुतियाँ, सभी तत्कालीन धार्मिक एवं साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित हुई थीं। स्तोत्र साहित्य अति विशाल है। अनेक ग्रन्थ रत्न तो अभी तक पाण्डुलिपि की ही अवस्था में पड़े हैं। अनेक तो इसलिए नहीं प्रकाशित किए जाते हैं कि उद्‌घाटन से उनकी महत्ता नष्ट हो जायगी; उन्हें प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना ही उचित समझा जाता है।

प्राचीन आस्तिक भक्ति के प्रधान गुण मानस-तोष तथा चारित्रिक निर्मलता के कारण उच्च कोटि की स्तोत्र परम्परा चली, किन्तु मध्यकालीन भावुक भक्ति आन्दोलनों से उसमें शृंगार-पूर्ण रहस्य-भावना का सम्मिश्रण हुआ, जिसके कारण धार्मिक भावनाओं को काल्पनिक भौतिक

विकारों में प्रकट किया जाने लगा। गीतगोविन्द आदि उसी भावना के प्रतीक हैं। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का ही परिचय दिया जा रहा है—

शिवस्तोत्रों में प्रमुख स्थान **शिवमहिम्नस्तोत्र** का है जो स्तोत्र साहित्य में सबसे पुराना ठहरता है। यह स्तोत्र सुन्दर शिखरिणी छन्द में लिखा हुआ है। प्रायः प्रत्येक पद्य में शिव महिमा संबंधी एक कथा का उल्लेख है।

मयूरभट्ट वाणभट्ट के सगे संबंधी माने जाते हैं। कान्यकुब्ज नरेश हर्षवर्धन के दरबार में इनकी भी वैसी ही प्रतिष्ठा थी, जैसी बाण की। किसी कारणवश हुए कुष्ट रोग को शान्त करने के लिए इन्होंने सूर्य-स्तुति में स्रग्धरा छन्द में **सूर्यशतक** लिखा। इन अनुप्रासपूर्ण पद्यों में मयूर ने सूर्य के भिन्न-भिन्न अंगों और उनके रथ, घोड़े आदि साधनों का सुललित वर्णन किया है।

इसी प्रकार स्रग्धरा छन्द में **बाणभट्ट** ने **चण्डीशतक** की रचना की। इसमें बाण ने ओज गुण का सजीव प्रदर्शन करते हुए भी अपनी गद्य शैली का जीवितभूत दीर्घ समास नहीं रखा है। उदाहरण के रूप में भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण में उद्धृत यह प्रशस्त श्लोक दिया जा सकता है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणिध्वस्तवज्रे
जाताशंके शशांके विरमति मरुतित्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं,
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।।

अनेक स्तोत्रों के ठीक काल का निर्धारण करना कठिन सा है। आपाततः वे काफ़ी इधर के ही लगते हैं। यद्यपि इनके रचयिता याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, व्यास, रावण, दुर्वासा, उपमन्यु तथा कालिदास में किसी न किसी को बताया जाता है, किन्तु इनके कर्ता तथा काल दोनों सन्दिग्ध ही हैं। अनेक स्तोत्र पुराणों में निहित मिलते हैं। स्तोत्र काव्यों की एक प्रधान प्रवृत्ति यह रही है कि उनमें या तो आराध्यदेव की प्रणय क्रीड़ाओं तथा चेष्टाओं का वर्णन होता है या उनके शारीरिक (पौरुषेय अथवा स्त्रैण) सौन्दर्य का निरूपण होता है। सम्भवतः इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रथम दर्शन कुमारसम्भव (अष्टम सर्ग) में हुआ है। कभी-कभी देवता का नख-शिख निरूपण भी होता है, जिसमें प्रत्येक अंग का अद्भुत कल्पना के साथ वर्णन किया जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का चरम रूप वह है, जिसमें देवता के किसी एक ही अंग पर पूरा स्तोत्र बनने लगा, जैसे—**लक्ष्मण आचार्य** का **चण्डी-कुच-पंचाशिका** नामक स्तोत्र जिसमें पचास श्लोकों में भगवती के स्तनों का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रधान हेतु भक्ति-भावना है। यद्यपि भक्ति-धारा का आधार कृष्ण का बाल्य जीवन ही रहा है, किन्तु कभी-कभी अन्य देवता के प्रति भी भक्ति का उद्गार इसी प्रकार की शृंगार भावना को व्यक्त करता है, यहाँ तक कि गौतम बुद्ध के प्रति भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति देखी गई है। कृष्ण-गोपी कथानक के प्रति इस प्रकार के भक्ति भरे उद्गार सबसे अधिक हुए। श्रीमद्भागवत पुराण इस प्रकार

की भावुक अभिव्यक्तियों तथा प्रणय कथाओं का आकर एवं स्रोत ही है। नूतन वैष्णव सम्प्रदायों के लिए यही मूलाधार रहा। इसके कारण धर्म तथा दर्शन के शुष्क मार्ग में एक अद्भुत सरसता आ गई।

भगवान् शंकराचार्य को प्रायः दो सौ वेदान्त संबंधी स्तोत्रों का रचयिता माना जाता है। दार्शनिक जगत् में अद्वैत तत्त्व तथा मायावाद की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव वाण-मयूर के पश्चात् चार-पाँच दशक के भीतर ही हुआ था। अद्वैत के प्रतिष्ठापक होते हुए भी वे व्यवहार जगत् में नाना देवों के उपासक से लक्षित होते हैं। विष्णु, शिव, शक्ति, गंगा, गणपति आदि अनेक देवताओं के स्तोत्र शंकराचार्य द्वारा रचित कहे जाते हैं। यद्यपि सबके रचयिता आदि शंकर नहीं थे, किन्तु कुछ प्रसिद्ध स्तोत्र उनकी लेखनी से अवश्य ही प्रसूत हुए होंगे। इन स्तोत्रों में यत्र-तत्र दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में भक्ति की मधुर अभिव्यक्ति हुई है। **शिवापराधक्षमापन, मोहमुद्गर, चर्पटमंजरिका, दशश्लोकी, आत्मशतक** अथवा **निर्वाणशतक** तथा **हस्तामलक** आदि ऐसे ही स्तोत्र हैं। इनमें भाव के साथ भाषा तथा छन्द में भी प्रवाह है।

दशम शताब्दी में लिखा गया **मुकुन्दमाला** वैष्णव स्तोत्रों में श्रेष्ठ स्थान का भागी है। इसके रचयिता **कुलशेखर** त्रिवांकुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं। यद्यपि मुकुन्दमाला में केवल २२ ही श्लोक हैं, किन्तु इनमें हृदय के आवर्जन की अद्भुत शक्ति है।

रामानुजाचार्य के परम गुरु **यामुनाचार्य** ने, जिनका तमिल नाम **आलबन्दार** था, एक भक्ति-भावनापूर्ण वैष्णव स्तोत्र की रचना की, जिसे उन्हीं के नाम पर **आलबन्दार स्तोत्र** कहते हैं।

लीलाशुक का **कृष्णकर्णामृत** चैतन्यमहाप्रभु का परम प्रिय स्तोत्र बताया जाता है। इसके विभिन्न संस्करण दो रूपों में मिलते हैं। दक्षिणी तथा पश्चिमी संस्करणों का एक रूप है। इन दोनों संस्करणों में यह स्तोत्र तीन आश्वासों में विभक्त है, जिनमें प्रत्येक में सौ से ऊपर श्लोक हैं, किन्तु बंगाल के संस्करण में केवल एक ही आश्वास मिलता है, जो एक सौ बारह श्लोकों का है। इसकी रचना का समय ईसा की नवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के भीतर भिन्न-भिन्न कालों में माना जाता है। कृष्ण के प्रति भावुक शृंगार-भावनामयी भक्ति के साथ प्रपत्ति का इतना सुन्दर निरूपण अन्य किसी स्तोत्र में कठिनाई से मिलेगा। कृष्णकर्णामृत का मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के वैष्णव स्तोत्रों में श्रेष्ठ स्थान है।

वल्लभाचार्य के पुत्र **विट्ठलेश्वर** ने **शृंगाररसमण्डन** की रचना गीतगोविन्द की शैली पर की। चैतन्य सम्प्रदाय में भी बंगाल में अनेक स्तोत्र रचे गए, जिनमें **रूपगोस्वामी** की **स्तवमाला** सुन्दर स्तोत्र संग्रह है। इसी प्रकार **मुकुन्दमुक्तावली, गोविन्दविरुदावली** आदि अनेक सुन्दर स्तोत्र रचे गए।

सोलहवीं शताब्दी में **मधुसूदन सरस्वती** ने **आनन्दमन्दाकिनी** नामक स्तोत्र लिखा, जिसमें विष्णु के स्वरूप का अत्यन्त मधुर, स्निग्ध एवं भावुक वर्णन हुआ है।

केरल के **नारायण भट्ट** ने कृष्ण के प्रति एक सहस्र पाण्डित्यपूर्ण अलंकृत शैली के श्लोक लिखे।

माधवभट्ट की **दानलीला** में कृष्ण और गोपियों की लीला का वर्णन हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी में **अप्पयदीक्षित** ने **वरदराजस्तव** में अपनी भावुक भक्ति तथा उदात्त दार्शनिक विचारों का मंजुल प्रदर्शन किया है। गीति तथा स्तोत्र काव्यों में अन्तिम प्रधान नाम **पण्डितराज जगन्नाथ** का है। प्रधानतया विष्णु-भक्त होते हुए भी उन्होंने अनेक देवताओं की स्तुति में अनेक लहरियाँ लिखीं, जिनमें **करुणा, गंगा, अमृत** (यमुना), **लक्ष्मी,** तथा **सुधा** (सूर्य) **लहरियाँ** विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी कविता जैसा माधुर्य तथा प्रवाह कम कवियों में है।

शैव स्तोत्र काश्मीर की विशेष देन हैं। इनमें **उत्पलदेव** की **शिवस्तोत्रावली** तथा **जगद्धर भट्ट** की **स्तुतिकुसुमांजलि** अधिक प्रसिद्ध हैं। इन स्तोत्रों की रचना नवम शताब्दी के बाद हुई। **पण्डिताचार्य नारायण** ने तेरह पद्यों की **लघुस्तोत्र शिवस्तुति** लिखी। मिथिला के **गोकुलनाथ** ने १८वीं शती में **शिवशतक** की रचना की।

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय ने संस्कृत को अपना माध्यम बनाया। अतः उस सम्प्रदाय के संस्कृत स्तोत्र भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। बौद्ध स्तोत्रों पर संस्कृत स्तोत्रों की भाषा-शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। नवम शताब्दी में **वज्रदत्त** ने अवलोकितेश्वर की स्तुति में **लोकेश्वरशतक** की स्रग्धरा छन्द में बाण तथा मयूर के शतकों की शैली पर रचना की, और किंवदंती है कि इससे मयूर की भाँति वज्रदत्त का भी कुष्ट रोग दूर हो गया था। देवी तारा संबंधी स्तोत्रों में काश्मीरी **सर्वज्ञमित्र** (८वीं शताब्दी) का ३७ श्लोकों का स्रग्धरा छन्द में रचित **आर्या-तारा-स्रग्धरा-स्तोत्र** प्रसिद्ध है। बंगाल के **रामचन्द्र कविभारती** का, जो लगभग १२४५ ई० में पराक्रमबाहु के समय में लंका गए थे, **भक्तिशतक** भगवान् बुद्ध के संबंध में एक भक्तिपूर्ण प्रौढ़ रचना है। शून्यवाद के प्रवर्तक **नागार्जुन** ने चार स्तोत्र लिखे थे, जिन्हें **चतुःस्तव** कहा जाता है। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में मिले हैं। नागार्जुन के दो स्तोत्र मूल संस्कृत में भी उपलब्ध हुए हैं—**निरौपम्यस्तव** तथा **अचिन्त्यस्तव**। नागार्जुन के ये स्तव आस्तिकवाद के रमणीय उदाहरण हैं। इन पर कालिदास की शैली की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है।

जैन स्तोत्र, जिनकी संख्या पर्याप्त अधिक है, बौद्ध स्तोत्रों की ही शैली पर बने हैं। इनमें **मानतुंग** का **भक्तामर** तथा **सिद्धसेन दिवाकर** का **कल्याणमन्दिर** अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चौबीस तीर्थंकरों के, पृथक्-पृथक् समय में **समन्तभद्र** से लेकर **जिनप्रभ सूरि** आदि तक आचार्यों द्वारा रचित स्तोत्रों का संग्रह **चतुर्विंशिका** के नाम से प्रसिद्ध है। इसी परम्परा में **श्रीवादिराज** का **एकीभावस्तोत्र, सोमप्रभाचार्य** की **सूक्तिमुक्तावली** तथा **श्री जम्बूगुरु** का **जिनशतक** आदि अनेक स्तोत्र रचे गए।

उपदेश काव्य—गीतिकाव्यों के अन्तर्गत उन उपदेश काव्यों को भी रक्खा जा सकता है, जो अपनी रमणीयता के द्वारा हृदयरंजन करते हुए उपयोगी शिक्षाएँ प्रदान करते हैं। इनमें प्रायः हास्यरस का आश्रय लिया गया है तथा चुभते शब्दों में सामान्य त्रुटियों की ओर संकेत करते

हुए उनके मार्जन का संकेत किया गया है। ऐसे कवियों में **क्षेमेन्द्र** का प्रधान स्थान है। **सेव्यसेवकोपदेश, दर्पोपदेश, नर्ममाला, समयमातृका, चतुर्वर्ग संग्रह** आदि इस शैली के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उनकी लेखनी ने तत्कालीन समाज का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।

गद्य साहित्य

यद्यपि संस्कृत भाषा का साहित्य विशेष रूप से पद्यमय है, किन्तु जितना भी अंश गद्य रूप में मिलता है, उसकी एक अपनी विशेषता है। वैदिक संहिताओं (कृष्ण यजुर्वेद आदि) में सर्व प्रथम संस्कृत गद्य की विशिष्टता उसकी समासपूर्ण शैली है। समास वस्तुतः संस्कृत भाषा का अपना वैशिष्ट्य है—उसकी परिभाषा है, उसका सर्वस्व है। संस्कृत में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करने की क्षमता समास शैली के कारण ही आई है। समस्त सूत्र साहित्य इस शैली का ऋणी है, और साहित्यिक गद्य की तो समास शैली जीवित-सर्वस्व ही है। आचार्य दण्डी के शब्दों में —ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।

संस्कृत में गद्य के दो रूप मिलते हैं—(१) बोलचाल का सादा गद्य, जो वैदिक साहित्य में भी मिलता है, तथा (२) लौकिक साहित्य का प्रौढ़ गद्य। इन दोनों के बीच में पुराणों का गद्य है, जो अलंकारपूर्ण तथा गुणमय है। श्रीमद्भागवत तथा विष्णु पुराण के गद्य में इसके कुछ नमूने हैं। दर्शन ग्रन्थों में गद्य की ही बहुलता है। इनमें अधिकतर रूखी पदावली प्रयुक्त हुई है। किन्तु विषय विशेष के विवेचन के लिए वह नितान्त उपयुक्त है। व्याकरण के महाभाष्यकार **पतंजलि** पूर्व मीमांसा के भाष्यकार **शबरस्वामी**, वेदान्त के भाष्यकार **शंकराचार्य** तथा न्याय दर्शन के प्रख्यात आचार्य **जयन्तभट्ट** ने शास्त्रीय गद्य में भी अद्भुत साहित्यिक सुषमा भर दी है।

वैसे तो रुद्रदामन् के **जूनागढ़ शिलालेख** तथा समुद्रगुप्त के **प्रयाग स्तम्भ** के लेख में प्रौढ़ समासबहुला गद्य शैली को देख कर हम तदनुरूप गद्य साहित्य की सत्ता ईसवी प्रथम-द्वितीय शताब्दी से ही मान सकते हैं, किन्तु कात्यायन के 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' वार्तिक में आख्यान तथा आख्यायिका साहित्य का उल्लेख पा कर तथा महर्षि **पतंजलि** की **वासवदत्ता** एवं **सुमनोत्तरा** नामक दो आख्यायिकाओं का उदाहरणार्थ किया गया नामोल्लेख पा कर ईसा पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी से ही गद्य साहित्य की रचना का प्रारम्भ मान सकते हैं।

सुबन्धु की कृति **वासवदत्ता** संस्कृत की प्रथम साहित्यिक गद्य कृति कही जा सकती है। इस कथा की वासवदत्ता भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक में वर्णित उदयन की प्रेयसी वासवदत्ता से भिन्न, सुबन्धु द्वारा कल्पित नायिका है। वासवदत्ता के रचना-काल का निर्णय अभी नहीं हो पाया है, किन्तु सुबन्धु न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर के पश्चात् तथा कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट से पूर्व हुए होंगे, यह निश्चित जान पड़ता है। अर्थात्, उनका समय छठी शताब्दी का अन्त तथा सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। वासवदत्ता का कथानक अत्यन्त स्वल्प है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा, कुसुमपुर के राजा शृंगारशेखर की एक मात्र कन्या वासवदत्ता को देखता है और पागल हो कर उसकी खोज में निकल पड़ता है। अन्त

में दोनों का मिलन हो जाता है। किन्तु कवि ने अपने प्रत्यक्ष श्लेष-कौशल के बल पर इतना बड़ा प्रबन्ध-प्रपंच दिखाया है जो अलंकृत गद्य शैली का एक अच्छा उदाहरण है, परन्तु इसी कारण इसकी कथावस्तु के प्रवाह में अत्यन्त शैथिल्य भी है।

बाणभट्ट

संस्कृत भाषा का गद्य साहित्य-कानन बाण-पंचानन के मन्द्र, गंभीर गर्जन से प्रतिध्वनित हो रहा है। हर्षचरित के प्रारम्भ में बाण ने अपनी जीवनी विस्तार के साथ कही है। सोन नदी के तट पर प्रीतिकूट नामक नगर में वात्स्यायन गोत्र के ब्राह्मण वंश में बाण का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम चित्रभानु था। इनके पूर्वज सभी उद्भट विद्वान् तथा सामन्तों एवं नरेशों द्वारा सम्मानित होते थे। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण बाण कुछ उद्दण्ड से हो गए, किन्तु विद्या पूर्ण उपार्जित की, पर्याप्त देशाटन करके अनुभव प्राप्त किया और अन्त में कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन के दरबार में सम्मान प्राप्त किया।

बाण के लिखे दो गद्य ग्रन्थ हैं—एक **हर्षचरित**, जिसे आख्यायिका कहते हैं और दूसरा **कादम्बरी**, जिसका कथा साहित्य में प्रमुख स्थान है। हर्षचरित में आठ उच्छ्वास हैं। प्रारम्भ के तीन उच्छ्वासों में कवि ने अपनी जीवनी लिखी है और फिर शेष अंश में अपने आश्रयदाता कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन की। हर्षवर्धन की पूरी जीवनी कवि ने नहीं दी। सम्भवतः इतना ही लिखना बाण को अभीष्ट था। इसमें बाण की वर्णन-शक्ति का परिचय स्थान-स्थान पर मिलता है। हर्षचरित बाण की प्रौढ़ रचना होते हुए भी पूर्ण परिष्कृत कृति नहीं कही जा सकती, क्योंकि गद्य विषयक उनका यह प्रथम प्रयास था। कादम्बरी उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसके दो भाग हैं; क़रीब दो तिहाई पूर्वार्ध है तथा एक तिहाई उत्तरार्ध। बाण केवल पूर्वार्ध भाग ही लिख सके थे। उनके दिवंगत होने पर उनके ही पुत्र **भूषणभट्ट** या **पुलिन्ध्र भट्ट** ने शेष भाग पूरा किया, जिसे उत्तरार्ध कहा जाता है। कादम्बरी में ओज, प्रसाद, माधुर्य, तीनों गुणों का यथास्थान सुन्दर सन्निवेश हुआ है। कादम्बरी वस्तुतः शब्दों की चित्रावली है—राजा, राजधानी, मंत्री, राजकुमार, आश्रम, वन, वृक्ष, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, सभी शब्दों द्वारा अन्तश्चक्षु के सामने प्रत्यक्ष से दिखलाई पड़ने लगते हैं। जिस विषय का वर्णन बाण ने प्रारंभ किया उसे परिपूर्णता पर पहुँचाया, उसमें फिर कुछ जोड़ा नहीं जा सकता। इसी कारण यह उक्ति चल पड़ी कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'

दण्डी

अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर दण्डी महाकवि भारवि के वंशज अथवा भारवि के मित्र दामोदर के प्रपौत्र थे। कांची में पल्लव नरेशों का आश्रय इन्हें मिला था। इनका जीवन-काल सातवीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है, यद्यपि इनकी शैली की सरलता के कारण इन्हें बाण का पूर्ववर्ती भी कहा गया है। दण्डी के तीन ग्रन्थ माने जाते हैं—जिनमें **काव्यादर्श** नामक

अलंकार ग्रन्थ तथा **दशकुमारचरित** नामक गद्य ग्रंथ तो निस्सन्देह उन्हीं के माने जाते हैं, किन्तु तीसरे ग्रन्थ **अवन्तिसुन्दरी** के विषय में कुछ मतभेद है।

दशकुमारचरित तीन भागों में विभाजित है—१. पूर्वपीठिका, जिसमें पाँच उच्छ्वास हैं, २. दशकुमार चरित, जिसमें आठ उच्छ्वास हैं, तथा ३. उत्तर पीठिका। इनमें केवल मध्य भाग ही दण्डी की रचना है। पूर्व तथा उत्तर पीठिका तो बाद की रचनाएँ हैं, जो किसी कारण से नष्ट हो गईं, किन्तु किसी दूसरी भाषा में अनुवाद रूप में विद्यमान अंश के आधार पर लिखी गई हैं। इसमें दस राजकुमारों के पर्यटन का मनोरंजक वर्णन हुआ है। इसे धूर्तों का रोमांस भी कहा जा सकता है, क्योंकि छल-कपट, मार-पीट तथा चोरी-जारी का इसमें सजीव चित्रण हुआ है। कथानक अनेक पात्रों से पूर्ण होने पर भी भाषा के प्रवाह, पदों के लालित्य, भाव-व्यंजना तथा घटनाओं के विन्यास में कौतूहल एवं विस्मय के समावेश ने इस ग्रन्थ को गद्य साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। दण्डी का पद-लालित्य तो प्रसिद्ध ही है।

बाद के गद्य साहित्य पर बाण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। **धनपाल** (१००० ई०) की **तिलकमंजरी**, **वादीभसिंह** (१०० ई०) का **गद्यचिन्तामणि** तथा **वामनभट्टबाण** (१५०० ई०) के **वेमभूपालचरित** पर बाण का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। **पं० अम्बिकादत्त व्यास** का **शिवराजविजय** (१९०१ ई०) वर्तमान समय की एक अद्भुत कृति है।

नाटक

संस्कृत साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में ही हुई थी। ऋग्वेद में अनेक संवाद सूक्त हैं, यजुर्वेद में 'शैलूष' शब्द का प्रयोग हुआ है, सामवेद के मंत्र तो गेय होते ही हैं। इस प्रकार नाट्य विकास के लिए आवश्यक उपकरण नृत्य, गीत, तथा कथोपकथन की सत्ता पर्याप्त मात्रा में वैदिक युग तथा साहित्य में विद्यमान थी। रामायण में 'नट', 'शैलूष' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है; यथा, नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः (वा० रा० २।६७।१५)-महाभारत में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, जैसे—आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तक गायकाः (वन पर्व १५।१३)। हरिवंश में, जो महाभारत का ही अंतिम अंश कहा जाता है, रामायण की कथा के नाटक के रूप में प्रदर्शित किए जाने का भी उल्लेख हुआ है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व द्वारा रचे गए नटसूत्रों का उल्लेख किया है, यथा—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४।३।११०); कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। महाभाष्यकार पतंजलि ने **कंसवध** तथा **बलिबन्ध** नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है। नाटक करने वाले नटों के लिए उन्होंने 'शोभानिक अथास्तैभिक' शब्द प्रयुक्त किया है। कंस के पक्ष वालों का अभिनय करने वालों के मुखों को काले रंग से तथा वासुदेव के पक्ष वालों के मुखों को लाल रंग से रँगने का निर्देश किया गया है। वात्स्यायन ने भी अपने कामसूत्र में कुशीलवों द्वारा किए जाने वाले अभिनय का उल्लेख किया है। इस प्रकार वैदिक काल से ले कर ईसा की द्वितीय

शताब्दी पूर्व तक के साहित्य में हम नाट्य कला का क्रमिक उल्लेख पाते हैं और ई० पू० प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य के समय से तो कालिदास के ही नाटक मिलने लगते हैं।

भारत में नाट्यकला की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में विद्वानों में अनेक वाद प्रचलित हैं। डा० रिजवे नाटक की उत्पत्ति का स्रोत वीर-पूजा की भावना को मानते हैं। डॉ० कीथ ने प्राकृतिक परिवर्तनों को मूर्त रूप में व्यक्त करने की अभिलाषा को नाटकों का स्रोत माना है। डॉ० पिशेल पुत्तलिका नृत्य से नाट्य कला का प्रारंभ होना मानते हैं। डॉ० लूडर्स तथा डॉ० कोनो छाया नाटकों को नाट्य कला का आदि रूप बताते हैं। अनेक विद्वानों ने वैदिक संवाद सूक्तों को ही संस्कृत नाटकों का उद्गम बताया है। भरत ने नाट्य की उत्पत्ति के संबंध में कहा है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ले कर नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना की है—एवं संकल्प्य-भगवान सर्ववेदनानुस्मरन्। नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांगसम्भवम्। जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्योगीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। (नाट्यशास्त्र १।१६,१७)। अर्थात्, भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्य कला का आविर्भाव वेदों से ही हुआ माना जाता है। सत्य युग में जब सब प्रकार से सुख-शान्ति रही, नाट्य कला की आवश्यकता ही नहीं थी। त्रेता में जब ग्राम्य धर्म तथा काम-क्रोध-लोभ आदि का आविर्भाव हुआ, इस सार्ववर्णिक पंचम वेद, नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई (नाट्यशास्त्र १।८।१२)। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि संस्कृत नाटकों के विकास में वैष्णवों ने विशेष योग दिया है। पतंजलि के 'कंसवध' तथा 'बलिबन्ध' वैष्णव नाटक ही कहे जाएँगे। नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का प्राधान्य इस बात को प्रमाणित करता है कि वैष्णवों के केन्द्र शूरसेन (मध्ययुग के ब्रज-मथुरा) में नाटकों का विकास हुआ।

संस्कृत नाटकों में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग देख कर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत नाटकों पर यवन (ग्रीक) नाटकों का प्रभाव माना है। इस विषय में दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली यह कि ग्रीक नाटकों में पर्दे का प्रयोग ही नहीं होता था, अतः उनके आधार पर संस्कृत नाटकों में जवनिका का प्रयोग कैसे माना जाय? दूसरे 'जवनिका' का प्रथम अक्षर **ज** है, **य** नहीं। 'जवनिका' का अर्थ है वह आवरण जिसमें दौड़ कर छिप जाया जाय अथवा जो वेग से फैले तथा सिकुड़े। उससे 'यवनिका' का, जिसका अर्थ यवन स्त्री है, क्या संबंध हो सकता है?

संस्कृत नाटकों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। उनमें संकलनत्रय अर्थात् देश-काल और कार्य-व्यापार की एकता नहीं मानी जाती, सुख तथा दुःख की घटनाओं का मिश्रण होता है, दुःखान्तता (ट्रैजिडी) का नितान्त अभाव रहता है, गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग होता है, भिन्न-भिन्न पात्रों की संस्कृत-प्राकृत आदि भिन्न-भिन्न भाषाएँ होती हैं। नाटक में शृंगार अथवा वीर प्रधान रस रहता है, अन्य रस यथावसर अप्रधान रूप से प्रयुक्त हो सकते हैं, अवसान में अद्भुत रस का सम्मिश्रण आवश्यक है, विदूषक राजा का मित्र तथा ब्राह्मण होता है, हास्य के साथ ही वह प्रायः कथानक में भी सहायक होता है, नाटक का आख्यान कोई ऐतिहासिक घटना होती है अथवा वह किसी महापुरुष से संबद्ध होता है। नाटकों का प्रारंभ प्रायः आशीर्वादात्मक मंगल श्लोक से

होता है तथा अन्त में शुभ कामना सूचक एक भरत-वाक्य अवश्य रहता है। भारत में नाटकों का प्रदर्शन प्राय: किसी विशेष अवसर पर किया जाता था। कुछ बातों का अभिनय रंगमंच पर वर्जित था, जैसे दूराह्वान, वध, युद्ध, राष्ट्र-विप्लव, चुम्बन, आलिंगन, भोजन, शयन आदि। आगामी पृष्ठों में संस्कृत के नाटककारों और उनके नाटकों का परिचय दिया जा रहा है।

भास

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में, बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में तथा राजशेखर ने प्रसिद्ध नाटककार भास की प्रशंसा की है। जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास माना है। इससे सूचित होता है कि भास इन सबसे पूर्व हुए थे। परन्तु भास के नाटक सन् १९१२ ई० से पहले प्रकाश में नहीं आए। १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने उनके तेरह नाटकों को पहली बार अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया। इन नाटकों के विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं। कुछ लोग तो उन्हें भास-रचित मानते हैं, और कुछ नहीं मानते। कुछ अन्य लोग इनमें से कुछ अंश को भास-रचित मानते हैं तथा अधिकांश को केरल के किसी अन्य कवि की रचना सिद्ध करना चाहते हैं। भास का समय ई० पू० चौथी शताब्दी के आस-पास प्रतीत होता है। **दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, उरुभंग, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र, अभिषेक, बालचरित, अविमारक, प्रतिमा, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त** तथा **चारुदत्त**-- भास के नाम से प्रसिद्ध इन तेरह नाटकों में छ: नाटकों का कथानक महाभारत से, दो का रामायण से तथा शेष पाँच का प्रचलित जनश्रुतियों से लिया गया है। नाटक के साधारण नियम के अनुसार नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है, परन्तु भास के नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। संस्कृत के सर्वप्रथम एकांकी नाटकों के प्रणयन का श्रेय भास को ही प्राप्त है। भास के नाटकों में सुकुमार तथा उद्धत दोनों प्रकार के हास्य का प्रयोग मिलता है। संभवत: इसीलिए जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास कहा है। भास को चरित्र-चित्रण में अद्‌भुत कौशल प्राप्त है। परवर्ती कवियों पर भास का प्रभाव देखा जा सकता है।

शूद्रक

संस्कृत साहित्य में शूद्रक नामक राजा की बड़ी प्रसिद्धि है। विक्रमादित्य की भाँति शूद्रक के विषय में भी अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। स्कन्दपुराण, कथासरित्सागर, हर्षचरित, कादम्बरी, वेतालपंचाशिका, राजतरंगिणी प्रभृति ग्रन्थों में राजा शूद्रक का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों ने आन्ध्रभृत्यवंशीय शिमुक के साथ तथा कुछ ने वासिष्ठीपुत्र पुलोमावी के साथ शूद्रक राजा की अभिन्नता स्थापित की है। इतना निश्चित है कि भास के बाद उनके 'चारुदत्त' के आधार पर शूद्रक ने अपने प्रसिद्ध नाटक **मृच्छकटिक** की रचना की। मनु के बाद ही इसकी रचना हुई थी, यह निश्चित है। मृच्छकटिक दस अंकों का एक प्रकरण है। इसका नायक चारुदत्त नामक एक अत्यन्त गुणवान्, उदार ब्राह्मण है तथा नायिका वसन्तसेना नामक उज्जयिनी की

वेश्या है। इसका प्रतिनायक राजा का साला शकार है। इसकी कथावस्तु में दो प्रधान घटनाएँ हैं—पहली चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम तथा दूसरी आर्यक की राज्य-प्राप्ति। संस्कृत साहित्य में मृच्छकटिक का एक विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रेम की कथा को राजनीतिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध किया गया है। यह चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक है। इसमें आठ प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। इसमें हास्य रस का अनूठा चित्रण मिलता है। साथ ही इसमें दरिद्रता का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। मृच्छकटिक अपने समकालीन समाज का सच्चा प्रतिविम्ब प्रस्तुत करता है।

कालिदास

संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार कालिदास ही माने जाते हैं। **मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय,** तथा **अभिज्ञानशकुन्तल**—ये तीन नाटक कालिदास के लिखे हुए हैं। कालिदास की जैसी लोकोत्तर प्रतिभा श्रव्य काव्यों में दिखाई पड़ती है, वैसी ही दृश्य काव्यों में भी। शाकुन्तल तो उनकी प्रतिभा का चूडान्त निदर्शन ही है।

नाटकों में **मालविकाग्निमित्र** उनकी प्रथम कृति है। पाँच अंकों में कवि ने शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र और मालविका की प्रणय कथा कही है। इसमें कालिदास ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदीवारी के भीतर विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या, राजा की कामुकता, राजमहिषी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़े अनुभव के साथ किया है। इस नाटक के संवाद बड़े ही चुभते हुए तथा सरस हैं, किन्तु भावों तथा चरित्र-चित्रण की गंभीरता इसमें नहीं आ पाई है।

विक्रमोर्वशीय कालिदास का दूसरा नाटक है। इस पाँच अंकों के नाटक (त्रोटक) में उन्होंने ऋग्वेद (१०।९५) तथा शतपथब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम कथा को कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें श्रृंगार के संभोग तथा विप्रलम्भ दोनों पक्षों का उत्तम परिपाक हुआ है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी उनका चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया गया है। इसमें कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल कम।

अभिज्ञानशकुन्तल कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है—काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। इसमें कुल सात अंक हैं, जिनमें राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। कथानक का स्रोत महाभारत का आदि पर्व है। कालिदास की प्रतिभा ने मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा इसे अनूठा बना दिया है। इसमें प्रधान रस श्रृंगार है। प्रत्येक पात्र के कथन उसकी जीवनचर्या के अनुरूप ही होते हैं। सुन्दर उपमाओं का तथा हृदय की मार्मिक भाव-व्यंजनाओं का तो शाकुन्तल भण्डार ही है। इसकी शैली ध्वन्यात्मक है तथा संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं का यथास्थान आकर्षक प्रयोग हुआ है। दुष्यन्त के चरित्र को कवि ने अत्यन्त महान् बनाया है तथा शकुन्तला को एक आदर्श भारतीय नारी के

रूप में चित्रित किया है। शाकुन्तल द्वारा एक महान् सन्देश मिलता है, जो सभी देशों तथा सभी कालों में सत्य है। वह सन्देश है—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥

अश्वघोष

सन् १९१० में डॉ० लूडर्स को मध्य एशिया में अश्वघोष रचित तीन नाटक उपलब्ध हुए, जिनमें ९ अंकों का **शारिपुत्रप्रकरण** ही सम्पूर्ण रूप में मिला है, शेष दो अधूरे हैं। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। अश्वघोष की संस्कृत भाषा पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है।

विशाखदत्त

विशाखदत्त के **मुद्राराक्षस** का संस्कृत साहित्य में असामान्य स्थान है। इसका विषय राजनीति एवं कूटनीति है। इसका रचना काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। चाणक्य नन्दवंश का नाश करने के बाद उसके महामात्य राक्षस को अपने बुद्धिबल से चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस नाटक की बड़ी प्रशंसा की है। इसमें स्त्री पात्र नहीं हैं। तत्कालीन समाज का यह सजीव चित्रण करता है।

देवीचन्द्रगुप्त विशाखदत्त की दूसरी कृति है जिसके उद्धरण मात्र ही नाट्य ग्रन्थों में मिलते हैं। अतः केवल इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व है।

हर्ष

थानेश्वर के महाराज हर्षवर्धन की तीन नाट्य कृतियाँ मानी जाती हैं। कुछ पुराने तथा कुछ नवीन समालोचकों ने इस विषय में सन्देह किया है, किन्तु वे हैं एक ही व्यक्ति की कृतियाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन तीन नाट्य कृतियों में दो—**रत्नावली** और **प्रियदर्शिका** तो चार-चार अंकों की नाटिकाएँ हैं, जिनमें वत्सराज उदयन की प्रेम कथाएँ चित्रित हैं और तीसरी कृति **नागानन्द** पाँच अंकों का नाटक है, जिसमें विद्याधर जीमूतवाहन द्वारा गरुड़ से नागों को बचाने के लिए आत्म-समर्पण का उल्लेख है। नागानन्द में बौद्ध धर्म की पूर्ण छाप दिखाई पड़ती है।

भट्टनारायण

दण्डी ने भट्टनारायण के तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, किन्तु उनमें से केवल एक ही मिलता है और वह है **वेणीसंहार** नामक ६ अंकों का ओज-गुण-विशिष्ट नाटक। इसका कथानक महाभारत के युद्ध की घटना है। इसके प्रधान नायक के विषय में मतभेद है। युधिष्ठिर, भीम तथा दुर्योधन में से निश्चय रूप से किसी एक को नायक नहीं कहा जा सकता। वैसे इसका प्रधान

रस वीर माना जा सकता है, किन्तु यदि दुर्योधन को नायक माना जाय तो इसका प्रधान रस करुण हो जायगा तथा यह एक दुःखान्त नाटक माना जायगा। यों तो इसके सभी पात्र सजीव से प्रतीत होते हैं, परन्तु द्वितीय अंक में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन अस्वाभाविक तथा रस-दृष्टि से अनुचित माना गया है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डप्रथन' नामक रस-दोष माना है।

भवभूति S/O NEEL KANTH

नाटककारों में कालिदास के बाद भवभूति का ही नाम लिया जाता है। ये कन्नौज के यशोवर्मा के समय में ७०० ई० के आस-पास विदर्भ प्रांत के पद्मपुर नगर के उदुम्बरवंशीय ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी तथा गुरु का नाम ज्ञाननिधि था। दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित परम्परा के अनुसार ये मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिलभट्ट के शिष्य थे और दार्शनिक जगत् में इनका नाम 'भट्ट उम्बेक' था। भवभूति इनका कवि नाम था। इनके तीन रूपक मिलते हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव, तथा उत्तररामचरित।

महावीरचरित इनका प्रथम नाटक है। इस सात अंक के नाटक में रामचरित के पूर्वार्ध—राम-विवाह, वन वास, सीता-हरण, रावण-वध तथा राज्याभिषेक की कथा वर्णित है। इसमें राम के विरुद्ध जितने कार्य उनके जीवन में हुए हैं, उन सब को रावण की प्रेरणा से हुआ दिखाया गया है। बालि रावण का सहायक बन कर राम से लड़ने आया था, इसलिए राम ने उसका वध किया था।

मालतीमाधव दस अंकों का एक विशाल प्रकरण है। इसका कथानक कवि-कल्पित है। इसमें यौवन के उन्मादक प्रेम का अत्यन्त सरस चित्रण हुआ है।

उत्तररामचरित में राम के जीवन के उत्तरार्ध—लंका से लौटने पर सीता परित्याग से ले कर सीता के पुनः प्रत्यागमन का बहुत कुछ कवि-कल्पना-प्रसूत-वर्णन हुआ है। यह नाटक भवभूति की कला का सर्वोच्च निदर्शन है। इसमें करुण विप्रलम्भ शृंगार है।

भवभूति के नाटकों में कवित्व तथा पाण्डित्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार है। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में वे बहुत सफल हैं। मानवीय भावों की गहराई में प्रवेश कर उन्हें अत्यन्त मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करने में भवभूति अत्यन्त दक्ष हैं। प्रकृति के उग्र स्वरूप का वर्णन भी भवभूति ने किया है।

अन्य नाटककार

कालक्रम के अनुसार भवभूति के बाद अन्य नाटककारों में **अनंगहर्ष** आते हैं जिनका समय अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। इनके **तापसवत्सराज** नामक ६ अंकों के नाटक में वत्सराज उदयन की कथा का वर्णन हुआ है। उस नाटक की एक ही प्रति मिली है, जो जर्मनी

की बर्लिन लाइब्रेरी में है। उसी के आधार पर इसका प्रकाशन मैसूर से हुआ है। ८०० ई० के लगभग विद्यमान **मुरारि** मौद्गल्यगोत्रीय श्रीवर्धमानक तथा तन्तुमती देवी के पुत्र थे। इनकी एक मात्र नाटक कृति **अनर्घराघव** मिलती है। अनर्घराघव सात अंकों का नाटक है। यह भवभूति के महावीरचरित के अनुकरण पर रचा गया है और इसमें ताड़का-वध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनाएँ वर्णित हैं। वर्णनों के अतिरिक्त इसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई देता। कविता की दृष्टि से इसमें प्रौढ़ता और ओज अवश्य है, किन्तु न तो इसमें कालिदास जैसी सुकुमारता है और न भवभूति जैसी हृदयस्पर्शिता। **अनर्घराघव** का कुछ प्रभाव हिन्दी के रामकाव्य, उदाहरणार्थ केशवदास की रामचन्द्रिका, पर देखा जा सकता है। नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में **शक्तिभद्र** नामक एक अन्य नाटककार हुए जो जनश्रुति के अनुसार शंकराचार्य के शिष्य थे; इनके नाटक **आश्चर्यचूड़ामणि** में राम-कथा के शूर्पणखा प्रसंग से ले कर राम की लंका-विजय तथा सीता की अग्नि-परीक्षा तक की घटना वर्णित है। महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री ने भवभूति के बाद इसे राम विषयक सर्वोत्कृष्ट नाटक माना है। शक्तिभद्र ने घटनाओं में कहीं-कहीं परिवर्तन भी किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में दामोदर मिश्र भी हुए जो **हनुमन्नाटक** के रचयिता थे। हनुमन्नाटक में १४ अंक हैं। इसका कथानक रामायण से लिया गया है। इसकी रचना ध्वन्यालोक से पहले हो चुकी थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें प्राकृत का प्रयोग नहीं हुआ, पद्य की प्रचुरता तथा गद्य की न्यूनता है, पात्रों की संख्या अधिक है तथा विदूषक का अभाव है। हनुमन्नाटक नाम का एक दूसरा नाटक भी मिलता है, जिसके रचयिता **मधुसूदनदास** माने जाते हैं। इसमें ९ अंक हैं, किन्तु यह काफ़ी बाद का है। महाराष्ट्रचूडामणि यायावरवंशीय कविवर अकालजलद के प्रपौत्र तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र **राजशेखर** उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा दसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नामक चौहानवंशीय क्षत्रिय ललना से विवाह किया था। धन और यश की लिप्सा से ये कन्नौज गए थे। इन्होंने अपने को भवभूति का अवतार कहा है, भवभूति को भर्तृमेण्ठ का तथा भर्तृमेण्ठ को वाल्मीकि का अवतार कहा है। इन्होंने अपने कुछ प्रबन्धों का उल्लेख किया है। इनके नाटकों की संख्या चार है—कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण तथा बालभारत या प्रचण्डपाण्डव। **कर्पूरमंजरी** चार अंकों का सट्टक है। यह केवल प्राकृत भाषा में लिखा गया है और इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय कथा वर्णित है। **विद्धशालभंजिका** चार अंकों की एक नाटिका है। **बालरामायण** दस अंकों का विशाल नाटक है जिसमें राम-कथा वर्णित है। **बालभारत** या **पचण्डपाण्डव** के केवल दो अंक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें द्रौपदी स्वयंवर, द्यूतक्रीड़ा तथा द्रौपदीवस्त्रहरण की घटनाएँ वर्णित हैं।

राजशेखर की प्रतिभा नाटक लिखने की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य के अधिक अनुकूल थी, अतः नाटक में भी उन्होंने लंबे वर्णन किए हैं। शार्दूलविक्रीड़ित उनका प्रिय छन्द है। राजशेखर की काव्य-प्रतिभा पर भवभूति की गहरी छाप दिखाई देती है।

बौद्ध आचार्य **दिङ्नाग** से भिन्न, वैदिक धर्मावलम्बी नाटककार दिङ्नाग का समय १०००

ई० के आसपास माना जाता है। इनका **कुन्दमाला** नाम का ६ अंकों का एक सुन्दर नाटक है जिसमें उत्तर काण्ड की राम-कथा वर्णित है। इसके भी कथानक तथा शैली पर भवभूति का प्रभाव दिखाई देता है। दिङ्नाग के लगभग सौ वर्ष बाद ११०० ई० के आसपास **कृष्णमिश्र** ने **प्रबोधचन्द्रोदय** नामक शान्त रस-प्रधान रूपकगर्भित नाटक लिखा जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का अत्यन्त रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इसमें विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि आदि अमूर्त भाव मानवीकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर **यशःपाल** (१३वीं शती) ने **मोहपराजय, वेंकटनाथ** (१४वीं शती) ने **संकल्पसूर्योदय** तथा **कर्णपूर** (१६वीं शती) ने **चैतन्य-चन्द्रोदय** नामक रूपकात्मक नाटकों की रचना की। प्रसिद्ध हिंदी कवि **केशवदास** ने प्रबोध-चन्द्रोदय का हिन्दी अनुवाद **विज्ञानगीता** के नाम से किया था। इसके अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय के अन्य अनेक हिंदी अनुवाद हुए। नाटकों में राम-कथा की परम्परा में सात अंकों का **प्रसन्नराघव** संस्कृत साहित्य का एक विख्यात नाटक है। इसके रचयिता **जयदेव** थे। इसकी पदावली अत्यन्त मंजुल है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में इस नाटक के मार्मिक स्थलों तथा सरस सूक्तियों को खूब अपनाया है।

इनके अतिरिक्त एक स्त्री कवि **विज्जिका** का **कौमुदीमहोत्सव, क्षेमीश्वर** का **नैषधानन्द** तथा **चण्डकौशिक, वत्सराज** के **किरातार्जुनीय, कर्पूरचरित, हास्यचूड़ामणि, रुक्मिणीहरण, त्रिपुर-दाह, समुद्रमन्थन** आदि अनेक रूपक; **जयसिंह सूरि** का **हम्मीरमर्दन, जगदीश्वर** का **हास्यार्णव, रामभद्र दीक्षित** का **जानकी-परिणय, लक्ष्मण सूरि** का **दिल्लीसाम्राज्य, कृष्णमाचारी** का **वासन्तिकस्वप्न** तथा **मूलशंकर याज्ञिक** के **छत्रपतिसाम्राज्य, प्रतापविजय** और **संयोगितास्वयंवर** आदि सुन्दर रूपक मिलते हैं, जिनका सहृदय समाज में आदर हुआ है।

चम्पू

गद्य और पद्य के मिश्रित काव्य को चम्पू कहते हैं (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते)। वैसे तो गद्य काव्यों में भी पद्यों का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है, किन्तु उनमें उन पद्यों का एक विशेष प्रयोजन होता है तथा प्रधानता गद्य की ही रहती है। चम्पू काव्यों में गद्य-पद्य दोनों प्रधान रूप में प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार जैसे संगीत में गीत और वाद्य। यद्यपि महाभारत, बौद्ध जातकों तथा हरिषेण की प्रयागस्थित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में गद्यपद्यमय स्थलों को देख कर चम्पू की शैली की रचना की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार के साहित्य की नियमतः रचना दशम शताब्दी से प्रारम्भ हुई थी।

भट्ट त्रिविक्रम

ये शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण देवादित्य के पुत्र तथा राष्ट्रकूट वंशीय इन्द्रराज के सभा-पण्डित थे। इनकी **नलचम्पू** अथवा **दमयन्तीकथा** नामक कृति प्रथम चम्पू काव्य है। इसकी रचना दशम शताब्दी के प्रारम्भ में हुई थी। त्रिविक्रम का स्थान संस्कृत साहित्य के श्लेष कवियों

में प्रमुख माना जाता है। इन्होंने भंग-श्लेष का प्रचुर प्रयोग करके भी अपने काव्य को दुरूह नहीं होने दिया। किंवदन्ती है कि त्रिविक्रम भट्ट ने एक रात के भीतर सरस्वती की कृपा से इस काव्य का निर्माण किया था।

चम्पू शैली का पिछली शताब्दियों में अच्छा प्रचार हुआ। दशम शताब्दी के मध्य में **सोमदेव सूरि** ने **यशस्तिलकचम्पू** की रचना सात आसवों में की, जिसमें अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। **भोजराज** (११वीं शती) ने **चम्पूरामायण** की रचना की। **सोड्ढल का उदयसुन्दरी-कथाचम्पू, कविकर्णपूर** का **आनन्दवृन्दावनचम्पू, जीव गोस्वामी** (१६वीं सदी) का **गोपालचम्पू, शेषकृष्ण** (१६वीं सदी) का **पारिजातहरणचम्पू, नीलकण्ठ दीक्षित** (१६२७ ई०) का **नीलकण्ठ-चम्पू, वेंकटाध्वरि** (१६४० ई०) का **विश्वगुणादर्शचम्पू** तथा **अनन्त कवि** का **भारतचम्पू** उल्ले-खनीय हैं। इधर सोलहवीं शती में निर्मित **वरदाम्बिकापरिणयचम्पू** का भी पता लगा है। इसकी लेखिका **रानी तिरुमलाम्बा** मानी जाती हैं। इसमें अच्युतराम और वरदाम्बिका के नाम से रानी तिरुमलाम्बा ने अपनी ही प्रणय कथा कही है।

कथा साहित्य

विश्व का लोककथा साहित्य संस्कृत का बहुत ऋणी है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे स्वीकार करते हुए प्राचीन भारतीय आख्यान साहित्य की मौलिकता एवं मनोरंजकता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यह कथा साहित्य दो रूपों में मिलता है—१. नीति कथा अथवा उपदे-शात्मक कथा और २. लोककथा अथवा मनोरंजनात्मक कथा। इसकी विशेषता यह है कि इसमें इतिहासप्रसिद्ध अथवा पुराणप्रसिद्ध पात्रों का प्रयोग नहीं हुआ है, अपितु जगत् के साधारण जीवों को पात्र बना कर पूर्ण आख्यान अत्यन्त मनोरंजक रूप में कल्पित किया गया है।

नीति कथा

नीति कथाओं का उद्देश्य रोचक कहानियों द्वारा सदुपदेश देना था। मनोरंजक कहा-नियों के सहारे सुकुमारमति बालक भी अनायास जीवन की सफलता का रहस्य समझ लेते हैं। इन नीति कथाओं में रोचकता लाने के लिए पशु-पक्षियों को ही प्रायः पात्र बनाया गया है। वे मनुष्यों की ही भाँति प्रेम, कलह, युद्ध तथा सन्धि आदि करते हैं। स्वभावतया इन नीति कथाओं में सरल, प्रभावपूर्ण तथा मुहावरेदार संस्कृत गद्य का प्रयोग किया गया है। किन्तु बीच-बीच में आप्त ग्रन्थों के उपदेशात्मक पद्य इस ढंग से तथा ऐसे अवसर पर उद्धृत कर दिए जाते हैं कि अर्थ अनायास ही अवगत हो जाता है। इन कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें एक प्रधान कथा के अन्तर्गत कई कथाओं का समावेश होता है। मुख्य कथा का पात्र अपनी बातों के समर्थन में बीच-बीच में अनेक उपकथाएँ कहता चलता है। वेद, पुराण, महाभारत तथा बौद्ध-जैन साहित्य को देखने से पता चलता है कि पशु-पक्षियों की कहानियों का भारत में बालकों को उपदेश देने के लिए सदा से उपयोग होता रहा है। नीति कथाओं के दो संग्रह प्रसिद्ध हैं—पंचतन्त्र और हितोपदेश।

पंचतंत्र सबसे प्राचीन नीति ग्रन्थ है। इसकी रचना का समय ई० सन् ३०० के आस-पास माना जा सकता है। बहुत प्राचीन काल में पहलवी, आसुरी तथा अरबी आदि अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया था। ग्रीस और रोम के कथा साहित्य को भी इसने प्रभावित किया। पंचतन्त्र अपने मूल रूप में नहीं मिलता। उसके अनेक प्रकार के संस्करण हुए। इसकी रचना का उद्देश्य राजकुमारों को नीति शास्त्र में निपुण बनाना था। प्राचीनतम अनुवादों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसके १२ भाग रहे होंगे, किन्तु वर्तमान पंचतन्त्र में केवल पाँच तंत्र मिलते हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षितकारक। इन पाँच तन्त्रों में विविध विषयों को दृष्टान्तों द्वारा अति मंजुल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कथानक का वर्णन गद्य में है, किन्तु उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में हैं, और ये पद्य प्राचीन ग्रन्थों से लिए गए हैं।

हितोपदेश के रचयिता **नारायण पण्डित** थे। इसकी रचना १४वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी। पंचतन्त्र तथा कुछ अन्य नीति ग्रन्थ इसके आधार हैं। इसमें ४३ कथाएँ हैं, जिनमें २५ पंचतन्त्र से ली गई हैं। इसके चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। इसमें पंचतंत्र की अपेक्षा पद्यों का अधिक प्रयोग किया गया है।

लोककथा

नीति कथाएँ उपदेश-प्रधान होती हैं तथा लोककथाएँ मनोरंजन-प्रधान। इन लोक कथाओं के पात्र पशु, पक्षी न हो कर मनुष्य ही होते हैं। आगे इन कथाओं का सबसे बड़ा संग्रह बृहत्कथा माना जाता है। **बृहत्कथा** के रचयिता **गुणाढ्य** माने जाते हैं। उन्होंने अपने समय की प्रचलित कथाओं का संग्रह कर बृहत्कथा की रचना की थी। यह पैशाची भाषा में लिखी गई थी और एक लाख पद्यों की थी, किन्तु अब मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। बूलर ने बृहत्कथा का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना है। अब संस्कृत में उसके संक्षिप्त रूपान्तर मिलते हैं। रामायण और महाभारत की भाँति बृहत्कथा भी कवियों तथा नाटककारों के लिए उपजीव्य रही है। उदयन तथा शूद्रक की कथा का स्रोत बृहत्कथा ही है। बृहत्कथा के तीन संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध हैं—एक **बृहत्कथाश्लोकसंग्रह,** जिसे नेपाल के बुद्धस्वामी ने ८वीं या ९वीं शताब्दी में श्लोकबद्ध किया था। इस समय इसके २८ सर्ग तथा क़रीब साढ़े चार सहस्र श्लोक मिलते हैं। दूसरा, **बृहत्कथामंजरी** अति संक्षिप्त रूपान्तर है, जिसे क्षेमेन्द्र ने ११वीं शती के प्रारम्भ में प्रस्तुत किया; तीसरा, **कथासरित्सागर** के नाम से सोमदेव ने ११वीं शती के प्रारम्भ में प्रस्तुत किया। यह क्षेमेन्द्र की कथामंजरी से अधिक बृहद्, सरस तथा रोचक है। इसमें चौबीस हज़ार श्लोक हैं। लोक कथाओं के तीन परम प्रसिद्ध संग्रह और हैं—(१) **वेतालपंचविंशतिका**—इसमें एक भूत उज्जैन के राजा विक्रमादित्य से पहेलियों के रूप में २५ कहानियाँ कहता है। इसके **शिवदास** तथा **मंगलदत्त**कृत दो संस्करण मिलते हैं। एक गद्य-पद्य में है तथा दूसरा केवल गद्य में। (२) **सिंहासनद्वात्रिंशिका**—इसे **द्वात्रिंशतपुत्तलिका** अथवा **विक्रमचरित** भी कहते हैं। यह तीन संस्करणों में मिलती है—एक केवल गद्य में, दूसरी केवल पद्य में तथा तीसरी गद्य-पद्य

में। अनुमानतः इसकी रचना भोज (१०१८-१०६३ ई०) के बाद हुई होगी। (३) **शुकसप्तति**-इसमें ७० कहानियाँ संग्रहीत हैं। कहानियों का वक्ता मदनसेन की पत्नी का शुक है जिससे वह प्रति रात एक-एक कहानी सुनते हुए विरह की ७० रातें बिताती है। इसकी रचना १४वीं शती के पूर्व हो चुकी थी।

इसके अतिरिक्त **पुरुषपरीक्षा** (विद्यापति), **कथार्णव** (शिवदास), **भोजप्रबन्ध** (बल्लाल-सेन) आदि अन्य मनोहर लोककथा ग्रन्थ मिलते हैं, जिनकी रचना १५वीं शताब्दी के बाद हुई थी। इस प्रसंग में बौद्धों का कथा साहित्य—**अवदानशतक** तथा **आर्यशूर**कृत **जातकमाला** तथा जैन कवि **हेमचन्द्र** द्वारा रचित **परिशिष्टपर्व** भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार यह प्रकट है कि संस्कृत में साहित्य रचना १५वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में होती रही। वस्तुतः विद्वत् तथा शिष्ट समाज की इस भाषा का सम्मान १५वीं शताब्दी के बाद भी अक्षुण्ण रहा। यद्यपि अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण देश भाषाओं ने उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए साहित्य के माध्यम का स्थान ग्रहण कर लिया, परन्तु संस्कृत का महान् साहित्य, शास्त्र तथा काव्य दोनों रूपों में, देश भाषाओं के साहित्य को निरंतर प्रभावित करता रहा। संस्कृत साहित्य की महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बौद्ध और जैन धर्मावलम्बी विद्वानों ने भी, जिनकी धार्मिक भाषाएँ मध्यकालीन आर्यभाषाएं—प्राकृत और अपभ्रंश थीं, संस्कृत में रचनाएँ कीं तथा प्राकृत और अपभ्रंश में जो रचनाएँ कीं उनमें भी महाभारत, रामायण और विपुल पुराण साहित्य से निःसंकोच साहित्य-सामग्री ग्रहण की। आधुनिक आर्य भाषा काल (१००० ई० से) तो संस्कृत के उपर्युक्त उपजीव्य साहित्य तथा दार्शनिक-आध्यात्मिक साहित्य का सम्मान और अधिक बढ़ गया। वैष्णव धर्म के रूप में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान ने आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप को भी प्रभावित करना आरंभ कर दिया। संस्कृत की तत्सम शब्दावली प्रचुरता से देश भाषाओं में आने लगी तथा धर्म के माध्यम से भाषा और साहित्य में भी एक पुनर्जागरण का वातावरण निर्मित होने लगा। जहाँ तक हिंदी का संबंध है उसके भक्ति साहित्य की पृष्ठभूमि में पुराण—विशेष रूप से श्रीमद्भागवत, वैष्णव भक्ति का सिद्धान्त साहित्य, रामायण तथा अन्य राम-कथा साहित्य का अनन्य महत्त्व है। यही नहीं, कृष्ण और राम भक्ति काव्य में संस्कृत के काव्य साहित्य का भी प्रभाव देखा जाता है। भक्ति काव्य के उपरान्त जो लक्षण-उदाहरणपरक श्रृंगार काव्य निर्मित हुआ उसमें तो संस्कृत के कतिपय लक्षण ग्रन्थों की स्पष्ट छाप मिलती है। संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त सामान्य परिचय से यह स्पष्ट है कि संस्कृत और हिंदी साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध रहा है।

८. भारतीय साहित्य शास्त्र

नाम

प्राचीन काल में साहित्य शास्त्र का अधिक प्रचलित नाम काव्यालंकार या केवल अलंकार शास्त्र था। साहित्य शास्त्र पर लिखे गए प्राचीन ग्रन्थों में से अनेक का नाम 'काव्यालंकार' है। भामह तथा रुद्रट के ग्रन्थों का यही नाम है। उद्भट और वामन के ग्रन्थों के नाम क्रमशः 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' तथा 'काव्यालंकार सूत्र' हैं। इस शास्त्र को अलंकार शास्त्र नाम से क्यों अभिहित किया गया, इस पर विचार करने से अनुमान होता है कि इन प्राचीन ग्रन्थों में अलंकार का ही विषय प्रधान होने से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति', इस नियम के अनुसार उनका अलंकार शास्त्र नाम पड़ा होगा। इस शास्त्र के जिन ग्रन्थों का नाम 'काव्यालंकार' नहीं भी है, उनमें भी अलंकारों का ही विषय प्रधान है; जैसे, दण्डी के काव्यादर्श का लगभग तीन-चौथाई भाग शब्द और अर्थ के अलंकारों के लक्षण, विवेचन तथा उदाहरण पर ही लिखा गया है।

संस्कृत साहित्य का अलंकार शास्त्र ही उपर्युक्त नियम का एकमात्र उदाहरण हो, ऐसी बात नहीं। गौतमकृत दर्शन शास्त्र का 'न्याय' नाम भी इसी रीति पर रक्खा गया प्रतीत होता है। यद्यपि न्याय में षोडश पदार्थों का निरूपण है, तथापि उनमें भी प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' के अन्तर्गत आने वाले अनुमान का भेद 'परार्थानुमान' समस्त विद्याओं तथा ज्ञानों में सहायक होने के कारण प्रधान माना गया है। इसी का दूसरा नाम न्याय भी है। इसी नाम से समस्त शास्त्र का नाम न्याय शास्त्र पड़ा। साहित्य शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में अलंकार की प्रधानता का कारण बताते हुए 'अलंकारसर्वस्व' के लेखक राजानक रुय्यक ने कहा है कि भामह से ले कर वामन तक सभी प्राचीन आलंकारिकों ने ध्वन्य अर्थ के वाच्योपकारक वाच्यार्थ में विचित्रता लाने वाला होने के कारण उसको अलंकार ही माना था, क्योंकि अलंकार भी तो वाच्यार्थ ही को विचित्र या चमत्कारयुक्त बनाते हैं। उद्भट आदि ने गुणों और अलंकारों को सदृश ही माना है। उनका कथन है कि मनुष्य के शौर्यादि गुण तथा हारादि अलंकार क्रमशः समवाय तथा संयोग वृत्ति से रहने के कारण परस्पर भिन्न हैं, परन्तु ओज इत्यादि काव्य के गुण तथा अनुप्रास, उपमा इत्यादि काव्य के अलंकार उसमें समवाय वृत्ति (सम्बन्ध) से रहने के कारण परस्पर भिन्न नहीं कहे जा सकते। जो लोग इनका भेद मानते हैं, वे गड्डरिका-प्रवाह अर्थात् अविवेक से ही मानते हैं। काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग, 'गुणों' को सर्व प्रथम अधिक महत्त्व देने तथा उनका विस्तृत विवेचन करने वाले आचार्य दण्डी ने भी

---

१. दे० पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ५५८।

उन्हें अलंकारों के अन्तर्गत ही माना है। उनका कथन है कि 'काव्य-शोभा के आधायक (उत्पादक) धर्म को अलंकार कहते हैं' इसमें कुछ अलंकार मार्गों (रीतियों) के विभाग के लिए पहिले ही कहे जा चुके हैं। मार्ग या रीति के लिए पूर्वोक्त अलंकारों का तात्पर्य गुणों से ही है, जिस पर दण्डी ने रीतियों को आधारित किया है। इसी प्रकार ध्वनि से परिचित होने पर भी भामह, दण्डी इत्यादि ने उसे अलग नहीं माना। अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेप में ध्वनि का अधिकांश (ध्वन्यालोककार का गुणीभूत व्यंग्य) और शेष समस्त भेद पर्यायोक्त के अन्तर्गत माने हैं। यह बात पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर'[1] से स्पष्ट सिद्ध होती है। रस-ध्वनि को भी उद्भट ने अपने 'काव्यालंकार-सार संग्रह' के चतुर्थ वर्ग में अलंकारों के अन्तर्गत ही रखा है। रस के द्वारा काव्य-शोभा होने पर रसवत्, भाव के द्वारा होने पर प्रेयसवत्, रसाभास तथा भावाभास से शोभा होने पर ऊर्जस्वि तथा रस, भाव इत्यादि के प्रशम से काव्य-शोभा होने पर समाहित अलंकार होता है। इस प्रकार ध्वनि, गुण, रस इत्यादि, सभी के अलंकारान्तर्गत हो जाने से काव्य में अलंकार की ही प्रधानता हुई। इसी से उन्होंने 'अलंकार एव काव्ये प्रधानम्' यह सिद्धान्त स्थापित किया। अलंकार की ही काव्य में प्रधानता होने से काव्य की मीमांसा प्रस्तुत करने वाले शास्त्र में अलंकारों की ही प्रधानता रही और इसी से शायद पूर्व आलंकारिकों ने अपने शास्त्र ग्रन्थों का काव्यालंकार या अलंकार नाम रखना ही ठीक समझा। इस प्रकार प्रस्तुत शास्त्र का अलंकार शास्त्र नाम सर्वाधिक प्राचीन है।

राजानक रुय्यक के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्राचीन आलंकारिकों ने गुण, ध्वनि तथा रस, भाव इत्यादि ध्वनि के विशिष्ट भेदों को अलंकार के अन्तर्गत रखने के लिए उसके जिस व्यापक स्वरूप की कल्पना की थी, उसका आधार था सौन्दर्य-तत्व। उपमा इत्यादि अलंकारों के सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने वाला अलंकार जिस प्रकार काव्य में सौन्दर्य-चमत्कार-वैचित्र्य उत्पन्न करता है, उसी प्रकार गुण, ध्वनि, रस, भाव इत्यादि भी करते हैं, अतः वे भी अलंकार ही हैं, यही रुय्यक के अनुसार पूर्वकालीन आलंकारिकों की मान्यता थी। राजानक रुय्यक के पूर्व भी काव्यालंकार सूत्र के प्रणेता आचार्य वामन ने अपने सूत्र ग्रन्थ में इसकी ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य एवं उपादेय बनता है। काव्य-सौन्दर्य ही अलंकार है; वैसे करण (साधन) अर्थ लेने पर अलंकार शब्द अलंकृतियों—सौन्दर्य के साधन यमक, उपमा इत्यादि का वाचक होता है। यह 'अलंकार-सौन्दर्य' काव्य में दोषों के परिहार तथा गुणों और उपमादि अलंकारों के उपादान (ग्रहण) से होता है।[2]

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' के आरंभ में ही काव्यलक्षण[3] नाम दिया है। ध्वन्यालोककार

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ४१४।

२. काव्यग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। सदोषगुणालंकारहानोपादानाभ्याम्। १, १—३।

३. यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्। प्रथम अध्याय, श्लोक २।

ने भी अलंकार शास्त्र के रचयिताओं को एक स्थान पर 'काव्यलक्षणविधायिनः'[1] तथा अन्यत्र 'काव्यलक्ष्मविधायिनः' कहा है। यद्यपि भामह ने अपने ग्रन्थ के आरंभ[2] में उसे 'काव्यालंकार' कहा है, परन्तु अन्त में 'काव्य-लक्ष्म' शब्द का प्रयोग किया है। 'लक्ष्म' शब्द लक्षण शब्द का ही अपेक्षाकृत कम प्रचलित पर्याय है। इससे जान पड़ता है कि 'अलंकार शास्त्र' के नाम के साथ ही साथ यह शास्त्र 'काव्य लक्षण' नाम से भी अभिहित होता था। किन्तु यह नाम उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जितना 'अलंकार शास्त्र'।

'अलंकार शास्त्र' का एक अन्य नाम 'साहित्य शास्त्र' है, जो 'अलंकार शास्त्र' जैसा ही प्रसिद्ध हुआ। प्राचीन ग्रन्थों में 'साहित्य शास्त्र' का प्रयोग वाङमय तथा उसके सारभूत काव्य के अतिरिक्त 'अलंकार शास्त्र' या 'काव्य शास्त्र' के अर्थ में भी हुआ है। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने उपाध्याय मुकुल के मीमांसा, व्याकरण आदि शास्त्र के ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'साहित्य-श्रीमुरारि' कहा है। यहाँ स्पष्ट ही 'साहित्य' शब्द 'साहित्य शास्त्र' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि साहित्य के पूर्व आए हुए मीमांसा, व्याकरण, तर्क इत्यादि शास्त्र नामों से स्पष्ट है। स्वयं मुकुल ने भी अपने 'अभिधावृत्तिमात्रिका'[2] नामक ग्रन्थ में अलंकार शास्त्र के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग किया है और वृत्ति में उसे साहित्य शास्त्र का वाचक कहा है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में विद्याओं की संख्या के संबंध में विभिन्न मतों का उल्लेख करते समय यायावरीय नाम से अपना भी मत देते हुए कहा है—'पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः'। मंखक ने भी अपने 'श्रीकंठचरित' में इस शास्त्र के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है।[3] इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि राजशेखर के समय, अर्थात् ९०० ई० के कुछ पूर्व से ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग अलंकार शास्त्र के लिए होने लगा था। जब आचार्यों ने काव्य का स्वरूप 'सहित शब्दार्थ' निर्धारित किया और काव्य में शब्द और अर्थ का साहित्य मान्य हो गया, तब तो काव्य-समीक्षा के शास्त्र को साहित्य शास्त्र नाम मिलना ही था। इसीलिए राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पूर्व उद्धृत साहित्य विद्या की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या'। इस प्रकार नवीं शताब्दी से साहित्य का प्रयोग काव्य तथा काव्यशास्त्र के लिए होने लगा था। परवर्ती शताब्दियों में इस शास्त्र के 'अलंकार' और 'साहित्य' दोनों नाम प्रचलित रहे। यद्यपि 'अलंकार' नाम पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी काव्यांग विशेष, अर्थात् अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि के अर्थ में भी खूब प्रचलित होने के कारण काव्यशास्त्र के व्यापक अर्थ को उतनी स्पष्टता से प्रकट करने में समर्थ नहीं था, जितना साहित्य शास्त्र नाम, तथापि

---

१. किंच वाग्विकल्पनामानन्त्यात्सम्भवत्वपिवार्कस्मिश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैः पृ० २५।

२. पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्। यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति। पृ० २२, निर्णयसागर संस्करण, १९०६।

३. विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्॥—२, १२।

एक बार प्रचलित हो जाने पर यह नाम बराबर चलता रहा और अन्य कोई नाम इसकी तरह प्रचलित न हो सका।

उद्गम

भारतीय साहित्य शास्त्र पर विचार प्रस्तुत करने वाले सभी लेखक इस बात पर एकमत हैं कि यह शास्त्र प्राचीन काल में ही शास्त्र का रूप धारण कर चुका था। डा० दासगुप्त का कथन है कि चूँकि सामान्य रूप से विचार करने पर अलंकार शास्त्र प्रारंभ में व्याकरण शास्त्र की एक शाखा के रूप में ही विकसित हुआ जान पड़ता है, अतः इसका प्राथमिक विकास ईसवी पूर्व की द्वितीय शताब्दी के मध्य काल के थोड़े बाद महाभाष्यकार पतंजलि के युग का जान पड़ता है। इसके समर्थन में उनका यह कहना है कि प्राचीनतम साहित्य में साहित्य शास्त्र या अलंकार शास्त्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता। छान्दोग्य उपनिषद् (अ० ७, सं० १, मं० २) में आई हुई प्राचीन शास्त्रों की सूची में अलंकार शास्त्र का कोई उल्लेख नहीं है। आपस्तम्ब ने परंपरागत ६ वेदांगों का ही वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य में १४ तथा विष्णुपुराण में १८ शास्त्र गिनाए गए हैं, तथापि इसका कोई उल्लेख नहीं है। 'ललितविस्तर' में 'काव्य-कारण ग्रन्थ' का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर इससे अनिवार्य रूप से अलंकार शास्त्र का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में सम्राट् के शासनों की भाषा के स्वरूप वर्णन में अर्थ-क्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, स्पष्टता एवं औदार्य गुणों का उल्लेख हुआ है, पर इससे अलंकार शास्त्र का कोई संकेत नहीं मिलता, अधिक से अधिक इससे अच्छी शैली का संकेत मिलता है। इस प्रकार पतंजलि के पूर्ववर्ती साहित्य में उल्लेख न प्राप्त होने के कारण अलंकार शास्त्र पतंजलि से पूर्व का नहीं कहा जा सकता। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में अलंकार शास्त्र के विषय आए हैं और भरत मुनि का समय कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में आए हुए 'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः' इत्यादि श्लोक के आधार पर ईसवी पूर्व के तृतीय या चतुर्थ शतक के बाद का नहीं हो सकता, तथापि वर्तमान नाट्यशास्त्र के ईसवी सन् के आरंभ के पूर्व की कृति होने का कोई प्रमाण न मिलने से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अलंकार शास्त्र के ईसवी सन् के पूर्व का होने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस शास्त्र के आविर्भाव की चर्चा उठने पर डा० डे ने अपने 'साहित्य शास्त्र का इतिहास' की प्रथम पंक्तियों में ही लिखा है कि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के एक रोचक अवतरण में साहित्य शास्त्र के देवताओं से उत्पन्न होने का काल्पनिक वर्णन करते समय इस शास्त्र के कल्पित प्राथमिक आचार्यों का भी उल्लेख किया है। उसमें कहा गया है कि सरस्वती से उत्पन्न हुए काव्य-पुरुष को प्रजापति ने त्रिलोक की पूजा की हित-कामना से काव्य-विद्या के प्रचार की आज्ञा दी और काव्य-पुरुष ने इसे अपने संकल्पजन्य १७ शिष्यों को १८ अधिकरणों में पढ़ाया और इन दिव्य ऋषियों ने उन-उन अधिकरणों पर अलंकार शास्त्र लिखे। आगे उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख करके डा० डे ने लिखा है कि 'संस्कृत के लेखकों में अपने-अपने शास्त्र की प्रशंसा में उसे अति प्राचीन

और प्रामाणिक कहने तथा उद्भव-काल के अज्ञात रहने पर पौराणिक आख्यान गढ़ लेने की प्रवृत्ति कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि भरत के नाट्यशास्त्र तथा वात्स्यायन के कामसूत्र के अतिरिक्त अलंकार शास्त्र के वाङमय में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इस अवतरण के ऐतिहासिक महत्त्व में संदेह हो सकता है, पर यह भी संभव है कि इस अद्भुत वर्णन में पौराणिकता के अतिरिक्त किसी प्रचलित परम्परा का उल्लेख हो, जिसके अनुसार साहित्य शास्त्र के ये प्राथमिक आचार्य किसी सुदूर और विस्मृत अतीत काल में वस्तुतः विद्यमान थे। परन्तु प्राचीन साहित्य में कुछ भी ऐसी बात नहीं मिलती, जिससे साहित्य शास्त्र का आरंभ सुदूर प्राचीन काल में बताया जा सके, अन्यथा इस पौराणिक ढंग के वर्णन से अति प्राचीन काल में साहित्य शास्त्र के विषयों के सुव्यवस्थित अनुसंधान और विचार का प्रस्ताव रक्खा जा सकता था। वेदांगों में अलंकार शास्त्र का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ और न संहिताओं, ब्राह्मणों या प्राचीन उपनिषदों में ही ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें साहित्य शास्त्र का वास्तविक आधार मिल सके। उदाहरण के लिए उपमा शब्द ऋग्वेद (मं० ५, सूक्त ३४, मंत्र ९,१,३१,१५) में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु सादृश्य की इस साधारण भावना के प्रयोग में कोई असाधारण बात नहीं, जिससे साहित्य-शास्त्रीय विषयों के उस काल में विचार किए जाने की बात कही जा सके। इंडियन ऐंटी-क्वेरी के ४१वें भाग के १८० पृष्ठ पर डा० काणे वैदिक साहित्य में पाए जाने वाले अलंकारों के प्रयोग को अनुचित महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि अलंकारों के इन सहज प्रयोगों तथा उनके सैद्धांतिक निरूपण के बीच अवश्य ही एक लम्बा व्यवधान रहा होगा। इस बात को डा० डे ने आगे पृष्ठ १५ तथा १६ पर भी स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि "यद्यपि नवीं शताब्दी ईसवी के अन्त में होने वाले राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में साहित्य शास्त्र को परम्परा विशेष के अनुसार सप्तम वेदांग माना है, तथापि यह सचमुच विचारणीय बात है कि प्राचीन ग्रन्थों में साहित्य शास्त्र का शास्त्र रूप में अपरोक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। सबसे पहले 'अलंकार शास्त्र' नाम शुक्रनीति में मिलता है जिसमें ३२ शास्त्रों में अर्थ, काम तथा शिल्प शास्त्रों में इसे भी अन्तर्भूत किया गया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य शास्त्र का शास्त्र रूप में उद्भव अपेक्षाकृत बाद का है और संभवतः इसका विकास ईसवी सन् की प्रथम कुछ शताब्दियों में आरंभ हुआ।[1]

महामहोपाध्याय डा० काणे ने अपने संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास के द्वितीय भाग में साहित्य शास्त्र के उद्गम और विकास पर विचार करते समय आरंभ में ही लिखा है—"डा० डे ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रथम भाग के ३४१ पृष्ठ पर लिखा है कि 'डा० काणे इंडियन ऐंटीक्वेरी (भाग ४१, पृ०१२०) में वैदिक साहित्य में पाए जाने वाले अलंकारों के प्रयोग को अनुचित महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं। उनका कथन असत्य है।' मैंने अपना मत विनम्रतापूर्वक संक्षेप में ही उपस्थित किया था। अतः उसे यहाँ विस्तारपूर्वक रखने को मैं

---

१. एस० के० डे : हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १५, १६।

विवश हूँ।"[१] आगे डा० काणे ने ऋग्वेद में आए हुए अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के उपमादि अलंकारों की सत्ता के विषय में विद्वानों का ऐकमत्य दिखा कर लिखा है कि "ऋग्वेद के ऋषि न केवल उपमा, अतिशयोक्ति और रूपक अलंकारों का प्रयोग करते हैं, अपितु वे काव्यशास्त्र के किसी न किसी प्रकार के सिद्धान्त से भी परिचित प्रतीत होते हैं।"[२] इसके समर्थन में डा० काणे ने ऋग्वेद का एक मंत्र उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

सक्तुमिवतितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचम्। ऋ० १०।७१।२ कृत अत्रासखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचिग।

इसका अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है–'जिस प्रकार चलनी (छाननी) के द्वारा सत्तू को छान कर भूसा से अलग कर लेते हैं, उसी प्रकार जब बुद्धिमान् पुरुष अपनी मानसिक शक्ति-बुद्धि के द्वारा वाणी को पवित्र कर (शब्दों को सामान्य शब्दों से अलग कर) उसका विन्यास करते हैं, तब उन्हीं जैसे दूसरे बुद्धिमान् पुरुष (उसका) अर्थ समझते हैं। उनकी इस वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी का वास होता है।' इस पर उनका कथन है कि इस मंत्र में यह बात स्पष्ट की गई है कि सामान्य वाणी तथा कवि (क्रान्तद्रष्टा बुद्धिमान्) की वाणी में भेद होता है। कवि को अपार शब्द-समुदाय में से अपने भावों के उपयुक्त शब्दों का चयन करना पड़ता है और इस प्रकार सम्यक् चयन के अनन्तर प्रस्तुत की गई वाणी (कविता) से परम श्रेय की प्राप्ति होती है। उनका यह भी कथन है कि सामान्य काव्य के अतिरिक्त काव्य के विशेष रूप, नाटक के कथनोपकथन, गीत, वाद्य और नृत्य—इन चारों अंगों का विकसित रूप भी वेदों में प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक वाङमय अति प्राचीन काल में भी धार्मिक ढंग के नाटकों से परिचित रहा है। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत ने भी कहा है कि नाटक के पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस क्रमशः ऋग्वेद, साम-वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से लिए गए हैं। डा० काणे का यह मत सर्वथा माननीय है। जिस प्रकार की शब्द-योजना वैदिक ऋषियों के द्वारा हुई है, वह स्पष्टतः प्रयासजन्य प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वैदिक ऋषि काव्य की भाषा को अलंकृत करने के विषय में जागरूक थे।

परवर्ती काल में तो बहुत ही उच्च कोटि के काव्य लिखे गए। प्रायः सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि रामायण और महाभारत अपने वर्तमान रूप में ईसवी शताब्दी के आरंभ के पूर्व ही बन गए थे और उनका अधिकांश तो ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता। इन दोनों ग्रन्थों से उच्चकोटि के काव्यात्मक अंश 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत किए गए हैं। रुद्रट के 'काव्यालंकार' की टीका में नमिसाधु ने लिखा है कि पाणिनि ने 'पातालविजय' नामक एक महाकाव्य लिखा था और उससे एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। राजशेखर[३] ने

१. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स पृष्ठ, ३१५।

२. वही, पृ० ३१६।

३. स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः। आदौ व्याकरणकाव्यमनुजाम्बवतीजयः॥ राजशेखर, (सूक्तिमुक्तावली, पृष्ठ ४२ पर उद्धृत)।

भी पाणिनि को 'जाम्बवतीविजय' नामक काव्य का कर्त्ता कहा है। क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्त-तिलक' में पाणिनि के उपजाति छन्द की बड़ी प्रशंसा की है। 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (।४।३।८७।) पर लिखे गए कात्यायन के 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक से स्पष्ट प्रकट होता है कि आख्यायिका नामक गद्य काव्य का प्रकार पतंजलि के समय के बहुत पूर्व ही विद्यमान था। इस वार्तिक पर भाष्य लिखते हुए पतंजलि ने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक तीन आख्यायिका ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने वररुचिकृत एक काव्य का भी उल्लेख किया है। उन्होंने 'कंसवध' और 'बलिबंध' पर लिखे गए तथा अभिनय किए जाने वाले दो अन्य काव्यों (नाटकों) की भी चर्चा की है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि कम से कम ई० पू० ५०० से ले कर ई० पू० १०० तक लौकिक संस्कृत में प्रभूत काव्य-वस्तु प्रस्तुत हो चुकी थी। इससे काव्य के व्यापार और लक्षण, उसके अनेक भेद तथा काव्य के कुछ भेदों के मान्य स्वरूप के नियमों के विषय में अवश्य ही स्वभावतः विचार आरंभ हुए होंगे। संक्षेप में कह सकते हैं कि इस शास्त्र में अलंकार शास्त्र और काव्य-समीक्षा के सिद्धान्त स्थापित करने के थोड़े बहुत स्थूल प्रयास अवश्य हुए होंगे।[१]

साहित्य शास्त्र की प्राचीनता के विषय में जो बात पहले कही जा चुकी है, उसका समर्थन अन्य तथ्यों से भी होता है। निघण्टु में जो वैदिक उपमाएँ संगृहीत हैं उनकी व्याख्या करते हुए यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में उपमा की गार्ग्याचार्यकृत वैज्ञानिक परिभाषा-पद्धति उद्धृत की है, जिसका अर्थ यह है कि जब एक वस्तु दूसरी से भिन्न होने पर भी उसके सदृश होती है, तब उसे उपमा कहते हैं। फिर वैदिक उपमाओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यास्क ने लिखा है कि ऋग्वेद में यद्यपि प्रायः उत्कृष्ट वस्तु से अपकृष्ट या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाती है, तथापि कभी-कभी अपकृष्ट या अप्रख्यात वस्तु से उत्कृष्ट या प्रख्यात वस्तु की भी उपमा दी जाती है। उपमा के संबंध में गार्ग्य के विचार प्रायः वही हैं जो ईसवी शताब्दी के आलंकारिकों के थे तथा यास्काचार्य की उपमा संबंधी मीमांसा तो परवर्ती विकसित विचारों की पूर्वपीठिका सी लगती है। बाद के अलंकार-ग्रन्थों में इसे प्रतीप अलंकार का एक प्रकार माना गया है, जैसे, 'सुन्दरि, तुम्हारे मुख से लोग चन्द्रमा की उपमा देते हैं' में प्रतीप अलंकार है और इसे यास्क ने उपमा के ही अपेक्षाकृत कम मिलने वाले वैदिक प्रकारों में परिगणित किया है। इसके अतिरिक्त यास्क के 'लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते' (निरुक्त ३-१८) में पूर्ण तथा लुप्ता उपमाओं के उत्तरकालीन पारस्परिक अन्तर की स्पष्ट झलक मिलती है। उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचक—उपमा के ये चारों अंग पाणिनि के पूर्व ही निर्धारित हो चुके थे और उनका परवर्ती स्वरूप भी निश्चित हो चुका था, यह बात पाणिनि के 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५५,) 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या प्रयोगे' (२।१।५६), 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट होती है।

भरत, भामह और दण्डी आदि प्राचीन आलंकारिकों ने जो थोड़े से अलंकार माने हैं,

---

१. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स पृष्ठ २३२।

उनमें से दो-एक छोड़ कर अन्य सभी के मूल में यही उपमा मिलती है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकार-सामान्य का प्रतिनिधि मान कर यह कहा जा सकता है कि अलंकारों का विचार—चाहे वह स्थूल ही क्यों न रहा हो—पाणिनि के समय से नहीं, अपितु निरुक्तकार यास्काचार्य के समय से भी काफ़ी पहले का है। जहाँ तक अलंकार शास्त्र के रस, रीति, गुण इत्यादि अन्य विषयों की बात है, वे तो साहित्य के शास्त्र रूप धारण कर चुकने पर भी उसके प्रारंभिक ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलते और मिलते भी हैं तो गौण रूप में; फिर, पाणिनि के पूर्व के साहित्य में उनको ढूँढ़ना व्यर्थ ही है और उनका उसमें न मिलना अलंकार शास्त्र की आत्यन्तिक प्राचीनता में किसी प्रकार से बाधक नहीं है। काव्यशास्त्र के विषयों में रस अधिक प्राचीन है। इस विषय के ग्रंथों में भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्राचीन है और इसमें उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त का ही मुख्य रूप से विवेचन किया है, किन्तु इसका विवेचन पाणिनि के पूर्व के साहित्य में भी हुआ होगा, इसका अनुमान हमें उन्हीं के 'पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४।३।७१०) से होता है। काणे महोदय का यह कथन सर्वथा माननीय है कि "पाणिनि ने शिलालि तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है। अब उनका कुछ भी अंश अवशिष्ट नहीं है, जिसके आधार पर हम इस बात का अनुमान कर सकें कि उनमें क्या था। परन्तु यदि वे सूत्र जैसे उच्च नाम दिए जाने के उपयुक्त थे, तो यह बात बहुत संदिग्ध नहीं जान पड़ती कि अवश्य ही उनमें नट के कार्य की—दर्शकों में वह रसोत्पत्ति कैसे कर सकता था, इस बात की—शिक्षा दी गई होगी, चाहे वह शिक्षा कितनी भी स्थूल क्यों न रही हो। संक्षेप में कह सकते हैं कि उनमें रस का किसी न किसी प्रकार का सिद्धान्त, भले ही वह स्थूल हो, अवश्य प्रतिपादित किया गया होगा।"[1]

ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में साहित्य शास्त्र की सत्ता तथा उसमें सिद्धांतों के विकास की बात तो अब पुरातत्त्व विषयक अनुसन्धानों से प्रमाणित हो चुकी है। शिलालेखों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्व अवश्य ही काव्यांगों के विषय में धारणाएँ बन चुकी थीं। जूनागढ़ के १५०ई० के रुद्रादमन् के शिलालेख से साहित्य शास्त्र के उस समय तक के विकास का भली भाँति पता चलता है। उससे[2] ज्ञात होता है कि ईसवी द्वितीय शताब्दी तक काव्य के विषय में यह मान्यता बन चुकी थी कि यह पद्य और गद्य दोनों में ही हो सकता है, छन्दोबद्ध भाषा काव्य के लिए अधिक उपयुक्त होने पर भी अनिवार्य नहीं है। काव्य के लिए अवश्य पद्य और गद्य दोनों की भाषा को अलंकृत होना चाहिए।

---

१. पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स पृ० ३२३।

२. सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्साहकेन... शब्दार्थ गान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां मारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तं विपुलकीर्तिना... स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्यस्व... यमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्र-कन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेणरुद्रदाम्ना ।।—आर्केआलाजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया, भाग २, पृ० १२८।

साहित्य शास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले गुणों में से कुछ का उल्लेख उपर्युक्त शिलालेखों में भी है। इसमें आए हुए स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार गुण 'काव्यादर्श' के प्रसाद, माधुर्य, कान्ति और उदारता नामक गुण हैं। इस शिलालेख की भाषा को भी देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके लेखक ने काव्य के विषय में अपने समय तक प्रतिष्ठित किसी आदर्श या सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर उसकी रचना की है, एवं उस आदर्श काव्य के स्तर पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह शिलालेख उस समय के अच्छे गिने जाने वाले काव्य का कम से कम एक सामान्य स्वरूप तो उपस्थित करता ही है। काव्य शैली का यही स्वरूप ईसवी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों में लिखे गए संस्कृत तथा प्राकृत दोनों के शिलालेखों में प्राप्त होता है। कलिंग के राजा खारवेल के प्राकृत में लिखे गए हाथीगुम्फ के शिलालेख में भी (जिसका समय प्रायः ईसवी पूर्व की द्वितीय शताब्दी माना जाता है, यद्यपि डा० डी० सी० सरकार इसे ईसवी प्रथम शताब्दी का मानते हैं) रुद्रदामन् के शिलालेख की सारी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। उसमें भी उसी प्रकार की आनुप्रासिक अलंकृत भाषा और लंबे-लंबे समास मिलते हैं। जब हम दण्डी के 'काव्यादर्श' में गद्य काव्य के विषय में **ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्** सिद्धान्त उपस्थित करते हुए देखते हैं, तो बलात् कहना पड़ता है कि उन्होंने अपना यह सिद्धान्त अवश्य ही उन-उन प्राचीन गद्य-काव्यों पर आधारित किया होगा, जो अब अप्राप्य हैं और जिनके अनुकरण पर ईसवी सन् की प्राथमिक शताब्दियों के ये शिलालेख लिखे गए थे। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में हरिषेण द्वारा लिखे गए शिलालेख की भाषा तो बाण की 'कादम्बरी' के टक्कर की है। इसका समय चतुर्थ शताब्दी ईसवी है। उसमें यह भी कहा गया है कि 'सम्राट् समुद्रगुप्त ने अनेक ऐसे काव्यों की रचना की थी जिनसे विद्वानों को भी काव्य की प्रेरणा मिली। इसी से उन्हें कविराज की उपाधि प्राप्त थी।'[1]

साहित्य शास्त्र की प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी हैं। द्वितीय शताब्दी ईसवी के अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' काव्य में रसान्तर (सर्ग ३, श्लोक १), हाव-भाव (सर्ग ४, श्लोक १२) इत्यादि साहित्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों, सर्गान्त में विभिन्न छन्दों, एवं 'सौन्दरनन्द' में अनुप्रास, यमक (सर्ग १०, श्लोक १७) तथा 'बुद्धचरित' में यथासंख्य आदि अलंकारों (सर्ग ५, श्लोक ४२; सर्ग ९, श्लोक १६) का प्रयोग देख कर अनुमान होता है कि जिस समय यह काव्य लिखा गया होगा, उस समय तक साहित्य शास्त्र ने कम से कम एक स्थूल रूप अवश्य धारण कर लिया होगा। भरत का 'नाट्यशास्त्र' अपने वर्तमान रूप में ईसवी तृतीय शतक के आसपास का माना जाता है। इसमें रस-सिद्धान्त का तो पूर्ण विस्तार के साथ निरूपण है ही, अलंकारों तथा गुणों का भी विवेचन है। सुबन्धु का 'वासवदत्ता' तो अपने प्रत्यक्षर-श्लेष के लिए प्रसिद्ध ही है। उसमें वक्रोक्ति और काव्य की आत्मा का भी उल्लेख आया है। अच्छे कवि के काव्य को सुबन्धु ने 'तु', 'हि' इत्यादि प्रायः भरती के शब्दों से शून्य बताया है।[2] 'वासवदत्ता' में उत्प्रेक्षा, आक्षेप, मालादीपक इत्यादि अलंकारों

---

१. **विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य. . .।**

२. **सत्कविकाव्यबन्धइवानवबन्धतुहिनिपातः।**

का भी प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ईसवी के अन्त तक साहित्य शास्त्र के विषयों का पर्याप्त विकास हो चुका था। सातवीं शताब्दी के भामह और दण्डी के 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यादर्श' जैसे साहित्य शास्त्र के ग्रन्थ भी इसी बात के द्योतक हैं, क्योंकि यदि इसके पूर्व साहित्य-शास्त्र की कोई परम्परा न होती तो इस विषय पर पहली बार ऐसे उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे ही नहीं जा सकते थे। और फिर, साहित्य शास्त्र के इन प्रणेताओं एवं उनके टीकाकारों ने भी पूर्ववर्ती परम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है। मेधावि रुद्र निश्चित रूप से दण्डी तथा भामह के पूर्ववर्ती थे। भामह के 'काव्यालंकार'[1] में मेधावि का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

आचार्य भरत मुनि तथा उनके सिद्धान्त

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि यद्यपि साहित्य शास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु 'नाट्यशास्त्र' को छोड़ कर अन्य कोई ग्रन्थ ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता। अतएव 'नाट्यशास्त्र' को ही इस परम्परा का सर्व प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ मानना पड़ता है। यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' भी मुख्यतः नाटक के विभिन्न विषयों पर लिखा गया ग्रन्थ है, तथापि उसमें अलंकार एवं गुण तथा विशेष रूप से रस का विवेचन होने के कारण उसे अलंकार-शास्त्र का ग्रन्थ मानने में कोई अनौचित्य नहीं जान पड़ता। यों तो पाणिनि ने शिलालि और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में किया है, परन्तु उनके उपलब्ध न होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही नाट्य तथा अलंकार शास्त्र का उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कह सकते हैं, क्योंकि इसमें नाटक के विषयों की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकार शास्त्र, संगीत शास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि के मूल सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन मिलता है। अलंकार का विवेचन आनुषंगिक रूप से ६, ७ तथा १६ अध्यायों में हुआ है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ के अनुसार नन्दिकेश्वर ने भरत मुनि को नाट्यशास्त्र की दीक्षा दी थी। इसी प्रकार कश्यप मुनि भी भरत मुनि के पूर्ववर्ती माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने 'अभिनव भारती'[2] (नाट्यशास्त्र की टीका) में रागों पर कश्यप मुनि का मत उद्धृत किया है। 'अग्निपुराण'[3] में भी कश्यप मुनि छन्दःशास्त्र के प्राथमिक आचार्य के रूप में उद्धृत किए गए हैं। 'काव्यादर्श' की टीका 'हृदयंगमा'[4] में भी कश्यप तथा वररुचि काव्यादर्शकार दण्डी के पूर्ववर्ती

---

१. यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयविदुः। संख्यानमितिमेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्। —भामह, काव्यादर्श २,८८।

२. द्रष्टव्य, अभिनवभारती द्वितीय भाग की भूमिका, पृ० १०: (गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज)।

३. द्रष्टव्य, अध्याय ३३६, श्लोक २२।

४. पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणांलक्षणशास्त्राणिसंहृत्यपर्यालोक्य (१,२) तथा पूर्वसूरिभिः काश्यपवररुचिप्रभृतिभिः। (३, ७)।

आलंकारिक माने गए हैं। 'काव्यादर्श' की 'श्रुतानुपालिनी' नामक टीका में भी काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य कहे गए हैं। किन्तु इन आचार्यों के ग्रन्थों का वर्तमान समय में कहीं पता नहीं चलता।

कुछ अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्य 'अग्निपुराण' को साहित्य शास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार महेश्वर ने अपने 'काव्यप्रकाशादर्श' में लिखा है कि भरत मुनि ने सुकुमार राजकुमारों को परम आस्वाद्य काव्य में प्रवृत्त कर उसके द्वारा अन्य शास्त्रों में प्रवृत्त करने के लिए काव्य-रसास्वाद के कारणस्वरूप अलंकार शास्त्र को 'अग्निपुराण' से ले कर संक्षेप में कारिकाओं में लिखा।[1] इसी प्रकार विद्याभूषण की 'साहित्यकौमुदी' की 'कृष्णानन्दिनी' टीका में भी 'अग्निपुराण' को भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' का उद्गम माना गया है।[2] नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पौर्वापर्य का प्रश्न उठा कर उभय पक्ष के समक्ष तर्कों को देते हुए अन्त में लिखते हैं कि 'अग्निपुराण' कम से कम सप्तम शताब्दी के बाद का है और उसका अलंकार प्रकरण ९०० ईसवी के आस-पास या उसके भी कुछ बाद सम्भवतः १०५० ई० के बाद संगृहीत हुआ।[3] इस मत के समर्थन में आगे भी वे लिखते हैं कि एक बड़े महत्त्व की बात यह है कि अलंकार शास्त्र के किसी प्राचीन आचार्य ने 'अग्निपुराण' के उद्धरण नहीं दिए हैं। मम्मट ने 'विष्णुपुराण' से तो उद्धरण दिए हैं, किन्तु 'अग्निपुराण' का कहीं उल्लेख भी नहीं किया। 'अग्निपुराण' का सबसे पहले उल्लेख करने वाले प्रसिद्ध आलंकारिक १४ वीं शताब्दी के विश्वनाथ हैं, यद्यपि धर्मशास्त्र विषयक 'अपरार्कटीका' तथा बल्लालसेनकृत 'अद्भुतसागर' (११६८ ई०) में 'अग्निपुराण' को धर्म के विषयों में प्रमाण माना गया है। इसके विपरीत ध्वन्यालोककार ने 'नाट्यशास्त्र' का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया, यहाँ तक कि भामह और दण्डी भी अलंकारादि विषयों पर प्रमाण रूप में उसका उल्लेख करते प्रतीत होते हैं। अतः 'अग्निपुराण' अलंकार शास्त्र का प्राथमिक मौलिक ग्रन्थ कदापि नहीं माना जा सकता। मध्यकालीन लेखकों ने जो इसे भरतकृत नाट्यशास्त्र का मूल उद्गम माना है, वह केवल पुराण मात्र के परम्परया व्यासकृत माने जाने तथा उसके प्रति श्रद्धा भाव होने के कारण ही।

'अभिनवभारती' नामक टीका के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' ३६ अध्यायों का ग्रन्थ है।[4] इसमें ५००० से कुछ अधिक पद्य हैं जिनमें कुछ आर्या या उपजाति छन्द में हैं। शेष सभी श्लोक या अनुष्टुप् छन्द में हैं। बहुसंख्यक विद्वान् इस मत के हैं कि 'नाट्यशास्त्र' एक काल की रचना नहीं प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का फल है। वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' में जो गद्य भाग पाया जाता है, वह सूत्र एवं भाष्य के ढंग का है। इसके

---

१. सुकुमारराजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य, काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

२. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्य प्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबंध।

३. हिस्ट्री आव् संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ९।

४. षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्, —प्रस्तावना, श्लोक २।

अतिरिक्त उसमें ५००० से अधिक ही पद्य हैं, जिनमें कुछ श्लोक तथा आर्याएँ, जिनकी संख्या ७३० से अधिक होगी, आनुवंश्य के नाम से रक्खी गई हैं। अनेक आर्याएँ 'अत्रसूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः' शब्दों के साथ दी गई हैं और लगभग १०० श्लोक तथा आर्याएँ केवल 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' या 'अत्रार्ये भवतः' शब्दों के साथ रक्खी गई हैं। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार सूत्र-भाष्यात्मक गद्य भाग ही ग्रन्थ का मौलिक तथा प्राचीनतम रूप है। पद्यात्मक भाग में आनुवंश्यों के अतिरिक्त आए हुए श्लोक तथा आर्याएँ, जो कारिकाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं, मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए लिखी गईं तथा आनुवंश्य भरत मुनि से ही गुर-शिष्य-परम्परा से चले आते हुए प्राचीन पद्य हैं, जिन्हें उन्होंने अपने सूत्रों की पुष्टि में उद्धृत किया। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में भरत का 'तौर्यत्रिक सूत्रकार'[1] पद से उल्लेख किया है। अभिनव भी 'नाट्यशास्त्र' को 'भरतसूत्र' ही कहते हैं। इससे 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप सूत्र-भाष्यात्मक ही ज्ञात होता है। ऐसी अवस्था में वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' का पद्य भाग आपाततः बाद का ही लिखा गया जान पड़ता है। परन्तु डा० काणे का कथन है कि यह मानना ठीक नहीं कि कोई सूत्र ग्रन्थ सब का सब गद्य ही में हो। 'ऐतरेय' एवं 'शतपथ' ब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी पद्य हैं, तथा आपस्तम्ब, बौधायन और वसिष्ठ के धर्म सूत्रों एवं गृह्य सूत्रों में पद्य हैं। मध्यकाल के 'काव्यप्रकाश' जैसे ग्रन्थों की कारिकाएँ सूत्र कही जाती थीं। अतएव यह सर्वथा सम्भव है कि 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप गद्य और पद्य दोनों में था।[2] आनुवंश्य[3] श्लोक तो निश्चित ही भरत मुनि के बहुत पूर्व से ही गुर-शिष्य परस्परा में प्रचलित होने के कारण उनके लिखे हुए नहीं कहे जा सकते। परन्तु 'अत्र सूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः' शब्दों द्वारा प्रस्तुत की गई कारिकाएँ भरत मुनि ही के द्वारा प्रणीत जान पड़ती हैं, क्योंकि इन शब्दों का अर्थ यह है कि 'प्रस्तुत आर्याएँ (कारिकाएँ) पिछले सूत्र पर उसी का अर्थ स्पष्ट करने के लिए लिखी गई हैं।' रहीं वे कारिकाएँ जो 'अत्र आर्याः' या 'अत्रश्लोकाः' शब्दों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। इनके विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। आचार्य अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' के आधार पर वे भी आनुवंश्य श्लोकों की भाँति रस तथा अन्य सम्बद्ध विषयों पर पूर्व आचार्यों द्वारा ही प्रणीत जान पड़ती हैं, जिन्हें आवश्यकतानुसार भरत मुनि ने अपने ग्रन्थों में सन्निविष्ट कर लिया।[4] इससे स्पष्ट है कि अभिनव के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' में ऐसी कारिकाएँ भी हैं जो उनकी लिखी हुई नहीं हैं। सच तो यह है कि उपर्युक्त प्रकार की कारिकाओं के अतिरिक्त जो बहुत सा पद्य भाग है, उसके विषय में सभी प्रतियों में बड़ा वैषम्य है। एक नहीं, कई सौ

---

१. द्रष्टव्य, उत्तररामचरित, अंक ४।

२. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १६।

३. द्रष्टव्य, अभिनवभारती, अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः, ५, ३५-३६ के पूर्व।

४. द्रष्टव्य, अभिनवभारती—ता एताह्यार्याः एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाययथास्थानं निवेशिताः।

श्लोक ऐसे हैं जो विभिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी अवस्था में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' का कितना अंश मौलिक है। साथ ही, यह भी कहना कठिन है कि 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल क्या है। 'मालविकाग्निमित्र' के आरम्भ में कालिदास ने भरत के साथ मुनि का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप जो भरतकृत होगा, अवश्य ही कालिदास से कई शताब्दी पूर्व का होगा। कालिदास के 'कुमार-सम्भव' के सातवें सर्ग के दो श्लोकों में 'नाट्यशास्त्र' के छठें, इक्कीसवें तथा बाईसवें अध्यायों के कुछ श्लोकों का उद्धरण है। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' का अधिकांश कालिदास के पूर्व का है। डा० काणे का कथन है कि कालिदास का समय बहुमत से पाँचवी शताब्दी ईसवी का पूर्वार्ध है, अतः उपर्युक्त दोनों समय क्रमशः २०० ई० पू० तथा २०० या ३०० ई० होंगे। परंतु कालिदास का समय निश्चित न होने के कारण निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। यदि कालिदास का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी का मध्य हो तो 'नाट्यशास्त्र' का समय ई० पू० तृतीय या चतुर्थ शताब्दी भी हो सकता है।

मेधाविरुद्र या मेधावी

रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु[1] ने दण्डी और भामह के अलंकार शास्त्रों के साथ मेधाविरुद्र नामक आचार्य के अलंकार शास्त्र का भी उल्लेख किया है। भामह ने भी अपने 'काव्यालंकार' में उपमा के सात दोषों के प्रसंग में मेधावी नामक अलंकार शास्त्र के एक आचार्य का उल्लेख किया है और अन्यत्र भी कहा है कि आलंकारिकों के मत में यथासंख्य और उत्प्रेक्षा दो पृथक् अलंकार हैं।[2] यथासंख्य को मेधावी ने 'संख्यान' नाम दिया है, परन्तु उत्प्रेक्षा का कहीं उल्लेख नहीं किया। मेधावी मेधाविरुद्र का ही संक्षिप्त नाम जान पड़ता है। मेधावी और रुद्र दो पृथक् आचार्य नहीं प्रतीत होते, क्योंकि किसी भी ग्रन्थकार ने रुद्रकृत किसी अलंकार शास्त्र का उल्लेख नहीं किया। रुद्रभट्ट का 'श्रृंगारतिलक' नामक एक ग्रन्थ अवश्य है, पर वह अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है। यथासंख्य अलंकार के 'संख्यान' नाम होने का उल्लेख दण्डी ने भी 'काव्यादर्श'[3] में किया है। इससे ज्ञात होता है कि भामह के पूर्व अलंकार शास्त्र के प्रणेता मेधावी नामक भी कोई आचार्य हुए थे। परन्तु उनका ग्रन्थ प्राप्त न होने के कारण उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

भामह और दण्डी के पूर्ववर्ती अलंकार साहित्य में 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' की भी गणना

---

१. ननु दण्डमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि।

२. यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः। संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्॥
—भामह, काव्यालंकार ७२-८८।

३. यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।— काव्यादर्श, २, २७३।

करनी चाहिए। इस पुराण में अनेक साहित्यिक विषयों का वर्णन है, जिनमें तृतीय काण्ड में नाट्य और अलंकार शास्त्रों पर महत्त्वपूर्ण बातें लिखी गई हैं। इस काण्ड के १८,१९,३२ और ३६ अध्यायों में क्रमशः नाट्यशास्त्र के गीत, आतोद्य, मुद्राहस्त तथा प्रत्यंग-विभाग के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त लगभग १००० श्लोकों में नाट्य और अलंकार शास्त्रों के विषय वर्णित हैं। १४वें अध्याय के १५ श्लोकों में १७ अलंकारों का विवेचन है, १५ वें में काव्य का स्वरूप तथा शास्त्र एवं इतिहास से उसका भेद बताया गया है। इसमें कहा गया है कि काव्य में उपदेश नहीं होना चाहिए एवं उसे रसों से परिपूर्ण होना चाहिए। १६वें में प्रहेलिकाओं के लक्षण और भेद तथा १७ वें में १२ प्रकार के रूपकों का उल्लेख है। भरत ने केवल दस प्रकार के रूपक माने हैं। इस अध्याय के १२वें और १३वें श्लोकों में कहा गया है कि नायक की मृत्यु, राज्य-नाश, नगर का अवरोध, युद्ध इत्यादि रंगमंच पर नहीं दिखाया जाना चाहिए, अपितु प्रवेशकों द्वारा उसकी सूचना दर्शक-मंडली को देनी चाहिए। २०वें अध्याय में नाटक को 'परस्यानुकृतिः' अर्थात् अनुकरण तथा 'नृत्त' को उसका संस्कार करने वाला, उसकी शोभा बढ़ाने वाला कहा है।[1] चार प्रकार के अभिनयों का भी वर्णन इसी अध्याय में है। ३०वें अध्याय में नव रसों का तथा ३१वें में ४९ भावों का वर्णन है। इस प्रकार इस पुराण का तृतीय काण्ड नाट्य एवं अलंकार के वर्णन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस वर्णन में भरत के 'नाट्यशास्त्र' का अनुसरण किया गया है, यद्यपि रसों और रूपकों की संख्या में भरत से मतभेद है। जहाँ भरत ने आठ रस एवं दस रूपक माने हैं, वहाँ 'विष्णुधर्मोत्तर' में ९ रस तथा १२ रूपक कहे गए हैं। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भरत के 'नाट्यशास्त्र' के बहुत बाद का है। सन् ११६९ ई० में लिखित बल्लालसेनकृत 'दानसागर' की प्रस्तावना के १४ वें श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि यह ग्रन्थ अपने वर्ण्य विषयों के लिए विष्णु धर्मोत्तर तथा अन्य पुराणों पर आश्रित है। १०३० ई० में भारत के विषय में लिखने वाले अलबेरूनी ने इस पुराण से कई श्लोक उद्धृत किए हैं जिससे ज्ञात होता है कि १००० ई० तक यह पुराण प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाने लगा था। भरत ने केवल ४ अलंकार दिए हैं। भामह के अनुसार उनके कुछ पूर्ववर्तियों ने ५ तथा उद्भट के अनुसार उनके कुछ पूर्ववर्तियों ने ८ अलंकार माने हैं। भट्टि, दण्डी, भामह, उद्भट तथा वामन ने ३० से ४० तक अलंकार गिनाए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि १८ अलंकारों का विवेचन करने वाला यह पुराण भरत के बाद तथा भट्टि, भामह और दण्डी के पूर्व किसी समय लिखा गया होगा। इस प्रकार ५०० ई० के आसपास इसका समय जान पड़ता है।

भामह

'काव्यालंकार' के रचयिता भामह बहुमत से अलंकार परम्परा के सबसे प्राचीन आचार्य

---

१. परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृप।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम्॥
—विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३। २०। १॥

माने जाते हैं। परन्तु डा० काणे इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने बहुमत का आदर करते हुए भामह तथा उनके ग्रन्थ का विवरण दण्डी के पूर्व अवश्य दिया है, परन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि, मैं इस बहुमत से सहमत हूँ कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती थे। मैं अब भी मानता हूँ कि यह बहुमत ठीक नहीं है'।[१] यह बहुमत प्रो० नोबेल[२], पं० बटुकनाथ शर्मा[३], डा० शंकरन्[४], डा० जेकोबी, प्रो० रंगाचार्य[५], गणपति शास्त्री[६], डा० एस० के० डे[७] इत्यादि का है। उसके विपरीत प्रो० एम० टी० नरसिंह ऐयंगर[८], प्रो० कीथ[९], तथा डा० काणे दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानते हैं। प्रो० के० बी० पाठक पहले तो भामह को दण्डी से पूर्व का मानते थे, किन्तु बाद में उन्होंने अपना विचार बदल दिया और दण्डी को ही पूर्ववर्ती मानने लगे।[१०] इन दोनों पक्षों के तर्कों को प्रस्तुत करना यहाँ अनावश्यक है। वस्तुतः जैसा कि डा० काणे ने स्वीकार किया है, भामह और दण्डी में किसी का पूर्ववर्तित्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त एवं निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में निश्चयपूर्वक इतना ही कह सकते हैं कि दोनों प्रायः समसमायिक थे और उनका काल ६०० से ७५० ई० के बीच माना जा सकता है।

भामह अलंकार सम्प्रदाय के ज्ञात आचार्यों में सबसे प्राचीन हैं। उनका 'काव्यालंकार' ६ परिच्छेदों में विभक्त है। पहले में काव्य के लक्षण, विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके गद्य तथा पद्य, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इत्यादि भेद, दूसरे में ओज, प्रसाद तथा माधुर्य तीन गुण तथा दूसरे से ही आरम्भ करके तीसरे के अन्त तक अलंकार, चौथे में ११ दोष तथा उनमें १० का विवेचन तथा उदाहरण, पाँचवें में सदोष प्रतिज्ञा, हेतु या दृष्टान्त से उत्पन्न होने वाला ग्यारहवाँ दोष एवं छठे में सौशब्द्य (व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि) के लिए कुछ व्यावहारिक संकेत दिए गए हैं। इस ग्रन्थ पर अभी तक कोई टीका प्राप्त नहीं हुई। एक टीका ग्रन्थ उद्भटकृत 'भामह विवरण' का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह अभी तक दुष्प्राप्य ही है।

भामह के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकार ने अपने को रक्रिलगोमिन् का पुत्र बताया है। इससे प्रो० पाठक तथा प्रो० नरसिंह ऐयंगर

---

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ७५।
२. फाउण्डेशन्स ऑव इण्डियन पोइट्री।
३. दे० भामहकृत काव्यालंकार की प्रस्तावना।
४. सम एस्पेक्ट्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिजम इन संस्कृत, पृ० २५।
५. दे० 'काव्यादर्श' की भूमिका।
६. दे० स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना।
७. संस्कृत पोइटिक्स।
८. जर्नल ऑव दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन, १९७५, पृ० ५३६।
९. प्रो० कीथ : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३७५-३७६।
१०. जर्नल ऑव दी बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९२३।

आदि का अनुमान है कि भामह बौद्ध रहे होंगे, क्योंकि रक्रिल और गोमिन् बौद्धों के ही नाम से सादृश्य रखते हैं, परन्तु डा० काणे का मत इसके विपरीत है। उनका कथन है कि ग्रन्थकार के धर्म का निश्चय उसके ग्रन्थ के विषय से करना चाहिए, नाम से नहीं, क्योंकि सहस्र वर्ष तक साथ रहने के बाद यदि ब्राह्मण धर्मावलम्बी भी कोई पुरुष अपना नाम बौद्धों का रखता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, विशेष कर जब बुद्ध भी ११ वीं शताब्दी के पूर्व ही विष्णु के अवतार मान लिए गए थे ! जहाँ तक विषय की बात है, 'काव्यालंकार' में न तो ऐसी कोई बात है जो केवल बौद्धों की हो, और न ही उसमें बुद्ध के जीवन की घटनाओं या विशुद्ध बौद्ध आख्यानों का ही कोई उल्लेख है। इसके अतिरिक्त बौद्धों के अपोहवाद की आलोचना करने वाले भामह के तीन श्लोकों को शान्तिरक्षित ने अपने 'तत्त्वसंग्रह' में उद्धृत किया है और उनके टीकाकार कमलशील ने निश्चित रूप से उन्हें भामह का बता कर उनकी कटु आलोचना की है। स्वयं शान्तिरक्षित ने अपोहवाद का खण्डन करने वालों—भामह, कुमारशील इत्यादि—को 'कुदृष्टयः' (कुत्सित दृष्टि वाले) तथा 'दुरात्मन' की उपाधि से भूषित किया है। इससे भामह बौद्ध तो कदापि नहीं हो सकते। शान्तिरक्षित का समय ७०५ से ७६२ ई० है। अतः भामह अवश्य इसके पूर्व सातवीं शताब्दी में हुए होंगे।

दण्डी

दण्डी का 'काव्यादर्श' तीन परिच्छेदों में विभक्त है। कुछ संस्करणों में तीसरे के दो भाग कर दिए गए हैं। पहले में काव्य के लक्षण, उसके गद्य, पद्य तथा मिश्र रूप से तीन भेद, फिर गद्य के कथा और आख्यायिका रूप से दो भेद[1], वैदर्भ तथा गौड नाम से दो मार्ग (शैली), दस गुण, तथा काव्य के तीन हेतु—प्रतिभा, श्रुति तथा अभियोग दिए गए हैं। दूसरे में ३५ अलंकारों का विवेचन है। तीसरे में यमकालंकार का विस्तृत विवेचन तथा चौथे में १० दोषों का सोदाहरण विवेचन है। दण्डी ने गुणों तथा अलंकारों—दोनों का ही इतना विस्तृत विवेचन किया है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय का समर्थक मानना ठीक नहीं जान पड़ता। 'काव्यादर्श' की शैली सुन्दर और सुबोध है। इसी कारण प्राचीन आचार्यों में दण्डी और उनके ग्रन्थ 'काव्यादर्श' का औरों की अपेक्षा अधिक प्रचार हुआ। प्राचीन आचार्यों में किसी के ग्रन्थ की इतनी टीकाएँ नहीं मिलतीं जितनी दण्डी के 'काव्यादर्श' की।

दण्डी के समय के विषय में मतभेद है। राष्ट्रकूट वंश के नृपतुंग (अमोघवर्ष) ने 'कविराजमार्ग' में दण्डी के 'काव्यादर्श' से अलंकार का विवेचन करने वाले ६ श्लोक ज्यों के त्यों लिए हैं तथा 'कविराजमार्ग' के तृतीय परिच्छेद के बहुसंख्यक श्लोक 'काव्यादर्श' के ही अनुवाद या रूपान्तर कहे जा सकते हैं। नृपतुंग ७३७ शक संवत् (८१५ ई०) में गद्दी पर बैठे थे। इसलिए डा० काणे के अनुसार दण्डी का समय ७०० ई० के बाद नहीं हो सकता, क्योंकि 'काव्यादर्श' को

---

१. दण्डी के मत से यह भेद अवास्तविक है।

प्रसिद्ध होने तथा दूसरी भाषा (कन्नड़) में अनूदित होने के लिए कम से कम इतना समय तो चाहिए ही।

उद्भट

दण्डी और भामह के बाद भामह के 'काव्यालंकार' पर 'भामह-विवरण' लिखने वाले आचार्य उद्भट आते हैं। ये भामह की भाँति अलंकार सम्प्रदाय के पोषक हैं। इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' अथवा केवल 'अलंकारसंग्रह' के नाम से प्रसिद्ध है। डा० काणे का कथन है कि 'भामह-विवरण' विस्तृत ग्रन्थ प्रतीत होता है और यह ग्रन्थ, जैसा इसके नाम से सूचित होता है, 'भामह-विवरण' का सार या संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसमें ६ वर्ग हैं, जिनमें ७९ कारिकाओं में कुल ४१ अलंकारों का विवेचन है। उदाहरण उद्भट के ही 'कुमारसम्भव' नामक काव्य से दिए गए हैं। इन अलंकारों का क्रम प्रायः वही है जो भामह के 'काव्यालंकार' में प्राप्त होता है। उद्भट ने भामह द्वारा दिए गए ३९ अलंकारों में यमक, उत्प्रेक्षावयव तथा उपमा-रूपक को छोड़ दिया है और पुनरुक्तिवदाभास,संकर,काव्यलिंग तथा दृष्टान्त, ये नये अलंकार जोड़ दिए हैं। उद्भट ने अलंकारों के निरूपण में सामान्य ढंग से अपने पूर्ववर्ती भामह का ही अनुसरण किया है। उपमा और उसके भेदों का विवेचन उद्भट ने भामह के ही आधार पर किया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उद्भट ने सर्वथा भामह का अनुकरण मात्र किया है। भामह ने दो ही प्रकार के अनुप्रास तथा रूपक बताए हैं, पर उद्भट ने तीन प्रकार के अनुप्रास और चार प्रकार के रूपक दिखाए हैं। भामह ने परुषा, ग्राम्या और उपनागरिका वृत्तियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु उद्भट ने इनका विवेचन किया है। परवर्ती सभी महान् आचार्यों ने बड़े सम्मान से उद्भट को उद्धृत किया है।[1] सत्य तो यह है कि परवर्ती आचार्यों ने उद्भट को भामह से भी बढ़ कर माना है। उन पर उद्भट का प्रभाव भामह से भी बढ़ कर परिलक्षित होता है। उनकी प्रसिद्धि के कारण ही शायद भामह का ग्रन्थ लुप्तप्राय हो गया था और कुछ वर्षों पूर्व तक दुष्प्राप्य था।

उद्भट को अलंकार शास्त्र के कई नए सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का श्रेय प्राप्त है। अर्थ के भिन्न होने से शब्द भी भिन्न हो जाता है, यह मान्यता उद्भट की है, जैसे, उद्भट के मत से उलूक तथा इन्द्र इन दो भिन्न अर्थों का वाचक एक कौशिक शब्द नहीं, अपितु दो भिन्न-भिन्न कौशिक

---

१. क. तत्रभवद्भिरुद्भटादिभिः ——ध्वन्यालोक, पृ० १०८।

ख. इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः——अलंकारसर्वस्व, पृ० ३।

ग. इहचिरन्तनैरलंकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दार्थधर्माएवालंकाराः प्रतिपादिताः नाभिधाधर्मः।——व्यक्तिविवेक टीका।

घ. भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलंकार इत्युक्तं...उद्भट-मतेहिभावालंकार एव प्रेय इत्युक्तम्।——लोचन।

शब्द होंगे। उद्भट का दूसरा बड़ा विचित्र मत यह है कि शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष रूप से श्लेष दो प्रकार का होता है और दोनों ही अर्थालंकार होते हैं। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के नवम उल्लास में इसका खण्डन करते हुए इस विचित्रता की ओर संकेत किया है।[1] तीसरा विशिष्ट मत इसी श्लेष को ले कर इस प्रकार का है कि जहाँ कहीं श्लेष अन्य अलंकारों के साथ होगा, वहाँ वही प्रधान होगा, एवं अन्य अलंकारों की प्रतीति श्लेष से अभिभूत होने के कारण गौण होगी। मम्मट ने नवम उल्लास में इसका भी खण्डन बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से किया है। 'लोचन' से ज्ञात होता है कि उद्भट गुणों को संघटन (रीति) का धर्म मानते थे[2], रस का नहीं। राजानक रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व[3]' से ज्ञात होता है कि उद्भट अलंकार और गुण दोनों को समान मानते थे। यह समानता शायद दोनों की समन्वय संबंध से काव्य में स्थित होने के कारण थी, जैसा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा हेमचन्द्र[4] के 'विवेक' से ज्ञात होता है। उद्भट की एक और बड़ी महत्त्व-पूर्ण मान्यता यह थी कि शृंगार आदि रसों की अभिव्यक्ति जिन्हें उद्भट ने काव्य का अलंकार माना है और रसवत् संज्ञा दी है अपने वाचक शृंगार, वीर,करुण इत्यादि शब्दों द्वारा तथा स्थायी भाव, विभाव, संचारी भाव एवं अभिनय के द्वारा होती है।[5] परन्तु मम्मट ने स्पष्ट कहा है कि शृङ्गार आदि रसों की अभिव्यक्ति शृंगार, करुण आदि शब्दों के कथन या प्रयोग भर से नहीं होती और सहृदयों के हृदय को ही अपने इस कथन में प्रमाण माना है। उलटे, वे इसे दोष मानते हैं।

उद्भट का समय अपेक्षाकृत सरलता से निश्चय किया जा सकता है। भामह के 'काव्या-लंकार' की 'भामह-विवरण' टीका लिखने से उनका समय ७५० ई० के पूर्व नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं भामह का समय ७०० ई० के कुछ बाद का सिद्ध है। नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ध्वन्या-लोककार द्वारा उद्धृत होने से उनका समय ८५० ई० के बाद भी नहीं हो सकता। काश्मीरी परम्परा के अलंकार शास्त्रज्ञ उद्भट को काश्मीर नृपति जयापीड (७७९-८१३ ई०) के सभापति उद्भट से अभिन्न मानते हैं। इस प्रकार इनका समय आठवीं का अन्तिम पाद ठहरता है, जो अन्तःसाक्ष्य के बल पर निश्चित किए गए काल (७५० ई० से ८५० ई०) के अन्तर्गत होने से ठीक ही लगता है।

---

१. शब्दश्लेष इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोयंऽनयः ?,

२. संघटनायाः धर्मो गुणा इति भट्टोद्भटादयः—लोचन।

३. उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।—पृ० ५।

४. एतावता 'शौर्यादिसदृशा गुणा केयूरादितुल्या अलंकारा' इति विवेकमुक्त्वा संयोग-समवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेदः इह, तु भयेषां समवायेन स्थितिरित्याभिधाय 'तस्माद्गड्डरिका-प्रवाहेण गुणालंकारभेदः' इति भामहविवरणे यद्भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्।—विवेक, पृ० १७।

५. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसादयम्। स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्। ४—४४।

उद्‌भट के सबसे प्राचीन तथा प्रसिद्ध टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज हैं। यह टीका 'लघुवृत्ति' नाम की है। रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' टीका के रचयिता जयद्रथ ने उद्‌भट के एक और टीकाकार जयानक तिलक का उल्लेख किया है और यह भी कहा है कि 'अलंकारसर्वस्व-कार' ने प्रायः तिलक के ही मत का अनुसरण किया है। 'विमर्शिनी' के उद्धरणों से पता चलता है कि इस टीका का नाम 'उद्‌भट-विवेक' या 'उद्‌भट-विचार' था। प्रतिहारेन्दुराज की टीका संक्षिप्त, स्पष्ट एवं पाण्डित्यपूर्ण है। उन्होंने अपने को मुकुल का शिष्य बताया है। मुकुल का समय ९०० —९२५ ई० निश्चित होने से प्रतिहारेन्दुराज का समय ९५० ई० के आस-पास जान पड़ता है।

वामन

काश्मीरी परम्परा के अनुसार 'काव्यालंकारसूत्र' के रचयिता आचार्य वामन भी उद्‌भट के आश्रयदाता जयापीड के दरबार में थे। इस प्रकार इनका भी वही समय होना चाहिए जो उद्‌भट का बताया गया है। आचार्य वामन के ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण। 'मंगलश्लोक'[1] में वामन ने स्वयं कहा है कि यह वृत्ति उनकी अपनी ही है। इसको उन्होंने कविप्रिया कहा है। प्रतिहारेन्दुराज जैसे बहुत पूर्व के टीकाकार ने भी न केवल सूत्रों को, अपितु वृत्ति को भी वामन के नाम से ही उद्‌धृत किया है। इसी प्रकार लोचनकार ने भी आक्षेप का वामनकृत लक्षण दे कर वृत्ति में दिए गए दो उदाहरण उद्धृत किए हैं। इससे वृत्ति के वामनरचित होने की बात और पुष्ट होती है। इससे पता चलता है कि अपने प्रतिस्पर्धी उद्‌भट की ही भाँति वामन भी ख़ूब प्रसिद्ध हुए और डेढ़-दो शताब्दी बाद राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज एवं अभिनव जैसे आचार्यों ने उन्हें आप्त मान कर उनके ग्रन्थ को ख़ूब उद्धृत किया।

इस ग्रन्थ का उदाहरण भाग प्रायः अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों से लिया गया है, यद्यपि अनेक श्लोक वामन के स्वरचित भी हैं, जैसा उन्होंने स्वयं ग्रंथ के चतुर्थ अधिकरण में[2] स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ में कुल ३१९ सूत्र हैं जो पाँच अधिकरणों एवं १२ अध्यायों में बँटे हुए हैं। शारीर नामक प्रथम अधिकरण में तीन अध्याय, दोष-दर्शन नामक द्वितीय अधिकरण में दो अध्याय, गुण-विवेचन नामक तृतीय अधिकरण में दो अध्याय, आलंकारिक नाम के चतुर्थ अधिकरण में दो अध्याय तथा प्रायोगिक नामक पंचम अधिकरण में दो अध्याय हैं। इस प्रकार उद्‌भट का 'काव्या-लंकारसारसंग्रह' जहाँ केवल अलंकारपरक होने से एकांगी है, वहाँ वामन का ग्रन्थ गुण, रीति, दोष, अलंकार इत्यादि सभी काव्यांगों का पृथक्-पृथक् विवेचन होने के कारण एकांगी नहीं कहा जा सकता, भलेही सर्वांगीण न हो। इस ग्रन्थ की टीकाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध गोपेन्द्र तिप्पभूपाल की 'कामधेनु' है। इसके अतिरिक्त महेश्वर तथा सहदेव की भी टीकाएँ उपलब्ध हैं।

---

१. प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया। काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

२. एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमेव प्रपंचिता॥—अधिकरण ४ का उपान्त।

वामन के विशिष्ट सिद्धान्तों में सर्वतः प्रधान **रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टापदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा॥** (काव्यालंकारसारसंग्रह, १, २, ६–८) सिद्धान्त हैं। इनके पूर्व भामह आदि ने काव्य के तत्वों में सर्व प्रधान, जिसके कारण काव्य काव्य कहा जाता है, अलंकार ही माना था, जैसा कि उनके काव्य-लक्षण **शब्दार्थौ सालंकारौ काव्यम्** से स्पष्ट है। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ काव्य के शरीर थे और अलंकार उसकी आत्मा। यह अवश्य है कि उनकी अलंकार की कल्पना व्यापक थी और काव्य-शोभाधायक होने से रस, भाव इत्यादि भी रसवद्, प्रेय इत्यादि नामों से अलंकारों में ही परिगणित हुए थे। किन्तु वामन ने सर्व प्रथम रीति अर्थात् विशिष्ट पद-रचना को काव्य में सर्व प्रधान—उसकी आत्मा—माना। रचनागत यह विशिष्टता गुणों के समन्वय से आती है। वामन ने १० शब्द गुण तथा १० ही अर्थ गुण एवं उन पर आश्रित तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली मानी हैं। यद्यपि वामन के पूर्व दण्डी ने भी १० गुणों तथा उन पर आश्रित वैदर्भी तथा गौडी दो प्रधान रीतियों का विस्तृत वर्णन किया है, किन्तु जैसा डा० काणे ने लिखा है, उन्होंने अलंकारों का भी इतना विस्तृत वर्णन किया है कि यह कह सकना कठिन है कि वे दोनों में से किसे काव्य में प्रधान मानते थे। जहाँ उद्भट ने गुणों तथा अलंकारों का भेद गड्डरिका प्रवाह से असत् माना, वहाँ वामन ने गुणों को काव्य शोभा का उत्पादक तथा अलंकारों को उस शोभा का अभिवर्धक मान कर दोनों का भेद किया। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के अष्टम उल्लास में जहाँ उद्भट के उपर्युक्त मत को कहा है, वहीं वामन के इस मत का भी खण्डन किया है। इसका विशेष विवेचन आगे सिद्धान्त प्रकरण में किया जाएगा। वामन के कुछ अन्य सिद्धान्त वक्रोक्ति[1] को अर्थालंकार मानना, विशेषोक्ति की विचित्र परिभाषा देना, आक्षेप अलंकार के द्विविध व्याख्यान[2] (जो उसे क्रमशः मम्मट के प्रतीप तथा समासोक्ति के समकक्ष कर देते हैं) प्रस्तुत करना इत्यादि हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, वामन काश्मीरी परम्परा के अनुसार राजा जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मंत्रियों में थे, और इस प्रकार वे उद्भट के समकालीन तथा प्रतिस्पर्धी ठहरते हैं, क्योंकि दोनों में किसी ने भी दूसरे का उल्लेख या उद्धरण नहीं दिया है। एक और ढंग से भी वामन का समय ८०० ई० के आस-पास ही ज्ञात होता है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' तथा 'मालती-माधव' एवं माघ के 'शिशुपालवध' से वामन ने कई श्लोक उदाहरण रूप में उद्धृत किए हैं। इन दोनों के समय अनेक प्रमाणों के आधार पर क्रमशः ७००-७४० ई० तथा ७२५-७७५ ई० निर्धारित किए गए हैं। अतः वामन का समय इसके बाद ही होगा। और, चूँकि 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत **अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरः सरः। अहो देवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥** पर 'लोचन' में अभिनव ने **वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्युभयमाशयं हृदये गृहीत्वा**

---

१. **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—४–३–८।**

२. **उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायामाक्षेपः, उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः॥—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।**

समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद्ग्रन्थकृत् ऐसा लिखा है, इससे स्पष्ट है कि उनके मत में वामन नवम के उत्तरार्ध में होने वाले ध्वन्यालोककार से काफ़ी पूर्व के हैं। इस प्रकार ७५० ई० के बाद तथा ८५० ई० के पूर्व अर्थात् ८०० ई० के आस-पास इनका समय ज्ञात होता है।

रुद्रट

वामन के बाद प्रसिद्ध आलंकारिक रुद्रट आते हैं। इनके ग्रन्थ का भी वही नाम है जो भामह के ग्रन्थ का था। रुद्रटकृत 'काव्यालंकार' १६ अध्यायों का बृहत् ग्रन्थ है और इसमें काव्य-शास्त्र के संपूर्ण विषय का विवेचन हुआ है। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन तथा शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास रूप त्रिविध हेतु दिए गए हैं। द्वितीय में काव्य का लक्षण, पाँच शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र, चार रीतियाँ—वैदर्भी, पांचाली, लाटी तथा गौडी, एवं काव्य की छः भाषाएँ—प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी तथा अपभ्रंश संक्षेप में दी गई हैं। अध्याय के अन्त में वक्रोक्ति तथा अनुप्रास की पाँच वृत्तियों का थोड़े विस्तार के साथ विवेचन है। तृतीय में यमक तथा चतुर्थ में ८ प्रकार के श्लेष बड़े विस्तार के साथ दिए गए हैं। सातवें में अलंकारों के चार आधार-वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वैज्ञानिक रीति से निश्चित किए गए हैं। यह अध्याय इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि रुद्रट के पूर्व किसी ने अलंकारों का इस प्रकार किसी निश्चित आधार पर वर्गीकरण नहीं किया था। वास्तव पर आधारित २३ अलंकार इसी अध्याय में दिए गए हैं। आठवें अध्याय में औपम्य (सादृश्य) पर आधारित २१ अलंकार, नवें में अतिशय पर आधारित १२ अलंकार तथा दसवें में शुद्ध श्लेष के १० प्रकार एवं संकर के दो प्रकार दिए गए हैं। इस प्रकार इसमें कुल ६६ अलंकार हैं। ग्यारहवें में अर्थ के ९ तथा उपमा के ४ दोष दिए गए हैं। बारहवाँ अध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें रस-विवेचन किया गया है जो इसके पूर्व किसी भी आलंकारिक ने नहीं किया था। यह कहा जा चुका है कि भामह और उद्भट रस से परिचित होते हुए भी उसे अलंकार के ही अन्तर्गत मानते हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि रुद्रट ने नव के अतिरिक्त प्रेयस नामक एक दशम रस भी माना है। तेरहवें में सम्भोग तथा चौदहवें में विप्रलम्भ तथा नायक-नायिकाओं का वर्णन, तथा पंद्रहवें में वीर तथा अन्य रस दिए गए हैं। सोलहवें में कथा, आख्यायिका इत्यादि काव्य के भेद तथा उनके लक्षणों का विवेचन है। इस प्रकार इसे साहित्य शास्त्र के विविध विषयों का महाकोश कहा जा सकता है। परन्तु व्यापक होने पर भी उपर्युक्त अलंकारों की समीक्षा ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। अतः रुद्रट की गणना आलंकारिकों में होती है। रुद्रट की कुछ अन्य विशेषाताएँ भी हैं—अनन्वय और उपमेयोपमा को अलग अलंकार न मान कर उपमा के ही भेद कर उन्हें अनन्वयोपमा तथा उभयोपमा नाम देना तथा हेतु, भाव, मत, साम्य तथा पिहित आदि कुछ नए अलंकारों का आविष्कार करना। यह अवश्य है कि मम्मट इत्यादि परवर्ती लेखकों ने इन नए अलंकारों को अलंकार नहीं माना और उनका खण्डन किया है। रीतियों का नाम तथा संक्षिप्त लक्षण देते हुए भी रुद्रट ने इनका विवेचन नहीं किया और उनकी उपेक्षा की है। गुणों का वर्णन उन्होंने बिलकुल ही छोड़ दिया।

रुद्रट को प्रतिहारेन्दुराज, राजशेखर, अभिनव, मम्मट आदि दशम तथा उसके बाद की शताब्दियों के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थकारों ने उद्धृत किया है और उनकी आलोचना भी की है। अतः वे दशम के पूर्व हुए थे, यह निश्चित है। किन्तु आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से परिचित होने के कारण यह अनुमान होता है कि रुद्रट या तो आनन्दवर्द्धन के समकालीन थे या उनसे कुछ पूर्व। अतः उनका समय ८२५ से ८७५ ई० के बीच माना जा सकता है। रुद्रट के ग्रंथ की एक टीका 'शिशुपालवध' के टीकाकार वल्लभदेव ने की थी, जिनका समय कई प्रमाणों से ९०० ई० के आस-पास निश्चित होता है। इससे भी उपर्युक्त अनुमान संगत जान पड़ता है।

आनन्दवर्द्धन

प्राचीन साहित्य शास्त्र में सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इसके दो भाग हैं— कारिका और वृत्ति। दोनों के रचयिताओं के संबंध में बहुत विवाद है। महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी, डा० शंकरन्, डा० सत्कारि मुखर्जी, डा० कान्तिचन्द्र पांडेय, डा० कृष्णमूर्ति तथा पं० बलदेव उपाध्याय जैसे विद्वान् दोनों को एक ही की कृति मानते हैं और डा० डे, डा० दासगुप्त, श्री के० गोडावर्मा तथा महामहोपाध्याय डा० काणे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की। डा० दासगुप्त लिखते हैं—'ऐसा प्रतीत होता है कि तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने कारिका, वृत्ति तथा वृत्ति की टीका लिखी है। कारिकाएँ ध्वनि-कारिकाएँ कही जाती हैं और इनके रचयिता ध्वनिकार कहे जाते हैं। कारिकाओं की वृत्ति 'ध्वन्यालोक' के नाम से प्रसिद्ध है और इसके रचयिता आनन्दवर्द्धन हैं। इस वृत्ति की विस्तृत टीका 'लोचन' के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी प्रतीत होता है कि 'ध्वन्यालोक' की लोचन के अतिरिक्त भी टीकाएँ थीं। उनमें से एक का नाम 'चन्द्रिका' था जिसे अभिनव के ही किसी पूर्वज ने लिखा था।'[1] इस कथन पर पाद टिप्पणी में डा० दासगुप्त ने लिखा है—'अतः कभी-कभी जो यह कहा जाता है कि कारिकाकार अभिनव गुप्त के साक्षात् गुरु थे, वह ठीक नहीं है। काणे महोदय का सुझाव है कि 'ध्वन्यालोक' की अभिनवकृत 'लोचन' टीका उसके लगभग डेढ़-दो सौ वर्ष बाद लिखी गई। वस्तुतः 'ध्वन्यालोक' पर ही अभिनव गुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका लिखी है। इसीलिए उन्होंने 'ध्वन्यालोक' के कर्ता का उल्लेख प्रायः 'ग्रन्थकार' शब्द द्वारा किया है। कारिकाओं को 'लोचन' में 'मूल कारिका' या केवल 'कारिका' कहा है और उनके रचयिता को कारिकाकार। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता को कहीं-कहीं वृत्तिकार भी कहा है। 'लोचन' के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि अभिनव कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न मानते थे।

डा० काणे ने कारिकाकार तथा ध्वनिकार के भिन्न होने के संबंध में लोचनकार के कथनों को प्रमाण मानने के अतिरिक्त अन्य अनेक संगत तर्क उपस्थित किए हैं, जिनमें एक तो यह है कि कारिका के मूल से वृत्ति का मत कई स्थलों में भिन्न है और यह मतभेद इस प्रकार का नहीं है

---

१. डा० एस० के० डे तथा डा० दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५४० से अनूदित।

कि उसे 'कारिका' के संक्षेप में रक्खे गए विचारों का विस्तृत विवेचन और स्पष्टीकरण कह कर टाला जा सके, जैसा डा० कान्तिचन्द्र पांडेय ने किया है। दूसरा दृढ़ तर्क डा० काणे ने वृत्ति में आए हुए "परिकर श्लोकों' या 'संग्रह श्लोकों' के आधार पर उपस्थित किया है। उनका कथन है कि 'पचास से अधिक इस प्रकार के श्लोक होंगे जो आनन्दवर्द्धन की ही रचना हैं। इनमें से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण अर्थ से परिपूर्ण हैं और बहुतेरी कारिकाओं से भी अच्छे हैं। यदि कारिका तथा वृत्ति दोनों का कर्ता एक ही पुरुष था, तो उसने इन्हें वृत्ति में रख कर गौण स्थान क्यों दिया, कारिकाओं में ही क्यों नहीं रक्खा? . . .क्या मम्मट ने, जिन्होंने १४२ ही कारिकाओं में ध्वन्यालोक से कहीं अधिक विस्तृत विषय का समावेश किया है, अपनी वृत्ति में कहीं 'परिकर श्लोक' या 'संग्रह श्लोक' दिए हैं? . . . .सच तो यह है कि कारिकाकार से भिन्न होने के कारण वृत्तिकार अपने श्लोकों को उनके सिर नहीं मढ़ना चाहते थे।"[1] डा० मुखर्जी आदि के द्वारा दिए गए तर्कों को काटने में डा० काणे ने कई और संगत तर्क उपस्थित किए हैं। किन्तु यहाँ उनका उद्धरण देना आवश्यक नहीं है। पर, जैसा डा० काणे ने स्वयं लिखा है, आश्चर्य की बात है कि आनन्दवर्द्धन के एक-दो शताब्दी बाद से ही कारिकाओं और वृत्ति के कर्तृत्व में साहित्यशास्त्रकारों में बड़ा भ्रम उत्पन्न हो गया था। प्रतिहारेन्दुराज, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट, 'औचित्य-विचार-चर्चा' के रचयिता क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र तथा साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ—इन सभी लोगों ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार में कोई भेद नहीं किया।

अब प्रश्न यह है कि यदि कारिकाकार वृत्तिकार आनन्दवर्द्धन से भिन्न व्यक्ति थे, तो उनका नाम क्या था? प्रो० सोवानी ने सन् १९१० के जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी में पहली बार यह सुझाव रक्खा कि कारिकाकार का नाम संभवतः सहृदय था। डा० काण का कथन है कि "अभिधामातृका वृत्ति में आए हुए मुकुल के **ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य** तथा **विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता** एवं उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज के **काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः** इत्यादि शब्दों से बहुत संभव जान पड़ता है कि ध्वनिकार का नाम सहृदय था, अथवा इससे भी अधिक संभव यह लगता है कि सहृदय उनकी उपाधि थी जो उनके प्रशंसकों ने उन्हें दी थी।"[2] हमें डा० काणे का यह मत बहुत ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि यदि सहृदय ध्वनिकार का नाम होता तो इसके लिए सचेतस् इत्यादि इसके पर्यायों का प्रयोग न होता, जैसा कि कारिका, वृत्ति और लोचन में हुआ है। ध्वन्यालोककार ने सहृदय शब्द के अर्थ का विचार किया है और लोचनकार अभिनव ने सहृदय का लक्षण **येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता, ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः** किया है। डा० काणे ने भी प्रथम कारिका के **सहृदयमनः प्रीतये** पद में सहृदय में श्लेष मान कर उसे कारिकाकार तथा रसज्ञ दोनों का ही वाचक माना है। पर डा० एस० एन० दासगुप्त का

---

१. द्रष्टव्य, डा० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १७५।

२. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १८३।

स्वारस्य द्वितीय विकल्प के लिए ही है। अपने इतिहास में प्रो० सोवानी तथा डा० काणे के प्रथम विचार को रखते हुए उन्होंने लिखा है कि "मैं एक दूसरा सुझाव रखने का साहस करता हूँ और वह यह कि सहृदय शब्द का तात्पर्य शायद ऐसे काव्यशास्त्रज्ञों की परम्परा से है जो ध्वनि को रस या वस्तु की अभिव्यंजना द्वारा हृदय को आवर्जित या मुग्ध करने वाली मानते थे।"[१] इस मत की पुष्टि में डा० दासगुप्त का यह तर्क भी ठीक प्रतीत होता है कि **सहृदयमनः प्रीतये** में यदि सहृदय कारिकाकार का नाम माना जाय तो स्वयं अपने संबंध में अन्य पुरुष का प्रयोग करके फिर उसकी प्रसन्नता के लिए ग्रन्थ रचने की बात लिखना बहुत अजीब सा लगता है। जो भी हो, इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि काव्यों में ध्वनि का मार्ग आनन्दवर्द्धन से पूर्व ही प्रतिपादित हुआ था। 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत **काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसंजडो नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः** श्लोक को टीकाकार अभिनव ने किसी मनोरथ नामक कवि का बताया है, जिसको उन्होंने आनन्द-वर्धन का समकालीन कहा है। पर, जैसा डा० काणे ने विनम्र संकेत किया है, अभिनव का यह कथन असत्य जान पड़ता है, क्योंकि 'राजतरंगिणी' के आधार पर काश्मीर के राजा जयापीड का मंत्री होने से मनोरथ का समय काश्मीर-नृपति अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के साम्राज्य में प्रसिद्ध[२] होने वाले आनन्दवर्धन से अवश्य ही कुछ पहले होगा और उपर्युक्त श्लोक में मनोरथ के द्वारा ध्वनि का मज़ाक उड़ाए जाने से उसकी परम्परा शायद मनोरथ से पूर्व की हो, आनन्दवर्धन से पूर्व की तो होगी ही। आनन्दवर्धन का अवन्तिवर्मा के राज्य-काल में होना तथा प्रसिद्धि प्राप्त करना इस बात से भी सही लगता है कि ८०० ई० के उद्भट को उन्होंने उद्धृत किया है और ९०० ई० के कल्हण तथा ९००-९२५ ई० के राजशेखर के द्वारा वे स्वयं उद्धृत किए गए हैं। पर कारिकाकार के नाम और समय दोनों ही निश्चयात्मक तथ्यों के अभाव में अनिश्चित ही रहेंगे।

'ध्वन्यालोक' में ४ उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विरोधी मतों की समीक्षा है। आनन्द-वर्धन ने ध्वनि के विषय में अपने पूर्व से प्रचलित अभाववाद, भक्ति (लक्षणा)-वाद तथा अनिर्वच-नीयतावाद—इन तीनों मतों का मुँहतोड़ जवाब देकर ध्वनि (व्यंजना) की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध की। काव्य के आत्मभूत सहृदय-श्लाध्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान—दो मुख्य भेद कह कर तथा वाच्यार्थ को उपमा इत्यादि अर्थालंकारों के रूप में प्रसिद्ध बता कर प्रतीयमान अर्थ को रमणी के शरीर में स्थित उससे भिन्न लावण्य की भाँति महाकवियों के उत्कृष्ट काव्य में प्रसिद्ध अलंकृत अर्थ से भिन्न बताया है। लावण्य की उपमा दे कर इस प्रतीयमान अर्थ की सहृदय-हृदयहारिता व्यक्त की है। इसी से इसकी पूर्वोक्त काव्यात्मकता का रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। आगे इस अर्थ

---

१. द्रष्टव्य डा० एस० एन० दासगुप्त : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५४१ पर पाद-टिप्पणी

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येवन्तिवर्मणः।—राजतरंगिणी ५–३५।

के वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रस-ध्वनि रूप से तीन भेद बता कर रस-ध्वनि को सर्वथा अवाच्यार्थ (शब्द-व्यापार का अविषय), वाच्यार्थ के सामर्थ्य से केवल प्रतीयमान (आक्षिप्त) बताया है। उनका कथन है कि रस के वाचक श्रृंगार इत्यादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता। यदि ऐसा होने पर रस की प्रतीति हो, तब तो दोनों में वाच्य-वाचक संबंध माना जा सकता है। परन्तु वाचक शब्दों का प्रयोग होने पर भी रस की प्रतीति तब तक नहीं होती, जब तक विशिष्ट विभाव इत्यादि का प्रतिपादन नहीं होता। जिस काव्य में विभाव, अनुभाव आदि का सम्यक् प्रतिपादन नहीं हुआ रहता, केवल श्रृंगार, वीर इत्यादि रसवाचक शब्दों का प्रयोग भर हुआ रहता है, उसमें लेश मात्र भी रस की प्रतीति नहीं होती। दूसरे, जहाँ कहीं रस की प्रतीति होती है, वहाँ सब कहीं उसके वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता।

इससे स्पष्ट है कि रस कदापि वाच्य नहीं, वाच्यार्थ के सामर्थ्य से प्रतीयमान ही होता है।[१] इसी रस को ध्वन्यालोककार ने काव्य की आत्मा—उसका प्राण बताया है। यद्यपि प्रथम उद्योत की द्वितीय कारिका में ध्वनि मात्र को ही आत्मा कहा है, पर आगे की पंचम कारिका में इसी तृतीय रस-ध्वनि को आत्मा बताया है। इसकी तथा इस कारिका की वृत्ति की टीका में लोचनकार अभिनव गुप्त ने इस बात को स्पष्ट किया है कि रस ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि रस-ध्वनि में पर्यवसित होने के कारण वाच्यार्थ से उत्कृष्ट हैं और इसी अभिप्राय से ये पूर्वोक्त कारिका में सामान्य रूप से काव्य की आत्मा कहे गए हैं।[२]

द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेदों का विवेचन है। तृतीय में इसी के सूक्ष्म भेदों तथा रीतियों और वृत्तियों का विवेचन है। चतुर्थ में कवि-प्रतिभा की अनन्तता, काव्य-सौन्दर्य के लिए किसी एक रस की प्रधानता, गुणीभूत व्यंग्य आदि अनेक बातें संक्षेप में कही गई हैं। 'लोचन' के अतिरिक्त इसकी एक और भी टीका 'चन्द्रिका' अभिनव के ही किसी पूर्वज की लिखी हुई थी, ऐसा 'लोचन' में आए हुए उल्लेखों से ज्ञात होता है।

राजशेखर

ध्वन्यालोककार के ठीक बाद ही 'काव्यमीमांसा' के रचयिता राजशेखर आते हैं। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में उद्भट, वामन, रुद्रट तथा आनन्दवर्धन के मतों का उल्लेख किया है। अतः ये निश्चित रूप से ८७५ ई० के बाद के होंगे। इसी प्रकार ९५९-९६० ई० में लिखे गए 'यशस्तिलक' के चतुर्थ आश्वास में गिनाए गए कवियों में इनका भी नाम आया है, अतः ये ८५० ई० के पूर्व ही हुए होंगे। इस प्रकार इनका समय नवम शताब्दी का अन्तिम तथा दशम का प्रथम पाद ठहरता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ८५० ई० के आस-पास होने वाले अभिनव ने अपने 'अभिनव-भारती' में इनके 'कर्पूरमंजरी' तथा 'बालरामायण' दोनों का निर्देश किया है।[३]

---

१. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका ४ तथा उसकी वृत्ति।

२. वही, प्रथम उद्योत, कारिका ५ तथा उसकी लोचन टीका।

३. तथा हि श्रृंगाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टकः।

'काव्यमीमांसा' में रस, गुण या अलंकार किसी का भी साक्षात् रूप से विवेचन नहीं मिलता। इसमें कवि-शिक्षा का ही विषय प्रधान है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है। इसके १८ अध्यायों में से प्रथम में अलंकार शास्त्र का उद्‌भव, द्वितीय में वाङमय के दो रूप—शास्त्र और काव्य तथा उनका भेद, तृतीय में काव्य-पुरुष की उत्पत्ति तथा उसके शरीर, अंग एवं आत्मा के रूप में शब्दार्थ, विविध भाषाओं तथा रस का वर्णन, चतुर्थ में काव्य के मुख्य हेतु 'शक्ति' तथा उससे उत्पन्न होने वाली प्रतिभा और व्युत्पत्ति एवं अन्यों के मत से इनके भी सहायक समाधि तथा अभ्यास का वर्णन, पंचम में शास्त्र कवि, उभय कवि आदि तथा इनके उपभेदों का वर्णन, षष्ठ में शब्द तथा काव्य के स्वरूप का निरूपण, सप्तम में उचित भाषा और शैली आदि का विवेचन, अष्टम में काव्य के वर्ण्य विषय के योनिभूत, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि का निरूपण, नवम में काव्य के अनिवार्य तत्त्व, रसादि[1] का निरूपण, दशम में कवि-चर्चा का विस्तृत वर्णन, एकादश से त्रयोदश तक तीन अध्यायों में इस विषय का निरूपण कि पूर्ववर्ती कवियों के शब्द और अर्थ या भाषा और भाव को कहाँ तक और किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, चतुर्दश से षोडश तक तीन अध्यायों में वनस्पति, पुष्प इत्यादि के विषय में प्रचलित कवि-समयों का वर्णन तथा सप्तदश में अनेक देशों, नदियों, पर्वतों, चारों दिशाओं आदि का वर्णन है। इस प्रकार यद्यपि साहित्य शास्त्र को इसकी कोई भी नई देन नहीं है, तथापि कवियों के लिए आदर्श पथ-प्रदर्शक होने से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भट्टनायक

आनन्दवर्धन और अभिनव के बीच राजशेखर के अतिरिक्त दो और आचार्य उल्लेखनीय हैं—भट्टनायक तथा कुन्तक। ये दोनों ही आचार्य ध्वनि के विरोधी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक ने ध्वनि का खण्डन करने के लिए ही अपना 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ लिखा था, क्योंकि व्यक्ति-विवेककार राजानक महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ के आरंभ में ही लिखा है कि उन्होंने 'ध्वन्यालोक' का खण्डन करके यश प्राप्त करने के लिए 'हृदयदर्पण' को बिना देखे ही 'व्यक्तिविवेक' लिखा। इससे यह स्पष्ट है कि 'हृदयदर्पण' में भी ध्वनि का खण्डन किया गया था। भट्टनायक भरत के रस-संप्रदाय के समर्थक हैं। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से ज्ञात होता है कि भरत के सूत्र **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** के प्रधान व्याख्यानों में एक भट्टनायक का भी था। इसके अनुसार भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भावना और भोगीकृति (भोग या रस-चर्वणा) नामक दो और व्यापारों की कल्पना की। इस द्वितीय भावना-व्यापार के द्वारा सीता इत्यादि विभाव अपनी वैयक्तिकता या विशिष्टता से रहित सामान्य (साधारणी

कर्पूरमंजर्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्धः॥

—अभिनव-भारती, आश्वास १९।

१. रसवत एव निबन्धोयुक्तो, न नीरसस्येति, आपराजितिः। आमिति यायावरीयः॥

—काव्यमीमांसा अ० ६।

कृत) रूप में—अर्थात् सीता के रूप में नहीं, सुन्दर सती-साध्वी नायिका के रूप में—प्रतीत होते हैं। फिर, इस साधारणीकृत विभावादि से भावित स्थायी 'भोग' नामक तृतीय व्यापार के द्वारा रसनीय या आस्वाद्य या चर्व्य बन कर रस संज्ञा प्राप्त करता है। इस मत का खण्डन 'काव्य-प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में मम्मट ने किया है।

कुन्तक

अभिनव के दूसरे पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधी आचार्य कुन्तक ने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' लिखा। ध्वनि-खण्डन का समान उद्देश्य होने पर भी भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट के खण्डन के अपने-अपने पृथक् ढंग हैं। जहाँ भट्टनायक ने व्यंजना या ध्वनि के खण्डन के लिए भोग-व्यापार की कल्पना की, वहाँ आचार्य कुन्तक ने भामह द्वारा अलंकार के प्राण के रूप में मानी हुई वक्रोक्ति को ही व्यापक रूप दे कर उसे ही काव्य की आत्मा माना और व्यंजना को उसी के अन्तर्भूत बताया। भामह के **शब्दार्थौ सहितौ सालंकारौ काव्यम्** का ही अनुसरण करते हुए आचार्य कुन्तक ने भी सालंकार शब्दार्थ को काव्य बताया। इस प्रकार उनके मत में वे ही शब्द और अर्थ काव्य में ग्राह्य हैं जो अलंकारयुक्त हैं। पर उनकी दृष्टि में ही अलंकार काव्य का धर्म नहीं, स्वरूप है, उसकी आत्मा है और शब्द तथा अर्थ का यह अलंकार वक्रोक्ति ही है। कथन का वह उत्कृष्ट प्रकार ही वक्रोक्ति है जो प्रतिपादन के साधारण प्रकार या ढंग से भिन्न होने के कारण चित्त को बलात् आवर्जित और मुग्ध कर देता है।[1] ऐसा नहीं है कि आचार्य कुन्तक काव्य में रस नहीं मानते, पर उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि वक्रोक्ति के बिना काव्य में रस निष्पन्न हो ही नहीं सकता। विदग्ध कवि ही वक्रोक्ति के प्रयोग से काव्य में रस ला सकता है और वक्रोक्ति कवि की उत्कृष्ट कल्पना के बिना संभव नहीं है। अतः कवि-व्यापार ही काव्य में प्रधान है। कवि-व्यापार की यह वक्रता वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, प्रत्यय वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता रूप से ६ प्रकार की है। यह संपूर्ण विवेचन प्रथम उन्मेष में दिया गया है। द्वितीय उन्मेष में प्रथम तीन भेद, तृतीय उन्मेष में चतुर्थ भेद, तथा चतुर्थ उन्मेष में अन्तिम दो भेदों का अत्यन्त व्यापक वर्णन है।

कुन्तक का एक विशिष्ट मत यह भी है कि स्वभावोक्ति तथा रसवद् इत्यादि अलंकार नहीं, अलंकार्य हैं। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने कहा है कि जो लोग स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं, उनके मत में अलंकार्य फिर क्या होगा ?[2] आचार्य कुन्तक

---

१. **शब्दोविवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः। उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते ॥ तथा इस पर वृत्ति—वक्रोक्तिप्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कवि कौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः। —वक्रोक्तिजीवित, १, १०–११।**

२. **अलंकारकृता येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः। अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते। —वक्रोक्तिजीवित, १।**

के **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्** सिद्धान्त के विषय में चाहे कोई कुछ समझे, पर इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही समस्त काव्य तत्त्वों का समावेश करने में उन्होंने बड़ी विदग्धता और मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में किसी का भी अन्धानुकरण नहीं किया, प्रत्युत् सभी की खरी आलोचना की है। तथापि, भामह, दण्डी तथा आनन्दवर्धन की उन्होंने प्रशंसा की है। उनकी कारिकाओं में दण्डी के 'काव्यादर्श' के श्लोकों की सी स्वच्छता, स्पष्टता एवं प्रवाह है और उनकी वृत्ति में सुन्दर साहित्यिक शैली के उच्च गुण पाए जाते हैं। 'व्यक्तिविवेक'कार महिमभट्ट ने जहाँ ध्वनि-ध्वंस करते हुए 'लोचन'कार आचार्य अभिनव के मत का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' में उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण रूप में उद्धृत एक श्लोक में अनेक दोष दिखा कर आचार्य कुन्तक का भी इस प्रकार उल्लेख किया है—**काव्यकांचनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि। यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दशितो मया।** इससे स्पष्ट है कि कुन्तक और अभिनव दोनों महिमभट्ट के कुछ पूर्व ही हुए थे। पर न तो कुन्तक ने अभिनव का उल्लेख किया है और न अभिनव ने कुन्तक का ही। इससे दोनों समसामयिक प्रतीत होते हैं। परन्तु डा० पी० सी० लहरी तथा डा० सत्कारी मुकर्जी का मत है कि अभिनवगुप्त का लक्षणा का विवेचन 'वक्रोक्तिजीवित' से प्रभावित है और वे अपना ग्रन्थ लिखने के समय उससे परिचित थे, यद्यपि डा० शंकरन, डा० राघवन तथा डा० काणे इससे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्तक अभिनव के समकालीन ही प्रतीत होते हैं, हो सकता है कि अवस्था में उनसे कुछ बड़े हों।

अभिनवगुप्त

'ध्वन्यालोक' के पूर्व विवेचन के प्रसंग में ही अभिनव के 'ध्वन्यालोकलोचन' की भी चर्चा हुई है। टीका ग्रन्थ होने पर भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ध्वनि-मार्ग को उसकी विशद व्याख्या द्वारा प्रतिष्ठित करने का श्रेय 'लोचन' को ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' पर उनकी 'अभिनव भारती' नामक पांडित्यपूर्ण टीका भी है। ध्वनि का स्वरूप यथावत् जानने के लिए लोचन, तथा रस का स्वरूप एवं 'नाट्यशास्त्र' का रहस्य समझने के लिए 'अभिनव भारती' इसी प्रकार आवश्यक हैं, जैसे पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के लिए पतंजलि का 'महाभाष्य'। रस का जो स्वरूप अभिनव ने प्रस्तुत किया, आज तक उसी की सबसे अधिक प्रतिष्ठा है। मम्मट जैसे परम प्रतिभावान्, प्रथम श्रेणी के आचार्य ने अपने 'काव्यप्रकाश' में इन्हीं के मत को रस-विवेचन के अंत में रख कर स्व-मत सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित किया है। इनके अनुसार रस की अनुभूति सामाजिक को होती है। यह अनुभूति ब्रह्मानुभूति के समान ही परमानन्ददायिनी अलौकिक अनुभूति है। इस अनुभूति के समय और किसी प्रमेय या वेद्य की अनुभूति नहीं होती। यह रस विभावादि के विनष्ट हो जाने पर भी सम्भव होने के कारण न उसका कार्य है, न स्थायी के रूप में पूर्वतः सिद्ध होने के कारण उसका ज्ञाप्य ही है, अपितु उससे व्यंजित होने के कारण व्यंग्य है। कार्य और ज्ञाप्य न होने पर भी वह एक दृष्टि से विभावादि का कार्य भी है

और ज्ञाप्य भी। यह तथ्य इसकी अलौकिकता ही सिद्ध करता है, किसी प्रकार का दोष नहीं।[1]

अभिनवगुप्त ने अपने नाट्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' पर भी एक 'विवरण' नामक टीका लिखी थी। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे उच्च कोटि के दार्शनिक, पैनी दृष्टि के समीक्षक तथा महान् कवि थे। काश्मीर शैव सिद्धान्त के प्रत्यभिज्ञादर्शन के तो वे अप्रतिम आचार्य थे ही। इस विषय के उनके गुरु कोई लक्ष्मण थे। 'लोचन' में अभिवन ने अपने परम गुरु उत्पलाचार्य के अतिरिक्त भट्ट इन्दुराज का भी अनेक बार उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उनसे इन्होंने 'ध्वन्यालोक' पढ़ा था। भट्ट इन्दुराज को अभिनव ने 'विद्वत्कविसहृदय-चक्रवर्ती' कहा है। अत: ये ध्वनि की खिल्ली उड़ाने वाले प्रतिहारेन्दुराज से निश्चय ही भिन्न जान पड़ते हैं। 'लोचन' के उल्लेखों से भट्टेन्दुराज उच्च कोटि के कवि ज्ञात होते हैं, उनके कई श्लोकों को अभिनव ने उद्धृत किया है। परन्तु प्रतिहारेन्दुराज केवल आलंकारिक या समीक्षक ही जान पड़ते हैं, क्योंकि यदि वे कवि होते तो वे उद्भट के ग्रन्थ पर लिखी गई अपनी टीका में अपने कुछ श्लोकों को अवश्य उद्धृत करते।

अभिनव के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में एक यह भी था कि शान्त रस मोक्ष-फल की ओर ले जाने वाला होने के कारण रसों में सर्वश्रेष्ठ है। इनका समय निश्चित करने में कोई कठिनता नहीं है। अपने विभिन्न ग्रन्थों के अंत में दिए गए उनके रचना-कालों से यह समय ९५०-१०२० ई० प्रतीत होता है।

धनंजय तथा धनिक

कुन्तक तथा अभिनव के परवर्ती आलंकारिक ध्वनि-विरोधी महिमभट्ट के सिद्धान्तों का विवेचन करने के पूर्व 'दशरूपक' के कर्त्ता एवं ध्वनि-विरोधियों में अन्यतम आचार्य धनंजय तथा 'दशरूपक' की 'अवलोक' टीका के रचयिता धनिक का उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि 'दशरूपक' के चतुर्थ प्रकाश में रस का विवेचन हुआ है। वैसे इस ग्रन्थ के प्रथम तीन प्रकाशों में नाट्यशास्त्र के ही विषयों का विवेचन है। प्रथम प्रकाश में दस प्रकार के रूपकों, पाँच प्रकार की सन्धियों तथा विष्कंभक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार तथा प्रवेशक आदि का विवेचन है। द्वितीय में नाटक और नाटिकाओं के अनेक भेद, उनके लक्षण तथा चार वृत्तियाँ वर्णित हैं। तृतीय में नाट्य-काव्य की प्रस्तावना, एवं उसके अन्य आवश्यक तत्त्वों के विषय में स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं। 'दशरूपक' में लगभग ३०० कारिकाएँ हैं, जिन पर धनिक के 'अवलोक' के अतिरिक्त बहुरूप मिश्र की भी एक सुन्दर टीका है।

---

१. उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपिपूर्वल्लोकोत्तरतामेव गमयति, नतु विरोधम्।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

रस के संबंध में धनंजय और धनिक का स्पष्ट मत यह है कि रस और काव्य के बीच व्यंग्य-व्यंजक नहीं, अपितु भाव्य-भावक संबंध है। काव्य है भावक और रस है भाव्य।[1] ऊपर भट्टनायक के रस-सिद्धान्त की संक्षिप्त चर्चा करते समय भी इस संबंध में कहा जा चुका है कि भट्टनायक रस को आनन्दवर्धन तथा अभिनव की भाँति व्यंग्य नहीं, भाव्य मानते हैं। इस प्रकार धनंजय का रस-सिद्धान्त भट्टनायक से कुछ कुछ मिलता-सा है। परन्तु गहराई से देखने पर दोनों का भेद स्पष्ट लक्षित हो जाता है। ध्वन्यालोककार तथा अभिनव के रस-सिद्धान्त से तो इस मत का स्पष्ट विरोध ही है।

ध्वनिवादी रस को व्यंग्य मानते हैं तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना-व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकाश में इसी मत को पूर्व पक्ष के रूप में रख कर आगे की ३७वीं कारिका की, जिसमें धनंजय ने अपने रस-सिद्धान्त का विवेचन किया है, अवतारणा इसके उत्तर पक्ष के रूप में की है। इस कारिका का अर्थ यह है कि "जैसे किसी वाक्य में प्रयुक्त (क्रियावाचक) पद द्वारा अभिहित, या वाचक के अभाव में अभिहित न होने पर भी प्रकरण आदि के बल से बुद्धि द्वारा अध्याहृत क्रिया कारकों से युक्त हो कर वाक्यार्थ बन जाती है, उसी प्रकार स्थायी भाव भी काव्य में वाचक पदों के वाच्य रूप में गृहीत न होने पर भी प्रकरणादि के आधार पर ही काव्य के वाच्य रूप में गृहीत विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा काव्य के तात्पर्य के रूप में प्रतीत होता है।"[2]

धनिक ने इस कारिका का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे **गाय ले आओ** तथा **द्वार** इन दोनों लौकिक वाक्यों में प्रथम में साक्षात् प्रयुक्त या श्रूयमाण क्रिया **ले आओ** तथा द्वितीय में साक्षात् अप्रयुक्त, किन्तु प्रकरण से समझ ली गई क्रिया **खोलो** या **बन्द करो** क्रमशः **गाय** तथा **द्वार** कर्म कारकों से पुष्ट हो कर वाक्यार्थ बनती है, उसी प्रकार काव्य में भी जहाँ **प्रीत्यै नवोढा प्रिया** जैसे उदाहरणों की भाँति जिनमें रति स्थायी भाव के वाचक शब्द **प्रीत्यै** का साक्षात् प्रयोग किया गया है, स्थायी भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग नहीं भी होता, वहाँ प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य में प्रयुक्त पदों के वाच्य रूप में गृहीत विभावादि के साथ स्थायीभाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण रति आदि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में स्फुरित होने लगते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि धनंजय और धनिक के मत में स्थायी भाव या रस किसी व्यंजना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न हो कर काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है। काव्य में शब्दों के द्वारा विभावादि अर्थ की प्रतीति होती है तथा विभावादि स्थायी भाव और रस की प्रतीति कराते हैं। अर्थात्, विभावादि

---

१. न रसादीनांकाव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः किं तर्हि भाव्यभावकसंबंधः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः।

धनिक : अवलोक टीका—दशरूपक ४–३०।

२. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथाक्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः।। दशरूपक, ४––३७।

३. द्रष्टव्य, चतुर्थ प्रकाश, कारिका ३७ पर धनिक की टीका।

काव्य में प्रयुक्त शब्दों के पदार्थ हैं तथा स्थायी भाव और रस उनके वाक्यार्थ। ऐसी दशा में विभाव इत्यादि अथवा उनके वाचक शब्दों में ही रस का आस्वाद नहीं पाया जाता, वह रस इनके द्वारा भाव्यमान होता है। इस प्रकार काव्य में प्रयुक्त शब्दों के वाच्य 'विभाव' इत्यादि स्थायी भाव की भावना करा कर उसका रस रूप में आस्वादन कराने के लिए होते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि विभावादि स्थायीभाव तथा रस के भावक या प्रतिपादक हैं, भाव तथा रस उनके भाव्य या प्रतिपाद्य।

इसके आगे ३८वीं कारिका में धनंजय ने स्पष्ट किया है कि रस का आस्वादन रसिक या सहृदय सामाजिक (दर्शक) को ही होता है, अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता, शकुन्तला इत्यादि पात्रों को नहीं। अनुकार्य पात्रों की तो केवल कथा ली जाती है, उसके द्वारा सामाजिकों को रसास्वाद कराना ही काव्य का प्रयोजन होता है। अनुकार्य राम इत्यादि तो भूत काल के हैं, उन्हें रस-चर्वणा हो भी कैसे सकती है?[1] नर्तक को रसास्वादन होता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर धनंजय ने ४२वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति में यह दिया है कि 'हम नर्तक के काव्यार्थ-भावना-रस के आस्वादन का निषेध नहीं करते।' धनिक ने इस पंक्ति की टीका में स्पष्ट किया है कि अनुकार्य राम आदि का अनुकरण करने वाले नट भी लौकिक रस से रसयुक्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे नाटक में सीता आदि का अनुकरण करने वाली नटी को अपनी भोग्य स्त्री के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। अतः उनमें लौकिक रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैसे, काव्यार्थ की भावना के द्वारा नर्तक को भी, यदि वह सहृदय है तो सामाजिक के दृष्टिकोण से रसास्वादन हो सकता है।[2] सामाजिक को यह रसास्वादन कैसे होता है इसका उत्तर धनंजय ने ४१ की द्वितीय तथा ४२ की प्रथम पंक्ति में यह कह कर दिया है कि 'जैसे बालक मिट्टी के हाथी इत्यादि से खेलते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य के श्रोता सामाजिक भी अर्जुन आदि पात्रों में उत्साह देख कर उनके द्वारा स्वयं उत्साह आदि का आस्वादन करते हैं।'[3]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि धनंजय और धनिक रस को ध्वनिवादी आचार्यों की भाँति व्यंग्य न मान कर तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) मानते हैं। जैसे लोल्लट व्यंग्यार्थ को **दीर्घदीर्घतराभिधा-शक्ति-जन्य** मानते हैं, उसी प्रकार ये आचार्य इसको दीर्घ-दीर्घतर तात्पर्य-शक्ति-जन्य मानते हैं। इस अंश में इतना मत लोल्लट के मत से प्रभावित है, यद्यपि उसका ठीक प्रतिरूप नहीं है। दूसरे, दोनों आचार्य विभावादि तथा स्थायीभाव (रस) में भाव्य-भावक संबंध मानते हैं इसी अंश में इस मत का भट्टनायक के मत से साम्य है, पर जैसा पहले भट्टनायक के रस-सिद्धान्त के

---

१. **रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।**
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः॥—चतुर्थ प्रकाश, कारिका ३८।

२. **द्रष्टव्य, चतुर्थ प्रकाश की कारिका ४२ की धनिककृत अवलोक टीका।**

३. **क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।**
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥चतुर्थ प्रकाश ४, कारिका ४१–४२।

प्रसंग में कहा जा चुका है, उनके मत में भावकत्व या भावना-व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभाव इत्यादि से भावित स्थायीभाव भोग नामक अन्य व्यापार से भुक्त या आस्वादित होता है और रस संज्ञा प्राप्त करता है। धनंजय और धनिक ऐसा कोई व्यापार नहीं मानते। तीसरे, आस्वादन के लिए मिट्टी के हाथी इत्यादि का उदाहरण शंकुक के चित्त-तुरंग का ही रूपान्तर ज्ञात होता है। इस प्रकार धनंजय और धनिक के रस-सिद्धान्त में भट्ट लोल्लट, भट्टनायक तथा शंकुक—तीनों के मतों का सम्मिश्रण है, पर वह किसी के भी सर्वथा सदृश नहीं है। इसके संबंध में इनकी एक और विशेषता यह है कि जहाँ अभिनव ने 'शम' को नाटक में आस्वाद्य ही नहीं, परम आस्वाद्य मान कर शान्त रस की प्रतिष्ठा की है, वहाँ ये आचार्य अन्य काव्यों में इसका परिपाक मानते हुए भी नाट्य काव्य में इसकी पुष्टि नहीं मानते।[१] धनिक ने 'अवलोक' में स्पष्ट कहा है कि चूँकि अभिनय ही नाटकादि रूपकों का प्राण है, अतः रूपकों में हम 'शम' का निषेध सचमुच कर रहे हैं, क्योंकि 'शम' की अवस्था में व्यक्ति की समस्त लौकिक क्रियाओं का लोप हो जाने से उसका अभिनय नहीं हो सकता, अभिनय तो क्रियाओं का ही होता है।[२]

धारेश महाराज भोज के पितृव्य वाक्पतिराज या मुंज के सभासद होने के कारण धनंजय का रचना-काल दशम शताब्दी ईसवी का अन्तिम पाद जान पड़ता है, क्योंकि मुंज कम से कम ९७४ ई० से अवश्य ही मालव के राजा रहे होंगे।[३] धनंजय तथा धनिक दोनों विष्णु के पुत्र और सगे भाई थे, ऐसा बहुमत है, यद्यपि कुछ लोग दोनों को एक ही मानते हैं। डा० काणे के अनुसार धनिक की 'अवलोक' टीका १००० ई० के पूर्व लिखी गई नहीं प्रतीत होती। इस टीका में आए हुए उद्धरणों से ज्ञात होता है कि धनिक ने व्यंजना-व्यापार के खंडन के लिए 'काव्यनिर्णय' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा था, पर दुर्भाग्यवश वह अप्राप्य है।

राजानक महिमभट्ट

आचार्य कुन्तक की चर्चा करते समय यह कहा जा चुका है कि महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में कुन्तक और अभिनव का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि वे अभिनव के बाद हुए थे। ये साहित्य शास्त्र के प्रथम श्रेणी के आचार्य हैं। इन्होंने अपना 'व्यक्तिविवेक' आनन्दवर्धन तथा अभिनव के द्वारा अभिधा तथा लक्षणा से पृथक् शब्द-शक्ति के रूप में प्रतिपादित व्यक्ति अर्थात् व्यंजना को पृथक् न मान कर उसे अनुमान के अन्तर्गत समाविष्ट करने के लिए लिखा था।

---

१. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य —दशरूपक, ४–३५।

२. सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्॥—दशरूपक चतुर्थ प्रकाश कारिका ३५ पर धनिक का अवलोक।

३. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २३६।

यह बात मंगल-श्लोक[1] से ही स्पष्ट हो जाती है। उनका अपना मत इस संबंध में यह है कि "प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ पद की अभिधा शक्ति से ही निकले हुए वाच्यार्थ या उससे अनुमित लिंगादिभूत अर्थ से अनुमिति द्वारा निकलता है। रस इत्यादि के काव्यात्मा होने में किसी का भी वैमत्य नहीं है। वैमत्य है तो केवल इनके व्यंग्य होने के विषय में। अर्थात्, हम इन्हें व्यंग्य न मान कर अनुमेय मानते हैं, और हमसे ध्वनिकार का वैमत्य भी कैसे संभव है, जब कि व्यंजना का सर्वथा अभाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि शब्द की एक ही शक्ति 'अभिधा' और अर्थ की एक ही शक्ति 'लिंगता' अर्थात अनुमिति होती है, दूसरी नहीं।"[2]

इससे स्पष्ट है कि महिमभट्ट रस के संबंध में शंकुक की भाँति अनुमितिवादी हैं। रस के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य भेदों को भी वे अनुमान के ही अन्तर्गत रखते हैं। अपने 'व्यक्तिविवेक' के तीन विमर्शों में से प्रथम में ध्वनिकार की ध्वनि की परिभाषा उद्धृत कर तथा उसके अनेक दोष दिखा कर उन्होंने कहा है कि विचार करने पर यह परिभाषा अनुमान की ही प्रतीत होती है। फिर, शब्द और अर्थ के व्यंजकत्व का प्रत्याख्यान करते हुए यह बताया है कि "शब्द की अभिधा के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं होती। अर्थ की भी 'अनुमिति' नामक एक ही शक्ति होती है। इस प्रकार अर्थ वाच्य या अनुमेय रूप से दो ही प्रकार का होता है, जिसमें अनुमेयार्थ फिर वस्तु, अलंकार तथा रसादि रूप से तीन प्रकार का होता है। वस्तु तथा अलंकार तो वाच्य भी होते हैं, पर रस, भाव इत्यादि सदा अनुमेय ही होते हैं, वाच्य कदापि नहीं। इसे आगे कहेंगे।"[3] इसके अनन्तर इसी रसादि तृतीय भेद का सविस्तर विवेचन है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य का विषय है, जो अर्थविषयक तथा शब्दविषयक होने से दो प्रकार का होता है। अर्थविषयक अनौचित्य रस-परिपाक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के अनुचित प्रयोग से बताया गया है। शब्द-विषयक अनौचित्य विधेयाविमर्श, प्रक्रम-भेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यवचन रूप से पाँच प्रकार का बताया गया है। तृतीय विमर्श में 'ध्वन्यालोक' से ध्वनि के चालीस उदाहरण ले कर उन्हें अनुमान के अन्तर्गत दिखाया गया है।

---

१. अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥——व्यक्तिविवेक, मंगल श्लोक।

२. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति। संबंधतः कुतश्चित्, सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥ इति। एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं, नान्यस्य।.. काव्यास्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्त्ययोतोऽस्य कुतः। शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता। न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्। व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, कारिका २५–२६।

३. अर्थोपि द्विविधः वाच्योनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः, स एव मुख्य इत्युच्यते। ... तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद् यदर्थान्तरमनुभूयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः, वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्च। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः अन्यस्त्वनुमेय एव इति वक्ष्यते।

डा० दासगुप्त, पं० बलदेव उपाध्याय तथा अन्य विद्वानों का मत है कि मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में महिम भट्ट के ध्वनिविषयक मत का खण्डन किया है, साथ ही उनके अनौचित्यविषयक सिद्धान्त को अपने दोष-प्रकरण (सप्तम उल्लास) में भली भाँति अपनाया है। पर इस संबंध में टीकाकारों में परस्पर मतभेद होने के कारण डा० काणे इसे कुछ सन्दिग्ध मानते हैं। उनका कथन है कि माणिक्यचन्द्र और सोमेश्वर इत्यादि प्राचीन टीकाकारों ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास के किसी भी अंश को महिमभट्ट का नहीं कहा है। गोविन्द ठक्कुर इत्यादि अपेक्षाकृत अर्वाचीन टीकाकारों ने अवश्य **ननु वाच्यादसंबंधं तावन्न प्रतीयते** इत्यादि अवतरण को महिम का बताया है। इसलिए निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके ध्वनिविषयक मत को भले ही अमान्य कहा जाय, पर इतना तो सबको मानना पड़ेगा कि व्यंजना का खण्डन करके ध्वनि के समस्त उदाहरणों को अनुमान के अन्तर्गत दिखाने में महिमभट्ट ने अपने प्रकृष्ट पांडित्य का परिचय दिया है।

अपने 'अलांकरसर्वस्व' में रुय्यक ने इनके मत का संक्षिप्त विवरण दिया है। अतः ये ११०० ई० के पूर्व हुए होंगे, और, जैसा पहले कह आए हैं, अभिनव और कुन्तक की आलोचना करने के कारण ये १०२० ई० के बाद हुए होंगे। डा० दासगुप्त ने यही अनुमान किया है तथा महिम भट्ट का समय मम्मट के पूर्व अर्थात् १०२० ई० से १०६० ई० के बीच माना है।

भोज

महिम भट्ट का समय 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'श्रृंगार-प्रकाश' के रचयिता धारेश भोज का भी समय जान पड़ता है। इनका ज्योतिष शास्त्र का 'राजमृगांक' शायद १०४२-१०४३ ई० में रचा गया था। डा० भंडारकर ने भी इनका समय एकादश शताब्दी ई० का पूर्वार्ध सिद्ध किया है। भोज के पितृव्य मुंज के सन् ९९४ से ९९७ के बीच मार डाले जाने पर भोज के पिता सिन्धुराज गद्दी पर बैठे। 'नवसाहसांक चरित' में, जो सिन्धुराज की आज्ञा से लिखा गया था, उनकी विजयों का वर्णन हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि वे कुछ वर्षों तक अवश्य ही गद्दी पर रहे होंगे। इस प्रकार भोज का राज्य-काल १००५ ई० के पूर्व नहीं हो सकता। फिर, चूँकि भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का सं० ११११२ अर्थात् १०५५-५६ ई० का एक लेख मान्धाता नामक स्थान में प्राप्त हुआ है, अतः वे १०५५ ई० के बाद भी नहीं हो सकते। अतः डा० भंडारकर का उपर्युक्त अनुमान अर्थात् एकादश का पूर्वार्ध ठीक ही है।

इनके विभिन्न विषयों के कुल ८४ ग्रन्थ बताए जाते हैं, पर किसी विशेष प्रमाण के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। साहित्य शास्त्र पर इनके उपर्युक्त दो ग्रन्थ मिलते हैं। दोनों ही विशालकाय हैं, पर द्वितीय तो ३६ अध्यायों का होने के कारण इस विषय का संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा ग्रन्थ कहा जाता है। 'सरस्वती-कंठाभरण' भी पाँच परिच्छेदों में विभक्त ६४३ कारिकाओं का ग्रन्थ है। इनमें से कुछ कारिकाएँ तो 'काव्यादर्श', 'ध्वन्यालोक' आदि से अक्षरशः ही ले ली गई हैं, पर अनेक ऐसी हैं जो अक्षरशः न ली जाने पर भी प्रायः प्राचीन शास्त्रों

पर आधारित हैं। इसमें प्राचीन कवियों के ग्रन्थों से १५०० से ऊपर श्लोक उद्धृत हैं जिनमें २०० श्लोक तो 'काव्यादर्श' के ही हैं। कालिदास और भवभूति के उद्धरण तो पद-पद पर मिलते हैं। अतः यह ग्रन्थ संग्रहात्मक ही कहा जा सकता है, मौलिकता इसमें बहुत कम है। प्रथम अध्याय में १६ पद-दोष, १६ काव्य-दोष तथा १६ वाक्यार्थ-दोष, २४ शब्द-गुण तथा २४ वाक्यार्थ-गुण बताए गए हैं। द्वितीय में २४ शब्दालंकार, तृतीय में २४ अर्थालंकार, चतुर्थ में शब्द तथा अर्थ दोनों के २४ अलंकार एवं पंचम में रस, भाव, नायक, नायिका, पाँच सन्धियाँ तथा ४ वृत्तियाँ आदि वर्णित हैं। इस पर चौदहवीं शताब्दी के रत्नेश्वर की 'रत्नदर्पण' नामक टीका है।

भोज के कई मत बड़े विचित्र हैं। उपमा, आक्षेप, समासोक्ति, अह्नुति तथा अन्य कई अलंकारों को उभयालंकार में मानने में भोज अकेले ही हैं। अन्य किसी आचार्य ने उनके इस मत का अनुसरण नहीं किया। संभव है, अपने इस मत को उन्होंने 'अग्निपुराण' के ३४४वें अध्याय से लिया हो। भोज ने रीति को शब्दालंकारों में गिनाया है और उसके वैदर्भी, पांचाली, गौडीया, अवन्तिका, लाटीया और मागधी—ये छः भेद किए हैं। इन्होंने जैमिनि के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अभाव, इन छः प्रमाणों को भी अर्थालंकार माना है। यद्यपि पंचम परिच्छेद में इन्होंने ८ रस कहे हैं, पर विवेचन के ढंग से लगता है कि इसी के विस्तृत प्रतिपादन के लिए उन्होंने अपना बृहत्काय 'शृंगारप्रकाश' लिखा। यह ग्रन्थ विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की भाँति काव्यशास्त्र के सामान्य विषयों के अतिरिक्त उसके विशिष्ट विषय नाट्य शास्त्र का भी विवेचन करता है। अभिमान तथा अहंकार से अभिन्न शृंगार को ही एक मात्र रस मानने में भोज ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इसमें भोज ने रस को सुख रूप और दुःख रूप दोनों ही कहा है।[1] उन्होंने भामह का अनुसरण करते हुए काव्य का लक्षण **शब्दार्थों सहितौ काव्यम्** दिया है।

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त भोज का 'शृंगारमंजरी' नामक कथा ग्रन्थ, लगभग ७००० श्लोकों का 'समरांगणसूत्रधार' भी है तथा 'राजमार्तण्ड' नामक योगसूत्रों की वृत्ति भी है। 'राजमार्तंड' नाम के इनके दो और ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें एक धर्म शास्त्र पर तथा दूसरा वैद्यक शास्त्र पर है। व्याकरण शास्त्र का भी इनका एक ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक है। इस प्रकार भोज बड़े प्रशस्त विद्वान् तथा लेखक प्रतीत होते हैं।

क्षेमेन्द्र

भोज की ही भाँति काश्मीर निवासी क्षेमेन्द्र भी ४० से ऊपर ग्रन्थों के रचयिता हैं। रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा का संक्षेप इन्होंने 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी' तथा 'बृहत्कथामंजरी' नाम से किया। साहित्य शास्त्र पर इनके दो मुख्य ग्रन्थ हैं—'औचित्यविचारचर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण'। इनके अतिरिक्त छन्दःशास्त्र पर इनका प्रसिद्ध 'सुवृत्ततिलक' नामक ग्रन्थ है।

---

१. **रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः।—शृंगारप्रकाश।**

'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का प्राण[1] कहा है। यह कोई नई बात नहीं है। इनके पूर्व 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने इस पर पर्याप्त विचार किया था और क्षेमेन्द्र का सिद्धान्त उनके इस संक्षिप्त रूप में कहे गए सिद्धान्त का पूर्वतर विकास ही है कि 'रस के भंग में अनौचित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नहीं है, काव्य में प्रसिद्ध और उचित का समावेश ही रस-परिपाक का रहस्य है।'[2] औचित्य का लक्षण देते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि जो जिसके योग्य या उपयुक्त होता है, उसे आचार्य 'उचित' कहते हैं, और उचित के ही भाव को 'औचित्य' कहते हैं।[3] आगे औचित्य का संबंध पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल, देश आदि के साथ भली भाँति दिखा कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का क्षेत्र इतना व्यापक बना दिया कि यह तत्व प्राचीन होते हुए भी अभिनव सा प्रतीत होने लगा और इस अभिनव रूप में उसकी महत्ता बहुत बढ़ गई। परन्तु क्षेमेन्द्र ने रस, अलंकार, रीति या ध्वनि सम्प्रदायों की भाँति औचित्य को इससे पृथक् कोई सम्प्रदाय नहीं कहा, केवल 'ध्वन्यालोककार' के पूर्व प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए काव्य के प्राणभूत रस के परिपाक के लिए उसे अत्यन्त उपेक्षित मान कर उसका जहाँ-जहाँ क्षेत्र संभव था, वहीं-वहीं उसका विशिष्ट स्वरूप प्रदर्शित किया। औचित्य की इस व्यापक कल्पना के लिए संस्कृत साहित्य शास्त्र सदा उनका ऋणी रहेगा।

'कविकण्ठाभरण' पाँच संधियों (परिच्छेदों) में विभक्त ५५ कारिकाओं का ग्रन्थ है, जिसमें काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है। इसकी पाँच सन्धियाँ कवित्व-प्राप्ति, शिक्षा, चमत्कृति, गुण-दोष-बोध तथा परिचय-प्राप्ति हैं। 'सुवृत्ततिलक' में तीन परिच्छेद हैं, जिन्हें ग्रन्थकार ने विन्यास कहा है। इसमें विषयानुकूल छन्दों के प्रयोग के लिए निर्देश दिए गए हैं। साथ ही कौन कवि किस छन्द-विशेष में निष्णात थे इसे भी बताया है। पाणिनि के उपजाति, भारवि के वंशस्थ, कालिदास के मन्दाक्रान्ता, रत्नाकर के वसन्ततिलका, भवभूति के शिखरिणी तथा राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित छन्दों की क्षेमेन्द्र ने बहुत प्रशंसा की है।

'औचित्यविचार' तथा 'कविकण्ठाभरण' दोनों ही में क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि यह ग्रन्थ अनन्तदेव के राज्य-काल में लिखा गया। अनन्तदेव का राज्य-काल १०२८ से १०६३ ई० तक था। अतः इनका रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी का मध्य जान पड़ता है। ९८० से १०२० ई० के बीच में रचना करने वाले अभिनव के शिष्य होने के कारण इनका जीवन-काल संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा होगा। पं० बलदेव उपाध्याय का मत है कि ये मम्मट के समकालीन थे,

---

१. **औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।**
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥—कारिका ३।

२. **अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।**
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—ध्वन्यालोक

३. **उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।**
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥—कारिका

उचित नहीं लगता, क्योंकि जैसा आगे स्पष्ट किया गया है, मम्मट का समय संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है।

मम्मट

अभी कहा गया है कि, आचार्य मम्मट का समय क्षेमेन्द्र के कुछ ही समय बाद पड़ता है। उदात्त अलंकार के उदाहरण रूप में उद्धृत श्लोक में भोज की दानवीरता तथा उदारता की आत्यन्तिक प्रशंसा होने से यह अनुमान होता है कि मम्मट ने १०५४ ई० के बाद अपना 'काव्यप्रकाश' लिखा होगा, क्योंकि भोज के प्रसंग में पहले कहा जा चुका है कि उनका राज्य-काल अधिक से अधिक १०५४ ई० तक हो सकता है। यदि यह श्लोक भोज के समय में रचा गया भी मान लिया जाय, तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह उनके राज्य-काल के उत्तरवर्ती भाग में ही रचा गया होगा, क्योंकि सुदूर देशों में प्रसिद्धि फैलने के पूर्व भोज का पर्याप्त समय राज्य करते बीता होगा।

इस प्रकार 'प्रकाश' के १०५० ई० के पूर्व लिखे जाने की संभावना नहीं है। माणिक्य-चन्द्र ने 'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका सं० १२१६ (११५९-६० ई०) में लिखी थी जिसमें उन्होंने पूर्ववर्ती टीकाकारों का उल्लेख किया है। फिर राजानक रुय्यक ने भी, जो काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८-११४९ ई०) के सन्धि-विग्रहिक महाकवि मंख के गुरु थे, 'काव्यप्रकाश' का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट का समय ११०० ई० के बाद का नहीं हो सकता। इस प्रकार वे ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध के हो सकते हैं।

'काव्यप्रकाश' का महत्त्व इसी बात से जाना जा सकता है कि अपने रचना-काल के लगभग ४०, ५० वर्षों के भीतर ही इस ग्रन्थ ने वह प्रामाणिकता प्राप्त की कि राजानक रुय्यक जैसे प्रसिद्ध आलंकारिक ने भी इसका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया और इसकी कई एक टीकाएँ लिखी गईं। स्वयं रुय्यक (रुचक) ने भी 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी। मम्मट के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही होने वाले 'अमरुशतक' के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव ने तो 'अमरुशतक' के ७२वें श्लोक (**लीलातामरसाहतो०** इत्यादि) में मम्मट के द्वारा प्रदर्शित जुगुप्साश्लील दोष के संबंध में उनकी दृष्टि को सदोष बताते हुए भी उन्हें 'वाग्देवतादेश' अर्थात् सरस्वती का अवतार कहा। इस पर अभी तक ७५ के करीब टीकाएँ मिल चुकी हैं। भगवद्गीता को छोड़-कर संस्कृत के समस्त काव्य साहित्य में शायद ही कोई ऐसा[1] ग्रन्थ होगा जिसपर इतनी अधिक टीकाएँ मिलती हो। इनमें माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ तथा जयन्त की टीकाएँ सबसे प्राचीन हैं और नरसिंह ठाकुर की 'प्रदीप' नामक टीका सबसे अधिक पाण्डित्यपूर्ण है। 'प्रदीप' पर वैद्यनाथ की प्रभा तथा

---

१. निर्णयसिन्धु के कर्ता कमलाकर भट्ट ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका के आरम्भ में लिखा है—'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि। ताभ्यस्त्वया विशेषोः यः पण्डितैः सोऽवधा-र्यताम्॥' महेश्वर ने भी अपनी टीका 'भावार्थचिन्तामणि' में लिखा है—'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः। सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोकताम्।'

नागेशभट्ट जैसे अप्रतिम विद्वान् की 'उद्योत' टीका है। इनके अतिरिक्त रुय्यक (रुचक) की 'काव्यप्रकाशसंकेत', विद्याचक्रवर्ती की 'सम्प्रदायप्रकाशिनी', गोपालभट्ट की 'साहित्यचूड़ामणि', भीमसेन की 'सुधासागर' इत्यादि अन्य प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

'काव्यप्रकाश' की इतनी प्रसिद्धि के कारण के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ संग्रहात्मक होते हुए भी प्रथम श्रेणी का इसलिए माना जाता है कि इसने साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में शताब्दियों से चलते रहने वाले समस्त विचारों को संक्षेप में रख दिया, साथ ही स्वयं वह उद्गम-स्थान (प्रभव) बन गया जिससे बाद में दूसरी नई विचारधाराएँ निःसृत हुईं। वेदान्त शास्त्र में शांकर भाष्य अथवा व्याकरण शास्त्र में महाभाष्य की भाँति ही साहित्य शास्त्र में 'काव्य-प्रकाश' से सारा भावी शास्त्रीय व्याख्यान तथा विकास हुआ है। केवल १४३ कारिकाओं में, जो प्रायः सूत्र नाम से भी उद्धृत की गई हैं, काव्यशास्त्र का संपूर्ण विषय समाविष्ट कर दिया गया है। यद्यपि मम्मट का इन विषयों का निरूपण अपने पूर्ववर्तियों के ग्रन्थों पर आधारित है, उन्होंने भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन तक के मतों की यत्र-तत्र स्वतंत्र आलोचना की है।

इस ग्रन्थ के तीन भाग––कारिकाएं, वृत्ति, तथा उदाहरण हैं। इसमें कुल दस उल्लास हैं। प्रथम में काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण तथा उतम, मध्यम और अधम––ये तीन भेद किए गए हैं। द्वितीय में शब्दों की तीन प्रकार की शक्तियाँ तथा उनसे निकलने वाले तीन प्रकार के अर्थ–वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य–वर्णित हैं। तृतीय में शब्द के अतिरिक्त अर्थ की व्यंजकता तथा उसका स्वरूप वर्णित है। चतुर्थ में उत्तम काव्य, ध्वनि काव्य के भेदोपभेद, रस का स्वरूप और उसके विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण है। पंचम में मध्यकाव्य, गुणीभूत व्यंग्य एवं उसके आठ भेदों के वर्णन के अनन्तर व्यंजना-विरोधी समस्त तर्कों के खंडन के साथ उसकी सुदृढ़ स्थापना की गई है। इस उल्लास का महत्त्व इसी कारण सारे 'काव्यप्रकाश' में सर्वोपरि है। इसके बाद किसी परवर्ती आचार्य ने ध्वनि का विरोध करने का साहस नहीं किया। इसीसे मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि मिली। षष्ठ उल्लास में अधम काव्य 'चित्र' तथा उसके दो भेदों––शब्दचित्र तथा अर्थचित्र का संक्षिप्त निरूपण है। सप्तम में पद, वाक्य, अर्थ तथा रस के दोष वर्णित हैं। अष्टम में गुणों का लक्षण, अलंकारों से उनका भेद तथा पूर्वसम्मत गुणों का ओज, प्रसाद तथा माधुर्य में समावेश आदि निरूपित हैं। नवम में शब्दचित्र या शब्दालंकार तथा दशम में अर्थचित्र या अर्थालंकार वर्णित हैं।

बाद के बहुत से टीकाकारों का कथन है कि कारिकाएँ भरतकृत हैं और वृत्ति मम्मट-कृत। विद्याभूषण ने 'साहित्यकौमुदी' में, महेश्वर ने 'भावार्थचिन्तामणि' में तथा जयराम ने अपने 'तिलक' में ऐसा ही विचार प्रकट किया है। इस विचार के लिए तीन मुख्य कारण दिए गए हैं––एक, कुछ कारिकाएँ भरत के 'नाट्यशास्त्र' की कारिकाओं से सर्वथा अभिन्न हैं, जैसे चतुर्थ उल्लास में रसों, स्थायी भावों तथा ३३ व्यभिचारी भावों का नाम देने वाली २९ से ३४ तक की कारिकाएँ नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की १५, १७, १८-२१ कारिकाएँ हैं। दूसरे, प्रथम कारिका की वृत्ति में मम्मट ने कारिकाकार के लिए 'ग्रन्थकृत' इस अन्य पुरुष का प्रयोग किया है, जिससे

लगता है कि दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। तीसरे, **समस्त वस्तुविषयंश्रौता आरोपिता यदा** (काव्य प्रकाश, दशम उल्लास) इस कारिका तथा इसकी **बहुवचनमविवक्षितम्** इस वृत्ति में मतभेद होने से भी दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति लगते हैं। किन्तु, जैसा बहुसंख्यक आधुनिक विद्वानों का मत है, विचार करने पर ये तीनों ही कारण बड़े निर्बल प्रतीत होते हैं। 'काव्यप्रकाश' की बहुत थोड़ीसी कारिकाएँ 'नाट्यशास्त्र' में मिलती हैं। रस, भाव इत्यादि का निरूपण करने वाली कारिकाओं को मम्मट ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' से ले कर 'काव्यप्रकाश' में इसलिए सन्निविष्ट किया कि एक तो वे स्वयं सारी बात शायद उतने संक्षेप में नहीं रख सकते थे; दूसरे, रस के विषय में 'नाट्यशास्त्र' के प्रामाणिक हो जाने के कारण उसी की कारिकाओं को अपने ग्रन्थ में रख कर वे शायद अपने रस-विवेचन की प्रामाणिकता स्थापित करना चाहते थे। अपने लिए वृत्ति में अन्य पुरुष के प्रयोग की बात बड़ी सामान्य है। प्राचीन ग्रन्थकार अपने मत को प्रथम पुरुष में प्रकट करना बड़ी अहम्मन्यता की बात समझते थे, शायद इसी कारण अन्य पुरुष का प्रयोग उस समय का प्रचलन हो गया था। ऊपर उद्धृत दशम उल्लास की कारिका तथा उसकी वृत्ति में मतभेद समझना भ्रान्तिमूलक है। उपर्युक्त कारिका में समस्त-वस्तु-विषयक रूपक का, जिसमें प्रायः कई आरोप्यमाण होते हैं, सामान्य लक्षण दिया गया है और वृत्ति में उसके एक विशिष्ट प्रकार की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि आरोप्यमाण (उपमान) दो भी हों, तो भी समस्त-वस्तु-विषयक रूपक हो सकता है। चूँकि इसका स्पष्ट निर्देश कारिका में नहीं हो पाया था, इसीलिए उसे वृत्ति में स्पष्ट करना आवश्यक हुआ।

कारिकाएँ और उनकी वृत्ति एक ही व्यक्ति की लिखी हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए कई सुदृढ़ कारण हैं—एक तो यह कि मम्मट ने कहीं स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि वे दूसरे की कारिकाओं का व्याख्यान कर रहे हैं; दूसरे, वृत्ति में अलग से कोई मंगल श्लोक नहीं आया है। यदि वृत्तिकार कारिका से भिन्न व्यक्ति होते तो अवश्य ही अलग से मंगल श्लोक लिखते, जैसा सभी वृत्ति मात्र लिखने वालों ने किया है और तीसरा सुदृढ़तम कारण यह है कि यदि कारिकाकार भरत मुनि होते तो चतुर्थ उल्लास की **कारणान्यथ कार्याणि**. . . . . .इत्यादि २७-२८ कारिकाओं के समर्थन में मम्मट अपनी वृत्ति में भरत के रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए **तदुक्तं भरतेन विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** न लिख कर **तदुक्तमनेनैवान्यत्र** या **तदुक्तं कारिकाकारेणैवान्यत्र** इत्यादि लिखते। चौथा कारण यह है कि न केवल माणिक्यचन्द्र, जयन्त, सरस्वतीतीर्थ, सोमेश्वर आदि किसी प्राचीन टीकाकार ने कारिकाओं और वृत्ति के रचयिताओं में कोई भेद नहीं किया है, अपितु हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, पण्डितराज जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थकारों ने मम्मट का ही कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता के रूप में उल्लेख किया है। इन कारणों से डा० काणे, डा० दासगुप्त इत्यादि का मत है कि कारिकाएँ और वृत्ति दोनों ही मम्मट की लिखी हुई हैं। उदाहरण अवश्य प्राचीन ग्रन्थकारों के हैं। इसके अतिरिक्त परिकर अलंकार के आगे का ग्रन्थ-भाग मम्मटकृत न हो कर किसी अल्लट या अलक का लिखा हुआ है। यह बात माणिक्यचन्द्र, अर्जुनवर्मदेव आदि ग्रन्थकारों के उल्लेखों से ज्ञात होती है।

राजानक मम्मट के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों की चर्चा में यत्र-तत्र किया जा चुका है, तथापि दो-चार सिद्धान्त यहाँ दिए जा रहे हैं–(१) मम्मट पदों के संकेत या वाच्यार्थ के संबंध में वैयाकरणों का मत मानते थे। उनके मत से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—ये चतुर्विध वाच्यार्थ-वाचक पदों के होते हैं। (२) अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना भी एक तीसरा व्यापार होता है। रसादि की अभिव्यक्ति ऐकान्तिक रूप से इसी तृतीय व्यापार से होती है। रस का सिद्धान्त मम्मट का वही है जो आचार्य अभिनवगुप्त का है। (३) वक्ता, प्रतिपाद्य, प्रकरण आदि के औचित्य से दोष कहीं-कहीं गुण भी हो जाते हैं और कहीं-कहीं न दोष ही रहते हैं और न गुण।[1] (४) जो काव्य की आत्मा रस के विघातक हैं, वे ही प्रधान रूप से दोष हैं। रस की प्रतीति के लिए विभाव इत्यादि तथा उनके निरूपण के लिए उचित शब्दों और अर्थों की अपेक्षा होने के कारण इनके विघातक भी परम्परानुसार रस के विघातक होने से गौण रूप से दोष कहे जाते हैं। (५) काव्य की आत्मा रस के प्रधान या साक्षात् रूप से उपकारक या पोषक गुण कहलाते हैं, और जो रस के अंगभूत शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष द्वारा कभी-कभी रस के पोषक बन जाते हैं, वे अलंकार कहलाते हैं। गुण जहाँ रस के ही पोषक होते हैं, वहाँ अलंकार प्रधान रूप से अर्थ के उत्कर्षक होते हैं और कभी-कभी गौण रूप से रस के भी। गुण भी मुख्यतः रस के ही धर्म होते हैं, तथापि अनुकूल वर्णों, पदों, अर्थों इत्यादि से अभिव्यक्त होने के कारण गौण रूप से उनके धर्म भी कहे जाते हैं, जैसे मधुर वर्ण, ओजस्वी पद या प्रसाद गुणयुक्त अर्थ इत्यादि। (६) अलंकारों का शब्द और अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। जो अलंकार शब्द-विशेष के रहने पर तो काव्य में रहें और उनके अभाव में न रहें, वे शब्दालंकार हैं। इसी प्रकार जो अलंकार अर्थ-विशेष के रहने पर रहें और उसके अभाव में न रहें, वे अर्थालंकार हैं। रुय्यक ने इसका खण्डन करके आश्रयाश्रयिभाव माना है।

राजानक रुय्यक

राजानक मम्मट के प्रसंग में कह चुके हैं कि राजानक रुय्यक काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८-११४९ ई०) के सन्धिविग्रहिक[2] महाकवि मंख के गुरु थे। इस प्रकार इनका समय ११५० ई० के पूर्व ही होना चाहिए। ११५९-६० ई० में रचित माणिक्यचन्द्र के 'काव्यप्रकाशसंकेत' में भी रुय्यक का कई बार उल्लेख आया है। इससे भी पूर्वोक्त बात का ही समर्थन होता है। फिर, १०८५ ई० के आसपास लिखे गए 'विक्रमांकदेवचरित' को अपने 'अलंकारसर्वस्व' में उद्धृत करने

---

१. वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपिगुणःक्वचित् क्वचिन्नोभौ।—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, का० ५९।

२. यह मत पं० बलदेव उपाध्याय का है जो समुद्रबन्ध के अनुसार ठीक लगता है। परन्तु डा० काणे ने अपने 'संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास' में मंख को राजा जयसिंह के सन्धिविग्रहिक का छोटा भाई कहा है।

तथा ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में होने वाले मम्मट की आलोचना करने के कारण रुय्यक ११०० ई० के पूर्व भी नहीं हो सकते। इस प्रकार इनका समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। 'सहृदयलीला' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इनका नाम रुचक भी था। 'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने भी रुचक के नाम से प्रचलित 'काव्यप्रकाशसंकेत' को रुय्यक की ही रचना कहा है।

राजानक मम्मट की भाँति राजानक रुय्यक भी प्रथम श्रेणी के आलंकारिकों में हैं। जिस प्रकार मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का बाद के ग्रन्थकारों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार राजानक रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' का भी प्रभाव व्यापक रहा। मम्मट की भाँति रुय्यक भी कट्टर ध्वनिवादी आचार्य हैं। इनका 'अलंकारसर्वस्व' अलंकारों पर सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें ७५ अलंकारों तथा ६ शब्दालंकारों का पांडित्यपूर्ण विवेचन है। अलंकारों का रुय्यक द्वारा किया गया विवेचन मम्मट के विवेचन से भी अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। रुय्यक ने मम्मट के द्वारा निरूपित अलंकारों के अतिरिक्त परिणाम, रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को भी अलंकार माना है। विकल्प तथा विचित्र, दो सर्वथा नवीन अलंकारों की भी उद्भावना रुय्यक की ही है। विश्वनाथ, विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित पर इनका पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

'काव्यप्रकाश' की ही भाँति 'अलंकारसर्वस्व' के भी सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण, तीन भाग हैं और सूत्रों तथा वृत्ति के कर्तृत्व के विषय में मतभेद है। उदाहरण तो सभी दूसरे पूर्ववर्ती ग्रन्थों से लिए गए हैं। 'काव्यमाला' सीरीज़ में प्रकाशित प्रति के पहले श्लोक[1] से ज्ञात होता है कि वृत्ति भी रुय्यक की अपनी ही है। रुय्यक के बाद ७५ वर्ष के ही भीतर होने वाले प्राचीनतम टीकाकार जयरथ ने भी इस श्लोक को ठीक वैसा ही मान कर इसकी टीका की है, जैसा उपर्युक्त संस्करण में छपा है। विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की 'रत्नायण' टीका के रचयिता अपेक्षाकृत अर्वाचीन कुमारस्वामी ने भी रुचक या रुय्यक को ही वृत्तिकार माना है। परन्तु इस ग्रन्थ की तंजौर वाली हस्तलिखित प्रति में इस श्लोक का दूसरा पाठ[2] मिलता है। समुद्रबन्ध की टीका के साथ 'त्रिवेन्द्रम' सीरीज़ में प्रकाशित संस्करण में भी पाठ दूसरा ही मिलता है। समुद्रबन्ध ने टीका के अन्त में **इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः। सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्॥** श्लोक लिखा है। इसके अनुसार वृत्ति स्पष्ट ही मंखक की लिखी सिद्ध होती है। डा० काणे के अनुसार दूसरा मत परित्याज्य है, क्योंकि समुद्रबन्ध को छोड़ कर शायद ही अन्य किसी ने वृत्ति को मंखककृत बताया हो। फिर, समुद्रबन्ध ने १३०० ई० के आसपास अपनी टीका लिखी थी और जयरथ ने लगभग ७५ वर्ष पूर्व तेरहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में। इसलिए भी जयरथ का ही मत मान्य है।

---

१. **निजालंकारसूत्राणां वृत्या तात्पर्यमुच्यते।**

२. **गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्या तात्पर्यमुच्यते॥**

'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त रुय्यक के अन्य कई ग्रन्थ हैं—(१) अलंकारानुसारिणी, (२) काव्यप्रकाशसंकेत, (३) व्यक्तिविवेकविचार (इन तीनों का उल्लेख जयरथ ने अपनी टीका में किया है।) (४) श्रीकण्ठस्तव (इसका उल्लेख रुय्यक ने स्वयं 'अलंकारसर्वस्व' में इस प्रकार किया है—**उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे**), (५) सहृदयलीला, (६) नाटकमीमांसा, (७) साहित्यमीमांसा और (८) हर्षचरितवार्तिक ('व्यक्तिविवेकविचार' में अन्त के तीन ग्रन्थों का उल्लेख आया है)। अन्तिम दो का उल्लेख 'अलंकार-सर्वस्व' में भी हुआ है। 'साहित्यमीमांसा' नाम का जो ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम सिरीज़ में १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ था, उससे यह ग्रन्थकार वक्रोक्तिजीवितकार से अधिक प्रभावित दिखाई देता है। इसकी दो विशेषताएँ यह हैं कि एक तो इसमें व्यंजना-वृत्ति के निरूपण के स्थान पर तात्पर्य-वृत्ति का निरूपण हुआ है और उसी के द्वारा रस की प्रतीति बताई गई है और दूसरे इसमें कुछ ही अर्थालंकारों का निरूपण करने के बाद समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति इत्यादि को वक्रत्व के अन्तर्गत रख दिया गया है। 'अलकारसर्वस्व' से रुय्यक ध्वनि के कट्टर पोषक[1] ज्ञात होते हैं और इसमें ७५ अर्थालंकार वर्णित हैं। इस प्रकार परस्पर मत-विरोध होने से निश्चयपूर्वक यह कह सकना कठिन है कि उपर्युक्त ग्रन्थ ही रुय्यककृत 'साहित्यमीमांसा' है, जिसका उल्लेख रुय्यक ने 'सर्वस्व'[2] में स्वयं किया है। डा० राघवन को इसीलिए इस ग्रन्थ के रुय्यककृत होने में संदेह है। परन्तु डा० काणे इसे रुय्यककृत मानने के ही पक्ष में अधिक हैं, यद्यपि कुछ संकोच उन्हें भी है। उन्होंने दोनों के विरोध-परिहार के लिए यह सम्भावना दिखाई है कि शायद यह ग्रन्थ तब लिखा गया हो जब रुय्यक अपेक्षाकृत अल्पवयस्क और वक्रोक्तिजीवितकार से प्रभावित थे, एवं 'अलंकारसर्वस्व' उस समय की रचना हो जब वे आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त के प्रभाव में आ गए थे और उनकी बुद्धि परिपक्व हो चुकी थी।

अन्य आचार्य

आचार्य रुय्यक के बाद सत्रहवीं शताब्दी के पंडितराज जगन्नाथ को छोड़ कर अन्य कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ, जिसने साहित्यशास्त्र के विवेचन में विशेष मौलिकता दिखाई हो। प्रायः सभी ग्रन्थकार पूर्वाचार्यों के अनुगामी ही रहे और रुचि-भेद से यहाँ-वहाँ थोड़ा बहुत भेद प्रदर्शित कर दिया। इनका परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है।

वाग्भट (प्रथम) का 'वाग्भटालंकार' पाँच परिच्छेदों का ग्रन्थ है। प्रथम में काव्य के लक्षण, हेतु इत्यादि; द्वितीय में दोष; तृतीय में दस गुण; चतुर्थ में चार शब्दालंकार तथा ३५ अर्थालंकार और पंचम में नौ रस तथा नायक-नायिका-भेद वर्णित हैं। ये रुय्यक के लगभग समकालीन थे। **हेमचन्द्र** जैन ग्रन्थकारों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका अलंकारशास्त्र विषयक 'काव्यानुशासन' आठ अध्यायों का केवल संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसमें मौलिकता नहीं के बराबर है।

---

१. **अस्ति तावद्व्यंग्यनिष्ठो व्यंजनाव्यापारः।**

२. **एषा (उत्प्रेक्षा) च समस्तोपमा प्रतिपादकविषयेऽपि।—हर्षचरितवार्तिक।**

प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, हेतु (प्रतिभा तथा उसके सहायक व्युत्पत्ति और अभ्यास), लक्षणा इत्यादि; द्वितीय में रस; तृतीय में पद, वाक्य; चतुर्थ में अर्थ तथा रस-दोष, ओज, प्रसाद, तथा माधुर्य गुण एवं उनके अभिव्यंजक वर्ण; पंचम में ६ शब्दालंकार; षष्ठ में २९ अर्थालंकार; सप्तम में नायक-नायिकाओं के लक्षण तथा भेद इत्यादि और अष्टम में काव्य के प्रेक्ष्य तथा श्रव्य दो मुख्य भेद एवं उपभेदों का कथन है। आचार्य हेमचन्द्र का जन्म 'प्रभावकचरित' के अनुसार १०८० ई० में हुआ और मृत्यु ११७२ ई० में हुई। **जयदेव** का दस मयूखों का ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' १२०० से १२५० ई० के बीच का है। अपना नाम 'पीयूषवर्षी' देने से ये 'प्रसन्नराघव' के भी कर्ता ज्ञात होते हैं। इन्होंने काव्यप्रकाशकार' मम्मट के **अनलंकृती पुनः क्वापि** मत का खण्डन किया है।[1] किन्तु 'काव्य-प्रकाश' के ही अनुसार गुण, रस, व्यंजना, गुणीभूत व्यंग्य आदि का निरूपण किया है। **विद्याधर** की 'एकावली' ८ उन्मेषों का ग्रन्थ है। इस पर मल्लिनाथ की 'तरल' टीका है। प्रथम उन्मेष में 'ध्वन्यालोक' का पूर्णतः अनुसरण है, वैसे सम्पूर्ण ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के आधार पर लिखा गया है। अलंकारों के विवेचन में अवश्य विद्याधर ने 'अलंकारसर्वस्व' के मत का अनुसरण किया है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी ई० का अन्तिम तथा चौदहवीं शताब्दी का पूर्व पाद है। **विद्यानाथ** का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ९ प्रकरणों का ग्रन्थ है, जिनमें क्रमशः—नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, मिश्रालंकार का निरूपण हुआ है। इस पर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी की 'रत्नायण' नाम की टीका है। विद्याधर की ही भाँति विद्यानाथ भी सामान्य रूप से मम्मट का आधार ग्रहण करते हुए भी अलंकार के विषय में रुय्यक का अनुसरण करते हैं। इनका समय विद्याधर के कुछ ही बाद चौदहवीं शताब्दी ईसवी का प्रथम पाद है। **वाग्भट (द्वितीय)** का 'काव्यानुशासन' पाँच अध्यायों का ग्रन्थ है। इस पर ग्रन्थकार की 'अलंकारतिलक' नामक स्वरचित टीका है। इस ग्रन्थ में कोई मौलिकता नहीं है; केवल राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण मात्र किया गया है। वाग्भट (द्वितीय) का समय चौदहवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।

विश्वनाथ

जैसा डा० काणे तथा डा० दासगुप्त ने लिखा है, 'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ भी मध्यम श्रेणी के ही आचार्य हैं और आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा जगन्नाथ के समक्ष उनकी प्रतिभा का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। फिर भी, पूर्वोक्त सामान्य आचार्यों की अपेक्षा इनमें अधिक मौलिकता है। इनके ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में परिच्छेदों की व्यवस्था सामान्यतः मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही है। इसमें भी १० परिच्छेद हैं। प्रथम में काव्य के पूर्वाचार्यों के द्वारा दिए गए लक्षणों का विवेचन और दोष-दर्शन करने के उपरान्त विश्वनाथ ने अपना लक्षण **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**

---

१. **अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।**
—चन्द्रालोक १–८।

दिया है और मम्मट के लक्षण का खण्डन किया है। द्वितीय में शब्द की तीनों शक्तियाँ सविस्तर दी गई हैं। तृतीय में रस और भावादि का विवेचन है। चतुर्थ में काव्य के दो मुख्य भेद तथा गुणीभूत व्यंग्य एवं उनके उपभेदों का विवेचन है। विश्वनाथ काव्य का 'चित्र' नामक तृतीय भेद नहीं मानते। पंचम अध्याय में 'काव्यप्रकाश' की भाँति व्यंजना-वृत्ति की स्थापना की गई है। षष्ठ में 'काव्यप्रकाश' के चित्रकाव्य के स्थान पर नाट्य शास्त्र का संपूर्ण वर्णन है। सप्तम में दोष तथा अष्टम में गुण 'काव्यप्रकाश' के ही अनुसरण पर निरूपित हैं। नवम में चार रीतियों वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तथा लाटी का विवेचन है। दशम में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का वर्णन है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषताएँ दो ही हैं। एक तो यह है कि काव्यशास्त्र के सारे विषय इसमें दिए गए हैं, जैसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है, इसमें नाट्य शास्त्र का संपूर्ण विषय दिया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ सरल, सुबोध शैली में लिखा गया है; 'काव्यप्रकाश' तथा 'रसगंगाधर' की तरह दुरूह और दुर्गम नहीं है। परन्तु यह मध्यम श्रेणी का ग्रन्थ है और इसका बहुत कम प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर दिखाई देता है। इस पर महेश्वर की 'विज्ञप्रिया' तथा स्वपुत्र अनन्तदास की टीकाएँ पांडित्यपूर्ण हैं। १७०० ई० के आसपास रामचरण ने इसकी टीका लिखी, परन्तु उसमें कोई पांडित्य नहीं है। इधर हरिनाथ तर्कवगीश की अपेक्षाकृत अभिनव तथा अच्छी टीका प्रकाशित हुई। विश्वनाथ का समय डा० काणे ने १३०० से १३८० ई० अर्थात् चौदहवीं शताब्दी सिद्ध किया है।

भानुदत्त

'रसतरंगिणी' तथा 'रसमंजरी' के रचयिता भानुदत्त भी उल्लेखनीय हैं। रसतरंगिणी की आठ तरंगों में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, आठ सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव, तथा रसों का विस्तृत निरूपण है। 'रसमंजरी' अपेक्षाकृत छोटा ग्रन्थ है। इसके दो तिहाई भाग में केवल नायिका-भेद का वर्णन हुआ है; शेष भाग में नायक, सत्वादि आठ सात्विक गुण, द्विविध श्रृंगार तथा विप्रलंभ की दस दशाएँ वर्णित हैं।

केशव मिश्र

आठ रत्नों का 'अलंकारशेखर' ग्रन्थ केशव मिश्र ने 'काव्यादर्श', 'काव्यमीमांसा', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश' तथा 'वाग्भटालंकार' आदि के आधार पर रचा है। इन्होंने भी काव्य का लक्षण 'साहित्यदर्पण' के अनुकरण पर **रसादिमद्वाक्यं** किया है। 'अलंकारशेखर' में वैदर्भी, गौड़ी तथा मागधी रीतियाँ; अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियाँ; दोष, गुण; शब्दालंकार, अर्थालंकार; नायक-नायिका भेद तथा नव रस वर्णित हैं। इसमें शब्दों के पाँच गुण तथा अर्थों के चार गुण बताए गए हैं। यह ग्रन्थ सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है।

अप्पय दीक्षित

आलंकारिकों की चर्चा में अप्पय दीक्षित का भी उल्लेख आवश्यक है, यद्यपि इनके साहित्य

शास्त्र विषयक ग्रन्थ उस कोटि के नहीं हैं, जैसे इनके वेदान्त शास्त्र के 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' इत्यादि ग्रन्थ हैं। इनके 'वृत्तिवार्तिक' नामक ग्रन्थ में दो परिच्छेद हैं जिनमें अभिधा और लक्षणा का विस्तृत वर्णन है। इनका 'कुवलयानन्द' अधिक प्रचलित ग्रन्थ है, यद्यपि यह अलंकार का प्राथमिक ग्रन्थ है और प्राय: 'चन्द्रालोक' पर आधारित है। 'चन्द्रालोक' में अलंकारों की संख्या १०० थी, 'कुवलयानन्द' में वह बढ़ कर ११५ हो गई। इनका 'चित्रमीमांसा' पूर्वोक्त ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। इसमें पहले काव्य के ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र के विविध भेदों को संक्षेप में दे कर तथा शब्दचित्र को सामान्यत: आकर्षणहीन बता कर अर्थ चित्र का सविस्तर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रतिपादित विचारों का खण्डन करने के लिए पण्डितराज जगन्नाथ ने 'चित्रमीमांसाखण्डन' लिखा था। अप्पय दीक्षित का समय बहुमत से १५५४ से १६२८ ई० के बीच माना जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

जैसा पहले कहा जा चुका है, राजानक रुय्यक के बाद पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ कर कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ जो साहित्य शास्त्र के विवेचन में अपनी मौलिकता, विद्वत्ता तथा नई सूझ का परिचय देता। पण्डितराज इस परम्परा के अन्तिम महान् आचार्य हैं और 'रसगंगाधर' अन्तिम श्रेष्ठ कृति। साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में इस ग्रन्थ की गणना 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के बाद ही होती है। विशेष रूप से अलंकारों के विषय में यह बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। पण्डितराज एक उच्च कोटि के कवि भी हैं। उन्होंने समस्त उदाहरण अपने ही दिए हैं, और इसपर उन्होंने गर्व प्रकट किया है।[1] उनकी भाषा प्रांजल और शैली स्पष्ट एवं शक्तिशालिनी है। पंडितराज ने आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा रुय्यक जैसे प्राचीन तथा सामान्य आचार्यों के मतों की भी निर्भीकता के साथ खरी आलोचना की है और अपनी अपूर्व समीक्षा-शक्ति का परिचय दिया है। डा० काणे का कथन है कि अधिकतम स्थलों में उनकी आलोचना के औचित्य—उसकी युक्तता या साधुता—को स्वीकार करना ही पड़ता है।

'रसगंगाधर' विशालकाय ग्रन्थ है। इसके प्रथम आनन के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने काव्य का **रमणीयार्थप्रतिपादकःशब्दःकाव्यम्** लक्षण दे कर इसके विवेचन में अन्य सभी आचार्यों के लक्षणों का परीक्षण किया है। इस लक्षण से स्पष्ट है कि पंडितराज जगन्नाथ शब्द को ही काव्य का प्रधान शरीर मानते थे। यह लक्षण दण्डी के 'शरीर' **तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली** से प्रमाणित हो कर किया गया जान पड़ता है। इसके उपरान्त काव्य हेतु का विवेचन करते हुए पंडितराज ने केवल प्रतिभा को ही हेतु बताया है। यद्यपि मम्मट ने भी शक्ति या प्रतिभा को ही मुख्य हेतु स्वीकार किया

---

१. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यंमयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिका जननशक्तिभृता मृगेण॥
—काव्य-माला संस्करण, पृष्ठ ३।

है, तथापि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी लगभग उतना ही महत्त्व दिया है—**त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्‌भवे . . . हेतुर्न तुहेतवः** (काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)। परन्तु 'रसगंगाधर'-कार ने **तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा** कह कर अन्य दोनों का तिरस्कार किया है। उनके पूर्व भामह ने **काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः** तथा राजशेखर ने **सार शक्तिः केवलं काव्यहेतुरिति यायावरीयः** लिख कर इसी मत का पोषण किया था। आगे काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम चार भेद दिए गए हैं; फिर रस,भाव,रसाभास, भावोदय, आदि का विवेचन हुआ हैं। अन्त में गुणों के ३ या १० होने के संबंध में विभिन्न मतों का विवेचन किया गया है। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेद, उसके सहायक संयोग, विप्रयोग आदि, अभिधा और लक्षणा एवं उनके भेद तथा उपमा इत्यादि ७० अलंकार वर्णित हैं। परन्तु उत्तर अलंकार के विवेचन के मध्य ही यह ग्रन्थ खण्डित हो गया। इनके पचास वर्ष बाद नागेश भट्ट ने इसकी टीका लिखी, वह भी इसी स्थल तक है। इस स्थल पर पहुँचने पर पण्डितराज का देहावसान हो गया हो और इस कारण ग्रन्थ अधूरा रह गया हो, यह संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि साहित्य शास्त्र विषयक उनके दूसरे ग्रन्थ 'चित्रमीमांसाखण्डन' से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ उन्होने 'रसगंगाधर' के बाद लिखा था।[1] साहित्य शास्त्र के इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त जगन्नाथ ने अन्य अनेक विषयों के ग्रन्थ लिखे। मनोरमाकुचमर्दन, गंगालहरी, भामिनीविलास, यमुनावर्णनचम्पू, जगदाभरण, आसफविलास, प्राणाभरण आदि ग्रन्थ उनकी प्रतिभा के ज्वलंत प्रमाण हैं। पंडितराज जगन्नाथ का समय सत्रहवीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन साहित्य शास्त्र का विकास भरत के भी पहले से आरम्भ हो कर पण्डितराज जगन्नाथ तक अर्थात् डेढ़ सहस्र वर्षों से भी कुछ अधिक समय तक अनवरत और अविच्छिन्न रूप में चलता रहा। इसके इतिहास के प्रथम सहस्र वर्ष बीसों मौलिक विचार वाले आचार्यों के कारण अत्यन्त गौरवान्वित हैं। इन आचार्यों ने काव्य की आत्मा, उसके प्रयोजन, हेतु, लक्षण और भेद आदि पर मौलिक चिन्तन किया है। ये सभी इस प्रश्न का उत्तर खोजने में प्रयत्नशील रहे हैं कि वह कौन सी वस्तु है जिसके कारण वाणी में काव्यत्व आता है? दूसरे शब्दों में, काव्य की आत्मा क्या है? इस खोज के क्रम में ही अनेक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। इनकी उत्पत्ति पर रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध के विचारों से अपना मतैक्य दिखाते हुए पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में लिखा है: "अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है, वह सर्वथा युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ ही मिल कर काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ

---

१. **रसगंगाधरे चित्रमीमांसायां मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य कथ्यन्ते विदुषां मुदे ॥**

की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है—(१) धर्म से, (२) व्यापार से और (३) व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य नित्य तथा अनित्य रूप से दो प्रकार का है। अनित्य धर्म का तात्पर्य अलंकार से तथा नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने वाले दो संप्रदाय हुए—(१) अलंकार सम्प्रदाय और (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति से तीसरा संप्रदाय आचार्य कुन्तक का है। भोजकत्व को भरत के रससम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानना चाहिए, क्योंकि विभाव, अनुभाव तथा संचारी से रस-निष्पत्ति समझाने के लिए ही भट्टनायक ने अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की। व्यंग्य-मुख से वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं, जिससे ध्वनि संप्रदाय निकला। इन पाँचों के अतिरिक्त औचित्य सम्प्रदाय आचार्य क्षेमेन्द्र का है। यह तत्त्व रस, ध्वनि इत्यादि सभी काव्यांगों के मूल में विद्यमान तत्त्व है। इस प्रकार साहित्य शास्त्र के सामान्यतः रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य ये छः संप्रदाय माने जाते हैं।"
डा० काणे अपने 'संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास'[1] में रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि, ये चार ही सम्प्रदाय मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने इन्हीं नामों के साथ 'स्कूल' शब्द का प्रयोग किया है जो सम्प्रदाय का वाचक है, वक्रोक्ति के साथ वे 'थियरी' शब्द का प्रयोग करते हैं जो सिद्धान्त का वाचक है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त वस्तुतः अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा है, अतः इसे पृथक् संप्रदाय नहीं मानना चाहिए। संप्रदायों के विवेचन में औचित्य का इन्होंने नाम तक नहीं लिया। डा० काणे का यह दृष्टिकोण सर्वथा समीचीन है। वस्तुतः 'संप्रदाय' और 'सिद्धान्त' शब्दों के अर्थ में भेद न करने के ही कारण भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। संप्रदाय निश्चय ही सिद्धान्त पर आधारित होते हैं, परंतु वही सिद्धान्त संप्रदाय की संज्ञा का अधिकारी हो सकता है जिसकी कोई परम्परा हो, जो किसी आचार्य-विशेष के सिद्धान्त के रूप में ही सीमित न रह कर परवर्ती आचार्यों द्वारा भी समय-समय पर विकसित और पोषित हुआ हो। इस कसौटी पर कसने पर वक्रोक्ति और औचित्य दोनों ही संप्रदाय कहे जाने योग्य नहीं जान पड़ते।

यद्यपि वक्रोक्ति को आचार्य भामह सभी अलंकारों में व्याप्त अनिवार्य तत्त्व मानते थे और इसके अभाव के कारण ही उन्होंने हेतु, लेश, सूक्ष्म और वर्ण को अलंकार नहीं माना, और कुन्तक के पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों ने भी इसे अलंकारों में परिगणित किया, तथापि कुन्तक के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी आचार्य ने इसको काव्य का जीवित या काव्य की आत्मा नहीं माना। इसीलिए इसे संप्रदाय की अपेक्षा सिद्धान्त कहना ही अधिक समुचित होगा। औचित्य भी, जैसा आचार्य क्षेमेन्द्र के प्रकरण में पूर्व ही कह आए हैं, रस-परिपाक के परम रहस्य के रूप में ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन को भी मान्य था। उनके मत में इसका आत्यन्तिक महत्त्व इसी से सिद्ध है कि उन्होंने रस-भंग में अनौचित्य के अतिरिक्त अन्य कोई कारण ही नहीं माना। उनके परवर्ती अभिनव, महिमभट्ट तथा मम्मट ने भी इसी बात का पोषण किया। इस प्रकार क्षेमेद्र

---

१. द्रष्टव्य, पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स, द्वितीय भाग, पृ० ३४०-३७२

के पूर्व ही रस के प्राण रूप में औचित्य का समावेश हो चुका था। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी यही बात कही, कोई नया मत नहीं प्रस्तुत किया।[1] उन्होंने रस, अलंकार, रीति या ध्वनि संप्रदायों की भाँति औचित्य को रस से पृथक् कोई सम्प्रदाय नहीं कहा, केवल ध्वन्यालोककार के पूर्व प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए काव्य के प्राणभूत रस के परिपाक के लिए औचित्य को अत्यन्त अपेक्षित बता कर इसका जहाँ-जहाँ क्षेत्र सम्भव था, वहीं-वहीं इसके विशिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन किया। यह अवश्य है कि इसका संबंध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल, देश आदि के साथ भली भाँति दिखा कर आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसका क्षेत्र इतना व्यापक अवश्य कर दिया कि यह तत्त्व प्राचीन होते हुए भी अभिनव सा प्रतीत होने लगा और इस अभिनव रूप में इसकी महत्ता तथा उपादेयता बहुत बढ़ गई। परन्तु यह कोई अलग सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता।

भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में चार अलंकारों तथा दस गुणों का विवेचन किया है। दोनों की पृथक्-पृथक् संख्या निर्धारित करने से प्रतीत होता है कि भरत मुनि गुणों को अलंकारों से पृथक् मानते थे। दण्डी ने 'काव्यादर्श' का अधिकांश गुणों के विवेचन में ही लगाया है। यद्यपि दण्डी ने भी उद्भट आदि की भाँति गुणों को अलंकार के अन्तर्गत माना है, तथापि उन्होंने अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ 'काव्य-प्रभा के उत्पादक' मान कर ही ऐसा किया है। अलंकार के सीमित अर्थ में उन्होंने उपमा, रूपक आदि अलंकार-विशेष से मार्गों (रीतियों) के आधारभूत श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य आदि दस गुणों को पृथक् रखा है।[2] विशिष्ट अलंकारों के वर्णन के पूर्व दण्डी ने प्रथम परिच्छेद (श्लोक ४१-४२) में ही गुणों का पृथक् वर्णन किया है। इस प्रकार यद्यपि अलंकारों से गुणों को सर्वथा पृथक् रखने और उनपर आश्रित रीतियों को सर्वाधिक महत्त्व देने का श्रेय आचार्य वामन को है, परन्तु इस परम्परा का आरम्भ किसी अंश में दण्डी से ही माना जा सकता है। वामन ने **रीतिरात्मा काव्यस्य** का प्रतिपादन कर एक पृथक् सम्प्रदाय का प्रवर्तन तो किया, परन्तु उनका अनुसरण करने वाला कोई परवर्ती आचार्य नहीं है। अतः रीति सम्प्रदाय भी प्रमुख सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के अवशिष्ट तीन सम्प्रदाय—रस, अलंकार तथा ध्वनि ही मुख्य सम्प्रदाय हैं। रस सम्प्रदाय तो भरत के भी पूर्व का होने के कारण सर्वाधिक प्राचीन है और इसकी परम्परा 'रसगंगाधर' तक अक्षुण्ण चलती आई है। अलंकार सम्प्रदाय की प्राचीनता इसी से प्रकट है कि साहित्य शास्त्र को ही अलंकार शास्त्र कहा जाता रहा है। भामह और उद्भट इसके मुख्य प्रतिनिधि हैं, किन्तु यह परम्परा उनके पूर्व की है, यह उन्हीं के ग्रन्थों में आए हुए उद्धरणों से स्पष्ट

---

१. **औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।**
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेधुना॥—औचित्यविचारचर्चा, कारिका ३।

२. **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।...काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः॥—काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक १,३।**

है। रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि भी इसी सम्प्रदाय के पोषक थे। इन अलंकारिकों ने रसतत्त्व से परिचित होने पर भी उसे अलंकार ही माना है और रसवत् आदि नाम दिया है। इस प्रकार उन्होंने अलंकार को ही काव्य का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व—उसका प्राण—स्वीकार किया है।

ध्वनि की सत्ता 'ध्वन्यालोक' के पूर्व भी स्वीकृत थी और भामह, उद्भट आदि इससे परिचित थे। परन्तु वे इसे पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा, आक्षेप आदि अलंकारों के अन्तर्गत रखते थे। आनन्दवर्द्धन ने ही साहित्य शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम ध्वनि को सामान्य रूप से और उसके भेद रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। उसके लिए उन्होंने व्यंजना नामक एक पृथक् व्यापार की प्रतिष्ठा की। आनन्दवर्द्धन के बाद अभिनव, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, विद्याधर, वैद्यनाथ, विश्वनाथ, केशव मिश्र, पण्डितराज जगन्नाथ प्राय: सभी ने इसका समर्थन किया। रस को काव्य की आत्मा मान कर इन आचार्यों ने जहाँ भरत मुनि द्वारा प्रतिष्ठित प्राचीनतम रस संप्रदाय का पोषण किया, वहाँ उसे ध्वनि का ही एक भेद मान कर, भले ही वह एक मुख्य भेद हो, काव्य में ध्वनि की श्रेष्ठता अक्षुण्ण रक्खी और इस प्रकार ध्वनि संप्रदाय का ही मुख्य रूप से अनुसरण किया। परन्तु, यद्यपि आनन्दवर्द्धन के बाद रस संप्रदाय और ध्वनि संप्रदाय एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ गए, तथापि दोनों कभी एक नहीं हुए। बीच-बीच में ऐसे भी आचार्य होते रहे जो रस को ध्वन्य या व्यंग्य न मान कर तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ या अन्य कुछ मानते रहे। धनंजय, धनिक, महिमभट्ट आदि ऐसे ही आचार्य थे। आनन्दवर्द्धन के पूर्व लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि ने रस को क्रमश: उत्पाद्य, अनुमेय और भोग्य माना ही था। फिर रस ध्वनि के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि दो अन्य भेद भी हुए। अत: रस को काव्य की आत्मा मान लेने पर भी ध्वनि और रस संप्रदाय एक न हो सके और दोनों की परम्पराएँ एक प्रकार से पृथक्-पृथक् चलती रहीं। रस, अलंकार और ध्वनि भारतीय साहित्य शास्त्र के इन तीन प्रमुख सम्प्रदायों में रस संप्रदाय की ही श्रेष्ठता प्रमाणित होती है, क्योंकि ध्वनिवादियों ने भी रस ध्वनि को श्रेष्ठ ध्वनि और काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। अत: भारतीय साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में भरत के प्राचीनतम रस संप्रदाय ने ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की।

संस्कृत साहित्य शास्त्र की दीर्घ परम्परा ने न केवल संस्कृत साहित्य की गति-विधि और उसके विकास को प्रभावित किया, वरन् संस्कृतेतर देश-भाषाओं के साहित्यों को भी वह न्यूनाधिक रूप में समय-समय पर अनुशासित और अनुप्राणित करती रही है। इसी कारण संस्कृत साहित्य के अन्य विषयों की भाँति उसका साहित्य शास्त्र भी स्वभावतया 'भारतीय' विशेषण का अधिकारी है। यद्यपि प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं की क्रमागत परम्पराएँ संस्कृत साहित्य से किंचित् भिन्न रही हैं, तो भी दोनों में आदान-प्रदान हुआ है। वस्तुत: ऐसा न होना अस्वाभाविक होता, क्योंकि अनेक शताब्दियों तक दोनों परम्पराएँ साथ-साथ चलती रहीं। जहाँ तक साहित्य शास्त्र का सम्बन्ध है, संस्कृत के प्राय: सभी आचार्यों ने देश-भाषाओं की सत्ता को बराबर स्वीकार किया तथा, विशेष रूप से उदाहरणों में, उनका उपयोग किया। परन्तु आधुनिक आर्यभाषा काल तक आते-आते संस्कृत के आचार्यों की परम्परा क्षीण हो गई थी। हम देख चुके हैं कि बारहवीं

शताब्दी ईसवी के बाद सत्रहवीं शताब्दी के पंडितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त मौलिक चिन्तन करने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ। इसी काल में आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी साहित्यिक रूप में विकसित हो चुकी थी तथा उसमें ऐसे साहित्य का बहुत-कुछ निर्माण हो चुका था जिसके कारण उसे महान् प्राचीन परम्पराओं के प्रतिनिधित्व का गौरव मिला। हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, भानुदत्त, केशव मिश्र, अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्य कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के निकटवर्ती या समसामयिक आचार्य हैं। परन्तु हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं में से कुछ ही उनके अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष संपर्क में आ सकीं। फिर भी, भारतीय साहित्य शास्त्र की रस-दृष्टि ने अधिकांश हिन्दी साहित्य को अनुशासित किया, साथ ही अलंकार और ध्वनि संबंधी चिन्तन का प्रभाव भी उसपर कम नहीं रहा। चाहे चारण परम्परा का राज-प्रशस्तिमूलक वीर-श्रृंगार-प्रधान काव्य हो, अथवा संत, सूफ़ी, कृष्ण या राम भक्ति संबंधी काव्य, भारतीय साहित्य शास्त्र के मूलभूत आदर्श और सिद्धांत सभी को न्यूनाधिक रूप में स्पर्श करते रहे हैं। यह अवश्य है कि भक्ति काल तक हिन्दी साहित्य ने उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाया। भक्ति काव्य का तो दृष्टिकोण ही भिन्न और अपेक्षाकृत व्यापक था। परन्तु ऐसा नहीं है कि हिन्दी के महान् भक्त कवि साहित्य शास्त्र के विषयों से अपरिचित रहे हों। कम से कम सूर और तुलसी का काव्य तो इसका साक्षी है कि वे रस, ध्वनि और अलंकार की परम्पराओं के ज्ञाता थे। हिन्दी के भक्ति काव्य में उन परम्पराओं के विकास की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। कृष्ण भक्ति काव्य की ही परम्परा में हिन्दी में उस काव्य का विकास हुआ जिसमें ऐहिकता का स्वर अधिक मुखर हो गया तथा जिसने संस्कृत साहित्य शास्त्र से अधिक निकट का सम्पर्क स्थापित-करने की चेष्टा की। इस रीति-श्रृंगार काव्य की परम्परा भक्ति काल में ही प्रारंभ हो गई थी। इसका प्रमाण कृपा-राम की 'हिततरंगिणी' (सन् १५४१ ई०), नंददास (सन् १५३३-१५८६ ई०) की 'रस-मंजरी' तथा केशवदास (सन् १५५५-१६१९) की 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया' और 'रामचंद्रिका' से मिलता है। नंददास की 'रसमंजरी' तो भानुदत्त की 'रसमंजरी' का राधाकृष्ण-भक्तिपरक भावानुवाद ही है। कालान्तर में रीति-श्रृंगार काल के कवियों ने पांडित्य की धाक जमाने के लिए प्राय: 'आचार्य' का ऐसा बाना धारण किया कि उनका कवि का वास्तविक रूप ही दब सा गया। परन्तु दुर्भाग्यवश इन 'कवि-आचार्यों' में कोई ऐसा नहीं हुआ जिसने साहित्य शास्त्र का सम्यक् अनुशीलन और उस पर मौलिक चिंतन किया हो। जो ग्रन्थ उनके हाथ लगा अथवा जिस ओर उनकी प्रवृत्ति और गति हो सकी उसी के आधार पर उन्होंने अपने लक्षण ग्रन्थ का प्रणयन कर दिया। केशवदास अलंकार-प्रिय थे, अत: उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' के आधार पर 'कविप्रिया' की रचना कर डाली। परन्तु इसके पूर्व वे 'रसिकप्रिया' की रचना कर चुके थे,जो राधाकृष्ण सम्बन्धी भक्ति-श्रृंगार काव्य की परम्परा में नायक-नायिका-भेद की रचना है और कवि की रसप्रियता प्रकट करती है। कुछ कवि-आचार्यों की पहुँच 'काव्य-प्रकाश' तक भी देखी जाती है; परन्तु अधिकांश 'आचार्य' 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' जैसे

मध्यम श्रेणी के अनुकरणशील साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों तक ही पहुँचे। हिन्दी के रीति-काव्य के समीक्षकों ने संस्कृत साहित्य शास्त्र के उपर्युक्त संप्रदायों को भी लक्ष्य किया है, परन्तु, वस्तुत: हिन्दी में इन संप्रदायों की निश्चित परम्परा कदाचित् नहीं मिलती।

आधुनिक काल में भारतीय साहित्य शास्त्र का सर्वांगीण अध्ययन-अनुशीलन हुआ है और सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों पक्षों में हिन्दी साहित्य के संदर्भ में उसके उपयोग के बहुविध प्रयत्न हुए हैं। यद्यपि हिन्दी साहित्य की समीक्षा में भारतीय साहित्य शास्त्र के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का योग अधिक संतुलित और उपादेय आधुनिक साहित्य शास्त्र के विकास की दिशा में हो रहा है, तथापि भारतीय साहित्य शास्त्र की उपयोगिता कभी भी कम नहीं हो सकती, क्योंकि उसके मूलाधार दृढ़ दार्शनिक चिन्तन से परिपुष्ट हैं।

६. पालि साहित्य

पालि भाषा ––नाम

आजकल 'पालि' नाम से जो भाषा जानी जाती है उसका नाम मूलतः मागधी भाषा था। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व यह भाषा भारतवर्ष के उन क्षेत्रों में बोली जाती थी जहाँ अभी हिन्दी बोली जाती है। यह मगध की ख़ास अपनी भाषा न थी; मगध सम्राटों ने अधिक उपयोगी देख कर उसे अपनी राजभाषा बनाया, और उसके बाद उस पर मगध की अपनी बोली की काफ़ी छाप पड़ी। इसी भाषा को बुद्ध ने धर्म-प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम समझ, इसी में अपने उपदेश दिए।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद राजगृह में उनके शिष्यों की एक बड़ी समिति बैठी, जिसने बुद्ध के मुख से निकले सारे वचनों का संग्रह कर लिया। यही संग्रह 'त्रिपिटक' कहलाता है, जो बौद्ध राष्ट्रों में परम्परा से सुरक्षित आज भी प्राप्त है। हो सकता है कि इतनी लम्बी अवधि में 'त्रिपिटक' में कुछ-बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन हुए हों, किन्तु यह स्पष्ट है कि बुद्ध की भाषा, शैली, धर्म तथा अन्य विचारों का परम निकट स्वरूप हमें 'त्रिपिटक' में ही मिलता है। 'त्रिपिटक' के मूल ग्रन्थ पालि कहे जाते हैं, जैसे दीर्घनिकाय पालि, मज्झिमनिकाय पालि, पाराजिक पालि इत्यादि। 'पालि' शब्द का अर्थ होता है बुद्ध वचन। इन मूल ग्रन्थों को पालि कहने का अभिप्राय यह है कि ये बुद्ध के अपने वचन हैं। धीरे-धीरे उस भाषा का ही नाम पालि पड़ गया जिसमें ये ग्रन्थ लिखे गए हैं। आगे चल कर, इसी मागधी भाषा में जो दूसरे ग्रन्थ लिखे गए वे बुद्ध-वचन तो न थे, किंतु उनकी भाषा पालि ही कहलाई।

जब मागधी भाषा का नाम पालि भाषा हो गया, तब कुछ बेजानकार लोगों ने इस नाम की व्युत्पत्ति के विषय में तरह-तरह की हास्यापद कल्पनाएँ करनी आरंभ कर दीं; जैसे––पालि भाषा पाटलिपुत्र की भाषा थी, इसलिए इसका नाम 'पाटलि' भाषा पड़ा; 'पाटलि' भाषा ही धीरे-धीरे बिगड़ कर 'पालि' भाषा कही जाने लगी। कुछ दूसरे लालबुझक्कड़ों ने पालि भाषा की व्युत्पत्ति 'पल्लि' भाषा से करने की कोशिश की––'पल्लि' भाषा अर्थात् गँवई भाषा इत्यादि।

आचार्य मोग्गल्लान तथा दूसरे वैयाकरण भी 'पालि' शब्द को '-पा' धातु से परे 'ण्वादि' का 'लि' प्रत्यय लगा कर सिद्ध करते हैं और उसका अर्थ पंक्ति या श्रेणी बताते हैं। इसी अर्थ को ले कर श्री विधुशेखर शास्त्री प्रभृति कुछ विद्वानों का मत है कि 'पालि' का अर्थ मूल ग्रन्थ की पंक्ति है; जैसे आजकल भी पंडितों को जब किसी मूल ग्रन्थ का हवाला देना होता है तो झट कह देते हैं–– पंक्ति में भी यह बात इस तरह है। किन्तु यह मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसके अनेक

कारण हैं——(१) इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राजगृह में संगीति हो जाने के बाद 'दीघ-निकाय' आदि मूल ग्रन्थ लिख लिए गए हों। बल्कि सच तो यह है कि भिक्षुओं में ऐसी परिपाटी थी कि वे सारे निकाय के निकाय कण्ठ कर लेते थे। जो भिक्षु 'दीघनिकाय' को याद कर लेता था उसे **दीघभाणक** अर्थात् दीघनिकाय सुनाने वाला कहते थे। इसी तरह **मज्झिमभाणक, अंगुत्तरभाणक** आदि हुआ करते थे। 'त्रिपिटक' के सभी ग्रन्थों का, जो **भाणवाहों** में विभक्त किए गए हैं, यही उद्देश्य था कि उतना हिस्सा एक बार सुनाना चाहिए। ऐसी हालत में, संभव नहीं है कि इन ग्रन्थों के साथ लगने वाला शब्द 'पालि' पंक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। पंक्ति का प्रयोग केवल उसी के साथ होना समझ में आता है जो लिखित हो। जो ग्रन्थ केवल सुना-सुनाया जाता है उसके विषय में पंक्ति शब्द का व्यवहार जँचता नहीं है।

(२) पालि साहित्य में कहीं भी 'पालि' शब्द ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि मूल 'त्रिपिटक' के ग्रन्थों के अन्दर कहीं 'पालि' शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। ग्रन्थ के नाम के साथ 'पालि' शब्द अवश्य लगा दिया जाता है, जैसे 'उदान पालि', 'पाचित्रिय पालि' इत्यादि। अब यदि 'पालि' का अर्थ पंक्ति हो तो 'उदान पंक्ति', 'पाचित्रिय पंक्ति' आदि शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

यथार्थ में 'पालि' शब्द 'परियाय' शब्द का संक्षिप्त रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है—'बुद्ध-वचन'=बुद्धोपदेश=बुद्धदेशना। मूल 'त्रिपिटक' के ग्रन्थों में जगह-जगह इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे—

(क) तस्मातिह त्वं आनन्द! इमं धम्म-*परियायं* अत्थजालन्ति पि नं धारेहि... अनुत्तरो संगामविजयोति पि नं धारेहि। (दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त)

अर्थात्, आनन्द! इस धम्म-परियाय (बुद्धोपदेश) को अर्थजाल भी समझो.... अलौकिक संग्राम-विजय भी।

(ख) एवं वुत्ते मुण्डो राजा आयस्मन्तं नारदं एतदवोच—को नु खो अथं भन्ते धम्म-*परियायो* ति ?

सोकसल्लहरणो नाम अयं महाराज धम्म-*परियायो* ति।

तग्घ भन्ते सोकसल्लहरणो, तग्घ भन्ते सोकसल्लहरणो—इमं हि मे भन्ते धम्म*परियायं* सुत्वा सोकसल्लं पहीनन्ति। (अंगुत्तरनिकाय)

अर्थात्, ऐसा कहने पर मुण्ड राजा ने आयुष्मान् नारद से कहा, भन्ते! इस बुद्धोपदेश का क्या नाम होगा?

महाराज! इस उपदेश को शोकशल्यहरण कहा जाना चाहिए।

भन्ते! ठीक है, ठीक है, यह शोकशल्यहरण ही है। भन्ते! इस बुद्धोपदेश को सुन कर शोकशल्यप्रहीण हो गया।

उक्त अर्थ में ही *पालियाय* शब्द का उपयोग अशोक ने अपने शिलालेख में किया है,

जैसे, . . .**इमानि भन्ते धम्म***पलियायानि* **विनयसमुकसे, असियवसानि, अनागतभयानि मुनिगाथा** . . . . . .। *पालियाय =पालि।*

इससे साफ़ प्रकट होता है कि बुद्ध-वचन के अर्थ में ही **परियाय=पलियाय** शब्द का प्रयोग किया गया है।

मागधी में बहुधा **परि** या **पटि** उपसर्ग का दीर्घ हो कर **पारि** या **पाटि** रूप हो जाता है, जैसे—

परि+लेप्यकं=पारिलेप्यकं; पटि+कंखा=पाटिकंखा; पटि+भोगो=पाटिभोगो।

इसी तरह 'पलियाय' शब्द का रूप धीरे-धीरे 'पालियाय' हो गया। बाद में इसी शब्द का लघु रूप 'पालि' हो गया, जिसका अर्थ वही बुद्ध-वचन का रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'दीघनिकाय पालि' 'उदान पालि', 'पाचित्रिय पालि' आदि कहने से यह मतलब है कि ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन हैं। 'पालि' का अर्थ बुद्ध-वचन होने से यह शब्द केवल मूल 'त्रिपिटक' ग्रन्थों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, 'अट्ठकथा' तथा प्रकीर्णक ग्रन्थों के लिए नहीं। अतः मागधी भाषा के आधार पर बुद्ध की अपनी शैली की छाप लग कर पालि भाषा का विकास हुआ। पीछे जनता में 'त्रिपिटक' के साथ-साथ पालि भाषा का ख़ूब प्रचार हुआ।

प्राच्य विद्याओं के प्रसिद्ध प्रामाणिक विद्वान् श्री ए० बेरियेडल कीथ महोदय लिखते हैं—'बुद्ध-भाषा, जो त्रिपिटक में आती है, निस्सन्देह शिक्षित समाज की बोलचाल की भाषा थी, जिसका गठन भारत के शिक्षित समुदाय के व्यवहार की आवश्यकता की दृष्टि से ही हुआ था।'[१] रायस डेविड्स और गाइगर दोनों विद्वान् इससे बिलकुल सहमत हैं।[२]

पालि भाषा और संस्कृत

प्रायः लोग समझते हैं कि भारतवर्ष की मूल भाषा संस्कृत थी। आगे चल कर ग्राम्य, अपढ़, जंगली तथा विदेशी लोग संस्कृत का तरह-तरह से अशुद्ध उच्चारण करने लगे, इसीसे अनेक अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने इतनी प्राकृत भाषाओं का रूप ग्रहण किया। बाद के वैयाकरणों ने भी प्राकृत भाषा पर जो व्याकरण लिखे उनमें यही दिखाने का प्रयत्न किया कि अमुक प्राकृत में संस्कृत के रूपों का अपभ्रंश किस प्रकार हुआ है। संस्कृत नाटकों के स्त्री तथा नीच पात्रों के मुख से प्राकृत भाषा का ही प्रयोग कराया गया है। इन प्राकृत भाषाओं में अपनी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती। ऐसा साफ़ मालूम होता है कि नाटककार ने अपभ्रंश के नियमों को ले कर यंत्रवत् संस्कृत काव्यों के रूप को विकृत करके रख दिया है। इसीलिए उन प्राकृत अंशों की संस्कृत छाया शब्दशः और अक्षरशः उतार लेना संभव है। इसी विचार से यदि हम प्रयत्न करें तो कुछ

---

१. सीलोन डेली न्यूज़ मई १९३९ से अनूदित।

२. देखिए, गाइगर : भंडारकर कॅमेमोरेशन वॉल्यूम और पालि लिटरेचर एंड स्पीच।

ऐसे मोटे नियम बना सकते हैं जिनके सहारे हमें यह समझने में सहायता मिलेगी कि संस्कृत के शब्दों का पालिकरण किस प्रकार होता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) *ऋ* का कहीं-कहीं *अ* हो जाता है; जैसे, **कृतं>कतं; घृतं>घतं; ऋक्षः> अच्छो; नृत्यं> नच्चं।**

(२) *ऋ* कहीं-कहीं *इ* हो जाता है; जैसे, **दृष्टं>दिट्ठं।**

(३) *ऋ* कहीं-कहीं *उ* हो जाता है; जैसे, **ऋतु>उतु; ऋजु>उजु; वृष्टि> वुट्ठि।**

(४) *ऐ* का *ए*, *इ* तथा *ई* भी हो जाता है; जैसे, **वैमानिक>वेमानिको; ऐश्वर्य> इस्सरियं; ग्रैवेय्यं>गीवेय्यं।**

(५) *आ* का *ओ* तथा *उ* हो जाता है, जैसे, **पौरः>पोरो; मोद्गल्यायन—मोग्गा-ल्लायन, औद्धत्यं>उद्धच्चं; औद्देशिकः>उद्देसिको।**

(६) *श* तथा *ष* के बदले *स* का ही प्रयोग होता है। जैसे, **शिष्यः>सिस्सो। श्रमणः>समणो।**

(७) शब्द के अन्तस्थित व्यंजन का लोप हो जाता है; जैसे, **भगवान्>भगवा; कश्चित्> कोचि; यावत्>याव; तावत्>ताव।**

(८) अकारान्त शब्दों से परे *विसर्ग* का *ओ* और इकारान्त या उकारान्त शब्दों से परे विसर्ग का लोप हो जाता है, जैसे—**देवः>देवो; कः>को; अग्निः>अग्गि; धेनुः>धेनु।**

(९) विसर्ग से परे यदि *स, श* या *ष* हुआ तो विसर्ग के स्थान पर *स* हो जाता है, जैसे, **दुःसह>दुस्सहो; निःशोकः>निस्सोको।**

(१०) संयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है, जैसे, **मार्दवं>मद्दवं; तीर्थं> तित्थं; धार्मिकः>धम्मिको; शून्यं>सुञ्ञं।**

(११) रेफ का लोप हो जाता है और रेफ वाले वर्ण का द्वित्व हो जाता है; जैसे, **कर्म>कम्मं; धर्मः>धम्मो; सर्वः>सब्बो।**

(१२) *ह* के साथ रेफ का *र* हो जाता है; जैसे, **तर्हि>तरहि।**

(१३) पद के आदि वर्ण में संयुक्त *र* का लोप हो जाता है; जैसे, **क्रीतः>कीतो; क्रुध्यति>कुज्झति; ग्रामः>गामो; त्रिपिटकं>तिपिटकं; श्रावकः>सावको।**

(१४) पद के मध्य में किसी व्यंजन के साथ संयुक्त *र* का लोप हो जाता है और कहीं-कहीं उस व्यंजन का द्वित्व हो जाता है; जैसे, **प्रक्रमः>पक्कमो; सूत्रं>सुत्तं; समुद्रः> समुद्दो; इन्द्रः>इन्दो।**

(१५) *र्य* का कहीं कहीं *रिय* हो जाता है; जैसे, **कार्यं>करियं; कदर्यं>कदरियं।**

(१६) पद के आदि में स्थित *क्ष* का *ख* हो जाता है; जैसे, **क्षीरं>खीरं; क्षेमः>खेमो।**

(१७) पद के मध्य में *क्ष* का कहीं-कहीं *क्ख* या *च्छ* हो जाता है; जैसे, **दक्षिणः> दक्खिणो; मोक्षः>मोक्खो; पक्षः>पच्छो; अक्षि>अच्छि, अक्खि।**

(१८) पद के आदि में स्थित द्य का ज तथा मध्य में स्थित द्य का ज्ज हो जाता है; जैसे, **द्युतिः>जुति; अद्य>अज्ज; विद्यते>विज्जते।**

(१९) पद के आदि में स्थित ध्य का झ तथा मध्य में स्थित ध्य का ज्झ हो जाता है; जैसे, **ध्यानं>झानं; बुध्यते >बुज्झते।**

(२०) पद के आदि में स्थित त्य का च तथा मध्य में स्थित त्य का च्च हो जाता है, जैसे, **त्यजति>चजति; प्रत्ययः>पच्चयो।**

(२१) न्य तथा ण्य का ञ्ञ हो जाता है; जैसे, **धान्यं>धञ्ञं, शून्यं>सुञ्ञं; हिरण्यं>हिरञ्ञं।**

(२२) पद के आदि में स्थित ज्ञ का ञ तथा मध्य में स्थित ज्ञ का ञ्ञ हो जाता है, जैसे, **ज्ञातिः>ञाति; ज्ञानं>ञाणं; संज्ञा>सञ्ञा, प्रज्ञा>पञ्ञा।**

(२३) ष्ट या ष्ठ के स्थान पर ट्ठ; स्त के स्थान में थ या त्थ या त्त हो जाता है, जैसे, **तुष्टः>तुट्ठो; षष्ठः>छट्ठो; स्तंभः>थम्भो; हस्ती>हत्थी; दुस्तरं>दुत्तरं।**

(२४) कुछ गौण परिवर्तनों के उदाहरण हैं—**स्थूलः>थूलो; स्थानं>ठानं; अस्थि>अट्ठि; मत्स्यः>मच्छो; उल्का>उक्का; जल्पः>जप्पो; फल्गु>फग्गु; ग्लानः>गिलानो; क्लेशः>किलेसो; ज्वलति>जलति; अध्वा>अद्धा; ह्रस्वः>रस्सो; जिह्वा>जिव्हा।**

स्कन्धः> खन्धो; निष्क्रमः>निक्खमो; पश्चात्>पच्छा; स्पृशति>फुसति।

श्रेयः>सेय्यो; लवणं>लोणं; चन्द्रमा>चन्दिमा; असूया>उसूया; मातृका>मेत्तिका।

कीलः>खीलो; मूकः>मूगो।

किन्तु, यदि इन नियमों के आधार पर ही कोई संस्कृत के रूप का अपभ्रंश करके पालि लिखने का प्रयत्न करे तो यह संभव नहीं है। पालि में देसी शब्दों और मुहावरों की भरमार है, जिनकी संस्कृत छाया नहीं हो सकती। कुछ शब्दों और मुहावरों की संस्कृत छाया बन भले ही जाए, किन्तु संस्कृत में उसका वह अर्थ नहीं होगा। फिर, पालि भाषा पर बौद्ध धर्म और दर्शन की इतनी छाप लग गई है कि एक को बिना समझे दूसरे को ठीक-ठीक समझना कठिन है। अपभ्रंश के नियमों को जान कर संस्कृतज्ञ को पालि समझने में बहुत सहायता मिल सकती है। किन्तु वह तब तक पालि लिखने या बोलने का साहस नहीं कर सकता, जब तक पालि की अपनी शैली से उसने परिचय न प्राप्त कर लिया हो। पालि भाषा की अपनी विशेष पृष्ठभूमि है। वाक्य-विन्यास, मुहावरे, शैली आदि सभी दृष्टियों से पालि का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है।

पालि बोलचाल की जीवित भाषा थी। इस कारण, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं की तरह, पालि को भी व्याकरण से पूरा पूरा बाँध नहीं सकते। पालि भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए व्याकरण केवल सहायक मात्र होता है। एक बार पालि का अभ्यास हो जाने के बाद पालि साहित्य के पन्ने हम सरलता से उलट सकते हैं। फिर पंक्ति लगाने के लिए पद-पद पर माथा-पच्ची नहीं करनी पड़ती।

वैदिक युग में जो जनसाधारण की भाषा थी, जिसे 'छन्दस्' के नाम से पुकारते हैं, वही काल-प्रवाह में नाना प्रभावों के बीच बदलती हुई बौद्ध युग में आ कर पालि भाषा बनी और उसी धारा में बहते-बहते आज उसने हिन्दी का रूप ले लिया है। प्राचीन काल में अन्तरक्षेत्रीय या अन्तर-जातीय सम्पर्क उतना अधिक नहीं था। इसी कारण पालि भाषा से हिन्दी भाषा जितनी दूर है उतनी 'छन्दस्' भाषा से पालि भाषा नहीं है। वैदिक भाषा के क्लिष्ट उच्चारण पालि भाषा में कोमल हो गए, जैसा कि ऊपर दिए हुए उदाहरणों से स्पष्ट है। किन्तु दोनों के प्रत्यय अत्यन्त समान ही रहे, जिससे दोनों की निकटता स्पष्ट मालूम होती है।

वैदिक भाषा से संस्कृत की उत्पत्ति

वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा थी। उस युग में आर्यों का जहाँ-जहाँ प्रसार हुआ, सभी जगह यह भाषा गई। तब भाषा ने व्याकरण की बेड़ी नहीं पहनी थी। बोलने के समय लोगों को ग़लती हो जाने का डर नहीं लगा रहता था। फलतः भाषा में तरह-तरह के नए रूप धड़ल्ले से आने लगे। **भवति** को कोई **भवाति,** कोई **भवत्,** कोई **भवात्,** जिसका जैसा मन होता था, बोलता था। एक ही पद के अनेकानेक रूप व्यवहृत होते थे। वैदिक भाषा में निमित्तार्थ प्रत्यय इतने प्रयुक्त होते थे—

तुमर्थे से-सेन्-नसे-असेन्-कसे-कसेन्-अध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यैन्-तवै-तवेङ्-तवेनः। (अष्टाध्यायी ३।४।९—१३)।

कृत्य प्रत्यय भी चार थे—**तवे, केन, केन्य** और **त्वेन**। इनके उदाहरण आगे दिए जाएँगे।

वैदिक भाषा में प्रयोगों की इतनी विभिन्नता का कारण भाषा बोलने वालों के क्षेत्र तथा समाज की विषमता ही हो सकती है। उदाहरणार्थ, यों तो हम कह सकते हैं कि बिहार तथा उत्तर-प्रदेश की भाषा हिन्दी है, किन्तु यदि इन प्रदेशों की भिन्न-भिन्न जगहों की सच्ची बोलचाल की भाषाओं को देखें तो उनके अनेक रूप मिलेंगे, एक ही शब्द के उच्चारण के कई भेद मिलेंगे। **मैं जाता हूँ** इसी एक वाक्य का रूप मगध में **हम जाहीं,** मिथिला में **हम जाई छी,** तथा भोजपुर में **हम जात बानी, जातानी, जाताणी** आदि होंगे। भाषा मूलतः एक ही है, किन्तु क्षेत्र तथा समाज के भेद से उसके इतने रूप हो गए। ठीक इसी तरह वैदिक भाषा मूलतः एक होने पर भी, क्षेत्र-भेद से उसमें इतने व्यत्यय तथा एकार्थक विभिन्न प्रत्यय मिलते हैं। बोलचाल की भाषा में रूपों की विभिन्नता हद से ज़्यादा बढ़ गई, यहाँ तक कि समाज के दैनिक व्यवहार में बड़ी कठिनाई पड़ने लगी। लोगों को अनुभव होने लगा कि यदि भाषा की इस उच्छृंखलता को रोक कर उसमें कुछ नियमन न किया गया, तो कुछ समय के बाद सामाजिक जीवन असंभव हो जाएगा। यही 'संस्कृत' भाषा के निर्माण का कारण हुआ। शब्द शास्त्र के पंडितों ने इधर काफ़ी ध्यान दिया और वे भाषा को काट-छाँट कर हलका तथा उपयोगी बनाने के उपाय करने लगे। भाषा का व्याकरण बनने लगा, विभिन्न प्रयोगों में से अधिक प्रचलित कुछ एक-दो ही रखे गए, बाक़ी छोड़ दिए गए। वैयाकरणों के कई वर्षों तक परिश्रम करते रहने के बाद लगभग ईसा पूर्व ४०० में पाणिनि

ने इस शास्त्र को सर्वांगपूर्ण बनाया। उसके भाष्यकार पतंजलि पाणिनि के सूत्र **भ्वादयो धातवः** १।३।१ का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि पाणिनि के समय लोगों में **आणवयति** (आज्ञा देना), **वहति** (वर्तमान होना), **वड्ढयति** (बढ़ना) आदि क्रिया के रूप बोले जाते थे तथा **कृषि** के अर्थ में **कसिं**, **दृशि** के अर्थ में **दसि** का प्रयोग करते थे। व्याकरण के निर्माण के समय इन प्रयोगों को गौण समझ कर छोड़ दिया गया। यह ध्यान देने लायक़ बात है कि ये तमाम प्रयोग पालि भाषा में व्यवहृत होने वाले बड़े ही साधारण रूप हैं। उपयोगी समझ कर लोगों ने व्याकरणानुकूल बोलने-लिखने पर बड़ा ज़ोर दिया। धीरे-धीरे लोगों में यह भाव पुष्ट हो गया और वे व्याकरण के अननु-कूल किसी भी प्रयोग को त्याज्य और हीन समझने लगे।

संस्कृत के निर्माण से यह तो लाभ हुआ कि भाषा की उच्छृंखलता दूर हुई तथा उसमें नियमन आया, साथ ही साथ यह भी हुआ कि भाषा बँध कर जकड़ गई और कठिन होने तथा धाराशील न होने के कारण वह बोलचाल की भाषा न रह सकी। परन्तु बोलचाल की भाषा न रहने पर भी उसके सम्मान में कोई अन्तर नहीं आया। पंडित-विद्वानों की भाषा यही रही; ग्रन्थ लिखने तथा शिष्ट व्यवहार के लिए पंडितों ने संस्कृत का ही प्रयोग किया।

वैदिक, पालि और संस्कृत के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने से साफ़ मालूम होता है कि पालि में वैदिक शब्दों के उच्चारण मुलायम तो हुए, किन्तु प्रत्ययों के व्यवहार वैसे ही बने रहे। इसके विपरीत संस्कृत व्याकरण ने वैदिक शब्दों को ज्यों का त्यों तो लिया; किन्तु एक ही अर्थ में आने वाले अनेक वैदिक प्रत्ययों में से केवल एक-दो को ही लिया, शेष को छोड़ दिया। उदाहरण के लिए निम्न तालिकाएँ उपयोगी होंगी—

१. नाम

वैदिक प्रयोग	पाणिनीय वैदिकप्रक्रिया के सूत्र	वैदिक प्रत्यय	ऋक्+अथर्व वेद में प्रत्यय प्रयोग-संख्या[1]	पालि समानता	संस्कृत
१. देवासः	७।१।५०	असुक	१७३८	देवासे। धम्मासे। बुद्धासे।	प्रथमा बहुवचन का यह रूप है। संस्कृत व्याकरण के निर्माण के समय यह रूप नहीं लिया गया।
२. देवेभिः	७।१।८	एभिः	९२०	देवेभि[2] (सदा यही रूप होता है)	तृतीया बहुवचन का यह रूप है।
३. गोनाम्	७।१।५७	नाम	३६	गोनं। गुन्नं।	गो शब्द के षष्ठी बहुवचन का रूप है।
४. पतिना	१।४।९	टा	—	समान	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।

द्रष्टव्य—शेश्छन्दसि बहुलम् ६/१/७०/ छन्दसि नपुंसकस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः— इति महाभाष्ये। वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग के शब्द का बहुधा पुंल्लिंग रूप हो जाता है। पालि में भी ऐसा ही होता है। फल शब्द के प्रथमा बहुवचन में **फला** और **फलानि** दोनों रूप होते हैं। संस्कृत व्याकरण के निर्माण के समय यह रूप छोड़ दिया गया। ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे रूप २५७२ बार प्रयुक्त हुए हैं।

विशेष द्रष्टव्य—चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २/३/६२ **षष्ठचर्थे चतुर्थीति वाच्यम्** (वार्तिक) वेद में बहुधा चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी तथा षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी होती है। पालि में चतुर्थी तथा षष्ठी के रूप प्रायः समान रहते हैं; जैसे, **ब्राह्मणस्स धनं दाति। ब्राह्मणस्स सिस्सो।** संस्कृत व्याकरण ने इस अदल-बदल को रोक दिया।

---

१. ई० वी० आर्नल्ड के 'हिस्टारिकल वैदिक ग्रामर' से।

२. वैदिक प्रक्रिया के सूत्र ३।१।८४ के अनुसार *ह* के स्थान पर *भ* हो जाता है; जैसे, *गृहाण>गृभाण*। पालि में भी ऐसा *भ-ह* का परिवर्तन होता है; जैसे—*देवेहि>देवेभि*। संस्कृत व्याकरण ने ऐसे परिवर्तन को रोक दिया।

२. क्रिया

वैदिक प्रयोग	वैदिक प्रक्रिया के सूत्र	पालि समानता	संस्कृत
इच्छते	३।१।८५ परस्मैपदव्यत्ययः 'इच्छति' इति प्राप्ते।	समान	संस्कृत व्याकरण ने इस व्यत्यय को रोककर धातु के पद का निश्चय कर दिया।
युध्यति	३।१।८५ आत्मनेपद व्यत्ययः 'युध्यते' इति प्राप्ते।	समान	
शृणुधी	६।४।१०२ अनुज्ञा मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह कृधि, अपावृधि इत्यादि।	सुणुहि। पालि में यह रूप अत्यन्त साधारण है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
शृणोत	७।१।४५ अनुज्ञा मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप है।	सुणोथ। पालि में यह रूप अत्यन्त साधारण है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
एमसि	७।१।४६ वर्तमान काल उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप है।	एमसे। भवामसे।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
बधीं	७।१।४० लुङ लकार में उत्तम पुरुष एकवचन का रूप है।	बधि। पालि में यह रूप अत्यन्त साधारण है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
बधीं	६।४।७५ लुङलकार में उत्तम पुरुष एकवचन का रूप है। इस लकार में धातु के पहले जो अ का आगम होता है, वह विकल्प से नहीं भी होता है।	बधि। वैदिकभाषा और पालि में यह बहुत बड़ी समानता है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
वर्धन्तु, वर्धयन्तु	३।४।११७ वेद में सार्वधातुक तथा आर्धधातुक दोनों ही नियमों के अनुसार धातु-प्रत्यय जोड़े जाते हैं।	वड्ढन्तु, वड्ढयन्तु	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
दाति, ददाति	२।४।७५-७६ वेद की द्वित्व होनेवाली धातुओं का द्वित्व विकल्प से होता है।	समान	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है।
भेदति, भरति	३।१।८५ विकरण व्यत्ययः	समान	संस्कृतव्याकरणने 'विकरण व्यत्यय' रोक दिया।
हनति	२।४।७२-७३।	समान	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।

विशेष द्रष्टव्य—लुङ् लकार का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों तथा लौकिक संस्कृत (नवीन निर्मित संस्कृत) में प्रायः लुप्त हो गया, जो सभी जानते हैं। वैदिक भाषा में लुङ् का प्रयोग

बहुत साधारण है। लुङ् का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद में ५५१८ बार हुआ है, जो लिट् तथा लुट् लकार से भी अधिक है।[1]

पालि में भी लुङ् (=अज्जतनी =भूत) का प्रयोग वैदिक भाषा की ही तरह प्रचुरता से पाया जाता है; जैसे —**अहोसि। अकासि। अगच्छि।**

३. कृदन्त

वैदिक प्रयोग	प्रत्यय	किस अर्थ में	वैदिक प्रक्रिया के सूत्र	पालि समानता	संस्कृत
दातवै, दातवे	तवै,तवे	निमित्तार्थक	३।४।८ वेद में निमित्तार्थक १४ प्रत्यय और हैं; जैसे, से, सेन, असे असेन, कसे, कसेन, अध्य, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन तबेन, तुं।	दातवे। पालि में 'दातुं' रूप भी होता है। किंतु शेष प्रत्यय नहीं होते। वेद में निमित्तार्थक प्रत्ययों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से अधिक है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ये रूप व्यवहृत होते होंगे।	संस्कृत व्याकरण ने केवल एक 'तुं' प्रत्यय को रख कर बाक़ी सभी को छोड़ दिया।
परिधापयित्वा	त्वा	पूर्वकालिक	७।१।३८ 'ल्यप' के स्थान में भी 'त्वा' का प्रयोग होता है।	समान। पालि में 'ल्यप' के स्थान में 'त्वा' का प्रयोग बहुत साधारण है।	संस्कृत में ऐसा नहीं होता।
गत्वाय	त्वाय	पूर्वकालिक	७।१।४७ 'त्वा' से परे 'य' का आगम होता है।	गत्वान। 'त्वा' से परे 'न' का आगम होता है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
इष्ट्वीन	त्वीन	पूर्वकालिक	७।१।४८ इष्ट+त्वीन	कातून। पालि में 'त्वीन' का 'तून' हो गया।	संस्कृतव्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।
जनित्वन	त्वन	भावार्थक	मैकडानेल § २१८ यह प्रत्यय ऋक् और अथर्ववेद में ३३ बार प्रयुक्त हुआ है।	जायत्तन। पालि में 'त्वन' का 'त्तन' हो गया है।	संस्कृत व्याकरण ने इस प्रयोग को छोड़ दिया।

१. देखिए, ई० वी० आर्नल्ड : हिस्टॉरिकल वैदिक ग्रामर, पृ० ३२३।

पालि भाषा का क्षेत्र

बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ४५ साल तक कोसी-कुरुक्षेत्र तथा हिमाचल-विन्ध्याचल के बीच घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। बुद्ध के सारे उपदेश मौखिक ही हुए थे। उन्होंने अपने उपदेशों को लिख रखने की कभी कोई बात कही हो, इसका उल्लेख नहीं आता है। बुद्ध का अभिप्राय था कि उनका धर्म कुछ पंडित लोगों या भिक्षुकों की ही चीज़ हो कर न रहे। इस अभिप्राय से सारे मध्य मण्डल में उस समय जो भाषा सामान्य रूप से बोली जाती थी, उसीमें बुद्ध ने अपने उपदेश दिए। बुद्ध के संघ में उत्तर भारत के सभी प्रदेशों के, सभी वर्गों के कुल पुत्र प्रव्रजित हो सम्मिलित हुए थे। मगध, वैशाली, काशी, कोशल सभी स्थानों के भिक्षु समान रूप से एक साथ रहते थे। यह निश्चय है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्र और समाज के अनुसार उनकी अपनी-अपनी बोली भी भिन्न-भिन्न रही होगी; किन्तु, सभी साथ रहने पर साधारण भाषा मागधी का ही प्रयोग करते थे। इतना अवश्य हुआ कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के भिक्षुओं की अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव उस सामान्य भाषा पर पड़ता रहा। इस तरह पालि भाषा का पूर्ण विकास भिक्षु-संघ में ही हुआ और यह सारे मध्य मंडल की एक अन्तरप्रान्तीय भाषा बन गई। और, क्योंकि इसका केन्द्र मगध ही रहा, इस पर मागधी की छाप विशेष रूप से पड़ी तथा इसका नाम भी मागधी भाषा प्रसिद्ध हुआ।

वैयाकरणों के उल्लेखों, नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों तथा शिलालेखों से पता चलता है कि मगध की अपनी बोली के मुख्य लक्षण निम्नलिखित थे——

(१) *र*कार सर्वत्र *ल*कार हो जाता था;

(२) *ष*कार तथा *स*कार का सर्वत्र *श*कार हो जाता था;

(३) **अ**कारान्त शब्द का रूप प्रथमा **ए**कवचन में **ए**कारान्त होता था।

पालि भाषा में ये लक्षण बिलकुल नहीं घटते हैं। इस कारण पाश्चात्य विद्वान् बर्नफ़ और लेसेन (एसाइ अवर ले पालि, पेरिस १८२६ ई०) का कहना है कि पालि मगध की भाषा कभी नहीं हो सकती। यदि पालि भाषा मगध की अपनी ख़ास प्रान्तीय बोली तक ही संकुचित होती, तो उसमें ये लक्षण अवश्य होने चाहिए थे। किन्तु वह तो अन्तरप्रान्तीय सभ्य भाषा बन चुकी थी, अतः उसमें ये प्रान्तीय लक्षण नहीं आए। भाषाशास्त्र के विख्यात जर्मन विद्वान् विल्हेम ग़ाइडर का यह कथन सत्य है कि "पालि को मागधी का एक रूप समझना चाहिए। यह वह भाषा है जिसमें बुद्ध ने अपने उपदेश दिए थे। बुद्ध की यह भाषा सामान्य जनता की चलती बोलती नहीं थी। किंतु, यह उच्च तथा सभ्य समाज की भाषा थी, जिसकी उत्पत्ति बुद्ध के पूर्व ही देश में अन्तरप्रान्तीय प्रयोग के लिए हो चुकी थी। स्वभावतः, इस राष्ट्रीय भाषा में सभी प्रान्तीय बोलियों का कुछ न कुछ पुट था ही। किंतु, इसमें किसी संकुचित स्थान की अपनी बोली के असाधारण लक्षण नहीं आए। निश्चय है कि यह कोई बिलकुल शुद्ध एक भाषा न थी। मगध का एक व्यक्ति इसे एक ढंग से बोलता होगा और कोशल-अवन्ती का दूसरे ढंग से . . . । अब क्योंकि स्वयं मगध के न होते हुए भी, बुद्ध का बिहार-क्षेत्र मगध और उसके आसपास रहा, उनकी भाषा पर मागधी

की छाप पड़ी ही होगी। अतः उस भाषा को मागधी के नाम से पुकारना ठीक ही था, भले ही उसमें मागधी के अपने असाधारण लक्षण न हों। . . .मैं इस प्रचलित मत का पोषण नहीं कर सकता कि पालि त्रिपिटक किसी दूसरी भाषा का अनुवाद है। इस भाषा की विशेषताओं को समझने के लिए ध्यान रखना होगा कि (क) इस भाषा का विकास धीरे-धीरे हुआ था और भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बोलियों का प्रभाव इस पर पड़ता रहा था; (ख) शताब्दियों तक सारा त्रिपिटक श्रुति-परम्परा से चलता रहा और (ग) पहले-पहल यह दूसरे ही देश में (लंका में) लिपिबद्ध हुआ। . . .पालि त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन के संग्रह का सबसे सच्चा प्रयत्न है।"

स्वयं बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि अपनी भाषा में ही धर्म सीखना चाहिए, यहाँ तक कि अपनी शिक्षाओं का छन्दस् में परिवर्तन करना एक अपराध ठहराया। "उस समय यमेल यमेलते-कुल नामक ब्राह्मण जाति के सुन्दर वचन वाले, सुन्दर वचन बोलने वाले दो भाई भिक्षु थे। वे जहाँ भगवान् थे वहाँ गए, जा कर भगवान् का अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे उन भिक्षुओं ने भगवान् से कहा, भन्ते ! इस समय नाना नाम, गोत्र, जाति, कुल के लोग प्रव्रजित होते हैं। वे अपनी भाषा में बुद्ध-वचन को कह कर उसे दूषित करते हैं। अच्छा हो भन्ते, हम बुद्ध-वचन को छन्द (वैदिक) में बना दें। भगवान् ने फटकारा, भिक्षुओ ! यह अयुक्त है, अनुचित है. . . . . . - भिक्षुओ ! बुद्ध-वचन को छन्द में न करना चाहिए; जो करेगा उसे 'दुष्कृत' अपराध लगेगा। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की।"

त्रिपिटक साहित्य का अन्तिम ग्रन्थ 'कथावत्थुप्पकरण' है, जिसे अशोक ने गुरु स्थविर मोग्गलिपुत्ततिस्स ने लिखा था। इस ग्रन्थ की भाषा और 'दीघनिकाय' आदि प्रथम स्तर के ग्रन्थों की भाषा में वही अन्तर है, जो स्वभावतः किसी भाषा के प्रवाह में प्राय तीन शताब्दियों का हो सकता है। अशोक के शिलालेखों की भाषा स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न है। गिरनार, जौगढ़ और मनसेहर में जो अशोक के एक ही शिलालेख के तीन पाठ मिले हैं, उनकी भाषा एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् है। मालूम होता है कि ये लेख उन-उन स्थानों की अपनी ठेठ बोली में लिखे गए हैं, जिससे सभी जनता उन्हें साफ़-साफ़ समझ सके।

पालि त्रिपिटक

बुद्ध के महापरिनिर्वाण प्राप्त कर लेने पर महाकाश्यप, आनन्द आदि उनके प्रमुख शिष्यों ने आपस में तय किया कि सभी बड़े-बड़े स्थविर भिक्षुओं की एक सभा बुलाई जाय और भगवान् के सारे उपदेशों का संग्रह कर लिया जाय। उस सभा के लिए पाँच सौ अर्हत् स्थविर चुने गए। सभा के लिए राजगृह की सप्तपर्णी गुहा ठीक की गई। प्रथम सप्ताह में स्थान की मरम्मत आदि सारी तैयारियाँ कर ली गईं और दूसरे मास में बैठक शुरू हुई। यही बैठक 'प्रथम संगीति' के नाम से प्रसिद्ध है। सौ वर्ष बाद वैशाली में 'दूसरी संगीति' हुई और अशोक की प्रेरणा से पाटलिपुत्र में 'तीसरी संगीति' (२६४-२२७ ई० पू०) हुई। भगवान् के सारे उपदेश संग्रह कर लिए गए। इस संग्रह का नाम 'त्रिपिटक' अर्थात् तीन पिटारी है—(१) सुत्तपिटक, (२) विनय-

पिटक, (३) अभिधम्मपिटक। जब सम्राट् अशोक के पुत्र कुमार महेन्द्र भिक्षु बन कर प्रचार के उद्देश्य से लंका गए तो उन्होंने वहाँ इसी 'त्रिपिटक' का उपदेश दिया। लंका के विख्यात राजा वट्टगामनी के संरक्षण में 'त्रिपिटक' के सारे ग्रन्थ लिख लिए गए।

अशोक के शिलालेखों में 'धम्मकथिक', 'पेटकी', 'सुत्तन्तिक', 'पंचनेकायिक' जैसे शब्दों के आने से यह बात निश्चित होती है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक 'त्रिपिटक' का वर्गीकरण और विभाजन ठीक वैसा हो चुका था, जैसा आज हमें प्राप्त है। अशोककालीन पालि ग्रन्थ 'कथा-वत्थु' से पता चलता है कि उस समय तक 'अभिधम्मपिटक' भी पूर्ण हो चुका था। अशोक के 'भभ्रू' शिलालेख में अशोक के जिन प्रिय सूत्रों के नाम[1] आते हैं, वे त्रिपिटक से ही लिए गए हैं। यह भी ध्यान देने लायक़ बात है कि पालि त्रिपिटक में बौद्ध धर्म के इतने बड़े पोषक अशोक का नाम कहीं नहीं आया है। इन बातों के आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि अशोक तक त्रिपिटक साहित्य उसी रूप में पूर्ण हो चुका था, जिस रूप में आज वह हमें प्राप्त है।

'त्रिपिटक' में जगह-जगह पर साहित्य के नव अंगों का ज़िक्र आता है। वे नव अंग हैं—(१) **सूत्र**—भगवान् के दिए हुए धार्मिक उपदेश, जो गद्य में संग्रह किए गए हैं; (२) **गेय्य**—उपदेश जो गद्य-पद्य में संग्रह किए गए हैं; (३) **वेय्याकरण**—व्याख्या, भाष्य; (४) **गाथा**—पदबद्ध संग्रह; (५) **उदान**—भावातिरेक में संतों के मुँह से अनायास निकले शब्द; (६) **इतिवुत्तक**—भगवान् की छोटी-छोटी उक्तियों का संग्रह; (७) **जातक**—भगवान् के पूर्व जन्म की कथाएँ; (८) **अब्भुतधम्म**—यौगिक सिद्धियों का वर्णन; (९) **वेदल्ल**—प्रश्न-उत्तर के ढंग पर लिखे गए। इन सब अंगों का ज़िक्र आने से पता चलता है कि 'त्रिपिटक' के निर्माण के समय ये सारे अंग मौजूद थे। ये नवों अंग 'सुत्तपिटक' में मिलते हैं।

१. सुत्त पिटक

सुत्त पिटक में पाँच निकाय हैं—(१) दीघ निकाय, (२) मज्झिम निकाय, (३) संयुत्त निकाय, (४) अंगुत्तर निकाय और (५) खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं—(१) खुद्दक पाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमान-वत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्देस, (१२) परिसम्भिदामग्ग, (१३) अपदान, (१४) बुद्धवंस, (१५) चरिया पिटक।

सुत्त पिटक के प्रायः सभी सूत्र भगवान् के दिए उपदेश हैं। सारिपुत्र, मोग्गल्लान आदि भगवान् के प्रधान शिष्यों के द्वारा भी उपदिष्ट कुछ सूत्र शामिल कर लिए गए हैं, जिनका अनु-

---

१. आरिय, इमानि भन्ते धम्मपलिया यानि विनयसमुकसे अलियवसाणि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेय-सूते उपतिएपसिने ए चा लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते. . .भण्डारकर : अशोक, पृ० ८९।

मोदन भगवान् ने अंत में कर दिया है। प्रत्येक सूत्र 'एवं मे सुतं', अर्थात् 'ऐसा मैंने सुना' इस वाक्य से प्रारम्भ होता है। 'संगीति' के अवसर पर कोई स्थविर उठ कर 'एवं मे सुतं' ऐसा कह सारे उपदेश का वर्णन भगवान् के शब्दों में करता था। फिर संघ यह विचार करता था कि अमुक स्थविर का कहा गया बुद्धोपदेश निर्दोष है या नहीं। संघ की स्वीकृति हो जाने से वह सूत्र प्रामाणिक करके संग्रह कर लिया जाता था। जैन आचार्यों ने जो वाचना की, उसमें भी यही परिपाटी थी। अतः जैन आगमों के सूत्र भी उसी तरह 'एवं मे सुयं' इस वाक्य से प्रारम्भ होते हैं। सूत्र के प्रारम्भ में उस स्थान का नाम दे दिया जाता है, जहाँ भगवान् ने उसका उपदेश दिया; जैसे, 'एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे।' धर्मोपदेश शुरू करने के पहले इसका सविस्तर वर्णन रहता है कि किस अवसर पर किस सिलसिले में वह उपदेश दिया गया था। उपदेश के समय जो प्रश्नोत्तर होते थे, उनका भी पूरा-पूरा हवाला मिलता है। उपदेश के अन्त में श्रद्धा से गद्‌गद हो कर श्रावक जो संतोष प्रकट करता था उसके भी बड़े सुन्दर शब्द आते हैं; जैसे, 'अभिकन्तं भो गोतम, अभिकन्तं भो गोतम, सेय्यथापि भो गोतम, निक्कुजितं वा उक्कुज्जेय्य, पतिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूल्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य, चक्खुमन्तो रूपानि दक्खिन्तीति।' अर्थात्, 'हे गौतम, आपने खूब कहा, जैसे उल्टे को सीधा कर दे, ढके को खोल दे, भटके को राह दिखा दे, अन्धकार में तेल-प्रदीप जला दे कि आँख वाले रूपों को देख लें . . .।'

कुछ सूत्रों के अन्त में ऐसा भी आता है, 'इदमवोच भगवा, अत्तमना ते भिक्खू भगवतो भासितं अभिनन्दुन्ति।' अर्थात्, 'भगवान् ने यह कहा, संतुष्ट हो कर उन भिक्षुओं ने भगवान् के कहे का अभिनन्दन किया।'

साधारणतः सभी सूत्र गद्य में हैं, किन्तु कहीं-कहीं गाथाएँ भी आती हैं। कितने सूत्र तो पद्य में ही हैं। भाषा बड़ी सजीव और भावपूर्ण है। राजा से, एक साधारण सिपाही से, वेश्या से, डाकू से, विद्यार्थी से, तर्क करने के लिए आए बड़े-बड़े पंडितों से, जाति के अभिमान में चूर ब्राह्मणों से, भिखमंगों से, कोढ़ी से, मुक्ति के लिए लालायित सत्य-गवेषकों से जो बुद्ध की बातचीत हुई है, उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसकी शैली कैसी प्राणवान है। भाषा इतनी सरल और सहज है कि कृत्रिमता की उसमें गन्ध तक नहीं आती। समानार्थक शब्दों का प्रयोग करके किसी बात को बल देने की पालि की अपनी शैली है। उदाहरण के लिए, 'धम्मचक्कपवत्तनसुत्त' में भोगवाद की निन्दा करते हुए भगवान कहते हैं, ' . . . . यो चायं भिक्खवे ! कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो, गम्मो, पोथज्जनिको, अनरियो, अनत्थसंहितो . . .।' अर्थात्, 'भिक्षुओ ! यह जो खाओ, पीओ, मौज करो का सिद्धान्त है, वह हीन है, ग्राम्य है, अनार्य है, अनर्थकर है . . .।', 'सतिपट्ठान' सूत्र उपदेश करते हुए भगवान् कहते हैं, 'एकायनो अयं भिक्खवे मग्गो, सत्तान विसुद्धिया, सोकपरिद्दवानं समतिक्कमाय, दुक्खदोमनस्सानं अत्थंगमाय, ञाणस्स अधिगमाय, निब्बाणस्स सच्छिकिरियाय यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।' अर्थात्, 'भिक्षुओ ! यही अकेला एक मार्ग है, जीवों की विशुद्धि के लिए, शोक और व्याकुलता के समतिक्रमण के लिए, दुःख और दौर्मनस्य

को अन्त करने के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण को साक्षात्कार करने के लिए जो यह चार स्मृति-उपस्थान हैं।'

ऊपर कहा जा चुका है कि शताब्दियों तक 'त्रिपिटक' श्रुति परम्परा से ही चलते रहे। आचार्य-शिष्य परम्परा से निकाय के निकाय भिक्षुओं को कण्ठ रहते थे। सूत्रों की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें कण्ठ कर लेना बड़ा आसान है। मिलने, विदा होने, कुशल-क्षेम पूछने, बिगड़ने, आश्चर्य करने, परिताप करने, लोगों में सम्मानित होने आदि अनेकानेक साधारण अवसरों पर जो वाक्यावली आती है, वह सभी जगहों पर एक ही ढंग की होती है। वही वाक्य बार-बार आने से अनायास ही जीभ पर चढ़ जाता है। जैसे सूत के गोले को फेंकने से वह खुलता हुआ बढ़ता जाता है, वैसे ही पालि सूत्रों को पढ़ने से आगे के वाक्य स्वयं जीभ पर आने लगते हैं। शायद इसीलिए इस भाषा-शैली को 'तन्ती' (तन्त्री = सूत) कहते हैं।

प्राय: किसी एक ही वाक्य के बार-बार आने पर सरलता के लिए एक-दो शब्द लिखने के बाद 'पेथ्थालं' लिख कर छोड़ देते हैं, जिससे समझ लिया जाता है कि इसका पाठ ऊपर बार-बार आए वाक्य के समान ही होगा। 'पेथ्थालं' का अर्थ लंका में करते हैं, 'पातुं अलं' अर्थात्, इतने से वाक्य समझ लिया जा सकता है और यह पाठ को बचाए रखने के लिए पर्याप्त है।

'सुत्त पिटक' के ग्रन्थों को पाँच निकायों में विभक्त करने में सूत्रों के विषय का नहीं, किन्तु मुख्यत: उनके आकार-प्रकार का विचार किया गया है। लंबे-लंबे सूत्रों का संग्रह करके उसका नाम 'दीघनिकाय' रक्खा गया है। उसी तरह मध्यम परिमाण के सूत्रों के संग्रह को 'मज्झिम निकाय' तथा छोटे-छोटे सूत्रों के संग्रह को 'खुद्दक निकाय' कहा। कुछ छोटे-बड़े दोनों प्रकार के सूत्रों के संग्रह का नाम 'संयुत्त निकाय' रक्खा गया। 'संयुत्त निकाय' दूसरे निकायों से इस बात में भिन्न है कि उसमें विषय की दृष्टि से वर्ग विभक्त किए गए हैं, जैसे—(१) संगाथवर्ग, (२) निदान वर्ग, (३) स्कन्ध वर्ग, (४) षडायतन वर्ग, (५) महावर्ग। 'अंगुत्तर निकाय' में 'एकक निपात' 'द्विक निपात', 'तिक निपात' आदि ग्यारह निपात हैं। एक एक धर्म बताने वाले सूत्र 'एकक निपात' में, दो-दो धर्म बताने वाले सूत्र 'द्विक निपात' में . . . तथा ग्यारह-ग्यारह धर्म बताने वाले सूत्र 'एकादस निपात' में हैं। जैसे—

एकक निपात—"नाहं भिक्खवे अज्जं एकधम्मम्पि समनुपस्सामि, यो एवं महतो अनत्थाय संक्तति, यदिदं भिक्खवे पापमित्तता। पापमिता भिक्खवे महतो अनत्थाय संक्तति। "अर्थात्, "भिक्षुओ, मैं किसी भी दूसरी चीज को नहीं देखता हूँ, जो इतनी ज्यादा अनर्थकर हो, जितनी पाप-मित्रता। भिक्षुओ, पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है।"

द्विक निपात—"द्वे ये भिक्खवे, असानिया फलन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे ? भिक्खू च खीणासवो, सीहो च मिगराजा। इमे खो भिक्खवे, द्वे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्तीति।" अर्थात्, भिक्षुओ, बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी चौंक नहीं पड़ते। कौन से दो ? क्षीणाश्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ, यही दो बिजली कड़कने पर चौंक नहीं पड़ते।"

दीघ निकाय का पहला सूत्र 'ब्रह्मजाल सूत्र' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें बुद्ध ने अपनी

दार्शनिक दृष्टि स्पष्ट की है और दिखाया है कि सारी मिथ्या दृष्टियों की मूलभूत अविद्या क्या है। यह सूत्र बहुत प्राचीन है। 'संयुत्त निकाय' ४।२८६ में इस सूत्र का उद्धरण आता है।

दूसरा सूत्र 'सामञ्ञफलसूत्र' है। इसमें राजा अजातशत्रु और बुद्ध से भेंट होने का वर्णन है। दर्शन के इतिहास की दृष्टि से इस सूत्र का महत्त्व है, क्योंकि इसमें पूर्ण काश्यप, मेक्खलि गोसाल आदि बुद्ध के समकालीन छः बड़े-बड़े आचार्यों के मत का वर्णन है।

तीसरा सूत्र 'अम्बट्ठ सूत्र' है। इसमें जात-पाँत का खण्डन है।

लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि बुद्ध द्वारा 'अव्याकृत' बताए गए प्रश्नों का वर्णन नवें सूत्र 'पोट्ठपाद सूत्र' में है।

'तेविञ्ज सूत्र' (१३) में बुद्ध ने ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग बताया है—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा।

'महापदान सूत्र' (१४) में विपश्यी आदि पूर्व के छः बुद्धों का वर्णन है।

दार्शनिक दृष्टि से 'महानिदान सूत्र' (१५) का बड़ा महत्त्व है। अनात्मवाद और प्रतीत्यसमुत्पादवाद के, जो बौद्धधर्म की आधारशिला है, स्वरूप को समझने के लिए इसकी प्रामाणिकता सबसे अधिक है।

'महापरिनिब्बान सूत्र' (१६) भगवान् की अन्तिम घड़ियों का अत्यन्त भावुकतापूर्ण चित्र उपस्थित करता है। पाटलिपुत्र के निर्माण, वज्जियों के गणतंत्र, कुशीनगर के मल्ल आदि अनेक ऐतिहासिक विषयों का भी इसमें सजीव वर्णन है। सारे पालि 'त्रिपिटक' में महापरिनिब्बान सूत्र की मौलिकता विशेष रूप से मान्य है। भगवान् के अन्तिम दिनों की बातें उनके शिष्यों की स्मृति में चिर काल तक गूँजती रही होंगी और उन्हें अधिक भावपूर्वक सुरक्षित रखा गया होगा।

'महासुदस्सन सूत्र' (१७) में बौद्ध परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती राजा की सारी कल्पनाओं का उल्लेख है।

'महासतिपट्ठान सूत्र' (२२) बौद्ध योगाभ्यास की विधि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। बौद्ध देशों में इस सूत्र का बड़ा सम्मान है।

'पायासिराजञ्ञ सूत्र' (२३) में पायासि नामक एक क्षत्रिय से परलोकवाद के खण्डन-मण्डन पर बुद्ध के साथ हुए प्रश्नोत्तर का वर्णन है।

'चक्कवत्ति सीहनाद सूत्र' (२६) में चक्रवर्ती व्रत का वर्णन है और दिखाया गया है कि निर्धनता ही सभी पापों की जननी है। समाज में उचित धन-वितरण करके संसार को उन्नत बनाया जा सकता है।

'अग्गञ्ञ सूत्र' (२७) में चारों वर्णों के निर्माण का इतिहास हैं और दिखाया गया है कि जन्म नहीं, किन्तु कर्म प्रधान है।

'पासादिक सूत्र' में तीर्थंकर महावीर के देहावसान पर उनके शिष्यों में कलह उत्पन्न होने का उल्लेख है।

'लक्खण सूत्र' (३०) में महापुरुष के बत्तीस लक्षणों का वर्णन है, जो सभी बुद्ध में प्राप्त थे।

'सिगालोवाद सूत्र' में भगवान् बुद्ध द्वारा 'सिगाल' नामक एक वैश्य पुत्र को गृहस्थ धर्म के विषय में दिए गए उपदेश हैं।

'आरानारिय सूत्र' (३२) में भूत, प्रेत, यक्ष, आदि का वर्णन है और उनसे रक्षा की याचना की गई है। 'संगीति परियाय सूत्र' में बौद्ध मन्तव्यों की सूची दी गई है। 'दसुत्तर सूत्र' में भी इसी प्रकार सूची है। यह निश्चय है कि ये सूत्र बाद के जोड़े हुए हैं।

मज्झिम निकाय तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें 'पञ्ञासक' अर्थात् पचास सूत्रों का संग्रह कहते हैं। किन्तु, तीसरे 'पञ्ञास' में दो सूत्र अधिक हैं, जिससे कुल सूत्रों की संख्या १५२ हो जाती है। इस निकाय में बौद्ध धर्म के प्रायः सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणों के यज्ञ-याग, तपश्चरण के भिन्न-भिन्न प्रकार, अन्य मतालम्बियों से सम्बन्ध तथा तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर भी इसमें बुद्ध के विचार मिलते हैं; चार आर्य सत्य, नाम-रूप, प्रतीत्यसमुत्पाद, अष्टांगिक मार्ग, अनात्मवाद, शील-समाधि पक्ष आदि बौद्ध धर्म की बातों पर तो पूरी चर्चा है ही।

'मूल परियाय सूत्र' (१) बड़ा गंभीर है। सत्काय दृष्टि क्या है, बिना ठीक-ठीक समझे इस सूत्र को समझना कठिन है।

'धम्मदायाद सूत्र' (३) में बुद्ध ने उपदेश दिया है कि आजीविका तथा लाभ-सत्कार के लिए धर्म का ग्रहण करना निन्द्य है। धर्माचरण से ही धर्म का उपदेश सिद्ध होता है।

'अनंगण सूत्र' (५) सारिपुत्र द्वारा उपदिष्ट और अन्त में बुद्ध द्वारा अनुमोदित है।

'सतिपट्ठान सूत्र' (१०) 'दीघ निकाय' में आए 'महासतिपट्ठान सूत्र' का संक्षिप्त संस्करण है। इससे इस सूत्र की महत्ता मालूम होती है।

'महादुक्खखन्ध सूत्र' (१३) में बताया गया है कि काम-तृष्णा के कारण ही संसार में सारे अनर्थ होते हैं। इसमें उस समय जो नाना प्रकार के शारीरिक दण्ड दिए जाते थे, उनका बड़ा लोमहर्षक वर्णन है। इस सूत्र में उन व्यवसायों का भी उल्लेख आता है, जो उस समय प्रचलित थे—मुद्दा-गणना-संखा-कसी-वणिज्जा-गोरक्खा-इस्सत्थ-राजपोरिस।

'अनुमान सूत्र' (१५) में महामोग्गल्लान ने भिक्षुओं को सिखाया है कि यदि कोई भिक्षु अपने साथियों की राय में न रहे तो उससे न तो कोई मिले और न बोले।

'रथविनीत सूत्र' (२४) बौद्ध योगाभ्यास की मूलभूत अवस्थाओं का वर्णन करता है। बुद्धघोष का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बिसुद्धिमग्ग' जिन सात सिद्धियों की व्याख्या करता है, उनका उपदेश इस सूत्र में किया गया है। इस सूत्र में उपतिस्स (सारिपुत्र) और मैत्रायणी-पुत्र के बीच धर्म विषयक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हुए हैं। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने सिद्ध किया है कि अशोक के भब्रू शिलालेख में उल्लिखित 'उपतिस्सयसिने' सूत्र यही है, जिसे पढ़ने और मनन करने की प्रेरणा अशोक ने दी थी।

'सच्चक सूत्र' (३५-३६) में वर्णन है कि सच्चक नामक एक अत्यन्त समर्थ तार्किक बुद्ध के पास विवाद करने गया, बुद्ध ने उसके प्रश्नों का उत्तर दे कर उसे जीत लिया और अपना शिष्य बना लिया।

'सालेय्यक सूत्र' (४१) में कामावचर, रूपावचर तथा अरूपावचर के देवताओं के नाम आते हैं।

'महावेदल्ल सूत्र' (४३) में प्रश्नोत्तर की रीति से प्रज्ञा, विज्ञान, वेदना, संज्ञा आदि चित्त की अवस्थाओं का विश्लेषण करके उनका स्वरूप समझाया गया है।

'जीवक सूत्र' (५५) में मांसाहार पर विचार किया गया है। अदृष्ट, अश्रुत तथा अपरि-शंकित मांस के ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।

'उपालि सूत्र' (५६) में वर्णन है कि उपालि निगण्ठनातयुत्त का एक बड़ा प्रमुख और प्रभावशाली शिष्य था। वह बुद्ध के पास धर्म-चर्चा के लिए गय और अन्त में उसने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इससे पता चलता है कि उस समय जैनों और बौद्धों में कितनी स्पर्द्धा चल रही थी। सूत्र के अन्त में बुद्ध की स्तुति में उपालि के मुँह से निकली गाथाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। जैन आगम के 'सूतकृतांग' नामक ग्रन्थ में महावीर की स्तुति में ऐसी ही गाथाएँ हैं।

'बुद्धवेदनीय सूत्र' (५९) बताता है कि योगी को जो ध्यान का सुख प्राप्त होता है, वह विषय-सुख से कहीं बढ़ कर है।

'अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद सूत्र' (६१) वही राहुलोवाद है जिसका उल्लेख अशोक ने अपने भभ्रू शिलालेख में किया है।

'मालुंक्य सूत्र' (६३-६४) में लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि प्रश्नों को 'अव्या-कृत' बताया है।

'महासुकुलुदापि सूत्र' में ध्यानाभ्यास की विधि बताई गई है। इसमें पठवी, आप, तेज़ आदि दस कसिणों का उल्लेख मिलता है, जिसका आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग में सविस्तर वर्णन किया है।

'अंगुलिमाल सूत्र' (८६) में वर्णित है कि प्रसेनजित् के राज्य में अंगुलिमाल नामक एक भयानक डाकू था। उसने एक सहस्र नर-वध करने का संकल्प किया था। उस संख्या की पूर्ति में केवल एक ही शेष रह गया था। भगवान् ने उसका दमन किया और अपना शिष्य बना लिया, जो बाद में बड़ा सन्त हुआ।

'ब्रह्मायु सूत्र' (९१) में महापुरुष के बत्तीस लक्षणों का वर्णन है। 'अस्सलायन सूत्र' (९३) में जातिवाद का खण्डन है। 'वासेट्ठ सूत्र' (९८) में वर्णव्यवस्था का खण्डन है।

'भद्देकरत्त सुत्त' (१३१) अत्यन्त भावपूर्ण सूत्र है। यह बताता है कि अतीत अनागत की बातों से जो उत्सुक और चंचल रहते हैं, उन्हें शान्ति नहीं है। वर्तमान में सच्ची लगन से जुट रहना चाहिए।

संयुक्त निकाय में पाँच वर्ग हैं—सगाथ वर्ग, निदान वर्ग, स्कन्ध वर्ग, षडायतन वर्ग, महा वर्ग।

सगाथ वर्ग में ग्यारह 'संयुत्त' हैं—देवता संयुत्त' देवपुत्त संयुत्त, कोसल संयुत्त, मार संयुत्त, भिक्खुणी संयुत्त, ब्रह्मा संयुत्त, वंगीस संयुत्त, वन संयुत्त, यक्ख संयुत्त, सक्क संयुत्त। इस वर्ग का नाम सगाथ वर्ग इस कारण है कि इसके सूत्रों में गद्य के साथ-साथ गाथाएँ भी हैं। पहले दो संयुत्तों में देवताओं और देवपुत्रों के साथ हुए बुद्ध के प्रश्नोत्तर हैं। गाथाएँ बड़ी भावपूर्ण, नैराश्यवर्धक और ज्ञान से भरी हैं।

कोसलराज प्रसेनजित् बुद्ध का भक्त था। वह समय-समय पर धर्म-चर्चा करने बुद्ध के पास आया करता था। 'कोसल संयुत्त' में इसी का वर्णन है। कोसल और मगध के बीच उस समय जो राजनीति चल रही थी उसका भी वर्णन इस संयुत्त में प्राप्त होता है।

'यक्ख संयुत्त' में बड़े बड़े भयानक यक्षों का वर्णन है, जिन्हें धर्मोपदेश दे कर दमन किया गया था।

'सक्क संयुत्त' में देवेन्द्र शक्र की महत्ता दिखाई गई है। एक बार देवासुर-संग्राम छिड़ा। असुरेन्द्र 'वेथचित्ति' हार गया और पकड़ कर शक्र के पास लाया गया। असुरेन्द्र ने शक्र को गालियाँ दीं, किंतु शक्र शान्त रहा।

'निदान वर्ग' में दस संयुत्त हैं—निदान संयुत्त, अभिसमय संयुत्त, धातु संयुत्त, अनमतग्ग संयुत्त, कस्सप संयुत्त, लाभसक्कार संयुत्त, राहुल संयुत्त, लक्खण संयुत्त, ओपम्म संयुत्त, भिक्खु संयुत्त।

प्रतीत्य समुत्पादक की जो बारह कड़ियाँ हैं—अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जाति-जरा-मरण—उन्हें बारह निदान कहते हैं। बौद्ध धर्म की दार्शनिक भित्ति प्रतीत्यसमुत्पाद है; अतः इस संयुत्त का महत्त्व बहुत है।

'धातु संयुत्त' में अठारह धातुओं का दार्शनिक विवेचन है—चक्षु-रूप-चक्षुविज्ञान, श्रोत्र-शब्द-श्रोत्रविज्ञान, घ्राण-गन्ध-घ्राणविज्ञान, जिह्वा-रस-जिह्वाविज्ञान, काय-स्पर्श-कायविज्ञान, मन-धर्म-मनोविज्ञान।

'अनमतग्ग संयुत्त' में संसार-चक्र की अनादिता दिखाई गई है—अनमतग्गो अयं भिक्खवे संसारो।

'खन्ध (स्कन्ध) वर्ग' में तेरह संयुत्त हैं—खन्ध संयुत्त, राध संयुत्त, दिट्ठि संयुत्त, ओक्कन्तिक संयुत्त, उप्पाद संयुत्त, किलेस संयुत्त, सारिपुत्त संयुत्त, नाग संयुत्त, सुपण्ण संयुत्त, गन्धब्बकाय संयुत्त, वलाह संयुत्त, वच्छगोत्त संयुत्त, झान संयुत्त।

'खन्ध संयुत्त में' दिखाया गया है कि प्राणी रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों का बना है। इनसे परे आत्मा (जीव या पुरुष) नाम की कोई सत्ता नहीं है।

'दिट्ठि संयुत्त' में अनात्मवाद की विशद व्याख्या है।

'वच्छगोत्त संयुत्त' में लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि प्रश्नों पर बुद्ध ने वच्छगोत्त को उपदेश दिया है कि ये प्रश्न ही 'अव्याकृत' (अनुचित) हैं।

'झान संयुत्त' में योग की विधि और समापत्तियों का वर्णन है।

'षडायतन वर्ग' में दस संयुत्त हैं—षडायतन संयुत्त, वेदना संयुत्त, मातुगाम संयुत्त, सामण्डक संयुत्त, मोग्गल्लान संयुत्त, चित्र संयुत्त, गामनि संयुत्त, असंखत संयुत्त, अव्याकृत संयुत्त।

आँख, कान, नाक, जीभ, काया और मन, ये छः आध्यात्मिक आयतन हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म, ये छः बाह्य आयतन हैं। इन्हें आयतन कहते हैं, क्योंकि ये ही सारी तृष्णाओं के घर हैं। षडायतन वर्ग में इन्हीं आयतनों की अनात्मता, अनित्यता और दुःखता दिखाई गई है।

स्त्री-धर्म क्या है, स्त्री में क्या-क्या दोष हैं, आदि स्त्री संबंधी प्रश्नों पर 'मातुगाम (=मातृग्राम) संयुत्त' में प्रकाश डाला गया है।

'जम्बुखादक' नाम का एक परिव्राजक था। शायद वह जामुन अधिक खाया करता होगा। इस संयुत्त में सारिपुत्र ने उसे धर्म का उपदेश दिया है।

'सामण्डक संयुत्त' में सामण्डक नाम के परिव्राजक को सारिपुत्र द्वारा निर्वाण क्या है, इस विषय पर दिए गए धर्मोपदेश का वर्णन है।

'मोग्गल्लान संयुत्त' में मोग्गल्लान द्वारा कुछ ध्यान-प्राप्त भिक्षुओं को अरूप ध्यान की शिक्षा देने का वर्णन है।

'महावर्ग' में बारह संयुत्त हैं—मग्ग संयुत्त, बोज्झंग संयुत्त, सत्तिपट्ठान संयुत्त, इन्द्रिय संयुत्त, सम्मप्पधान संयुत्त, बल संयुत्त, इद्धिपाद संयुत्त, अनुरुद्ध संयुत्त, झान संयुत्त, आनापान संयुत्त, सीतापति संयुत्त, सच्च संयुत्त।

'इन्द्रिय संयुत्त' में श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा, इन पाँच इन्द्रियों की व्याख्या है।

'सम्मप्पधान' में चार 'पधान' (प्रयत्नों) का वर्णन है। ये चार 'पधान' हैं—अनुत्पन्न अकुशल (पाप) के उत्पन्न न होने देने का प्रयत्न; उत्पन्न अकुशल के प्रहाण का प्रयत्न; अनुत्पन्न कुशल (पुण्य) को उत्पन्न करने का प्रयत्न और उत्पन्न कुशल की वृद्धि और दृढ़ता का प्रयत्न।

'बल संयुत्त' में पाँच बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा वर्णित हैं। ये पाँच बल इंद्रियों की तरह ही हैं।

'सच्च संयुत्त' में चार आर्य सत्यों की व्याख्या है।

अंगत्तर निकाय में ग्यारह निपात (बुद्ध की उक्तियों के संग्रह) हैं। इसमें धर्मों की संख्या एक, दो-दो, तीन-तीन, चार-चार . . . ग्यारह-ग्यारह करके उपदेश दिया गया है, जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं। इस तरह प्रत्येक निपात में एक-एक अंग की वृद्धि होने के कारण इसे 'अंगुत्तर निकाय' कहते हैं। इसी कारण इसका दूसरा नाम 'एकुत्तर' निकाय भी है।

दूसरे निकायों की तरह अंगुत्तर निकाय के सूत्रों में लंबे-लंबे वर्णन नहीं हैं। किस जगह और किस सिलसिले में बुद्ध ने ये उपदेश दिए इसका बहुधा उल्लेख नहीं किया गया है। यह निकाय

शैली और विषय दोनों प्रकार से बड़ा रोचक है। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक, साधारण विनय तथा स्वास्थ्य संबंधी आदि सभी विषयों पर बुद्ध ने जगह-जगह पर अपने विचार प्रकट किए थे। उनका यह संग्रह है। चारों निकायों में अंगुत्तर निकाय शायद सबसे बड़ा है।

खुद्दक निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं, जिनके नाम दिए जा चुके हैं।

(१) 'खुद्दक पाठ' दस-पन्द्रह पृष्ठों की छोटी पुस्तिका है। प्रायः सभी श्रद्धालु बौद्धों को यह कण्ठ रहता है। 'सुत्तनिपात' से ले कर तीन सूत्र—मंगल, रतन, करणीयमेत्त—इसमें शामिल कर लिए गए हैं।

(२) 'धम्मपद' का बौद्ध धर्म के अनुयायी देशों में उसी प्रकार सम्मान और व्यापक प्रचार है, जिस प्रकार भारतवर्ष में गीता का। इसमें कुल ४२३ गाथाएँ हैं। गाथाओं का यह संग्रह प्रायः 'त्रिपिटक' के अन्य ग्रन्थों से किया गया है। संसार की प्रायः सभी सभ्य भाषाओं में 'धम्मपद' के अनेक अनुवाद हो चुके हैं।

(३) 'उदान' विमुक्त सुख में संतों के मुँह से अनायास निकले हुए शब्दों का नाम है। इस छोटे ग्रन्थ में बुद्ध तथा प्रधान शिष्यों के मुँह से निकले हुए ऐसे ही शब्दों का संग्रह है।

(४) 'इतिवुत्तक' बुद्ध की छोटी-छोटी उक्तियों का संग्रह है।

(५) 'सुत्त निपात' सारे त्रिपिटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी भाषा पालि के पूर्वतम रूप का उदाहरण है। इसके सूत्र गद्य और पद्य दोनों में हैं। 'सुत्त निपात' के 'अट्ठक वर्ग' और 'पारायण वर्ग' बुद्ध धर्म के हृदय कहे जाते हैं। (६-७) 'विमानवत्थु' में देवलोकों का और 'पेतवत्थु' में प्रेतलोक का ज़िक्र आता है।

(८-९) 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' दोनों ग्रन्थ पूर्ण रूप से पद्य में हैं। इनमें सन्त-महात्मा पुरुष-स्त्रियों के मुँह से निकली गाथाओं का संग्रह है।

(१०) 'जातक' में बुद्ध के पूर्व जन्मों की ५५५ कथाओं का संग्रह है। देश के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करने के लिए इनका बड़ा महत्त्व है।

(११) निद्देस दो हैं—'महानिद्देस' और 'चुल्लनिद्देस'। महानिद्देस सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग की शब्दशः व्याख्या है। चुल्लनिद्देस सुत्त निपात के पारायण वर्ग तथा खग्गविसाण सूत्र की व्याख्या है।

(१२) 'परिसंभिदामग्ग' में धर्म के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या और विश्लेषण है। अभिधर्म समझने में यह ग्रन्थ बड़ा सहायक है।

(१३) 'बुद्धवंस' में पूर्व के २४ बुद्धों का वर्णन है। यह पूरा ग्रन्थ गाथाओं में है।

(१४) 'चरियापिटक' में बुद्ध के ३४ पूर्व जन्मों का वृत्तान्त है, जिसमें बताया गया है कि बुद्धत्व-लाभ के लिए उन्होंने कैसे-कैसे व्रत और तपस्याएँ की थीं। ग्रन्थ गाथाओं में है।

(१५) 'अपदान' बुद्ध के प्रायः ६०० अर्हत् शिष्यों के जीवन-चरित्र का पद्यमय संग्रह है।

२. विनय पिटक

भिक्षुओं के वैयक्तिक तथा सांघिक जीवन के नियमों की जो शिक्षा भगवान् बुद्ध ने दी थी, उसका संग्रह 'विनय पिटक' में किया गया है। 'विनय पिटक' का विभाजन इस प्रकार है—

(क) सुत्त विभंग—(१) पाराजिक, (२) पाचितिय,

(ख) खन्धक–(३) महावग्ग, (४) चुल्लवग्ग और (५) परिवार।

'पाराजिक' चार हैं—मनुष्य-हत्या; ऐसी चोरी, जिससे राजदण्ड मिल सकता हो; मैथुन; और अपने सिद्ध महात्मा होने का मिथ्या कथन। इन अपराधों के दोषी भिक्षु को संघ बाहर निकाल देता है और उसका भिक्षु-भाव नहीं रहता। 'पाचितिय' ऐसे अपराध हैं, जिनकी शुद्धि प्रायश्चित्त करके और भविष्य में न करने की प्रतिज्ञा करके हो सकती है। पहले दो ग्रन्थों में इन्हीं सारे नियमों का क्रमबद्ध उल्लेख है और उनकी व्याख्या है।

'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' के अध्यायों का नाम 'खन्ध' (स्कन्ध) है। इसीलिए इन्हें 'खन्धक' कहते हैं। प्रव्रज्या की दीक्षा कैसे देनी चाहिए, भिक्षुओं में परस्पर व्यवहार कैसे होना चाहिए, भिक्षाटन के लिए गाँव में कैसे जाना चाहिए, आदि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों तक के विषय में भगवान् की शिक्षाएँ इस पिटक में मिलती हैं। 'परिवार' कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है; इसका आधार ऊपर के ही ग्रन्थ हैं।

प्रकरणों को छोड़, इन ग्रन्थों से केवल मूल शिक्षापदों का भी एक संग्रह कर दिया गया है, जिसका नाम 'पातिमोक्ख' है। भिक्षुओं के लिए उपदिष्ट शिक्षापदों का संग्रह 'भिक्खु पातिमोक्ख' और भिक्षुणियों के लिए उपदिष्ट शिक्षापदों का संग्रह 'भिक्खुनी पातिमोक्ख' है। शिक्षापदों की कुल संख्या २२७ है।

३. अभिधम्म पिटक

'सूत्र पिटक' में भगवान् ने जो धर्म बताया है उसी का दर्शन शास्त्र अभिधम्म पिटक है। बुद्ध ने अनात्मवाद की शिक्षा दी थी। अत: बन्ध-मोक्ष की सारी समस्याओं की व्याख्या चित्त की प्रक्रिया से ही की गई तथा आचार शास्त्र का निर्माण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर किया गया। अत: कह सकते हैं कि 'अभिधम्म' बौद्ध धर्म के मनोवैज्ञानिक आचार शास्त्र का दर्शन है।

'अभिधम्म पिटक' में सात ग्रन्थ हैं—धम्मसंगणी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञत्ति, कथा-वत्थु, यमक, पट्ठान। इनमें मूल ग्रन्थ 'धम्मसंगणी' ही है, इसी के आधार पर दूसरे ग्रन्थों की रचना हुई है। 'कथावत्थु' के लेखक अशोक के धर्माचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। इसमें उन्होंने उन मिथ्या धारणाओं का निराकरण किया है, जो कालान्तर में संघ में आ गई थीं।

'अभिधम्म पिटक' की शैली 'सूत्र पिटक' की शैली से बिल्कुल भिन्न है। इसमें 'सूत्र पिटक' की रोचकता और सुबोधता का अभाव है। चित्त-चैतसिक रूप की अवस्थाओं के विश्लेषणों की लंबी-लंबी तालिकाएँ एक के बाद दूसरी इस तरह आती हैं कि प्राथमिक पाठक का माथा चकरा जाता है। किंतु एक बार धैर्य से परम्परा के अनुसार समझ लेने के बाद सब साफ़ हो जाता है,

और बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। सचमुच 'सूत्र पिटक' ठीक-ठीक समझने के लिए 'अभिधम्म' अनिवार्य है। 'अभिधम्म' की सारी बातें 'सूत्र पिटक' के आधार पर ही लिखी गई हैं। इस बात पर मतभेद है कि 'अभिधम्म' की शिक्षा बुद्ध ने स्वयं दी है या यह बाद की कृति है। जो हो, इतना निश्चय है कि अशोक के समय तक 'अभिधम्म पिटक' पूरा हो चुका था। यही उसकी प्रामाणिकता का परिचायक है।

पिटकोत्तर पालि साहित्य

बर्मा की परम्परा के अनुसार 'खुद्दक निकाय' में तीन ग्रन्थ और शामिल किए जाते हैं—'नेत्तिप्पकरण', 'पेटकोपदेश' और 'मिलिन्दपञ्ह'। बौद्ध धर्म और दर्शन के ये अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। पुरानी मान्यता है कि बुद्ध के अपने शिष्य महाकच्चायन ने प्रथम दो ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु यह ठीक नहीं है। इनके रचयिता का नाम कच्चान रहा होगा और बाद में ग्रन्थ की महत्ता बढ़ाने के लिए उनका महाकच्चान से तादात्म्य कर दिया गया। इनकी रचना संभवतः ईसवी सन् के प्रारम्भ में ही हुई होगी। मिलिन्दपञ्ह में ग्रीक राजा मिनाण्डर (मिलिन्द) और भिक्षु नागसेन के शास्त्रार्थ का वर्णन है। दर्शन सम्बन्धी सभी पहलुओं पर प्रश्नोत्तर में बौद्ध दृष्टि से विचार किया गया है। गहन से गहन बात को सुन्दर उपमाओं से समझाया गया है। मिलिन्दपञ्ह के कर्त्ता कौन थे इसका पता नहीं। इसकी रचना भी ईसवी सन् के प्रारम्भ में ही हुई होगी।

'दीपवंस' लंका का पद्यमय इतिहास है, जिसमें राजा महासेन (३२५-३५२ ई०) के समय तक की घटनाओं का वर्णन है। आचार्य बुद्धघोष ने 'दीपवंस' का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि इसकी रचना सन् ३५५ और ४५० ई० के बीच हुई होगी।

आचार्य बुद्धघोष पाँचवीं शताब्दी में लंका गए थे, वहाँ उन्होंने सिंहली भाषा में 'त्रिपिटक' पर लिखे बृहत् भाष्य, अट्ठकथा का अध्ययन किया और उसके आधार पर पालि में अट्ठकथाएँ लिखीं। उन ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

त्रिपिटक	अट्ठकथा
विनयपिटक	समन्तपासादिका
पातिमोक्ख	कंखावितरणी
दीघनिकाय	सुमंगलविलासिनी
मज्झिमनिकाय	पपंचसूदनी
संयुत्तनिकाय	सारत्थपकासिनी
अंगुत्तरनिकाय	मनोरथपूरणी
खुद्दकनिकाय	परमत्थजोतिका
धम्मसंगणि	अत्थसालिनी
विभंग	सम्मोहविनोदनी
अभिशेष ग्रन्थ	पंचप्पकणट्ठकथा

बुद्धघोष द्वारा लिखा गया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है—'विसुद्धिमग्ग'। इस ग्रन्थ का विषय है योगाभ्यास। इसमें योगाभ्यास की तैयारी से ले कर सिद्धि तक की सारी बातें सुन्दर ढंग से समझाई गई हैं।

'जातकट्ठकथा' के कर्ता भी बुद्धघोष ही माने जाते हैं। किन्तु इसकी प्रामाणिक पुष्टि नहीं हुई है। जो हो, यह उन्हीं के समय के आस-पास की कृति है। इसके ढंग पर ही 'धम्मपद' की गाथाओं पर 'धम्मपदट्ठकथा' लिखी गई, जिसमें ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन की प्रचुर सामग्री है। इसके कर्ता भी बुद्धघोष कहे गए हैं। परन्तु इसमें मतभेद है।

बुद्धघोष के समकालीन दूसरे आचार्य बुद्धदत्त स्थविर थे। 'खुद्दकनिकाय' के ग्रन्थ 'बुद्धवंस' पर उन्होंने 'मधुरत्थविलासिनी' नामक अट्ठकथा लिखी। उनकी दूसरी कृतियां हैं—'विनयविनिच्छय', 'उत्तरविनिच्छय', 'अभिधम्मावतार', और 'जिनालंकार'।

'महावंस' लंका का काव्यमय इतिहास है। विषय और काल की दृष्टि से यह 'दीपवंस' के ही समान है। भाषा की दृष्टि से 'दीपवंस' का कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु 'महावंस' सुन्दर काव्य जैसा ललित पालि का ग्रन्थ है। 'महावंश' की रचना छठी शताब्दी के प्रारम्भ में हुई जान पड़ती है।

व्याकरणकार कच्चायन का काल बुद्धघोष से बाद का है। इनका व्याकरण सबसे अधिक प्रचलित है।

लंका के विख्यात राजा पराक्रमबाहु (११५३-११८६ ई०) के संरक्षण में स्थविर महा-काश्यप के नेतृत्व में एक संगीति की गई, जिसमें अट्ठकथाओं पर टीकाओं की रचना की गई। टीकाओं के नाम निम्नलिखित हैं—

अट्ठकथा	**टीका**
समन्तपासादिका	सारत्थदीपनी
सुमंगलविलासिनी	पठमसारत्थमंजूसा
पपंचसूदनी	दुतियसारत्थमंजूसा
सारत्थप्पकासिनी	ततियसारत्थमंजूसा
मनोरथपूरणी	चतुत्थसारत्थमंजूसा
अत्थसालिनी	पठमपरमत्थप्पकासिनी
सम्मोहविनोदनी	दुतियपरमत्थप्पकासिनी
पंचप्पकणट्ठकथा	ततियपरमत्थप्पकासिनी

'सारत्थदीपनी' के कर्ता सारिपुत्र स्थविर थे। संघरक्खित, बुद्धनाग, वाचिस्सर आदि शिष्यों ने अनेक टीका ग्रन्थों की रचना की। सुमंगल स्थविर ने आचार्य अनुरुद्धकृत 'अभिधम्म-त्थसंगह' पर 'विभावनी' नाम की टीका लिखी। इसी के आसपास निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना हुई—धम्मकित्ति का 'दाठावंस', वाचीस्सर का 'थूपवंस', बुद्धरक्खित का 'जिनालंकार',

मेधङ्कर का 'जिनचरित' तथा किसी अज्ञात लेखक का 'वंसत्थप्पकासिनी' (महावंस की टीका)।

अठारवीं शताब्दी में बर्मा के एक स्थविर ने एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है गन्धवंस (ग्रन्थवंश)। इसमें परम्परा से प्राप्त पालि साहित्य का इतिहास दिया गया है।

बर्मा और लंका, दोनों देशों में आज तक पालि साहित्य का अविच्छिन्न विकास होता रहा तथा बालावतार, रूपसिद्धि, पयोगसिद्धि, पदसाधन, सद्दनीति, धातु-मंजूसा, धातुपाठ आदि व्याकरण ग्रन्थ लिखे गए।

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी (मृत्यु १९४८ ई०) ने भी पालि में दो अमूल्य ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम हैं 'नवनीत टीका' और 'विसुद्धिमग्गदीपिका'। 'नवनीत टीका' अनुरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसंगह' पर यथार्थ नामा टोका ग्रन्थ है तथा 'विसुद्धिमग्गदीपिका' 'विसुद्धिमग्ग' के कठिन स्थलों की सुबोध व्याख्या है।

पालि भाषा और साहित्य का प्रचलन और प्रत्यक्ष प्रभाव भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण समाप्त हो गया। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध धर्म की जीवन-दृष्टि ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन तथा साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है। जहाँ तक हिन्दीभाषी क्षेत्र की भाषा और उसके साहित्य का सम्बन्ध है, पालि साहित्य में संचित बौद्ध विचारधारा उसमें सन्निहित देखी जा सकती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर बौद्ध दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भले ही बौद्ध धर्म का भारत में पुनरोदय सम्भव न हो, आधुनिक काल में भारतीय चिन्तन और मनीषा ने बुद्ध और उनके बहुमूल्य विचारों को पुनरुज्जीवित करने का सतत प्रयत्न किया है तथा पालि साहित्य के पुनरुद्धार और सम्पादन-प्रकाशन के स्तुत्य प्रयत्न हुए हैं। हिन्दी में पालि ग्रन्थों के अनुवाद भी होते जा रहे हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत के पड़ोसी बौद्ध धर्मानुयायी देशों —लंका, बर्मा, थाईदेश आदि से भारत का सीधा सम्पर्क हो जाने के कारण भी बौद्ध धर्म और पालि साहित्य के मूलस्थान, भारत को अपनी प्राचीन सम्पत्ति सँभालने की प्रेरणा मिली है। अतः 'नालंदा पालि इन्स्टीट्यूट' के द्वारा 'त्रिपिटक' के हिन्दी अनुवाद तथा अन्य संस्थाओं द्वारा पालि साहित्य के प्रकाशन की योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय धर्मानन्द कोसम्बी और भदंत आनन्द कोसल्यायन के प्रयत्न स्मरणीय हैं।

१०. प्राकृत साहित्य

नैक विद्या गुरुं नौमि वूल्नरमृषिरूपिणम्।
भाषाशास्त्रप्रवृत्तिं मे यः सोत्साहमवर्धयत्॥[१]

प्राकृत शब्द का वाच्य विषय न्यूनाधिक होता रहा है। प्राकृत कहने से भारतवर्ष के पंडित नाटकीय प्राकृतें, वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृतें, हालकृत सप्तशती आदि काव्य ग्रन्थों की प्राकृतें तथा जैन शास्त्रों की प्राकृतें समझा करते थे। जब महाराज अशोक की धर्मलिपियाँ तथा ब्राह्मी और खरोष्ठी के लेख पढ़ लिए गए, तो समानता के कारण उनकी भाषा को भी प्राकृत नाम दिया जाने लगा। जब मध्य एशिया (तुर्किस्तान) से खरोष्ठी के लेख तथा धम्मपद की प्रति मिली तो इनकी भाषा भी प्राकृत कहलाई। इस प्रकार व्यापक अर्थ में आर्य भारती की मध्यम अवस्था को प्राकृत नाम दिया गया और पालि को भी इसके अन्तर्गत मान लिया गया। डॉ० एस० एम० कात्रे ने लौकिक संस्कृत अर्थात् पणिनीय संस्कृति से कुछ भ्रष्ट भाषा को भी प्राकृत में सम्मिलित कर लिया। लेकिन कात्रे महोदय की इस बात को अभी दूसरे विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।

प्राकृत की जननी या मूल भाषा कौन थी इस बात को जानने के लिए 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना चाहिए। सब विद्वान् सहमत हैं कि यह 'प्रकृति' शब्द का तद्धित रूप है, अर्थात् प्रकृति सम्बन्धी अथवा प्रकृति में से निकला या आया हुआ। अब 'प्रकृति' शब्द के दो अर्थ हैं (१) मूल कारण, उद्गम स्थान और (२) जनसाधारण। जब 'प्रकृति' का अर्थ मूल कारण हो तब भाषा के प्रसंग में 'प्राकृत' का तात्पर्य संस्कृत होता है--'प्रकृतिः संस्कृतं, यत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्'; अर्थात् प्राकृत भाषा संस्कृत से निकली है। यह व्युत्पत्ति सांस्कृतिक भाषा-कुल का निर्देश करती है। यदि भारतीय पंडित पारसीक और ग्रीक भाषा से परिचित होते तो शायद वे भारत-योरुपीय भाषा-कुल की नींव डाल देते। संस्कृत को प्राकृत की जननी मानना पंडितों के लिए स्वाभाविक था, क्योंकि संस्कृत शब्दों में थोड़ा सा वर्ण-परिवर्तन करने से प्राकृत शब्द बन जाते हैं।

---

१. अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व डा० ए० सी० वूल्नर ने 'हेरिटेज ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तकमाला के लिए 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' लिखने का संकल्प किया था, परन्तु खेद है कि वे उसे पूरा नहीं कर सके। प्रस्तुत अध्याय वूल्नर महोदय के उस संकल्प की स्मृति को अर्पित किया जाता है।—लेखक।

प्रकृति का दूसरा अर्थ है जन साधारण या उनकी सहजात भाषा, जिसका व्याकरण द्वारा संस्कार न किया गया हो और जो देश-भेद तथा संस्कार-भेद से अनेक रूप धारण कर लेती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साहित्यिक प्राकृतें जनसाधारण की सहज भाषा से निकली हैं। अर्थात्, जन साधारण की बोल-चाल की भाषा ने कवियों, लेखकों और वैयाकरणों द्वारा माँजे जा कर संस्कृत (मंजी हुई),शिष्ट या साहित्यिक रूप धारण कर लिया। अत: साहित्यिक प्राकृत की जननी जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा है। संस्कृत को तो व्यावहारिक दृष्टि से ही प्राकृत की जननी मानना पड़ता है, क्योंकि संस्कृत की सहायता से इसके पढ़ने और समझने में आसानी रहती है। जैसे सौर जगत् का केन्द्र सूर्य है, परन्तु साधारण गणित करते समय पृथ्वी को इसका केन्द्र मान लिया जाता है, इसी तरह प्राकृत का व्याकरण बनाते समय संस्कृत को इसकी प्रकृति मान लिया जाता है, यद्यपि वास्तव में इसकी प्रकृति जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा है।

प्राकृत का महत्त्व और उसका पठन-पाठन

भारतवर्ष में चिरकाल से संस्कृत धार्मिक भाषा बनी हुई है। इसी में सब धर्म-कृत्य होते हैं। प्राय: इसी के माध्यम से पठन-पाठन होता था और इसी में ग्रन्थ रचे जाते थे। पहले-पहल तो संस्कृत और जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा में अधिक भेद नहीं था, लेकिन ईसा पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी तक इनमें काफ़ी अन्तर पड़ गया था। अब जनसाधारण संस्कृत को पूरी तरह न तो समझ सकते थे और न ही आसानी के साथ बोल सकते थे। संस्कृत सीखने के लिए उन्हें कुछ न कुछ अभ्यास और परिश्रम की आवश्यकता होती थी। यही कारण है कि महाबीर और बुद्ध ने अपना उपदेश प्राकृत में दिया, ताकि जनसाधारण उसे आसानी से समझ सकें। बौद्ध धर्म के अनुयायी महाराज अशोक के समय में प्राकृत को राज-कार्यों में स्थान मिला। अशोक ने अपनी धर्मलिपियाँ प्राकृत में उत्कीर्ण कराईं। उसके बाद कई सौ बरसों तक प्राकृत का प्रयोग शिलालेखों में होता रहा। गुप्त काल में वैदिक धर्म का फिर उत्कर्ष बढ़ा और संस्कृत का बोलबाला हुआ। तब जैनों और बौद्धों ने भी संस्कृत को अपनाया, परन्तु प्राकृत का पल्ला नहीं छोड़ा। दसवीं शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म का भारत से बहिष्कार हो गया, साथ ही बौद्ध प्राकृत (पालि) का पठन-पाठन उठ गया और उसने लंका, बर्मा और स्याम देश में आश्रय लिया। जैन प्राकृत साहित्य ने कुल बधू की भाँति अपने घर से बाहर पाँव नहीं रखा; वहाँ भी निवृत्तिपरक भिक्षुओं में रह कर उसने अपने शील का पालन किया। प्राकृत के उत्कर्ष के समय ब्राह्मण पण्डितों ने भी प्राकृत में कुछ रचना की; संस्कृत नाटकों में इसे स्थान दिया; काव्य और व्याकरण बनाए। लेकिन इधर कई सौ वर्षों से ब्राह्मणों ने प्राकृत का अध्ययन छोड़ दिया। संस्कृत नाटकों की प्राचीन प्रतियों में प्राकृत पाठों के साथ उनकी संस्कृत छाया दी होती है। इससे विदित होता है कि ब्राह्मण पंडित प्राकृत न पढ़ कर संस्कृत छाया ही पढ़ते थे। ब्राह्मण लिपिकार भी प्राकृत को बहुत अशुद्ध लिखते थे। इस प्रकार प्राकृत अनुशीलन का क्षेत्र संकुचित हो गया था। हर्ष की बात है कि अब प्राकृत अनुशीलन को

योग्य स्थान मिल गया है। कई विश्वविद्यालयों और शिक्षा-संस्थानों द्वारा पाली और अर्धमागधी का अध्ययन अग्रसर हो रहा है।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का निर्माण प्रधानतया तीन प्रकार की सामग्री से किया गया है—(१) ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य, (२) शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रादि और (३) यवन, रोमक और चीनी लेखकों की सूचनाएँ। इनमें से जैन और बौद्ध साहित्य का बड़ा भाग प्राकृत और पालि में है। विक्रम के तीन चार सौ वर्ष के इधर-उधर के शिलालेख भी अधिकतर प्राकृत में हैं। अतः इस सब सामग्री का समुचित प्रयोग प्राकृत ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त आर्य भारती के इतिहास तथा विकास की सामग्री तो प्रधानतया प्राकृत ही में मिलती है। प्राकृत साहित्य प्राचीन भारत का सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक चित्र आँखों के सामने खड़ा कर देता है।

वास्तव में हिन्दी अपभ्रंश की संतति है। हिन्दी के आदि महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के भाषा और छन्द तो अपभ्रंश से बहुत ही मिलते हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस', 'पदुमावति,' 'माधवानलकामकंदला' की दोहे चौपाई की शैली अपभ्रंश ग्रन्थों की घत्ता और कडवक शैली का ही अनुकरण है। वस्तुतः अपभ्रंश प्राकृत की अंतिम दशा का नाम है। अतः हम हिन्दी को प्राकृत की संतान कह सकते हैं। प्रारम्भिक काल के हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्राकृत का गहरा प्रभाव है। अतः हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के संपादन में प्राकृत का ज्ञान अनिवार्य है। अलबत्ता, पालि के ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं, क्योंकि भारत में इसका पठन-पाठन हिन्दी के जन्म से पहले ही बन्द हो चुका था। तथापि, बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय और हिन्दू धर्म के मेल से जो नाथ संप्रदाय, निकला उसका हिन्दी साहित्य की नींव डालने में काफ़ी हाथ है।

विविध प्राकृतें

प्राकृत साहित्य का वर्णन करने से पहले उन प्राकृतों के विषय में दो शब्द कहना उचित होगा जिनमें उस साहित्य की रचना हुई है।

१ **अर्धमागधी** में, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, आधा भाग मागधी का है और शेष अन्य प्राकृतों का। इसमें जैनों के प्राचीन सूत्र (आगम) रचे गए थे। जैनों के कथनानुसार महावीर ने अपना उपदेश इसी भाषा में दिया था। इसकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि इसे हर जाति और देश का व्यक्ति समझ लेता था। अर्धमागधी के इस गुण को समझाने के लिए यह दृष्टान्त दिया जाता है—एक भील अपनी तीन स्त्रियों सहित जंगल में चला जाता था। एक स्त्री को प्यास लगी, उसने कहा कि मुझे जल पिलाओ। दूसरी को भूख लगी, उसने कहा कि मुझे कोई पशु-पक्षी मार कर खिलाओ। तीसरी का जी उचाट हुआ, उसने कहा कि कोई गीत सुनाओ। इन तीनों को ही भील ने उत्तर दिया 'सरो नत्थि।' पहली समझी, सरो=सरं अर्थात् सरोवर नहीं, पानी कहाँ से लाऊँ। दूसरी समझी सरो=शरः=तीर नहीं, पशु-पक्षी किससे मारूँ। तीसरी समझी, सरो=स्वरः=सुर नहीं, गला ख़राब है, गाऊँ कैसे। तीनों ने अपने-अपने अभिप्राय से अर्थ जान लिया।

वर्तमान समय में उपलब्ध जैन सूत्रों की अर्धमागधी मागधी की अपेक्षा महाराष्ट्री के अधिक निकट है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों जैन धर्म का केन्द्र पश्चिम की ओर खिसकता गया, अर्धमागधी पर पश्चिमी भाषा का प्रभाव पड़ता गया। पहले सूत्रों का अध्ययन मौखिक परम्परा से होता था। महावीर के निर्वाण से ९८० वर्ष पीछे वलभी (सुराष्ट्र) में उन्हें लेखारूढ़ किया गया। अतः यह भाषा-प्रभाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सब सूत्रों की अर्धमागधी एक समान नहीं है। आचारांग और सूत्रकृतांग की भाषा में प्राचीन प्रयोग अधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त गद्य और पद्य की भाषा में भी कुछ अन्तर है।

२. **जैन महाराष्ट्री** में साधारण महाराष्ट्री से थोड़ी सी भिन्नता है। इसमें सूत्रों की प्राचीन व्याख्या या टिप्पणी आदि मिलती हैं। इनको निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि कहते हैं। निर्युक्ति में सूत्र सम्बन्धी विश्लेषण होता है, जो बौद्धों के विभंग और परिवार से कुछ-कुछ मिलता है। निर्युक्ति पद्यमय होती है। जैन महाराष्ट्री ने थोड़े समय में अपना रूप स्थिर कर लिया। इसमें श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक कथानक, चरित्र, स्तोत्र, काव्य, प्रकरण आदि की रचना की।

३. **जैन शौरसेनी** में जैनों का दिगम्बर आगम रचा गया था। इसका रूप साधारण शौरसेनी से बहुत मिलता-जुलता है।

४. **महाराष्ट्री** सबसे उत्तम प्राकृत मानी जाती थी। महाकवि दण्डी अपने 'काव्यादर्श' में लिखते हैं—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः' (१।३५) अर्थात्, कवि लोग महाराष्ट्र देश में प्रचलित महाराष्ट्री प्राकृत को सबसे उत्तम गिनते हैं। प्राकृत व्याकरणों में सबसे पहले इसी का वर्णन किया जाता है। अन्य प्राकृतों के विशेष नियम देकर कह दिया जाता है—'शेषं महाराष्ट्रीवत्'। यह चिरकाल से गीतों की भाषा बन गई थी, जैसे हिन्दी क्षेत्र में ब्रज। इसीलिए संस्कृत नाटकों के स्त्री पात्र तथा विदूषक आदि वार्तालाप तो शौरसेनी में करते हैं, परन्तु गीत महाराष्ट्री के गाते हैं। इसमें रचे हुए काव्य अब तक विद्यमान हैं। नाम से तो इसका सम्बन्ध महाराष्ट्र से है, परन्तु भाषाओं की सूक्ष्म गवेषणा के आधार पर कई विद्वान् कहते हैं कि महाराष्ट्री वास्तव में शौरसेनी का ही विशिष्ट रूप है।

५. **शौरसेनी** शूरसेन अर्थात् मथुरा के आसपास के प्रदेश की बोली थी। नाटकों के प्राकृतभाषी पात्र इसी में वार्तालाप करते हैं।

६. **मागधी** पूर्व प्रान्त की प्राकृत है। इसका स्थान प्राचीन मगध था जिससे कुछ ही परे आधुनिक बिहारी भाषा की मगही बोली प्रचलित है। नाटकों के नीच पात्र मागधी बोलते हैं। इसमें कुछ लेख भी प्राप्त हुए हैं।

७. **पैशाची** एक प्रसिद्ध प्राकृत है, यद्यपि इसमें रचा हुआ एक भी ग्रन्थ इस समय विद्यमान नहीं है। कहा जाता है कि गुणाढ्य ने अपनी 'बृहत्कथा' की रचना पैशाची में की थी। यही ग्रन्थ भारतवर्ष के कथा साहित्य का मूल स्रोत है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है। इसके मूल स्थान के बाबत विद्वानों में मतभेद है। कोई इसे मध्यभारत की भाषा बतलाता है, कोई उत्तर-पश्चिम प्रदेश की। पैशाची की एक विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत घोष व्यंजनों के स्थान पर अघोष

व्यंजन हो जाते हैं, जैसे, दामोदर का तामोतर, नगर का नकर इत्यादि। यह बात तुर्किस्तान से मिले खरोष्ठी लेखों में भी कई जगह पाई जाती है। अतः पैशाची का उत्तर-पश्चिम प्रदेश की भाषा होना अधिक संभव है।

८. इनके अतिरिक्त नाटकों में **आवन्ती, ढाक्की या टाक्की, शाकारी** आदि का प्रयोग होता है, जो वास्तव में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी के ही उपभेद हैं।

९. अशोक की धर्मलिपियों की प्राकृत का भी पृथक् उल्लेख किया जाता है। परन्तु यह भाषा पूरी तरह साहित्यिक नहीं बन सकी। इसमें स्थानीय विशेषताएँ पाई जाती हैं, जैसे, धौली और जौगड़ के शिलालेखों में मागधी की विशेषता (**र** का **ल** और **स** का **श**) मिलती है। गिरनार के शिलालेख में **त्र, प्र** आदि संयुक्त वर्ण मिलते हैं जो गुजराती में आज भी विद्यमान हैं। इसी तरह मानसेहरा के शिलालेख में **श, ष** का भेद मिलता है। अशोक के उत्तरकालीन शिलालेखों की प्राकृत में उत्तरोत्तर समानता आती जाती है।

१०. खरोष्ठी प्राकृत चीनी तुर्किस्तान से मिले खरोष्ठी लेखों की भाषा है। यह उत्तर-पश्चिम की पैशाची से कुछ मिलती-जुलती है। इसमें बहुत से अनार्य शब्द भी पाए जाते हैं, जो प्रायः स्त्री, पुरुष, नगर तथा अन्य वस्तुओं के नाम हैं। रुद्रसेन को 'रुत्रसेन' लिखा है। **त्र, प्र** आदि अनेक संयुक्त वर्ण तथा **श, ष** का भेद भी विद्यमान है। इस खरोष्ठी में, विशेषकर इसके द्वारा संस्कृत लिखने में, स्वर मात्राओं के ह्रस्व-दीर्घ का भेद, **ऋ** वर्ण, संयुक्त वर्ण तथा हलन्त वर्ण के लिए विराम का प्रयोग भी मिलता है।

प्राकृत साहित्य

यद्यपि शिलालेखों और ताम्रशासनों को साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता, तथापि यदि महाराज अशोक की धर्मलिपियाँ चट्टानों पर अंकित होने के बजाय पुस्तकाकार सुरक्षित होतीं, तो निःशंक वे प्राकृत साहित्य का सबसे प्राचीन उदाहरण होतीं, जिसका समय निश्चयपूर्वक ज्ञात है। ये धर्मलिपियाँ भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर खरोष्ठी लिपि में और अन्यत्र ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। इनकी रचना-शैली गद्य के विकास में विशेष महत्त्व रखती है और यह अलंकारों से सर्वथा शून्य है। ये अशोक की सत्यप्रियता और उद्योगिता का परिचय देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनको महाराज अशोक ने स्वयं अपने मुख से लिखवाया था, क्योंकि इनमें प्रशंसा या स्तुति का कोई लेश नहीं है। यदि वे किसी राज-मंत्री की रचना होतीं, तो इनमें अवश्य राज-स्तुति होती।

इन लिपियों की तुलना पारसीक महाराज दारा के लेखों से की जा सकती है। इन दोनों में भेद यह है कि दारा तो अपने इष्टदेव अहुर्मज़्दः की सहायता से शत्रुओं पर विजय पाने और विशाल राज्य की स्थापना पर हर्ष प्रकट करता है, इसके विपरीत अशोक का मुख्य प्रयोजन है कि देश-देशांतर में धर्म की वृद्धि हो। इस निमित्त जो कुछ उसने किया, लिपियों द्वारा उसकी उद्घोषणा की गई है। ये मौर्यकाल की शासन-पद्धति तथा प्रजा-हितैषी राजा के लोकोपकार पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। इसी प्रकार महाराज खारवेल का लेख भी महत्त्वपूर्ण है, जो कटक से १९ मील

परे उदयगिरि गुफा में उत्कीर्ण है। इसमें खारवेल के अभिषेक से वर्ष १३ तक का वर्णन है। इसकी प्राकृत में प्रौढ़ता की झलक है।

जैनों का प्राकृत साहित्य

प्राकृत साहित्य का व्यापक अर्थ लेने पर पहला स्थान पालि को दिया जाना चाहिए। लेकिन पालि साहित्य का विवरण पहले दिया जा चुका है। अतः पालि साहित्य के निकल जाने पर शेष प्राकृत साहित्य में अधिकांश जैनों का प्राकृत साहित्य ही रह जाता है। 'जैन' और 'प्राकृत' शब्दों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जैन कहने से प्राकृत का और प्राकृत कहने से जैन का स्वयमेव स्मरण हो आता है। जैनों ने अपना प्राकृत-साहित्य चार भाषाओं में रचा है—(१) अर्धमागधी, (२) जैन महाराष्ट्री, (३) जैन शौरसेनी और (४) अपभ्रंश। इनमें से अपभ्रंश साहित्य का वर्णन पृथक् अध्याय में हुआ है।

जैन साहित्य में अर्धमागधी रचनाएँ सबसे प्राचीन मानी जाती हैं। उन सबको मिला कर 'सिद्धान्त' या 'आगम' कहते हैं। सिद्धान्त के प्रत्येक ग्रन्थ को सूत्र कहते हैं। सिद्धान्त का एक नाम श्रुत भी है जो वैदिक श्रुति की याद दिलाता है। इसी प्रकार सूत्र, अंग, उपांग, स्कंध आदि संज्ञाएँ वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में समान रूप से पाई जाती हैं। सिद्धान्त के अन्दर निम्नलिखित ग्रन्थ (सूत्र) शामिल हैं:—

(१) **बारह अंग**—१. आचारांग सूत्र २. सूत्रकृतांग सूत्र, ३. स्थानांग सूत्र, ४. समवायांग सूत्र, ५. भगवती या व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र ६. ज्ञाताधर्म सूत्र, ७. उपासकदशा सूत्र, ८. अंतकृद्दशा सूत्र, ९. अनुत्तरौपपातिक सूत्र, १०. प्रश्नव्याकरण सूत्र, ११. विपाक सूत्र १२. दृष्टिवाद।

(२) **बारह उपांग**—१. औपपातिक सूत्र, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति, ६. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७. सूर्यप्रज्ञप्ति, ८. निरयावलिया, ९. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूला, १२. व्रष्णिदशाः।

(३) **छः छेद सूत्र**—१. निशीथ, २. महानिशीथ, ३. व्यवहार, ४. दशाश्रुत स्कंध ५. बृहत्कल्प, ६. पंचकल्प।

(४) **मूल सूत्र** १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक, ३. दशवैकालिक, ४. पिंड-निर्युक्ति।

(५) **दस प्रकीर्णक**—१. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तप्रत्याख्यान, ४. संस्तारक, ५. तंदुलवैतालिक, ६. चंद्रकवेध्यक, ७. देवेन्द्रस्तव, ८. गणिविद्या, ९. महा-प्रत्याख्यान, १० वीरस्तव।

(६) **दो सूत्र (अनिर्दिष्ट नाम)**—१. नन्दी, २. अनुयोगद्वार।

किसी-किसी ने सिद्धान्तगत सूत्रों की संख्या ५५ या ८४ मानी है। इस संख्या को पूरा करने के लिए प्रकीर्णक और निर्युक्तियाँ बढ़ा दी जाती हैं।

इतने विशालकाय सिद्धान्त की रचना एक व्यक्ति का काम नहीं हो सकता। भाषा और रचना-शैली के भेद इस बात को प्रकट करते हैं कि सिद्धान्त के अन्तर्गत ग्रंथों को कई लेखकों ने भिन्न समयों पर बनाया है; जैसे, प्रज्ञापना सूत्र श्यामाचार्य की रचना है, दशवैकालिक शय्यंभव की, दशाश्रुतस्कंध भद्रबाहु की, इत्यादि।

सिद्धान्त में द्वादशांगी अर्थात् बारह अंग प्राचीनतम हैं। जैनों की मान्यता के अनुसार यह भगवान् महावीर के उपदेश का सार है, जिसे उनके मुख्य शिष्यों (गणधरों) ने सूत्र रूप में गूँथा था। वर्तमान द्वादशांगी सुधर्म स्वामी की रचना है, लेकिन कालान्तर में इस के पाठ में परिवर्तन होता रहा। द्वादशांगी को 'गणिपिटक' अर्थात् आचारों की पेटी भी कहते हैं। यहाँ 'पिटक' शब्द का प्रयोग बौद्धों के 'त्रिपिटक' के समान है।

बारह अंगों के नाम तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में एक सरीखे हैं। परन्तु दिगम्बरों का कहना है कि मूल सिद्धान्त लुप्त हो चुका है, इसलिए वे वर्तमान काल के उपलब्ध सिद्धान्त को प्रामाणिक नहीं मानते। श्वेताम्बरों के स्थानकवासी संप्रदाय में इनमें से केवल ३२ सूत्र मान्य हैं।

भगवान् महावीर के समय में पहले के भी कुछ ग्रन्थ विद्यमान थे, जिनको 'पूर्व' कहते थे। इनकी संख्या १४ थी और ये संस्कृत में रचे हुए थे। सम्भवतः ये 'पूर्व' नामी ग्रन्थ भगवान् पार्श्वनाथ के समय या उससे भी पहले की रचना हों। उस समय संस्कृत का आधिपत्य होने से 'पूर्व' भी संस्कृत में रचे गए। महावीर के कुछ काल बाद पूर्व लुप्त हो गए।

सिद्धान्त का संकलन

भगवान् महावीर के उपदेश को उनके पट्टशिष्य सुधर्मस्वामी ने सूत्रों में संगृहीत किया। दूसरे स्थविर भिक्षुओं ने भी अपनी शक्ति के अनुसार छोटे-मोटे ग्रन्थ बनाए। यह साहित्यिक प्रवृत्ति कई पीढ़ियों तक जारी रही। इस साहित्य का पठन-पाठन मौखिक होता था। इसे लेखबद्ध करने का किसी को ध्यान नहीं आया।

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में मगध देश में बड़ा भीषण अकाल पड़ा जो बारह बरस तक रहा। साधुओं को भिक्षा तक मिलना कठिन हो गया। यह देख कर बहुत से साधु समुद्रतट की ओर चले गए। सुभिक्ष होने पर जब साधु फिर मिले तो उनको मालूम हुआ कि बहुत सा श्रुत अर्थात् साहित्य भूल गया है। इस पर साधुओं ने पाटलिपुत्र में परिषद् की। जो कुछ जिसको याद था, उसको इकट्ठा करके ११ अंग पूरे किए गए। बारहवाँ अंग भद्रबाहु स्वामी के सिवा और किसी को याद नहीं रहा था और वे नेपाल देश में एक विशेष तपस्या करने गए हुए थे। उसे समाप्त किए बिना वे आ नहीं सकते थे। इसलिए स्थूलभद्र को वहाँ भेज कर बारहवाँ अंग प्राप्त किया गया। भद्रबाहु का देहावसान वीर-निर्वाण के १७० वर्ष बाद हुआ।

इस परिषद् द्वारा संकलित अंगों को कुछ साधुओं ने स्वीकार नहीं किया, उन्होंने कहा कि

असली अंग अब भूले जा चुके हैं। इस कारण साधुओं की दो शाखाएँ हो गईं जो आगे चल कर श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायों में परिणत हो गईं।

अब जैन धर्म का मगध के बाहर भी प्रसार होने लगा। विक्रम संवत् के आरम्भ तक शूरसेन देश में इसका काफ़ी ज़ोर हो चुका था, जैसा कि मथुरा के कंकाली टीले में से निकले हुए जैन स्तूप के अवशेषों से निश्चयपूर्वक ज्ञात होता है। यहाँ से मिले लेखों से जैन सूत्रों में वर्णित घटनाओं का समर्थन होता है। अभी तक सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन मौखिक रीति से ही चलता था।

वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी में फिर दुर्भिक्ष पड़ा, साधुओं को ग्रन्थों का पाठ भूल गया। इस बार स्कन्दिलाचार्य की प्रधानता में मथुरा में साधु परिषद् की गई और याद रहा साहित्य इकट्ठा किया गया। चूँकि इस बार सिद्धान्त-संपादन शूरसेन की राजधानी मथुरा में हुआ, अतः स्वाभाविक है कि सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा पर शौरसेनी का काफ़ी प्रभाव पड़ता।

इसके अनन्तर जैन धर्म, विशेषकर श्वेताम्बर संप्रदाय, का केन्द्र पश्चिम अर्थात् गुजरात, काठियावाड़ की ओर खिसक गया था। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी में घोर अकाल पड़ा। सुकाल होने पर साधु-परिषद् हुई, जिसके प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे। जिस-जिस को जितना-जितना पाठ याद रहा था, उस पर से समग्र सिद्धान्त का संपादन किया गया, जो थोड़े बहुत, परिवर्तन के साथ अब तक बचा आया है। सिद्धान्त का समय-समय पर इस प्रकार का संपादन वाचना कहलाता है और क्रम से (१) मागधी या पाटलिपुत्रीय, (२) माथुरी, तथा (३) वलभी वाचना के नाम से प्रख्यात है। जैन साधुओं की ये परिषदें पालि त्रिपिटक की संपादिका तीन महा संगीतियों के समान हैं जो क्रमशः राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में हुई थीं।

इस बार सम्पादित सिद्धान्त को लिपिबद्ध किया गया, ताकि भविष्य में अकाल आदि विपत्ति पड़ने पर उसका नाश न हो जाए। सिद्धान्त की सैकड़ों प्रतियाँ लिखवा कर बड़े-बड़े नगरों में पहुँचा दी गईं। यहीं से जैन पुस्तक भंडारों की नींव पड़ी। समय-समय पर लाखों रुपया खर्च करके भंडारों को स्थिर रखा गया। जैसलमेर, पाटन, अहमदाबाद, खंभात, बीकानेर आदि के जैन पुस्तक भंडार संसार भर में प्रसिद्ध हैं। इनमें सैकड़ों अलभ्य ग्रंथ रत्न सुरक्षित हैं। दुर्भिक्ष के समय जो साधु समुद्र तट की ओर चले गए थे उनमें से कुछ कर्नाटक देश में जा पहुँचे और उन्होंने वहाँ जैन धर्म फैलाया, साथ ही वहाँ की कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं को साहित्यिक रूप दिया। इन भाषाओं में प्राचीन साहित्य जैन साधुओं का ही रचा हुआ है।

यद्यपि अर्धमागधी सिद्धान्त वीर-निर्वाण से ९८० वर्ष पीछे संपादित हो कर लिपिबद्ध हुआ, तथापि इसके अन्दर बहुत से अंश ऐसे हैं जो निश्चयपूर्वक अति प्राचीन हैं। इनमें महावीर के जीवन की एक घटना, गर्भापहरण का निर्देश है। वही घटना मथुरा के जैन स्तूप से मिले एक शिलाखंड पर अंकित है। इसी प्रकार जैन संघ के भेद, उपभेद, गण, शाखा आदि—जो कल्पसूत्र में वर्णित हैं, वही मथुरा के लेखों में पाए जाते हैं। ये महाराज कनिष्क के समय के हैं, अतः विक्रम की प्रथम शताब्दी के हैं। ऐसे ही पालि 'त्रिपिटक' में 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञात

पुत्र) का उल्लेख है। वह जैनों का 'निग्गंठ नायपुत्त' है जो भगवान् महावीर का नाम है, क्योंकि वे ज्ञात कुल के क्षत्रिय थे। पालि में उनके बारे में जो कुछ लिखा है, उसका समर्थन जैन सूत्रों से होता है।

सिद्धान्त की रचना-शैली

यद्यपि भारत में लेखन कला बड़ी प्राचीन है और स्त्री-पुरुष की बहत्तर कलाओं में पहला नम्बर इसी का है, परन्तु साहित्य को लिपिबद्ध करने का रिवाज यहाँ न था, वह कंठस्थ ही रखा जाता था। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य बहुधा पद्यात्मक है, क्योंकि गद्य की अपेक्षा पद्य आसानी से और जल्दी याद हो जाता है। यदि गद्य याद करना होता तो उसके प्रधान शब्द या प्रतीक ले कर उनकी शृंखला याद कर ली जाती और उसकी व्याख्या फिर अपने शब्दों में कर दी जाती थी, जैसे आजकल इन्द्रधनुष के सात रंगों को याद करने के लिए विद्यार्थी उनके अंग्रेजी नामों के आद्यक्षरों का 'विब्ग्योर' शब्द याद कर लेते हैं।

स्मरण करने की इस आवश्यकता ने संस्कृत में सूत्र शैली को जन्म दिया जो दुनिया भर में अपनी एक ही मिसाल है। सूत्र युग में रचे जाने के कारण जैन ग्रन्थ भी सूत्र कहलाए। बौद्धों ने इनका नाम 'सुत्त' या 'सुत्तंत' (सूत्रान्त) रखा। जैन सूत्रों की रचना-शैली कुछ निराली है। इनमें प्रतिपाद्य विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं होता। केवल उसकी सूचना मात्र होती है। यह शैली संस्कृत के सूत्र ग्रन्थों से काफ़ी भिन्न है। वहाँ तो शब्द-लाघव मुख्य प्रयोजन है और एक सूत्र अपने अगले-पिछले सूत्रों से संबद्ध होता है। जैन सूत्रों में ये बातें इतनी प्रधानता नहीं रखतीं। जैन सूत्रों में पुनरुक्ति भी बहुत है। क्रिया और विशेषण को बार-बार दुहराया जाता है। पालि 'त्रिपिटक' में पुनरुक्ति और भी अधिक है।

राजा, नगर, चैत्य, सेठ आदि का वर्णन प्रायः सब सूत्रों में एक जैसा होता है। एक सूत्र में एक बार पूरा वर्णन करके फिर अन्य सूत्रों में उसके आदि और अन्त के शब्द दे कर बीच में 'जाव' ('यावत्' = यहाँ से यहाँ तक) लिख दिया जाता है। ऐसे संदर्भों को 'वर्णक' या 'आलापक' कहते हैं। ऐसे वर्णकों का प्राचीन मैथिली का एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जिसका नाम 'वर्ण-रत्नाकर' है। पालि ग्रन्थों में भी लिखते समय सारा पाठ दुहराया नहीं जाता। आदि और अन्त के शब्दों के मध्य 'पे' लिख दिया जाता है जो 'पेय्याल' का संक्षिप्त रूप है।

अर्धमागधी आगम की रचना में अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न शैली का प्रयोग हुआ है। जिस-जिस भाग में जीव, अजीवादि दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन है, वे भाग भावुक और सहृदय पाठक को नीरस प्रतीत होंगे, क्योंकि वे पारिभाषिक शब्दों की एक माला सी दिखाई देते हैं, लेकिन फिर भी, उनमें किसी-किसी स्थान पर सुन्दर उदाहरण और दृष्टान्त पाए जाते हैं जो नीरसता को दूर कर देते हैं। जिन भागों में गद्यमय कथा और चरित्र हैं वे संस्कृत के गद्य काव्यों की टक्कर के हैं। उनमें कहीं अत्यन्त सरल शैली का और कहीं गौड़ी रीति का प्रयोग हुआ है। उनकी शैली बाण और दण्डी की रचनाओं से मिलती है। 'ज्ञाता धर्मकथा' तथा 'औ-

पपातिक' सूत्रों से यह बात भली भाँति प्रकट होती है। रचना की शैली से उनके रचना-काल का भी अनुमान हो सकता है। जो औपदेशिक भाग हैं, वे प्रायः छन्दोबद्ध हैं। उनमें काव्यों के सभी गुण पाए जाते हैं। अलंकार, विशेषकर उपमा, पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उनके छन्द मधुर और गेय हैं, जो सहृदयों के कंठ करने योग्य हैं। एक-एक पद्य में गम्भीर भाव भरे रहते हैं। इस दृष्टि से वे संसार के उच्चतम साहित्य में स्थान पाने के योग्य हैं।

सिद्धान्त की रक्षा तथा प्रकाशन

ऊपर कहा गया है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने सिद्धान्त की सैकड़ों प्रतियाँ लिखवा कर प्रसिद्ध नगरों में भिजवा दीं। इसके बाद साधु लोग भी अपने ख़ाली समय में सूत्रों की प्रतियाँ लिखते रहे हैं। साथ ही सिद्धहस्त लिपिकारों द्वारा सूत्र लेखन का काम जारी रहा। अब ग्रन्थों का लिखवाना बड़ा पुण्य कार्य समझा जाने लगा। पहले ताड़पत्तों पर लोहे की सलाई से अक्षर उत्कीर्ण किए जाते और फिर उन पर सूखी स्याही मली, जाती, जिससे स्याही अक्षरों में भर कर उन्हें काला कर दिया जाता। जैन लोग ताड़पत्रों पर क़लम द्वारा स्याही से भी लिखते थे। मुसलमानों के समय में काग़ज़ का रिवाज हो गया, तब से ग्रंथ काग़ज़ों पर लिखे जाने लगे। अतः ताड़पत्रीय प्रतियाँ काग़ज़ की प्रतियों से अधिक प्राचीन हैं। कल्पसूत्र को सोने और चाँदी की स्याही से बड़े ही सुन्दर अक्षरों में लिखा जाता था। ऐसी अनेक प्रतियाँ विद्यमान हैं। उनमें मुख्य घटनाओं के रंगीन चित्र भी हैं, जिन का भारतीय चित्रकला के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन लोग अपने पुस्तक संग्रह को बड़ी सावधानी से रखते हैं। साल में एक दो बार उन्हें धूप लगा कर सुखा देते हैं। जैनों में देवनागरी का एक विशेष रूप प्रचलित है जिसे जैन लिपि कहते हैं। प्रतियों के आरंभ में संकेतात्मक 'ॐ' होता है, जिसका आकार ९० (नव्वे) के अंक से मिलता है। गुजराती में इस चिह्न को 'भले' कहते हैं। पत्र के चारों ओर हाशिया छोड़ा जाता है। लेख की पंक्तियाँ सीधी होती हैं। लकड़ी पर समानान्तर धागे कस कर पत्र को उन पर दबा दिया जाता है। इससे पत्र पर पड़े धागों के निशान लकीरों का काम देते हैं। वाक्यों और शब्दों में अंतर नहीं छोड़ा जाता। श्लोकों को विराम द्वारा पृथक् करके श्लोक संख्या लगाई जाती है। जो अक्षर मिटाने होते हैं उन पर हरिताल फेर दी जाती है।

यद्यपि जैन लोग अपने ग्रन्थों के प्रचार को बड़ा पवित्र काम मानते हैं, तो भी वे उन्हें मुद्रित करने में पाप समझते थे। समय के प्रवाह से अब यह धारणा दूर हो गई है, लेकिन फिर भी दिगम्बर संप्रदाय में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपना स्वाध्याय हस्तलिखित प्रतियों से ही करते हैं। प्रेस की सुविधा हो जाने पर कलकत्ता के बाबू धनपति सिंह ने सं० १९४० (सन् १८८३ ई०) के आसपास समग्र आगम संग्रह को ४५ जिल्दों में मुद्रित कराया। इसमें प्रत्येक सूत्र की संस्कृत टीका और गुजराती अनुवाद दिया हुआ है। संपादन की दृष्टि से इस आगम संग्रह का कुछ महत्त्व नहीं, क्योंकि इसके प्राकृत और संस्कृत पाठों का ठीक ठीक संशोधन नहीं हुआ। ईसवी सन् के

तृतीय दशक में बम्बई की जैनागमोदय समिति ने सूत्रों को संस्कृत टीका सहित प्रकाशित किया था। यह बाबू धनपति सिंह के आगम संग्रह की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। लेकिन अभी तक वैज्ञानिक ढंग से संपादित सूत्रों की आवश्यकता बनी हुई है।

हैदराबाद (दक्षिण) से स्थानकवासियों के ३२ सूत्रों का संग्रह मुनि अमोलक ऋषि ने हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। परन्तु यह न पाठ-शुद्धि की दृष्टि से और न ही अनुवाद की दृष्टि से कुछ महत्त्व रखता है।

बहुत से फुटकर सूत्रों के मूल, गुजराती तथा हिन्दी अनुवाद बम्बई, अहमदाबाद और लाहौर से प्रकाशित हुए। उनमें पंजाब के आचार्य आत्माराम का काम उल्लेखनीय है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी कई सूत्रों के मूलपाठ और अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किए। इनमें से प्रो० हर्मन जेकोबीकृत 'आचारांग', 'कल्पसूत्र', 'सूत्रकृतांग' और 'उत्तराध्ययन' का अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है, जो 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट' की जिल्द २२ और ४५ में छपा। प्रो० रुडालफ़ हर्नले का 'उपासकदशा' का संस्करण तथा अनुवाद विद्वत्ता और परिश्रम का नमूना है। बम्बई यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसरों ने भी 'सूत्रकृतांग', 'दशवैकालिक' आदि सूत्रों के छात्रोपयोगी संस्करण निकाले हैं। व्यावर (राजपूताना) से हिन्दी अनुवाद सहित सूत्रों के संपादन की योजना चल रही है। श्वेताम्बर आचार्यों की प्रेरणा से पालीताना (काठियावाड़) में एक जैनागम मंदिर की स्थापना की गई है, जिसमें समस्त आगम शिलापट्टों पर उत्कीर्ण करके दीवारों में लगा दिया गया है ताकि वह शताब्दियों तक सुरक्षित रहे। साथ ही समग्र आगम को काग़ज़ के बड़े-बड़े पत्रों पर मोटे अक्षरों में मुद्रित भी कराया गया है, जिसके पूरे सेट का मूल्य कई सौ रुपये है।

सूत्रों का विषय-सार

(१) 'आचारांग', जैसा कि इसके नाम से विदित होता है, आचार विषय का सूत्र है। आचार से तात्पर्य है साधु-साध्वियों की जीवन-चर्या, अर्थात् दीक्षा के दिन से ले कर मरणपर्यन्त क्या-कुछ उन्हें करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका विवरण। इसके दो श्रुतस्कन्ध (भाग) हैं जो रचना-शैली में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, और कदाचित् भिन्न-कर्तृक हैं। पहला श्रुतस्कन्ध गद्य-पद्यात्मक है, दूसरा केवल गद्य में है और इसमें जीवन-चर्या का क्रमपूर्वक वर्णन है; यथा, भोजन आदि माँगने की विधि, किस प्रकार का भोजन, वस्त्र, स्थान आदि साधु के योग्य है और किस प्रकार का अयोग्य। पहले भाग में हिंसा, असत्य आदि से बचने का उपदेश है। सारे सूत्र में उच्चकोटि के संन्यास, त्याग, निवृत्ति और तपस्या का वर्णन है, जिनका महावीर ने समभाव से पालन किया। अपने कष्टों के लिए उन्होंने किसी को दोष नहीं दिया, किसी को अपशब्द नहीं कहा, सब कुछ तितिक्षापूर्वक सहन किया। इस प्रकार का त्याग और तपस्यामय जीवन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। दूसरे भाग का विषय 'विनयपिटक' के स्कन्धक (महा चुल्ल वर्ग) से बहुत मिलता है।

(२) 'सूत्रकृतांग' के भी दो भाग हैं—पहला पद्यात्मक, दूसरा एक अध्याय को छोड़

शेष गद्यात्मक है। इसमें साधुओं को अपने आचरण में स्थिर रहने का उपदेश है। इसी प्रसंग में अन्य मत मतान्तरों का भी वर्णन है। इसमें आचार से भ्रष्ट करने वाले अनेक प्रकार के प्रलोभनों से बचने की चेतावनी दी गई है। विषय को स्पष्ट करने तथा प्रभाव डालने के लिए बहुत सी सुन्दर-सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया गया है।

(३) 'स्थानांग' में जैन धर्म के तत्त्वों और उनके भेद-उपभेदों की संख्यानुक्रम से सूचियाँ दी गई हैं। पहले उन विषयों को लिया है जिनकी संख्या एक है। फिर एक-एक बढ़ा कर दो, तीन, चार, आदि दस तक संख्या वाले विषय संगृहीत किए गए हैं। इस प्रकार इसके दस अध्याय हैं, जिन्हें 'स्थान' कहते हैं। यह सूत्र रचना-शैली और कुछ वर्ण्य विषय में भी पालि के 'अंगुत्तर' (एकोत्तर) निकाय से मिलता है।

(४) 'समवायांग' भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का उल्लेख करता है। यह 'स्थानांग' की तरह दस संख्या पर ही नहीं ठहर जाता, प्रत्युत उसके बाद सौ हज़ार और लाखों तक पहुँचाता है। इन दोनों सूत्रों में सिद्धान्त के विभिन्न ग्रन्थों का उनकी अध्ययन-संख्या के क्रम से निर्देश किया गया है। इस दृष्टि से ये सिद्धान्त के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

(५) 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' या 'भगवती सूत्र' में ४१ शतक हैं जिनमें पहले २० में इन्द्रभूति गौतम (जो महावीर का प्रथम शिष्य था) द्वारा महावीर से पूछे हुए विविध प्रकार के प्रश्नों का उत्तर है। इसमें महावीर की जीवन संबंधी घटनाओं का वर्णन है। इनमें बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जिनका अन्य सूत्रों में निर्देश नहीं है, जैसे, जमाली, मंखली, गोशालपुत्र भगवान् तथा पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं का महावीर से मिलना, चन्द्र सूर्य का अपने विमानों में बैठ कर भू लोक पर आना, इत्यादि।

(६) 'ज्ञाताधर्मकथांग' में उदाहरणों तथा कथाओं द्वारा धर्म के तत्त्व समझाए गए हैं। ज्ञाता का अर्थ है उपमा, उदाहरण या दृष्टांत। यह सब का सब गद्य में है। इसके दो भाग हैं—पहला बड़ा, दूसरा बहुत छोटा। पहली कथा मेघकुमार की है जो राजा श्रेणिक (बिंबसार) का पुत्र था। वह महावीर का उपदेश सुन कर साधु हो गया था। रात्रि को उसका बिस्तर दर्वाज़े में किया गया, अतः लघुशंका आदि के लिए बार-बार आने-जाने से उसको ठोकर लगती थी। यह देख कर उसने निश्चय किया कि प्रातःकाल महावीर की आज्ञा ले कर मैं तो फिर गृहस्थी बन जाऊंगा। जब मेघकुमार ने महावीर से आज्ञा माँगी तो उन्होंने कहा, "हे मेघ, पहले जन्म में तू हाथी था। जंगल में सुखपूर्वक रहता था। एक बार जंगल में आग लग गई। आग से भयभीत हो कर सब जन्तु एक ऐसे छोटे से स्थान में घुस गए जहाँ घास-पात, वृक्ष आदि नहीं थे। तू भी उन्हीं में था। जीव-जन्तु इतने भिंचे हुए थे कि वे हिल नहीं सकते थे। तूने अपना एक पैर ऊपर को उठाया, इतने में एक शशक इतर जन्तुओं से धकेला हुआ उस ख़ाली स्थान में आ गया। अब तू अपना पैर ऊपर ही उठाए रहा, ताकि शशक दब कर मर न जाय। जब बहुत देर पीछे आग बुझी और जन्तु वहाँ से चले गए तो तेरा पैर वैसे ही रहा। अब तेरी टाँग निःसत्व हो गई थी, तू चल-फिर नहीं सकता था। फलतः तू वहीं खड़ा-खड़ा भूख-प्यास से पीड़ित हो कर मर गया।

हे मेघ ! अगर तिर्यक् हो कर तूने जीव रक्षा के लिए इतना कष्ट सहा, तो अब मनुष्य हो कर संयम रक्षा के लिए यह थोड़ा सा कष्ट नहीं सह सकता ? इस बात से मेघकुमार को बड़ा धैर्य मिला और वह संयम में स्थिर रहा। इसे उत्क्षिप्त (पैर उठाया हुआ) ज्ञान कहते हैं। इस सूत्र के १६वें अध्याय में वर्णन है कि द्रौपदी ने यह संकल्प कब और क्यों किया कि मेरे पाँच पति हों।

(७) 'उपासकदशांग' में आनन्द आदि दस उपासकों का वर्णन है, जिन्होंने विपत्ति आने पर भी अंगीकार किए हुए नियमों को भंग नहीं किया। इसमें गद्यात्मक दस अध्याय हैं।

(८) 'अन्तकृद्दशांग' में ऐसे स्त्री-पुरुषों का वर्णन है जिन्होंने संसार का अन्त कर मोक्ष प्राप्त किया। इसके आठ वर्ग हैं, पहले शायद दस अध्याय रहे होंगे।

(९) 'अनुत्तरौपपातिकदशांग' में उन व्यक्तियों का वर्णन है जो अपने शुभ कर्मों से उनुत्तर, अर्थात् सर्वार्थसिद्धि आदि सबसे ऊँचे देवलोकों में उत्पन्न हुए। इसके भी दस अध्याय थे, जो आजकल ३३ अध्यायों में विभक्त हैं।

(१०) 'प्रश्नव्याकरण' में, जैसा कि इनके नाम से सूचित है, प्रश्नादि विद्या-विशेष का विश्लेषण होना चाहिए; परन्तु इसमें दस द्वारों में अर्थात् पाँच आश्रवद्वार (कर्मों के आने के मार्ग) और पाँच संवर द्वार (कर्मों के रोकने के उपायों) का वर्णन है।

(११) 'विपाक सूत्र' में शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक (फल) का वर्णन है। इसलिए इसे 'कर्मविपाकदशांग' भी कहते हैं।

(१२) 'दृष्टिवाद' लुप्त हो चुका है। इसके भागों और विषयों की सूची 'समवायांग' आदि सूत्रों में मिलती है, जिससे ज्ञात होता है कि इसमें विविध प्रकार के विषयों का वर्णन था। इसके मुख्य पाँच भाग थे—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्व, ४. अनुयोग और ५. चूलिका।

उपर्युक्त अंगों की अपेक्षा उपांग अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। अंगों में उपांग (प्रा० उवंग) शब्द वैदिक साहित्य के उपांगों के लिए आता है। यद्यपि उपांग एक प्रकार से अंगों के परिशिष्ट हैं, तथापि एक अंग का अपने उपांग के साथ जो संबंध है, वह स्पष्टतया दिखाई नहीं देता। उपागों के विषय इस प्रकार हैं—

(१) 'औपपातिक' में बताया गया है कि जीव नरक-स्वर्ग आदि में किन कर्मों के कारण जाता है। इसकी प्रस्तावना संस्कृत के गद्य काव्यों की शैली पर लिखी गई है। जब राजा कूणिक भगवान् महावीर के दर्शन करने आता है, तो उस अवसर पर नगर, चैत्य, राजा, रानी, सेना आदि का बड़ा आलंकारिक वर्णन दिया गया है, जिसमें लंबे-लंबे समासों का प्रयोग किया गया है। प्रसंग-वश इसमें तत्कालीन तापस, परिव्राजक, भिक्षु आदि के मंतव्यों तथा उनके आचार का वर्णन है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है।

(२) 'राजप्रश्नीय' नाम का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। कई विद्वान् इसके प्राकृत नाम (रायपसेणिय) में राजा प्रसेनजित का उल्लेख समझते हैं। इसमें पार्श्वनाथ-संतानीय केशी मुनि और श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के बीच आतमा के अस्तित्व के विषय में संवाद बड़ी सरल शैली में दिया गया है।

(३) 'जीवाभिगम' और (४) 'प्रज्ञापन' ये दोनों ग्रन्थ जैन मत के जीव, अजीव संबंधी मंतव्यों का विश्लेषण करते हैं, जो साधारण पाठक के लिए कुछ अधिक रोचक नहीं हो सकता।

(५) जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्र प्रज्ञप्ति तथा (७) सूर्य प्रज्ञप्ति, ये तीनों उपांग भूगोल और ज्योतिष से संबंध रखते हैं। इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त पुराणों से मिलते हैं। ज्योतिर्वेदांग की भांति जैन सूत्रों की काल-गणना पंचवर्षीय युग के आधार पर होती है। जैन लोग दो सूरज और दो चाँद मानते हैं।

(८-१२) आठ से बारह तक के उपांगों में मनुष्य और देवताओं से संबंधित कथाओं की रूपरेखा दी गई है। इसमें श्रेणिक का अपने पुत्र कूणिक द्वारा कारागार में डाला जाना और फिर वध की आशंका से आत्म-हत्या कर लेना उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। यह वर्णन पालि के 'दीपवंस' (द्वीपवंश) और 'महावंस' में भी पाया जाता है।

छेद सूत्र

'छेद' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं। जैन परिभाषा में यह एक प्रकार की तपस्या का नाम है। छेदसूत्रों की संख्या छः है। इनका विषय पालि 'विनयपिटक' के 'सुत्तविभंग' से मिलता है। इनमें भिक्षु-चरित्र के नियमों को भंग करने पर उचित प्रायश्चित का विधान किया गया है। ये सूत्र गुप्त रखे जाते थे। भिक्षु समुदाय के बाहर और किसी को इनके पढ़ने का अधिकार नहीं था।

इनमें चौथे सूत्र का नाम 'आचारदशा' या 'दशाश्रुतस्कंध' है जिसका कर्ता भद्रबाहु स्वामी माना जाता है। इस सूत्र के आठवें अध्याय के पूर्व 'जिनचरित्र' और 'स्थविरावली' जोड़ कर एक नया ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' रचा गया। उसको भी भद्रबाहु की रचना माना जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं, क्योंकि 'स्थविरावली' में महावीर के गणधर सुधर्म स्वामी से ले कर भद्रबाहु से बहुत पीछे तक के आचार्यों का उल्लेख है। 'जिनचरित्र' की शैली संस्कृत के गद्य काव्यों की भाँति समासबहुल है। इसमें महावीर से ले कर चौबीस तीर्थंकरों के पाँच कल्याणकों (जीवन-घटनाओं)—१. गर्भागमन, २. जन्म, ३. दीक्षा या गृह-त्याग, ४. केवल ज्ञान प्राप्ति और ५. निर्वाण का वर्णन है। महावीर का एक और 'कल्याणक' है, जिसे 'गर्भापहरण' कहते हैं। महावीर का जीव पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया, लेकिन इन्द्र ने उसे त्रिशला रानी के गर्भ में रख दिया। यह घटना देवकी और यशोदा के बालकों के विनिमय की याद दिलाती है। महावीर का गर्भापहरण मथुरा के कंकाली टीले से मिले एक शिलापट्ट पर अंकित है। 'स्थविरावली' में स्थविर अर्थात् वृद्ध भिक्षुओं की परम्परा तथा उनके गण, गच्छ, कुल और शाखा का निर्देश है। कंकाली टीले के लेख इनकी ऐतिहासिकता का समर्थन करते हैं।

कल्पसूत्र का तीसरा भाग 'सामाचारी' कहलाता है। इसमें भिक्षु समुदाय के वर्षाकाल संबंधी नियम हैं। इसीलिए कल्पसूत्र को 'पर्यषणाकल्प' भी कहते हैं। यही भाग 'दशाश्रुतस्कन्ध' का आठवाँ अध्याय होगा। कल्पसूत्र की गणना आगमों में नहीं होती। श्वेताम्बर जैनों

में कल्पसूत्र बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर्युषण के दिनों में साधु महाराज इसे श्रावकों को सुनाते हैं। गुजराती में इसे 'बारसो' अर्थात् बारह सौ कहते हैं, क्योंकि इसके पाठ का परिमाण १२०० श्लोक जितना है। प्राचीनकाल में कल्पसूत्र को बड़ी मिहनत से लिखते थे। इसकी अनेक सचित्र प्रतियाँ विद्यमान हैं जिनमें वर्णित मुख्य घटनाओं के सुनहरी और रंगीन चित्र दिए हुए हैं। कला की दृष्टि से ये बड़े महत्त्व की वस्तु हैं और भारतीय चित्रकला में विशेष स्थान रखते हैं। कई प्रतियों में अक्षर भी सुनहरी स्याही से लिखे हुए हैं। ये प्रतियाँ प्रायः विक्रम की पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी की लिपिकृत हैं।

मूल सूत्र

मूल सूत्रों का यह नाम शायद इसलिए पड़ा कि साधु इनको सबसे पहले पढ़ते हैं। इनका परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) 'उत्तराध्ययन'—इसके ३६ अध्ययन हैं, जो महावीर की अंतिम देशना में से लिए गए हैं। इसका संकलन भद्रबाहु ने किया था। एक अध्याय को छोड़ शेष सब पद्यमय हैं। समस्त सिद्धान्त में उत्तराध्ययन एक ऐसा सूत्र है, जो लगभग सम्पूर्णतया सरस है। इसका विषय रोचक और शैली उत्तम है। इसके पढ़ने से साधारण व्यक्ति भी आनन्द ले सकते हैं। भारत के तपस्वियों के ये श्रेष्ठ उद्‌गार, सुचारु कविताओं, उपदेशपूर्ण वचनों, कथाओं, उदाहरणों, संवादों और उपाख्यानों के रूप में संगृहीत हैं। 'उत्तराध्ययन' की कविताओं को पढ़ कर पालि के 'सुत्त निपात' का स्मरण हो आता है। ९वें अध्याय में प्रत्येकबुद्ध नमि का सुन्दर उपाख्यान है। आगे चल कर नीच कुलोत्पन्न हरिकेशबल का वर्णन है, जो भिक्षु हो गया था। जब वह ब्राह्मणों की यज्ञशाला में भिक्षा माँगने गया, तो उन्होंने उसे घृणा की दृष्टि से देख कर मारना शुरू किया। इस पर उसके एक मित्र देवता ने यज्ञशाला का ही विध्वंस कर दिया। इससे निवृत्तिमय जीवन का उत्कर्ष और पशु-यज्ञों का अपकर्ष सिद्ध किया गया है। इसी तरह चित्रसंभूत की कथा है, जो महाभारत, पुराणों तथा बौद्ध जातकों में भी पाई जाती है। इसके कई पद्य तीनों साहित्यों में एक समान हैं। इससे विदित होता है कि 'उत्तराध्ययन' का कुछ भाग ब्राह्मण और श्रमणों की साझी संपत्ति थी।

(२) 'आवश्यक सूत्र'—जैनों में पाँच आवश्यक (नित्य) क्रियाएँ हैं, जो साधु और श्रावक को प्रतिदिन करनी पड़ती हैं। वे हैं—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दनक, ४. प्रतिक्रमण, ५. कार्योत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान। इन क्रियाओं को करते समय जो पाठ पढ़े जाते हैं, उनके संग्रह को 'आवश्यक सूत्र' कहते हैं। अब यह सूत्र पृथक् नहीं रहा, सदा 'निर्युक्ति' सहित मिलता है। 'आवश्यक निर्युक्ति' बड़े महत्त्व की रचना है, जिसमें जैन धर्म, साहित्य और इतिहास संबंधी अनेक बातों का समावेश है।

(३) 'दशवैकालिक सूत्र' को शय्यंभव सूरि ने अपने पुत्र मनाक के लिए पूर्वों में से संगृहीत किया। जब सूरि ने जाना कि मनाक छः मास में काल कर जायगा, तो उन्होंने इस सूत्र

की रचना की जिससे कि इसे पढ़ कर वह शीघ्र ज्ञानवान् हो जाए। इसमें दस अध्याय हैं, कुछ गद्य में और कुछ पद्य में, जो 'आचारांग' की भाँति भिक्षु-चर्या का वर्णन करते हैं। इस में कहीं-कहीं बड़ी उत्तम उपमाएँ मिलती हैं। इसके कई पद्य पालि 'धम्मपद' में भी मिलते हैं।

(४) 'पिंडनिर्युक्ति', जिसके स्थान पर कभी 'ओघ निर्युक्त' और कभी 'पाक्षिक प्रतिक्रमण' सूत्र को रख लिया जाता है। ये निर्युक्तियाँ भद्रबाहु की रचना हैं। इनमें भिक्षु-आचार का वर्णन है। 'पाक्षिक प्रतिक्रमण सूत्र' को पक्ष अर्थात् चतुर्दशी के दिन पढ़ कर भिक्षुजन अपने महाव्रतों पर विचार करते हैं और यदि उनमें कोई दोष लगा हो, तो पश्चात्ताप करके आगे को ऐसा न करने की प्रतिज्ञा लेते हैं।

प्रकीर्णक

'प्रकीर्णक' एक प्रकार के परिशिष्ट हैं जो प्रायः पद्यमय हैं और विविध विषयों का प्रतिपादन करते हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) 'चतुःशरण' का कर्ता वीरभद्र गणि है। इसमें ६३ पद्य हैं। यह अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण लेने का पाठ है।

(२) 'भक्त परिज्ञा' में १७२ पद्य हैं। इसमें भोजन के त्याग करने की विधि बतलाई गई है।

(३) 'संस्तारुक' में १२२ पद्य हैं। इसमें संथारा (=संस्तारक) लेने की विधि का वर्णन है। जब भिक्षु यह देखता है कि अब मेरा शरीर अति निर्बल हो गया और मैं अपने धर्म-कृत्य स्वयं नहीं कर सकता, मुझे दूसरों का सहारा ताकना पड़ता है, जिससे उन की धर्म-क्रिया में विघ्न पड़ता है, तो वह संथारा ले लेता है, अर्थात् तृण आदि के आसन (संस्तारक) पर बैठ कर वह यावज्जीवन अन्न-जल का त्याग कर देता है।

(४) 'आतुरप्रत्याख्यान' (४०० पद्य) में रोगी भिक्षु के भोजन, औषध आदि के त्याग करने की विधि है।

(५) 'महाप्रत्याख्यान' (१४३ पद्य) में मरणपर्यन्त अन्न-जल त्यागने की विधि है।

(६) 'तंदुल-वैतालिक' या वैचारिक (गद्य, पद्य) में शरीर-रचना, गर्भपिंड, मनुष्यायु के दस भाग, अस्थि और स्नायुओं की संख्या आदि विषयों पर महावीर और गौतम का वार्तालाप है।

(७) 'चन्द्रवेध्यक' (१७४ पद्य) में गुरु-शिष्य के परस्पर व्यवहार का वर्णन है।

(८) 'देवेन्द्रस्तव' (३०० पद्य) में इन्द्रों का वर्णन है।

(९) 'गणिविद्या' (८६ पद्य) में ज्योतिष पर विचार किया गया है।

(१०) 'वीरस्तव' (४३ पद्य) में महावीर के विविध नाम बतलाए गए हैं।

अनिर्दिष्ट वर्ग

(१) नन्दी सूत्र और (२) अनुयोगद्वार सूत्र—कभी-कभी इनकी गणना प्रकीर्णकों

में होती है, लेकिन प्रायः ये अनिर्दिष्ट वर्ग के स्वतंत्र ग्रंथ माने जाते हैं। ये अधिकांश गद्य में हैं; कहीं-कहीं पद्य भी हैं।

'नन्दी' एक प्रकार का मंगलाचरण सूत्र है, जिसे देवर्द्धि गणि ने सिद्धान्त का संकलन करते समय रचा था। इसमें महावीर और अन्य तीर्थंकरों की स्तुति के पश्चात् गणधरों तथा देवर्द्धि-गणि के गुरु दूषगणि तक के स्थविरों की स्तुति है। 'अनुयोगद्वार' की शैली प्रश्नोत्तरों की है। इसमें न्याय, व्याकरणादि के कतिपय विषय वर्णित हैं।

इन दोनों सूत्रों में सिद्धान्त के ग्रन्थों का वर्गीकरण, उनके अध्यायों की संख्या आदि की सूची है। जैनेतर अथवा लौकिक साहित्य में से सांगोपांग वेदों, भारत, रामायण, कौटलीय अर्थ-शास्त्र, घोटमुख के कामशास्त्र, पुराण, व्याकरण, भागवत आदि का उल्लेख है।

दिगम्बरों के सिद्धान्त ग्रंथ

उपर्युक्त वर्णन श्वेताम्बर सिद्धान्त का है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी सिद्धान्त का अस्तित्व माना गया है, जिसमें बारह अंग और चौदह अंगबाह्य (या प्रकीर्णक) ग्रन्थ शामिल थे। दिग-म्बर अंगों के नाम वही थे जो श्वेताम्बर अंगों के हैं। केवल 'ज्ञाता धर्म कथा' की जगह 'ज्ञातृधर्म-कथांग' है। इसी तरह चौदह पूर्व बारहवें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत थे। दृष्टिवाद के परिकर्म नाम प्रथम भाग में चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति का समावेश था, जो श्वेताम्बर सिद्धान्त में उपांग माने जाते हैं।

अंगबाह्य ग्रन्थों की रचना अल्पबुद्धि जनों के लिए हुई थी। पहले चार अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन और प्रतिक्रमण श्वेताम्बर आवश्यक सूत्र के भाग हैं। इनके अतिरिक्त अंगबाह्य दशवैकालिक उत्तराध्ययन और कल्प व्यौहार जैसे हैं, जो श्वेताम्बरों में भी पाए जाते हैं। संभव है कि जिन ग्रन्थों के नाम दोनों सम्प्रदायों में समान हैं, वे जैन साहित्य के प्राचीनतम अंश हों। फिर भी यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि समान नाम वाले ग्रन्थों का विषय भी समान था, क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ चिरकाल से सर्वथा नष्ट हो गए हैं।

सिद्धान्त की इस कमी को पूरा करने के लिए दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों को विषयानुसार चार भागों में बाँट लिया है, जिन्हें निम्नलिखित अनुयोग कहते हैं—

(१) 'प्रथमानुयोग' (इतिहास विषयक), जैसे पद्म, हरि, त्रिषष्टिलक्षण, महा और उत्तर पुराण; (२) 'करणानुयोग' (गणित, ज्योतिष, भूगोल विषयक), जैसे—जयधवला, त्रिलोक प्रज्ञप्ति; (३) 'द्रव्यानुयोग' (दर्शन और सिद्धान्त विषयक), जैसे—कुन्दकुन्दाचार्य-कृत 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'पंचास्तिकाय', 'तत्त्वार्थाधिगम', 'आप्तमीमांसा' और उनकी टीकाएँ; (४) 'चरणानुयोग' (आचार विषयक), जैसे—वट्टकेरकृत 'मूलाचार' और 'त्रिवर्णा-चार', समन्तभद्रकृत 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'। इन ग्रन्थों में से कुछ संस्कृत और अपभ्रंश में हैं; शेष जैन शौरसेनी प्राकृत में। इस ग्रन्थ-संग्रह को उपसिद्धान्त कह सकते हैं। कभी-कभी इसे 'जैनों के चार वेद' भी कह देते हैं।

जैन महाराष्ट्री युग

अभी अर्द्धमागधी आगम ने स्थिर रूप धारण नहीं किया था कि इसे पूरी तरह समझने के लिए इस पर व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काम को भद्रबाहु ने अपने हाथ में लिया और बहुत से सूत्रों पर निर्युक्तियाँ रचीं, जिनमें से एक दर्जन के क़रीब अब तक विद्यमान हैं। निर्युक्ति सूत्रों पर छन्दोबद्ध और संक्षिप्त व्याख्या होती है। यह एक प्रकार से नोट या टिप्पण का काम देती है, जिसकी सहायता से वाचक अपने शब्दों में सूत्र की व्याख्या करता रहता है। निर्युक्तियों पर ही प्राकृत में भाष्य और चूर्णि बनाए गए, जिनके आधार पर आगे चल कर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में संस्कृत टीका, वृत्ति, अवचूरि आदि की रचना हुई।

निर्युक्ति आदि व्याख्याओं को छोड़ कर शेष जैन माहाराष्ट्री साहित्य में प्रकरण, संग्रहणी, क्षेत्र समास, कर्मग्रन्थ, जीव विचार, नव तत्व, सामाचारी, विधि, प्रबन्ध, कथा, चारित्र, कथानक, स्तोत्र आदि शामिल हैं, जो कुछ गद्य में और कुछ पद्य में हैं, कई गद्य-पद्य मिश्रित भी हैं। कई ग्रन्थों के नाम उनकी पद्य-संख्या के निर्देशक हैं, जैसे—विंशिका, पंचविंशिका, त्रिंशिका, द्वात्रिंशिका, षट्त्रिंशिका, पंचाशिका, सप्ततिका, शतक, साहस्री आदि। इस विविध और विस्तृत साहित्य का वर्णन न तो स्थानाभाव से यहाँ शक्य है और न आवश्यक, क्योंकि प्रकारण, संग्रहणी क्षेत्र-समास, जीव विचार, कर्म ग्रन्थ आदि का विषय सामान्य पाठकों के लिए नीरस और शुष्क है। जैन दर्शन के जाने बिना वह समझा नहीं जा सकता। जैनों का औपदेशिक साहित्य अवश्य सर्व-साधारण के लिए सरस और उपयोगी हो सकता है।

जैन समाज के मुख्य दो वर्ग हैं—साधु या यति और श्रावक। साधुओं का बहुत-सा समय तो अपने धर्मकृत्यों और पठन-पाठन में व्यतीत हो जाता है। जो शेष बचता है, उस में वे श्रावकों को धर्मोपदेश देते हैं। श्रावक लोग गृहस्थ होते हैं और संसारी कामों में व्यस्त रहते हैं। धर्मोपदेश सुनने को उनके पास थोड़ा ही समय होता है, अतः साधु उनको गूढ़ और दार्शनिक विषय नहीं सुनाते। वे उनको कथा-कहानियों द्वारा ही धर्म का रहस्य समझा देते हैं। इस प्रथा के कारण जैनों में कथा-कहानीगर्भित विशालकाय साहित्य की सृष्टि हुई है। यद्यपि इस साहित्य का मुख्य प्रयोजन धर्म-तत्त्व निरूपण होता था, तथापि वह साहित्यिक गुणों से सर्वथा शून्य नहीं है। जैन कथाओं की विशेषता यह है कि उनमें उनके पात्रों के पूर्वजन्मों का वर्णन भी कर दिया जाता है। इससे किए हुए कर्मों का फल प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। एक कथा के अन्दर दूसरी और दूसरी के अन्दर तीसरी कथा छेड़ दी जाती है। इससे मूल कथा के घटना सूत्र को मुश्किल से याद रखा जा सकता है। अवसर आने पर धर्म के तत्त्व भी समझाए जाते हैं। इन सब की तह में प्रवृत्ति का त्याग और निवृत्ति का ग्रहण होता है। अन्त में कुछ पात्र दीक्षा ले कर मोक्ष या स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और कुछ अपने खोटे कर्मों के फलस्वरूप नरक या तिर्यक गति पाते हैं।

इस कथा साहित्य के बीज आगमों में पाए जाते हैं, जहाँ प्रसंगवश कथानकों या अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। 'आचारांग' में भगवान् महावीर के और 'भगवती सूत्र'

में द्रौपदी के जीवन से संबंधित कई घटनाओं का निर्देश है। 'ज्ञाताधर्मकथा' आदि चार सूत्रों में तो कथाएँ ही हैं। आगमों के बाद निर्युक्ति, भाष्य और टीकाओं में विविध कथानक मिलते हैं। इनके आधार पर काव्य शैली में चरित्र और कथाओं की रचना हुई। इस साहित्य में प्रथम स्थान शलाकापुरुष-चरित्रों का है। जैन परिभाषा में शलाकापुरुष से उत्तम या महापुरुष का तात्पर्य है। प्रत्येक युग में ६३ शलाकापुरुष होते हैं, यथा २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। कभी-कभी प्रतिवासुदेवों को पृथक् न गिनने से यह संख्या ५४ रह जाती है। प्राकृत का सबसे प्राचीन शलाकापुरुष-चरित्र 'महापुरिसचरिय' है, जिसे विक्रम की दसवीं शताब्दी में प्रसिद्ध टीकाकार शीलांकाचार्य ने रचा था। इसी का आश्रय ले कर आगे चल कर हेमचन्द्राचार्य ने अपना संस्कृत का 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष-चरित्र' बनाया। दिगम्बर संप्रदाय में इनको महापुराण कहते हैं, जैसे—जिनसेनकृत 'महापुराण' (संस्कृत) और पुष्पदन्तकृत महापुराण या 'तिरट्ठि महापुरिसगणालंकार' (अपभ्रंश)। कई तीर्थंकरों, विशेषकर ऋषभ, शान्ति, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के पृथक्-पृथक् चरित्र भी मिलते हैं। इनमें गुणविजय का 'महावीरचरित्र' उल्लेखनीय है। हरिभद्र का 'नेमिनाहचरिउ' अपभ्रंश में है। लक्ष्मणगणि ने सं० १२०० वि० (सन् ११४३ ई०) में 'सुपासनाहचरिय' की रचना की। अन्य शलाकापुरुषों में से भरत चक्रवर्ती, राम और कृष्ण के चरित्र अति लोकप्रिय हैं। इनमें विमल सूरि का 'पउमचरिय' (पद्मचरित) सबसे प्राचीन है, जो वीर-निर्वाण से ५३० वर्ष पीछे लिखा गया था। इसमें ११८ सर्गों में पद्म अर्थात् राम की कथा का वर्णन है, जो वाल्मीकि रामायण से काफ़ी भिन्न है। विमलसूरि ने इसे पूर्ण रीति से जैन रंग दे दिया है। उत्तरकालीन जैन रामायण का आधार 'पउमचरिय' ही है। संघदासरचित 'वसुदेव हिंडी' में श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित है।

जैनाचार्यों ने अन्य व्यक्तियों के चरित्र भी बनाए, जैसे शालिभद्र का चरित्र जो भगवान् महावीर का समकालीन असीम धनवान् और दानी पुरुष था। इनके अतिरिक्त जीवन की ऊँच-नीच दशा को दिखलाने वाली, उपन्यास शैली में लिखी हुई अनेक धर्मकथाएँ मिलती हैं, जैसे—पादलिप्त सूरिविरचित 'तरंगवती' जो विक्रम की छठी शताब्दी से भी पहले की रचना है, क्योंकि इसका उल्लेख 'अनुयोगद्वार सूत्र' में पाया जाता है। खेद है कि इसका मूल रूप नष्ट हो चुका है। अब इसका १६४३ प्राकृत पद्यों में संक्षेप मिलता है। यह एक रूपवती युवती की कथा है, जिसे सरोवर में हंस-मिथुन को देख कर अपना पूर्व जन्म याद आ गया, जब कि वह स्वयं हंसिनी थी। उसके पति हंस को किसी व्याध ने मार डाला था। इस वियोग से वह अग्नि में जल कर मर गई थी। इस स्मृति से उसे मूर्छा आ गई। सचेत हो कर चित्र द्वारा उसने मनुष्य रूप अपने पति को ढूँढ़ लिया। अनेक विपत्तियों के बाद उनका विवाह हो गया, लेकिन अन्त में एक जैन मुनि का उपदेश सुन कर उन दोनों ने दीक्षा ले ली। हरिभद्रकृत 'समराइच्च (समरादित्य) कथा' में कथानायक के नौ पूर्व जन्मों का वृत्तान्त है। भूमिका में आठ प्राचीन पद्य दिए गए हैं, जिनके आधार पर यह कथा रची गई है। यह प्राकृत गद्य में है और बीच-बीच में आर्या छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी रचना शैली बड़ी सरल है। 'मलयसुन्दरी', 'सुरसुन्दरी', 'महीवाल' आदि इसी

प्रकार की कथाएँ हैं। प्रसिद्ध 'कालकाचार्य कथा' की कई रचनाएँ प्राकृत में हैं। बहुत से कथा-संग्रह या कथाकोश मिलते हैं जिनमें कुछ प्राकृत कथाएँ भी होती हैं।

जैनाचार्यों ने अपने इष्टदेव की स्तुति में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि में ही नहीं, पारसी भाषा में भी अनेक स्तोत्र रचे। प्राकृत स्तोत्रों में से 'उवसग्गहर' (उपसर्गहर), 'जयतिहुअण (त्रिभुवन), 'अजियसंति' (अजितशान्ति) आदि प्रसिद्ध हैं।

प्राकृत साहित्य का एक और विभाग है सूक्ति, सुभाषित आदि का संग्रह। इसमें नीति और उपदेश के पद्य संगृहीत होते हैं, शृंखलाबद्ध कथा नहीं होती। कहीं-कहीं उदाहरण के तौर पर किसी कथा का निर्देश अवश्य कर दिया जाता है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना धर्मदासगणि-कृत 'उपदेशमाला' है। इसमें कुल ५४४ गाथाएँ हैं। इस पर अनेक संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। कहते हैं कि धर्मदास का मूल नाम राजा विजयसेन था। वैराग्य होने पर उसने भगवान् महावीर से दीक्षा ले ली, फिर अपने पुत्र रणसिंह को शिक्षा देने के लिए 'उपदेशमाला' की रचना की। 'उपदेशचिन्तामणि' (४५० गाथा), आसडकृत 'उपदेशकन्दली' (१२० गाथा) हरिभद्ररचित 'उपदेशपद' (१०४० गाथा), 'उपदेशशतक' और अन्य बहुत से इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

जैन शौरसेनी साहित्य

पहले कहा गया है कि वर्तमान काल में अर्धमागधी का जो आगम मिलता है, वह केवल श्वेताम्बरों को मान्य है। दिगम्बर कहते हैं कि मूल आगम नष्ट हो गया है। वे पूर्वाचार्यों की रचनाओं को ही आगम का दर्जा देते हैं। उन्हीं के आधार पर उत्तरकालीन साहित्य की रचना हुई और उन्हीं के पाठों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया जाता है। ऐसे ग्रन्थों में प्रथम स्थान उमा-स्वामीकृत 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' (संस्कृत) को दिया जाता है। इसके दस अध्याय हैं जो सूत्र शैली में रचे गए हैं। इनमें सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का वर्णन है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों को मान्य है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं।

उमास्वामी के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य का नाम आता है जिनकी सत्ता विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानी जाती है। इन्होंने ८३ ग्रन्थ बनाए, जिनमें से 'पंचत्थिय सार' (पंचास्तिकायसार), 'पवयणसार' (प्रवचन), 'समयसार', 'नियमसार' और 'छप्पाहुड' (षट्प्राभृत) उपलब्ध हैं। पहले तीन को मिला कर 'प्राभृतत्रय' या 'नाटकत्रय' कहते हैं। इनमें जैन दर्शन का निरूपण है। 'षट्प्राभृत' में कुछ ऐसे विचार हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य के अन्य ग्रन्थों से भिन्न हैं। अतः सम्भव है कि यह ग्रन्थ किसी दूसरे आचार्य की कृति हो। इन सब ग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं।

वट्टकेर स्वामी भी पुरातन आचार्य हैं। इनके रचे 'मूलाचार' और 'त्रिवर्णाचार' में जैन आचार का वर्णन है। 'मूलाचार' की वसुनन्दीकृत वृत्ति में लिखा है कि वट्टकेर ने इसमें 'आचारांग' का सार दिया है।

कार्तिकेय स्वामी के 'कत्तिगेयाणुवेक्खा' (कार्तिकेयानुप्रेक्षा) का जैनों में बड़ा प्रचार

है। इसमें अनित्यादि बारह भावनाओं का वर्णन है, जिन पर विचार करने से आत्मा दुष्ट संकल्पों से छूट कर शुद्ध हो जाती है।

सं० ९९० (सन् ८४३ ई०) में देवसेन ने 'दर्शनसार' की रचना की। इसमें जैन मन्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'श्रावकाचार' और 'तत्त्वसार' की रचना की। 'आराधनासार' में दान, शील, तप, भावना आदि शुभ क्रियाओं के पालन की विधि बतलाई गई है।

सं० १०४० (सन् ९८३ ई०) के लगभग चामुंडराय ने मैसूर देश में श्रवण वेल्गोल के निकट बाहुबली की ५७ फ़ुट ऊँची एक भव्य और विशाल प्रतिमा बनवाई। चामुंडराय के गुरु सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र थे जिनके रचे 'द्रव्यसंग्रह' और 'गोम्मटसार' अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'गोम्मटसार' के दो भाग हैं—जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। इनमें जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य

भारतवर्ष में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी काव्य-रचना के लिए प्रयुक्त होती रही हैं। मध्यकाल में ऐसी एक भाषा महाराष्ट्री प्राकृत थी। महाराष्ट्री में रचे हुए अनेक महा-काव्य तथा खण्डकाव्य अब तक विद्यमान हैं। प्राकृत व्याकरणों में सब से पहले इसी का वर्णन किया जाता है। प्राकृत काव्यों की सरसता और मधुरता को बड़े-बड़े कवियों ने माना है।

सेतुबन्ध महाराष्ट्री का सब से प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें रामायण की कथा में से सेतु-बंधन और रावण-वध का वर्णन किया गया है। इसीलिए इसका दूसरा नाम 'रावणवहो' या 'दहमुहवहो' भी है। इसके १५ आश्वास हैं। रचना सरस और अलंकारपूर्ण है। इस काव्य का कर्ता राजा प्रवरसेन कहा जाता है, परन्तु इसकी रचना-शैली ऐसी अच्छी है कि कई विद्वान् इसे महाकवि कालिदास की कृति मानते हैं। संभव है कि प्रवरसेन ने इसका आरम्भ कर दिया हो, परन्तु इसे पूरा करने में वह असमर्थ रहा हो और पूर्ति कालिदास ने की हो। प्रवरसेन के विषय में मतभेद है। कोई कहते हैं कि वह काश्मीर का राजा था, कोई उसे कुन्तल देश का राजा बतलाते हैं। 'राजतरं-गिणी' में लिखा कि उज्जयिनीपति विक्रमादित्य ने अपने मित्र मातृगुप्त को काश्मीर की गद्दी पर बिठलाया, जिसने कुछ काल बाद यह गद्दी उसके असली अधिकारी प्रवरसेन को सौंप दी। बाणभट्ट और दण्डी ने अपने ग्रन्थों में 'सेतुबन्ध' की बड़ी प्रशंसा की है। इस पर संस्कृत में कई टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से रामदासकृत 'रामप्रदीप' विशेष उल्लेखनीय है। यह अकबर के समय में बनी थी।

गउडवहो में, जैसा कि इसके नाम से सूचित होता है, गौड़ देश के राजा के वध का वर्णन है। यह ऐतिहासिक काव्य है। इसमें कुल १,२०० आर्या छन्द हैं जिनको आश्वासों या सर्गों में विभक्त नहीं किया गया है। आश्चर्य है कि इसमें न तो गौडराज का नाम आता है और न ही उसके वध का कहीं निर्देश है। कदाचित् यह पूरा काव्य नहीं है, प्रस्तावना मात्र है। 'गउडवहो' का कर्ता

वाक्पतिराज (वप्पइराअ) था, जिसे कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा ने क़ैद कर लिया था। जब राजा ने गौड देश पर विजय पाई और कवि ने यह काव्य सुनाया तो राजा ने उसे छोड़ दिया। वाक्पतिराज ने 'महुमहविअअ' (मधुमखविजय) नामक एक और काव्य रचा था, परन्तु उसके एक-दो पद्य ही मिले हैं, शेष नष्ट हो गए हैं।

हेमचन्द्रकृत 'द्वयाश्रय' महाकाव्य के अंतिम आठ सर्गों का एक स्वतन्त्र प्राकृत महाकाव्य बन जाता है, जिसका नाम है 'कुमारपालचरित'। इसमें अणहिलवाड या पाटण (गुजरात) के राजा कुमारपाल के पराक्रम का वर्णन है। समग्र 'द्वयाश्रयमहाकाव्य' की तरह इन आठ सर्गों का प्रयोजन भी कवि के अपने बनाए 'सिद्धहैम' नामी संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के प्राकृत सूत्रों के उदाहरण देना है।

कंसवहो (कंसवध) में भागवत पुराण के अनुसार कंसवध का वर्णन है। प्रसंगवश इसमें कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी निर्देश किया गया है। इसमें केवल २२३ छन्द हैं जो चार सर्गों में विभक्त हैं। इसका कर्ता राम पाणिवाद रत्न देश का रहने वाला था। मलाबार में पाणिवाद या नम्वार एक जाति थी, जिसके लोग संस्कृत नाटक खेलने वाले नटों के साथ काम किया करते थे और ढोल, मुरज आदि बजाते थे। ढोलवाची शब्द 'पाणिवाद्य' से इनका नाम पाणिवाद पड़ गया। इन लोगों में संस्कृत का काफ़ी प्रचार था। राम पाणिवाद का जन्म सं० १७६४ (सन् १७०७ ई०) के आसपास हुआ। उसने अपनी रचनाएँ संस्कृत, प्राकृत और मलयालम में कीं। 'कंसवहो' के अतिरिक्त राम पाणिवाद ने प्राकृत के दो और ग्रन्थ बनाए—एक 'प्राकृतवृत्ति' जो वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' की टीका है और दूसरा 'उषानिरुद्ध' (४ सर्ग) जिसमें भागवत में वर्णित ऊषा और अनिरुद्ध के विवाह का वर्णन है।

इनके अतिरिक्त प्राकृत के और भी बहुत से कवि हो गए हैं। राजशेखर ने अपनी 'कर्पूर-मंजरी' में हरिउड्ढ और पोट्टिस का नाम-निर्देश किया है। शेष की रचनाओं में से अच्छे-अच्छे पद्य ले कर प्राकृत सप्तशतियों का संकलन हुआ, जिनमें से हालकृत **गाहासत्तसई** या गाथासप्तशती अति प्रसिद्ध है। इसके एक टीकाकार ने इसमें ११२ कवि नामों का उल्लेख किया है, परन्तु भुवनपाल ३८४ कवियों के नाम देता है। इसकी भिन्न-भिन्न प्रतियों में श्लोकों का क्रम भिन्न-भिन्न है। इस संग्रह से अनुमान किया जा सकता है कि महाराष्ट्री में कितनी कविता बनी होगी, जो अब नहीं मिलती। हाल की बाबत ख़याल किया जाता है कि वह राजा सातवाहन था, जिसे आदि शालिवाहन भी कहते हैं। इस सप्तशती के रचना-काल का अभी तक निश्चय नहीं हुआ। अनुमान है कि यह तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना होगी। निःसंदेह यह सप्तशती प्रथम शताब्दी की रचना नहीं है, क्योंकि उस समय की प्राकृत भाषा पालि से मिलती-जुलती होनी चाहिए थी। प्रारंभ के पद्यों से विदित होता है कि ये शृंगार रसपूर्ण पद्य इसके संकलन के समय इतने प्रचलित नहीं थे, जितने कि वे पहले रहे होंगे।

इसी प्रकार की एक और सप्तशती है जिसका नाम **जअवल्लहं** या **वज्जालग्ग** है।

इसका संकलन श्वेताम्बर मुनि जयवल्लभ ने किया था। इसमें भी ७०० पद्य हैं, जिनमें से कई एक हाल की सप्तशती में भी मिलते हैं।

काव्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्री के सैकड़ों पद्य संस्कृत नाटकों में पाए जाते हैं, परन्तु इस प्राकृत की गद्यमयी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई।

नाटकीय प्राकृत साहित्य

संस्कृत नाटकों की रचना में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृतों का प्रयोग भी होता है। इस प्रथा का उदाहरण किसी अन्य देश के साहित्य में नहीं मिलता। योरप के सुखान्त नाटकों में विदेशियों की भाषा की नक़ल करके सदा हँसी उड़ाई जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में वेल्ज़ तथा फ्रांस निवासी पात्र अपनी अपनी भाषा बोलते हैं। प्रहसनादिक में ग्रामीण और शिष्ट भाषा का अन्तर दिखाया जाता है। परन्तु भारतीय प्रथा इन विदेशी उदाहरणों से भिन्न है। प्रथम तो एक ही रंगमंच पर चार नहीं, तो तीन भिन्न भाषाएँ नियम से बोली जाती हैं। दूसरे, इनमें एक शिष्ट (संस्कृत) है जो भाषा-इतिहास के प्राचीन युग से संबंध रखती है। तीसरे, एक ही नाटक में दूर-दूर बोली जाने वाली भाषाएँ पाई जाती हैं जो बिना किसी प्रत्यक्ष हेतु के खास-खास पात्रों के लिए नियत हैं। कौन-कौन से पात्र को कौन-कौन सी प्राकृत बोलनी चाहिए, इसमें कुछ मतभेद है। नाटक का नायक तथा विदूषक के सिवा उसके अन्य साथी संस्कृत बोलते और गाते हैं। विदूषक के साथ वार्तालाप में शौरसेनी और गाने में महाराष्ट्री का प्रयोग होता है। 'मालतीमाधव' में बौद्ध भिक्षुणी संस्कृत बोलती है। नीच पात्र, जैसे धीवर, चाण्डाल मागधी में बोलते और गाते हैं। उपर्युक्त प्रथा के कारण महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी को नाटकीय प्राकृतें कहते हैं। इनके अतिरिक्त आवन्ती, शाबरी, शाकारी आदि का भी नाटकों में प्रयोग होता है।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनके सभी पात्र प्राकृतों का प्रयोग करते हैं। उनमें कोई भी पात्र संस्कृत नहीं बोलता। ऐसे नाटकों को 'सट्टक' कहते हैं। राजशेखरकृत 'कर्पूरमंजरी' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'रम्भामंजरी', 'चन्द्रलेखा', 'आनन्दसुन्दरी' आदि सट्टक उपलब्ध हो चुके हैं।

इस संस्कृत-प्राकृत नाटक का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि इसे वास्तविक परिस्थिति माना जाय, अर्थात्, यह समझा जाय कि नाटकों के सम्भाषण गुप्तकालीन भारतीय जीवन की सच्ची अवस्था प्रकट करते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन लिखते हैं—"भारतवर्ष के नाटकों का बहुभाषी वार्तालाप कुछ आश्चर्यजनक नहीं। आजकल भी बंगाल प्रान्त के बड़े घरानों में यही हाल देखा जाता है। भिन्न प्रदेशों के रहने वाले नौकर-चाकर अपनी ही भाषा बोलते हैं। वे अपनी मातृभाषा को छोड़, दूसरी भाषा बोलने की चेष्टा नहीं करते। तथापि, दूसरे सब लोग उनकी बात समझ लेते हैं। यह ज़रूर है कि नाटकीय प्राकृतें कृत्रिम सी बन गई हैं।" परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि पढ़े-लिखे पुरुष संस्कृत बोल सकते थे और स्त्रियाँ प्रायः नहीं बोल सकती थीं, तो भी यह नहीं समझना

चाहिए कि पुरुष सिवाय संस्कृत के और कुछ बोलते ही न थे और घर में बाल-बच्चों तथा नौकरों के साथ भी संस्कृत में ही बातचीत करते थे।

नाटकों की भाषा के इस विविध रूप को देखते हुए कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक ने शूरसेन में स्थिर रूप प्राप्त किया। इसीलिए इसकी प्रधान प्राकृत शौरसेनी है। कदाचित् शौरसेनी के प्रयोग का कारण यह भी हो कि नाटक की वस्तु प्रायः कृष्ण-चरित से सम्बन्ध रखती थी और कृष्ण की लीला-भूमि शूरसेन (मथुरा) ही थी। मागधी मगध देश के मागध भाटों की भाषा है। महाराष्ट्री के लिए यह युक्ति है कि यह कवि-समय की बात है। दक्षिण में गीतात्मक कविता ने ऐसी उन्नति की कि उसका प्रचार दूर-दूर हो गया और महाराष्ट्री गीत समग्र भारत में गाए जाने लगे, जैसे कि आजकल हिन्दी-हिन्दुस्तानी के गीत। अतः प्राकृत गीतों के लिए इसी भाषा को उपयुक्त समझा गया। इस युक्ति के आधार पर नाटक में इतर प्राकृतों के प्रयोग का समाधान करना कठिन नहीं रहता। इस विषय का निकट के विकास और इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु इस बात में मतभेद है कि नाटक में प्राकृतों की संख्या का अधिक होना, जैसा कि शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में है, उसकी प्राचीनता का द्योतक है अथवा अर्वाचीनता का। कई विद्वान् कहते हैं कि पहले-पहल नाटक प्राकृत में ही होते थे। उनमें संस्कृत का प्रयोग पीछे से हुआ। प्राकृत स्रोत न केवल नाटक का बल्कि इतिहास और पुराणों का भी माना गया है। प्रो० हर्टल के अनुसार-'पंचतन्त्र' की मूल रचना प्राकृत में हुई थी। कई विद्वान् मानते हैं कि 'गीतगोविन्द' की भी रचना मूलतः प्राकृत में हुई थी। 'बृहत्कथा' के विषय में तो स्पष्ट उल्लेख है कि वह पैशाची प्राकृत में थी, जिससे संस्कृत में सार या संक्षेप बनाए गए। यह धारणा इस बात से पुष्ट होती है कि इन ग्रन्थों के वर्तमान संस्कृत रूप में व्याकरण तथा छन्द संबंधी कई ऐसी बातें हैं जो प्रकट करती हैं कि उनका प्राकृत से अनुवाद किया गया होगा।

साथ ही प्राकृत ग्रन्थों में कई स्थल, पद्य अथवा शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के अनुवाद प्रतीत होते हैं। प्राकृत व्याकरणों में तद्भव शब्दों पर विचार किया जाता है। इससे कुछ सामान्य नियम हृदय में बैठ जाते हैं। फिर उनके अनुसार संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूप बना लिए जाते हैं, जैसे—प्राकृत शब्दों के आदि में क, ग, च, ज, त, द बने रहते हैं, लेकिन जब वे स्वरों के मध्य में आते हैं तब उनका लोप हो जाता है। लेकिन **य = च, उण = पुनः** को मिला कर उनके **च्** और **प्** को स्वर-मध्यवर्ती ख़याल किया गया और फिर उनका लोप कर दिया गया। इसी प्रकार **जलचर, करतल** को एक-एक शब्द समझ कर **जलयर करयल** बना लिया। इससे वैयाकरणों को कठिनाई हुई। उन्होंने **जलचर, जलयर, करतल, करयल** को वैकल्पिक रूप कह कर अपना पिंड छुड़ाया। 'उत्तराध्ययन' में **थीभि = स्त्रीभिः**, प्रत्यक्ष संस्कृत रूप का अपूर्ण तद्भव प्रयोग है। संस्कृत जानने वाले प्राकृत लेखकों को रचना करते समय संस्कृत पाठ याद आ जाते होंगे, वे उन्हीं को प्राकृत रूप दे देते थे, जैसा कि आजकल अंग्रेज़ी जानने वाले हिन्दी लेखक कई बार अंग्रेज़ी में सोच कर उसका अनुवाद कर डालते हैं, जो कभी-कभी कृत्रिम सा दिखाई देता है।

पैशाची प्राकृत साहित्य

यद्यपि आजकल पैशाची का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, तथापि किसी समय यह महत्त्वपूर्ण प्राकृत रही होगी। गुणाढ्य ने अपनी 'बृहत्कथा' की रचना इसी में की थी। रचना का कारण यह बतलाया जाता है कि एक बार पार्वती ने शिव से कहा कि मैं कोई अपूर्व कथा सुनना चाहती हूँ, जिसे पहले कोई न जानता हो। इस पर शिव ने उन्हें 'बृहत्कथा' में वर्णित नरवाहनदत्त का वृत्तान्त सुनाया। इसे गुप्त रीति से शिव के एक परिचारक ने भी सुन लिया और उसने अपनी स्त्री को जा सुनाया। उस स्त्री ने पार्वती से कहा कि नरवाहनदत्त की कथा अपूर्व नहीं, इसे मैं भी जानती हूँ, शिव ने तुम्हारे साथ कपट किया है। तब पार्वती रूठ गईं। इस पर शिव ने उस परिचारक को शाप दिया कि तू पिशाच बन जा और जब तक इस कथा को पैशाची में रच कर इसका दक्षिण में प्रचार न कर देगा, तब तक पिशाच ही रहेगा। यही परिचारक गुणाढ्य हुआ।

मूल 'बृहत्कथा' चिरकाल से लुप्त हो चुकी है। इसके संस्कृत रूपान्तर बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', सोमदेव के 'कथासरित्सागर' तथा क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' में पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त जैन कथा साहित्य में भी इसकी कथाएँ मिलती हैं, विशेषकर संघदास की 'वसुदेव हिंडी' में विपाक तथा 'भगवतीसूत्र' में कौशाम्बी-नरेश उदयन का उल्लेख है। बौद्ध परम्परा के अनुसार स्थविरवादियों के एक जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थ पैशाची भाषा में थे, परन्तु अब उनका कोई चिह्न नहीं मिलता।

बूँदी रियासत के राजाओं का 'वंशभास्कर' नामक एक इतिहास ग्रन्थ है, जो सौ साल के लगभग की रचना है। उसके कई अध्याय पैशाची प्राकृत में हैं। संभव है, पैशाची के कुछ पद्य 'पृथ्वीराजरासो' में भी हों, क्योंकि चन्द ने इसे 'षटभाषाकुरान' कहा है। परन्तु रासो का वर्तमान पाठ अत्यन्त भ्रष्ट होने से पैशाची की पहचान नहीं हो सकती। 'हम्मीरमदमर्दन' और 'मोहराज-पराजय' आदि अर्वाचीन नाटकों के एक-दो पात्र पैशाची बोलते हैं। प्राकृत व्याकरणों में पैशाची का समावेश किया गया है और इसके उदाहरण दिए गए हैं। संभव है कि बहुत से उदाहरण 'बृहत्कथा' के हों और शेष वैयाकरणों की अपनी रचना हों।

गुणाढ्य का समय दण्डी से पहले होना चाहिए, क्योंकि दण्डी ने उसका नाम-निर्देश किया है। अन्य स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि पैशाची ने विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी में साहित्यिक रूप धारण कर लिया होगा। चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त खरोष्ठी लिपि में लिखी हुई कील मुद्राओं की प्राकृत भाषा कई बातों में पैशाची से मिलती है, अतः वह उत्तर-पश्चिमी भारत की किसी बोली के आधार पर बनी होगी। विद्वानों का खयाल है वहाँ से ही प्राकृत भाषा चीनी तुर्किस्तान में गई थी।

प्राकृत के व्याकरण

प्राकृत के व्याकरण प्राकृत साहित्य के विशेष अंग हैं। ये संस्कृत व्याकरण की शैली पर

सूत्रों में रचे गए हैं। इनका माध्यम भी संस्कृत है और प्रायः सभी संज्ञाएँ संस्कृत व्याकरण से ली गई हैं।

पाणिनि को भी 'प्राकृतलक्षण' नामक एक व्याकरण का कर्ता बतलाया जाता है, परन्तु इस कथन में कोई उचित प्रमाण नहीं है। सबसे प्राचीन व्याकरण जो अब तक विद्यमान है, वररुचि-कात्यायन का 'प्राकृतप्रकाश' है। कदाचित् ये वही वररुचि हैं जो पाणिनि के वार्तिककार थे और इसीलिए पाणिनि को प्राकृत व्याकरण का कर्ता ख़याल किया गया। अथवा, यह भी संभव है कि प्राकृत के गौरव निमित्त यह बात प्रचलित हो गई। 'प्राकृतप्रकाश' में महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी का वर्णन है। इस पर भामह ने 'मनोरमा', वसन्तराज ने 'प्राकृत-संजीवनी' और सदानन्द ने 'प्राकृतसुबोधिनी' टीकाएँ लिखीं। एक पद्यात्मक वृत्ति भी है जिसे 'प्राकृतमंजरी' कहते हैं। दसवें अध्याय की टीका में भामह ने पैशाची के दो वाक्य दिए हैं जो संभवतः 'बृहत्कथा' से लिए गए हैं।

चण्डकृत 'प्राकृतलक्षण' भी काफ़ी पुराना व्याकरण है। इसमें महाराष्ट्री और जैन प्राकृतों पर विचार किया गया है।

सब से अधिक प्रसिद्ध और पूर्ण व्याकरण हेमचन्द्राचार्यकृत है जो उनके 'सिद्ध हैमचन्द्र' नामक संस्कृत व्याकरण का आठवाँ अध्याय है। इसके चार पद हैं जिनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का वर्णन है। आर्ष या अर्धमागधी विषयक केवल एक सूत्र है जो कहता है कि आर्ष में ये नियम विकल्प से लगते हैं। इस पर 'स्वोपज्ञवृत्ति' है जो बृहत् और लघु दो वाचनाओं में मिलती है।

हेमचन्द्र की भाँति क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्तसार' नामक अपने संस्कृत व्याकरण के आठवें अध्याय में प्राकृतों का वर्णन किया है। वह अधिकतर वररुचि के अनुसार है। यह अनुमानतः तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इस व्याकरण के संस्कृत भाग पर कई वृत्तियाँ हैं, पर प्राकृत भाग पर एक भी टीका नहीं मिली।

पुरुषोत्तम का 'प्राकृतानुशासन' का परिचय केवल एक ताड़पत्रीय प्रति से मिला है, जो नेपाल देश के खटमंडू भंडार में सुरक्षित है। यह नेवारी लिपि में नेपाली संवत् ३८५ (सन् १२६५ ई०) की लिखी हुई है। इसका संपादन एक इटालियन विदुषी लुइज्यानित्ति बोलची ने किया है।

रामशर्मा तर्कवागीश के 'प्राकृतकल्पतरु' की भी एक ही प्रति उपलब्ध है जो शक संवत् १६०८ की लिखी हुई है।

'प्राकृतसर्वस्व' का कर्ता मार्कण्डेय उड़ीसा का रहने वाला था और वहाँ के राजा मुकुन्ददेव के शासन में जीवित था। लेकिन मुकुंददेव नाम के कई राजा हुए हैं, अतः यह निश्चित नहीं कि मार्कण्डेय किसके समय में हुआ। एक मुकुंद ने सं० १७२१ से १७४९ वि० तक राज्य किया। शायद मार्कण्डेय उसी का समकालीन था।

इनके अतिरिक्त और कई प्राकृत व्याकरण हैं, जैसे—सिंहराज का 'प्राकृतपावतार',

लक्ष्मीधर का 'षड्भाषाचन्द्रिका', अप्पय दीक्षित का 'प्राकृतलंकेश्वर' जिसका कर्ता रावण समझा जाता है और कृष्ण पण्डित या शेषकृष्ण का 'प्राकृतचन्द्रिका'। ये ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए।

उपर्युक्त सब व्याकरण संस्कृत में बने हैं। प्रो० हीरालाल जैन ने कुछ अवतरणों के आधार पर प्राकृत में रचित एक प्राकृत व्याकरण का अनुमान लगाया है। कदाचित् भारत के 'नाट्यशास्त्र' में भी ऐसे ही व्याकरण की एक-दो कारिकाएँ उद्धृत हैं। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्राकृतों के व्याकरण का सबसे पुराना विवेचन मिलता है। इसमें प्राकृतों का किंचित् स्वरूप बतला कर इस विषय पर विचार किया गया है कि नाटक में किस पात्र को कौन सी प्राकृत बोलनी चाहिए। रुद्रटकृत 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु की टीका और 'मृच्छकटिक' पर पृथ्वीधर की टीका में भी प्राकृतों के मुख्य-मुख्य लक्षणों का निरूपण किया गया है।

प्राकृत के कोश

भारत में प्राकृत का पठन-पाठन संस्कृत द्वारा होता था, इसीलिए प्राकृत व्याकरणों की रचना संस्कृत में होती थी। प्राकृत व्याकरण का अभ्यास कर लेने पर संस्कृत जानने वाले के लिए प्राकृत का समझना कठिन नहीं रहता था। लेकिन प्राकृत में कुछ ऐसे शब्द व्यवहृत होते थे, जिनका मूलरूप संस्कृत में न था। ऐसे शब्दों को देशी कहते हैं। इन शब्दों का कोशों में संग्रह किया गया है। इस प्रकार का एक सब से प्रसिद्ध कोश हेमचन्द्राचार्यकृत 'देशीनाममाला' है। इससे भी कुछ प्राचीन धनपालकृत 'पाइयलच्छीनाममाला' (प्राकृतलक्ष्मी-) है, जो सं० १०२९ (सन् ९६२ ई०) में रचा गया। इन दोनों कोशों में देशी शब्दों के प्राकृत पर्याय दिए गए हैं।

प्राकृत का ज्योतिष साहित्य

प्राकृत में ज्योतिष विषयक प्रचुर साहित्य है। अर्धमागधी आगम के उपांगों, चन्द्र, सूर्य और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति नामक उपांगों के नामों से ही प्रकट होता है कि ये ज्योतिष और भूगोल से संबंध रखते हैं। इनके कथन पुराणोक्त ज्योतिष और भूगोल से बहुत मिलते-जुलते हैं। काल-गणना में इनकी वैदिक कथनों से समानता है। इनके अतिरिक्त यतिवृषभ की 'तिलोयपन्नत्ति' (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) और अनेक आचार्यों द्वारा रचित 'संग्रहणी', 'लोकसार' आदि प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में गणित विषयक बड़े आश्चर्यजनक और सूक्ष्म विचार पाए जाते हैं, जिनकी तुलना आजकल के विज्ञान से की जा सकती है।

प्राकृत का अन्य उपयोगी साहित्य

प्राकृत ग्रन्थों में वैद्यक और चिकित्सा संबंधी प्रचुर उल्लेख पाए जाते हैं। 'तंडुलवैतालिक प्रकीर्णक' में महावीर और गौतम का संवाद मिलता है, जिसमें मानव शरीर-रचना तथा ऐसी ही कई और बातों का विवेचन किया गया है। ऋतुओं के अनुसार अन्न-पान के विकृत होने की अवधि और इनके रक्षण की विधि आदि अन्य उपयोगी विषय वर्णित हैं। कीटाणुओं की उत्पत्ति तथा

उनके निवारण की विधि आधुनिक विज्ञान के समान हैं। कई औषधियों के नाम प्राकृत में हैं, जो संस्कृत में भी उन्हीं रूपों में व्यवहृत होते हैं।

निर्युक्ति और भाष्य ग्रन्थों में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। कई एक प्राकृत रूपों की प्राकृत धातु और प्रत्यय के आधार पर व्युत्पत्ति मिलती है, जैसे **अर्हत्** शब्द के प्राकृत में **अरहंत, अरिहंत** और **अरुहंत** रूप बनते हैं। इनमें से **अरिहंत** की **अरि + हंत,** अर्थात् (अन्तरंग और बाह्य) शत्रुओं का नाश करने वाला; और **अरुहंत** की **अ + रुहंत,** अर्थात् न उगने वाला, पुनर्जन्म रहित, ऐसी व्युत्पत्ति की है। इस प्रकार के निर्वचन बड़े चमत्कार-पूर्ण और आकर्षक हैं। इनसे यास्क के निरुक्त की काफ़ी वृद्धि होती है।

संगीत के संस्कृत ग्रन्थों में कहीं-कहीं रागों के उदाहरण प्राकृत में दिए गए हैं। नाटक के कई भेदों के नाम प्राकृत हैं। छन्द शास्त्रों में प्राकृत उदाहरण और नाम पाए जाते हैं। 'प्राकृत-पैंगल' छन्द शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सामुद्रिक का 'करलक्षण' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। वृष्टि तथा जिनसों के भाव जानने के लिए 'अग्घकंड' (अर्घकाण्ड) पुस्तक है।

ऐसा मालूम होता है कि अनेक उपयोगी विषयों पर प्राकृत में बहुत साहित्य बना था, लेकिन समय के प्रवाह में उस पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा और अन्त में संस्कृत ग्रन्थों ने उसे दबा दिया।

प्राकृत रचना में भाषा-मिश्रण

अर्थ की दृष्टि से प्राकृत पद्य बड़े चमत्कारक और सरस होते थे। कदाचित् कवि बिहारी-लाल ने अपनी 'सतसई' की रचना में प्राकृत 'गाथासप्तशती' का ही अनुकरण किया था। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के कथनानुसार बिहारी के पद्य बहुमूल्य मणियाँ हैं। ग्रियर्सन का यह कथन 'गाथा-सप्तशती' पर भी पूर्णतया घटता है।

नाटकों को छोड़ कर संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में किसी दूसरी भाषा का प्रयोग नहीं होता था। उनमें शैली की विचित्रता लाने के लिए गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू रचे जाते थे अथवा गौडी या वैदर्भी रीति का सम्मिश्रण कर दिया जाता था। परन्तु प्राकृत में इस परिपाटी के अतिरिक्त भाषा-मिश्रण भी हो जाता था। ग्रन्थ का कुछ भाग संस्कृत में, कुछ प्राकृत में कर दिया जाता था। कभी एक ही पद्य का आधा संस्कृत में और दूसरा आधा प्राकृत में होता था। 'भीमकुमारचरित्र' इस प्रकार की रचना का अच्छा उदाहरण है। किसी-किसी पद्य में एक चरण संस्कृत का, दूसरा महाराष्ट्री, तीसरा शौरसेनी और चौथा मागधी प्राकृत का होता था, जैसा कि विक्रमसिंह द्वारा विरचित 'पारसीभाषानुशासन' के मंगलाचरण में है। भिन्न-भिन्न भाषाओं का यह सम्मिश्रण अन्यत्र भी मिलता है, जैसे—अरबी और फ़ारसी का; फ़ारसी और हिन्दुस्तानी का जिसे रेख़ता कहते हैं, संस्कृत और द्राविडी कन्नड़, मलयालम आदि का, जिसे मणिप्रवाल कहते हैं। इसके विपरीत कई पद्य ऐसे शब्दों से बनाए जाते थे जिनके प्राकृत और संस्कृत रूप एक सरीखे होते थे। इस शैली को सम संस्कृत कहते हैं।

प्राकृत का वर्तमान अनुशीलन

यद्यपि प्राकृत में रचनात्मक प्रवृत्ति बहुत पहले बन्द हो चुकी थी, तथापि कोई-कोई जैन मुनि अब भी प्राकृत में छोटी-मोटी रचना करते रहते हैं, विशेषकर अपने देव-गुरु की भक्ति के निमित्त स्तोत्रादि की। लेकिन प्राकृत का वर्तमान अनुशीलन अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों के संपादन और अनुवाद तक सीमित है। उनके कर्ता का समय-निर्धारण, उनकी साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से छान-बीन आदि कार्य इसी में सम्मिलित हैं। सबसे पहले यह काम पाश्चात्य विद्वानों ने शुरू किया था। इस दिशा में आल्बर्त वेबर, हर्मन याकोबी और रुडाल्फ़ हर्नले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १९०० में रिचर्ड पिशल ने नवीन पद्धति पर जर्मन भाषा में प्राकृत व्याकरण प्रकाशित किया। इसमें जैन प्राकृतों, नाटकीय प्राकृतों, पैशाची और अपभ्रंश का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ उत्साह, धैर्य और विद्वत्ता का स्तम्भ है। सन् १९१७ में ए० सी० वूल्नर ने अंग्रेज़ी में 'इंट्रोडक्शन टू प्राकृत' प्रकाशित किया। इस पुस्तक ने प्राकृत के पठन-पाठन को बड़ा प्रोत्साहन दिया। प्रस्तुत लेखक ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया जो सन् १९३४ में 'प्राकृत प्रवेशिका' के नाम से छपा। सन् १९२३ में 'अर्धमागधी रीडर' प्रकाशित हुई।

गत पचास-साठ बरसों में जैन मुनियों तथा जैन संस्थाओं ने प्राकृत अनुशीलन में बहुत वृद्धि की है। प्राकृत के सैकड़ों ग्रन्थों का सम्पादन तथा अनुवाद हो चुका है और सैकड़ों का हो रहा है। शतावधानी स्वामी रत्नचन्द्र ने 'अर्धमागधीकोश' (५ भाग) और 'जैन प्राकृतकौमुदी' (व्याकरण) तैयार किए। डा० ए० सी० वूल्नर भी एक कोश की सामग्री जुटा रहे थे। पंडित हरगोविन्ददास ने 'पाइयसद्दमहण्णवो' (प्राकृत शब्दमहार्णव) का संकलन किया। राजेन्द्रसूरि ने 'अभिधानराजेन्द्र' (७ भाग) नामक जैन विश्वकोश बनाया। प्राकृत की हस्तलिखित ग्रन्थों की अनेक सूचियाँ प्रकट हो चुकी हैं, जिनसे प्राकृत साहित्य की विशालता और विविधता का भली भाँति बोध होता है। भारत और योरप तथा अमरीका की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्राकृत भाषा तथा साहित्य पर गवेषणापूर्ण लेख छपते रहते हैं। इनसे प्राकृत अनुशीलन का भविष्य बड़ा उज्ज्वल दिखाई देता है। प्राकृत के इस अध्ययन से निश्चय ही हिन्दी भाषा और साहित्य—विशेष रूप से प्रारम्भिक और मध्यकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन को अपूर्व सहायता मिल सकेगी तथा अनेक गूढ़ और उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाया जा सकेगा।

११. अपभ्रंश साहित्य

'अपभ्रंश' हिन्दी तथा अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं तथा प्राकृतों को जोड़ने वाली कड़ी है। अपभ्रंश साहित्य की धाराएँ पुरानी हिन्दी में आ कर मिल गई हैं। अपभ्रंश शब्द का जिस अर्थ में आज प्रयोग होता है, संस्कृत वैयाकरणों ने उस अर्थ में उसका प्रयोग नहीं किया था। 'अपभ्रंश' का प्राचीनतम उल्लेख उसके अर्थ और उदाहरणों के साथ पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है।[1] महाभाष्य के रचयिता ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है। संस्कृत व्याकरण के नियमों से सिद्ध संस्कृत शब्द-रूपों के अतिरिक्त सभी विकृत शब्द-रूपों को महर्षि पतंजलि ने अपशब्द या अपभ्रंश शब्द-रूप कहा है। उनके अनुसार एक साधु रूप के अनेक अपशब्द-रूप हो सकते थे—उदाहरण के लिए 'गो' शब्द के गोपी, गोवी, गोपोतलिका जैसे अपशब्द-रूप उद्घृत किए गए हैं। इस उल्लेख के अनुसार संस्कृत के अतिरिक्त सभी प्राकृतें अपभ्रंश ही हैं, क्योंकि 'गोवी' आदि शब्द-रूप प्राकृतों में मिल जाते हैं। पतंजलि के अर्थ के ही कुछ-कुछ समान अर्थ में भरत मुनि की कृति 'नाट्यशास्त्र' में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] किन्तु भरत मुनि के उल्लेखों से यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग काव्य में भी होने लगा था। अपभ्रंश शब्दावली में काव्य भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित होने का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने योग्य सामग्री भरत मुनि के पश्चात् कई शतियों तक नहीं मिलती। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर भामह सबसे पहले काव्य समीक्षक हैं, जिन्होंने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी काव्य भाषा के रूप में उल्लेख किया है।[3] भामह ने अपभ्रंश के संबंध में कोई मत व्यक्त नहीं किया है। दण्डी ने भी अपभ्रंश का काव्य भाषा के रूप में उल्लेख किया है। दण्डी के उल्लेख में एक महत्त्वपूर्ण बात है, उसका आभीरों से संबंध बताना।[4] उनके उल्लेख में एक प्रकार से पतंजलि और भामह दोनों के मतों का समावेश मिलता है, अर्थात् अपभ्रंश के संस्कृत से भिन्न लोक में व्यवहृत भाषा रूप तथा आसारबन्ध काव्यों की भाषा——दोनों की सूचना दण्डी ने दी है। जैन कथाकार उद्योतन रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) ने अपभ्रंश के कुछ भेदों का भी उल्लेख किया

---

१. महाभाष्य, पृ० ११, निर्णयसागर संस्करण, १९३८ ई०।

२. नाट्यशास्त्र, बड़ौदा संस्करण, भाग २, अध्याय १७–३।

३. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा——काव्यालंकार, १–१६ तथा १–२८; चौखम्बा संस्करण, काशी, १९८५ वि०।

४. काव्यादर्श, पूना संस्करण, १९३८, १–३२, १–३६-३७।

है।[1] इसके पश्चात् राजशेखर,[2] आनंदवर्द्धन,[3] मम्मट,[4] भोज[5], वाग्भट,[6] विष्णुधर्मोत्तर के रचयिता,[7] रामचन्द्र-गुणचन्द्र[8] जिनदत्त, अमरचन्द्र, दामोदर[9] तथा अन्य अनेक प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यकारों ने अपभ्रंश की चर्चा की है, जिससे काव्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश की प्रतिष्ठा होने तथा उसमें पर्याप्त साहित्य रचना के संकेत मिलते हैं।

काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों में अपभ्रंश के संबंध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे अपभ्रंश साहित्य के संबंध में ही सूचनाएँ मिलती हैं, अपभ्रंश के स्वरूप, भेद, उत्पत्ति, उसकी सीमाएँ इत्यादि समस्याओं पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। वैयाकरणों ने बहुत बाद में अपभ्रंश की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। पतंजलि ने या व्याडि ने सामान्य अर्थ में 'अपभ्रंश' का उल्लेख किया है, किन्तु यह आश्चर्य है कि प्राकृत के प्राचीनतम व्याकरणकार वररुचि ने 'अपभ्रंश' का नामोल्लेख भी नहीं किया। वररुचि की कृति पर टीका करने वाले भामह को अपभ्रंश का पता था, किन्तु व्याकरण की टीका में उन्होंने अपभ्रंश का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया। प्राकृत के जितने व्याकरणकार हैं, उनमें हेमचन्द्र (सन् १०८८-११७२ ई०) सबसे प्राचीन हैं, जिन्होंने प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का व्याकरण भी दिया है। हेमचन्द्र के बाद के प्राकृत व्याकरणकारों[10] में से प्रायः सभी ने अपभ्रंश के विषय में थोड़ा-बहुत लिखा है, किन्तु अपभ्रंश से संबंधित विविध समस्याओं का उससे समाधान नहीं होता।

वैयाकरणों और काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने अपभ्रंश के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे यह ज्ञात होता है कि किसी समय अपभ्रंश और प्राकृतों में व्याकरण रचयिता भेद नहीं करते

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी, बड़ौदा, १९२७ की भूमिका में उद्योतन की कुवलयमाला कथा से कुछ उद्धरण दिए हैं, जिनमें अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है तथा कुछ दोहे भी उद्धृत हैं, उनका काल ८वीं शती ई० है।—१. काव्यालंकार, निर्णयसागर, बम्बई, १९२८, २.१२ तथा टीका।

२. काव्य मीमांसा, बड़ौदा, १९३४ ई०, पृ० ६, १९, ३३, ४८, ५०, ५४-५५ पर अपभ्रंश के उल्लेख मिलते हैं। तथा बाल रामायण १.१०।

३. यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृताप्राकृतापभ्रंश निबद्धम् — ध्वन्यालोक ३.७।

४. का० प्र० ४२, ५९, ९०-९१ तथा ६७, ८८, ३४५ में अपभ्रंश के उदाहरण।

५. सरस्वतीकण्ठाभरण, २.१०, १३, १७, तथा अपभ्रंश पद्यों के अनेक उदाहरण कृति में मिलते हैं। भोज की दूसरी कृति शृंगारप्रकाश में भी अपभ्रंश के उल्लेख मिलते हैं, (दे० आगे)।

६. वाग्भटालंकार, २.३।

७. अपभ्रंश काव्यत्रयी, बड़ौदा, भूमिका पृ० ९६।

८. नाट्यदर्पण, बड़ौडा १९२९ ई०, प्रथम भाग, पृ० २०९।

९. अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका द्रष्टव्य।

१०. पुरुषोत्तम, रामशर्मा, मार्कण्डेय आदि सभी ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है।

थे।[1] संस्कृत और अपभ्रंश (शुद्ध और अशुद्ध) दो ही भाषा-रूप मान्य थे। प्राकृत वैयाकरण भी प्रारम्भ में कदाचित् अपभ्रंश को अलग भाषा रूप नहीं मानते थे। जब अपभ्रंश में पर्याप्त साहित्य रचना हो चुकी तब वैयाकरणों और काव्य-समीक्षकों ने उस पर भाषा और साहित्य की दृष्टि से विचार किया। अपभ्रंश के संबंध में जो उल्लेख मिलते हैं उनमें कुछ अत्यन्त अस्पष्ट और विवाद-ग्रस्त उल्लेख भी हैं। दण्डी ने अपभ्रंश के प्रसंग में आभीरों[2] और भोज ने गुर्जरों[3] का उल्लेख किया है। वाग्भटादि ने अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख किया है।[4]

आभीरों और गुर्जरों से अपभ्रंश का संबंध क्या था, इसका कहीं स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। आभीर-गुर्जर गोचारक खेतिहर जातियाँ हैं जो प्राचीन काल में बहुत ही प्रबल थीं।[5] पतंजलि ने अपभ्रंश शब्दों के जो उदाहरण दिए हैं, वे 'गो' शब्द के लोक-प्रचलित रूप हैं और दण्डी का उल्लेख भी एक प्रकार से पतंजलि के कथन का समर्थन करता है। गोचारण करने वाले भी जिस काव्य को समझते होंगे और जो भाषा बोलते होंगे, उसको लक्ष्य में रख कर कदाचित् दण्डी ने अपभ्रंश को आभीरादि की भाषा कहा होगा। कोई एक जाति किसी भाषा, विशेषतया अपभ्रंश जैसी व्यापक भाषा का निर्माण नहीं कर सकती। आभीर और गुर्जर शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया गया प्रतीत होता है, आभीर और गुर्जर से सामान्य जन-समुदाय का अर्थ लिया जाना उचित लगता है, जो लौकिक कविता को अधिक प्रेम से पढ़ते होंगे। 'सरस्वतीकंठाभरण' में अपभ्रंश के जो पद्य उद्धृत किए गए हैं, उनमें से अधिकांश लौकिक ढंग की रचनाएँ हैं और जिस प्रकार के वातावरण का उनमें चित्रण है[6] उसे सामान्य काव्य-रसिक को आकर्षित करने वाला कहा जा सकता है। अपभ्रंश का जो साहित्य इस समय उपलब्ध है या जिसके अस्तित्व की सूचनाएँ मिलती हैं, उसमें से कोई भी रचना किसी आभीर या गुर्जर की कृति नहीं है। केवल यह अनुमित किया जा सकता है कि आभीरगुर्जरादि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत-अपभ्रंशों का प्रयोग सुगमता से करते होंगे और आभीरादि जातियों के रईस अपभ्रंश की कविता को सम्मान की दृष्टि से देखते होंगे।

---

१. यथा—पतंजलि का 'अपशब्द' विषयक उल्लेख। तथा व्याडि का 'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' वचन।

२. काव्यादर्श १.३६।

३. सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० १२२-२३, निर्णयसागर प्रेस १९२५ ई०।

४. वाग्भटालंकार २.३।

५. महाभारत, महाभाष्य, वायु पुराणादि प्राचीन ग्रथों में आभीरों के उल्लेख मिलते हैं। उन्होंने अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे। अपभ्रंश शब्दों से युक्त कुवलय-माला कथा के रचयिता उद्योतन आभीर वंश के थे, दृष्टव्य—'अपभ्रंश काव्य त्रयी' में कुवलय-माला कथा उद्धृत अंश।

६. सबसे अधिक अपभ्रंश पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत मिलते हैं, सभी सरल मुक्तक हैं, जो लोक में प्रचलित रहे होंगे।

अपभ्रंश के भेद

साहित्य-समीक्षकों तथा वैयाकरणों ने देश विशेष के आधार पर अनेक अपभ्रंश-भेदों के होने का उल्लेख किया है।[1] वैयाकरणों ने नागर, उपनागर, आभीर, ग्राम्य, व्राचड अपभ्रंशों के उल्लेख किए हैं। किन्तु वैयाकरणों ने इन भेदों के नामोल्लेख मात्र से ही संतोष किया है। विभिन्न भेदों के लक्षण तथा उदाहरण नहीं दिए और जो लक्षण कहीं-कहीं दिए भी हैं, वे भेदों को स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त हैं।

पश्चिमी वर्ग[2] के वैयाकरणों ने अपभ्रंश के भेदों की चर्चा नहीं की। हेमचन्द्र ने सामान्य रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया है जिसमें वैकल्पिक रूपों का भी समावेश कर दिया है।[3] पूर्वीय समूह के वैयाकरणों में क्रमदीश्वर ने (१४वीं शती ई० ?) व्राचड, नागर, उपनागर;[4] पुरुषोत्तम-देव[5] (१२वीं शती) ने नागरक, व्राचड और उपनागरक के अपभ्रंश के प्रधान भेद मान कर देशों के अनुसार अन्य भेदों के नाम गिनाए हैं, किन्तु इनके लक्षणों के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा। अन्य वैयाकरणों ने भी इन्हीं तथा इसी प्रकार के भेदों के नाम गिनाए हैं।

पश्चिमी वर्ग के प्रतिनिधि हेमचन्द्र ने ग्राम्य अपभ्रंश का उल्लेख किया है किन्तु पूर्वीय वर्ग के वैयाकरणों ने उसका नाम नहीं दिया। इस वर्ग के द्वारा दिए गए तीनों भेदों के लक्षण हेम-चन्द्र द्वारा दिए गए लक्षणों में प्रायः मिल जाते हैं, जैसे पूर्वीय वर्ग के वैयाकरणों ने व्राचड को रेफ-युक्त बताया है और हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश का एक लक्षण रेफयुक्त होना भी दिया है। जिस प्रकार का विवेचन अपभ्रंश के व्याकरणों में मिलता है, उसके आधार पर अपभ्रंश के भेदों का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता। भोज ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में जो उल्लेख किए हैं, उनसे अपभ्रंश के प्रदेशों के अनुसार अनेक भेद होने की सूचना मिलती है। भोज ने अवन्ती, लाटी, आभीरी, गौर्जरी, काश्मीरी, पौरस्त्य आदि अपभ्रंश-भेदों के पद्य उद्धृत किए हैं। भोज ने काव्य की दृष्टि से इन अपभ्रंशों को उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन श्रेणियों में रखा है।[6] इन उल्लेखों से अपभ्रंश के अनेक भेदों के अस्तित्व की झलक भर मिलती है। इनके आधार पर विभिन्न भेदों का भाषा विष-यक विश्लेषण प्रस्तुत करना कठिन है।

---

१. काव्यालंकार २.१२। भावप्रकाशन (बड़ौदा १९३०), पृ० ३१०।

२. चन्द्र, हेमचन्द्र, सिंहराज तथा लक्ष्मीधर पश्चिमी वर्ग के वैयाकरण हैं।

३. यथा सिद्धहैम ८.४, ३९८-९९, रेफादि से संबंधित नियम।

४. लू-नीती दोल्ची : ले ग्रामेरिएँ प्राक्रीतस (पेरिस १९३८), पृ० १४१ और आगे।

५. ल'प्राकृतानुशासन द पुरुषोत्तम, पेरिस १९३८ ई० तथा ए ग्रैमर अव् द प्राकृत लैंग्वेज, कलकत्ता १९४३ ई०, पृ० १०६ और आगे।

६. दे० भोज : शृंगारप्रकाश—जी० आर० जोयसर द्वारा संपादित, मैसूर, १९५५ ई० पृ० १०२-१०३।

अपभ्रंश के लिए अपभ्रंश कवियों ने अवहंस,[१] अवहट्ठ[२], प्राकृत,[३] ढक्कभाषा, पढमंजरी,[४] आदि नामों का प्रयोग किया है, देशी या देशभाषा[५] का भी प्रयोग कुछ कवियों ने किया है। इनमें से अवहंस और अवहट्ठ तो अपभ्रंश तथा अपभ्रष्ट के ही भिन्न रूप हैं। प्राकृतादि नामों का अपभ्रंश के लिए प्रयोग किसी भ्रम के कारण किया गया है। देशी भाषा या देशी और अपभ्रंश एक ही अर्थ में प्रयुक्त भले हुए हों, किन्तु वे भिन्न हैं। प्रदेश विशेष की बोलियों के लिए 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग अनेक ग्रंथकारों ने किया है,[६] और उनका अभिप्राय अपभ्रंश से नहीं है। 'देशी' एक पारिभाषिक शब्द है, जो संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों से भिन्न साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के लिए व्यवहृत हुआ है।[७] कवियों ने 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग साधारण जन की समझ में आने वाली भाषा के लिए किया है।

'अपभ्रंश' नाम वैयाकरणों का दिया हुआ है, जो क्रमशः साहित्यिक भाषा के लिए स्वीकृत कर लिया गया। अपभ्रंश के नाम में जिस 'असाधुता' के भाव की व्यंजना प्रारम्भ में रही होगी, वह धीरे-धीरे दूर हो गई और अपभ्रंश कवियों की कृतियों का विद्वन्मण्डलियों और राजदरबारों में उचित सम्मान होने लगा। संस्कृत, प्राकृत के साथ वह उत्तरी भारत की शतियों तक साहित्यिक भाषा रही।

अपभ्रंश की सीमाएँ

'प्राकृत धम्मपद',[८] (ई० पू०पहली शती) विमल सूरि के 'पउमचरिय',[९] भरत की उकारबहुलाभाषा तथा ध्रुवागीत[१०] और फिर 'महावस्तु', 'ललितविस्तर', 'सद्धर्मपुण्डरीक' आदि महायानी

---

१. स्वयंभू छन्द, जर्नल अव् द यूनिवर्सिटी अव् बाम्बे, नवम्बर १९३६, पृ० ७२ और आगे ४.७, ४.१०, ४.३४ आदि तथा अपभ्रंशकाव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ९७।

२. विद्यापति ने कीर्तिलता में 'अवहट्ठ' का प्रयोग किया है, तथा प्राकृतपैंगलम्, कलकत्ता १९०० ई०, पृ० ३।

३. 'बौद्धगान ओ दोहा' के संस्कृत टीकाकार ने मूल अपभ्रंश पद्यों की भाषा को प्राकृत कहा है।

४. अपभ्रंशकाव्यत्रयी, चर्चरी, पृ० १।

५. यथा, स्वयंभू का उल्लेख : देसीभासा उभयतडुज्जन्ते—पउमचरिउ, संधि १।

६. दे० सनत्कुमारचरित की भूमिका, पृ० १८।

७. दे० देशीनाममाला १.३-४।

८. प्राकृत धम्मपद, बरुआ और मित्र, कलकत्ता १९२१ ई०, यथा मगु पृ० ९८, नमु, पृ० ९८, प्रियु पृ० १७७, साधु, धमु आदि।

९. दे० डा० उपाध्ये द्वारा संपादित परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० ५६।

१०. नाट्यशास्त्र, १७-६१ तथा ध्रुवागीतों में जोह्णउं ३२-७०, जणन्तउ, ३२.१०४,

बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों[1] में प्राप्त अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग तथा व्याडि[2], पतंजलि[3] के अपभ्रंश विषयक उल्लेख अपभ्रंश की प्राचीनता की सूचना देते हैं। और 'वसुदेवहिंडि'[4] कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय'[5] के अपभ्रंश पद्य अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होने के प्राचीनतर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनके आधार पर अपभ्रंश साहित्य का आरम्भ-काल छठी शती माना जा सकता है। भामह और दण्डी तथा बाण के समय में निश्चित रूप से अपभ्रंश रचनाएँ प्रस्तुत होनी चाहिए और ऐसी रचनाओं को ध्यान में रख कर ही भामहादि ने अपभ्रंश का साहित्य की भाषा के रूप में उल्लेख किया होगा। स्वयंभू (९वीं शती), पुष्पदन्त (१०वीं शती) के काव्यों में अपभ्रंश का अत्यन्त परिष्कृत साहित्यिक रूप मिलता है; अतः आठवीं से ले कर दसवीं शती तक के काल को अपभ्रंश साहित्य का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश कई शतियों तक चलती रही, व्याकरण के सहारे कवि गण सोलहवीं शती तक अपभ्रंश में रचनाएँ करते रहे, किन्तु अपभ्रंश का साहित्यिक रूप बोलियों के रूप में विकसित भाषा से बहुत पहले अलग पड़ गया था। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' (१२वीं शती) जैसी कृतियों में आधुनिक बोलियों का जो विकसित रूप मिलता है, उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम दो शती तो उसको उस व्यवस्था तक विकसित होने में लगे ही होंगे। इस प्रकार अपभ्रंश की साहित्यिक भाषा के रूप में अन्तिम सीमा भले ही ११वीं, १२वीं शती तक पहुँची हुई प्रतीत हो, किन्तु जन साधारण की बोलियों से वह ९वीं, १०वीं शती के आस-पास अलग हो गई होगी।

किन्तु कुछ विद्वान् ऐसे प्रयोगों को हस्तलिखित प्रतियों की विशेषता मात्र मानते हैं, द्र० इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ८, १९३२ में म० मो० घोष का लेख।

१. ललितविस्तर, हाल्ले १९०२ ई०, भाग १ में धर्मगज्जु, महाविमानु, वीरु (पृ० ७३), नाथु, कामछन्दु (पृ० ७५) जैसे प्रयोग तथा सद्धर्मपुण्डरीक, सेंट पीटर्सवर्ग १९१२ ई०, में प्रासादु (III, ३९), आवासु (III. ४१), भैरवु (III. ५५), ईश्वरु (IV. ६०), उत्पन्नु (V, १७), विद्वेषु, रागु (V, २०) जैसे अनेक प्रयोग मिलते हैं। ऐसे प्रयोगों से युक्त बौद्ध ग्रन्थों की भाषा को विद्वानों ने 'बौद्धों की वर्णसंकरी संस्कृत' नाम दिया है—दे० फ्रेंकलिन एजर्टन, बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत, भाग एक; ग्रैमर, न्यू हैवेन, १९५३, भूमिका, पृ० ३ और आगे।

२. संग्रहकार व्याडि के १० वचन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपलटीका में उद्धृत किए हैं, जिनमें से एक में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु उसका अर्थ 'अपभ्रंश भाषा' नहीं लिया जा सकता।—वाक्यपदीय, लाहौर संस्करण, पृ० १३४।

३. पतंजलि के उल्लेखों के लिए पीछे दे०।

४. वसुदेवहिंडि (छठवीं शती ई०) में अपभ्रंश प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं—यथा, एक पद्य में 'पालि' जैसे प्रयोग, पृ० २८, भावनगर १९३० ई०।

५. विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्यों की प्रामाणिकता विवादग्रस्त है, दे० परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ५६।

साहित्यिक अपभ्रंश की परवर्ती काल की कुछ कृतियों के आधार पर विद्वानों ने परिनिष्ठित और प्रचलित अपभ्रंश के दो स्तरों की चर्चा की है।[१] 'संदेशरासक', 'कीर्तिलता' जैसी कृतियाँ उस समय की रचनाएँ हैं जब अपभ्रंश का स्थान बोलियों ने ले लिया था, अतः यह स्वाभाविक है कि उसमें तत्कालीन बोलियों की कुछ विशेषताएँ पाई जायँ। ऐसा होते हुए भी इन कृतियों की भाषा के आधार पर परिनिष्ठित और अग्रसरीभूत अपभ्रंश का स्वरूप पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। 'अवहट्ठ' नाम तो निश्चित रूप से विकसित रूप का पर्यायवाची नहीं हो सकता और न विद्यापति ने इस अर्थ में उसका प्रयोग ही किया है।[२]

अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण

अपभ्रंश साहित्य का अपभ्रंश के भेदों या विभिन्न कालों के अनुसार वर्गीकरण करना सुविधाजनक नहीं है। प्राकृतों के जिन भेदों का उल्लेख मिलता है, उनमें से कुछ प्राकृतों का अच्छा साहित्य भी मिलता है, किन्तु अपभ्रंश के जिन भिन्न-भिन्न भेदों की चर्चा जहाँ-तहाँ वैयाकरणों तथा साहित्यवेत्ताओं ने की है उनका साहित्य नहीं मिलता। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के पूर्वरूप का परिचय पाने के लिए उनकी पूर्ववर्ती अपभ्रंशों का साहित्य हमें नहीं मिलता। पश्चिमी अपभ्रंश ही कदाचित् समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा थी और इसी कारण भारत के पश्चिमी, पूर्वी, उत्तरी, दक्षिणी, सभी प्रदेशों के कवियों ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश में ही साहित्य की रचना की।[३] प्रदेश विशेष के अनुसार कुछ स्थानीय प्रयोग भले ही विभिन्न प्रदेशों में रचित अपभ्रंश कृतियों में मिल जाएँ, किन्तु सामान्य रूप से ढाँचा पश्चिमी अपभ्रंश का ही अपनाया गया है। इस कारण अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण अपभ्रंश के भेदों के आधार पर नहीं किया जा सकता और न विभिन्न शतियों या युगों में ही उसे विभाजित करना युक्तिसंगत होगा। उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का काव्यरूपों तथा भाव धारा की दृष्टि से वर्गीकरण करके अध्ययन प्रस्तुत करना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।[४]

---

१. कीर्तिलता और अवहट्ठ-भाषा—डा० शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग १९५५, भूमिका।

२. विद्यापति की उक्ति 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा। तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा' (कीर्तिलता ना० प्र० का० संस्करण पृ० ६) से यह अर्थ लेना कि देशी वचन ही अवहट्ठ है, ठीक न होगा। यदि अवहट्ठ (अपभ्रष्ट) बोलचाल की भाषा थी, तो उनके मैथिली गीतों की भाषा को किस श्रेणी में रखा जाएगा।

३. सिद्धों और विद्यापति की अपभ्रंश रचनाओं का मूल ढाँचा पश्चिमी साहित्यिक अपभ्रंश का है; किन्तु इसके साथ ही उनमें स्थानीय बोलियों के भी प्रयोग मिलते हैं।

४. याकोबी आदि विद्वानों ने जैन प्राकृत रचनाओं के आधार पर जैन महाराष्ट्री आदि प्राकृतभेदों का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार जैन या बौद्ध अपभ्रंश नाम देने का प्रयत्न अभी नहीं हुआ है।

प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग धार्मिक साहित्य का है और वह जैन कवियों द्वारा लिखित है। जैन कवियों की अधिकांश रचनाएँ पौराणिक कथा-प्रबन्धात्मक हैं और कुछ कृतियाँ रहस्यवाद तथा नीति विषयक हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य की ही भाँति बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी साम्प्रदायिक-धार्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर लिखी गई हैं। जैन और बौद्ध धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ लौकिक रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें प्रबंधात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य अधिक मात्रा में उपलब्ध है और इस दृष्टि से वह अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न धाराओं को समझने के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अतः पहले उसी का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन साहित्य—प्रबन्धात्मक

पौराणिक विषयों को लेकर जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विपुल साहित्य की रचना की। साहित्य, उपदेश और धर्म का अद्भुत मिश्रण इन कृतियों में मिलता है। भावधारा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण साहित्य प्रायः एक ही प्रकार का है। समय और रुचि के अनुसार कवि भाषा और वर्णनों में परिवर्तन करते रहे हैं। इन कृतियों का बाह्य रूप तो वास्तव में काव्य का है ही, उनमें काव्य के अन्य तत्त्व भी मिलते हैं। जैन अपभ्रंश की प्रायः समस्त प्रबंधात्मक कथा-कृतियाँ पद्यबद्ध हैं और प्रायः सबके चरितनायक या तो पौराणिक हैं या जैन धर्म के निष्ठापूर्ण अनुयायी। ये रचनाएँ आकार की दृष्टि से कुछ बड़ी हैं, कुछ छोटी। कुछ में अनेक महापुरुषों की कथाएँ कही गई हैं, किसी-किसी में केवल एक व्यक्ति की, और विषय के विस्तृत या लघु होने के आधार पर ही इनका आकार भी बड़ा या छोटा है। प्रबंध काव्यों के समान इस प्रकार की सभी कृतियाँ सन्धियों[1] में विभक्त हैं और संधि में अनेक कडवक (पद्य समूह)[2] रहते हैं। संधि के प्रारंभ में कथानिर्देशात्मक एक पद्य रहता है, जिसे कहीं-कहीं ध्रुवक कहा गया है। इन कृतियों की भाषा साहित्यिक परिष्कृत अपभ्रंश है। भाषा, छंद, कवित्व सभी दृष्टियों से ये कृतियाँ अपभ्रंश साहित्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती हैं।

स्वयंभू

इस धारा के प्राचीनतम कवि स्वयंभू हैं, जिनकी कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। स्वयंभू की कृतियों के अत्यन्त विकसित, परिमार्जित काव्यरूप को देख कर यह सहज ही समझा जा सकता है कि यह काव्य धारा उनसे बहुत पहले प्रारम्भ हुई होगी।

स्वयंभू ने अपनी कृतियों में अनेक पूर्ववर्ती प्राकृत-अपभ्रंश कवियों का प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है।[3] चतुर्मुख के प्रयोग से उत्साहित हो कर स्वयंभू ने पद्धडिया छंद में 'पउमचरिउ' की

---

१. इन अपभ्रंश कृतियों में 'सन्धि' सर्ग या अध्याय के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

२. किसी एक छंद की कुछ पंक्तियों के अंत में एक घत्ता रख कर एक कड़वक पूरा होता है।

३. स्वयंभू ने छंद विषयक अपनी कृति में अनेक अपभ्रंश ग्रन्थों से उद्धरण दिए हैं, जैसे, भद्द, गोइन्द तथा चतुर्मुख।

रचना की थी। स्वयंभू के उल्लेखोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कीर्तिधर, भद्द, गोइंद तथा चतुर्मुख उनसे पहले अपभ्रंश में पौराणिक महाकाव्यों की रचना कर चुके थे, किन्तु इनमें से किसी की भी कृतियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। स्वयंभू की कृतियाँ ही इस प्रकार सबसे प्राचीन प्रबंधात्मक काव्य हैं।

जैन सम्प्रदाय में मान्य तिरेसठ ऐतिहासिक पौराणिक महापुरुषों[1] को ले कर चरित-काव्यों की रचनाएँ हुई हैं। राम और कृष्ण की कथाएँ इसी परम्परा में आती हैं। स्वयंभू ने दोनों महापुरुषों की कथाओं को ले कर क्रमशः 'पउमचरिउ' (पद्मचरितम्) और 'रिट्ठणेमिचरिउ' (अरिष्ट नेमि चरितम्) की रचना की है। 'पउमचरिउ' या 'पोमचरिउ' या 'रामायणपुराण'[2] में जैन सम्प्रदाय में स्वीकृत राम-कथा का रूप स्वयंभू ने प्रस्तुत किया है।[3] स्वयं कवि ने राम-कथा के प्रसंग में इन्द्रभूति, धर्म, प्रभव, कीर्तिधर, रविषेण का उल्लेख किया है (संधि १-२)। स्वयंभू ने विमल सूरि की प्राकृत राम-कथा कृति 'पउमचरिय' तथा रविषेण के 'पद्मचरितम्' (संस्कृत) से पर्याप्त सहायता ली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चतुर्मुख की अपभ्रंश रामायण से भी प्रेरणा प्राप्त की होगी,[4] किन्तु स्वयंभू की कृति में मौलिकता की किसी प्रकार भी कमी नहीं है। पूर्ववर्ती ग्रंथों के कई प्रसंग छोड़ दिए हैं और कई स्थानों पर उन्होंने नवीन प्रसंगों की योजना की है।[5]

'पउमचरिउ' पाँच खण्डों में विभक्त है—विज्जाहर (विद्याधर), उज्झा (अयोध्या), सुन्दर, जुज्झ (युद्ध) और उत्तर काण्ड। कृति ९० संधियों में विभाजित है।[6] अन्य जैन रामायणों की भाँति

---

१. तिरेसठ महापुरुष (शलाका पुरुष) चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रति वासुदेव। राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव हैं।

२. सुन्दरकाण्ड तक भारतीय विद्या भवन, बम्बई से १९५३ में दो भागों में प्रकाशित, तथा भारतीय ज्ञानपीठ काशी से हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित १९५८ ई०।

३. स्वयंभू ने सन्धियों के अन्त में पउमचरिउ के अतिरिक्त अपनी कृति को रामायण काव्य (सं० ९–१६), रामायण (२३–१) तथा राहवचरिय (राघव चरित २३–१, ४०–१) तथा राम कहा (रामकथा १–१) कहा है।

४. पउमचरिउ की प्रशस्ति में प्राप्त कुछ पद्यों में चतुर्मुख की प्रशंसा की गई है तथा पुष्पदन्त ने महापुराण में रामकथा के प्रारम्भ करते समय चतुर्मुख का स्मरण किया है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि चतुर्मुख ने 'रामायण' की रचना की होगी।

५. रविषेण की कृति का परिमाण १,८००० ग्रन्थाग्र है, स्वयंभू की कृति का १२,०००। अतः कला तथा कथा की दृष्टि से कम आकर्षक प्रसंग उन्होंने छोड़ दिए हैं। कई प्रसंगों का विस्तार भी किया है: दे० भायाणी की भूमिका, पृ० ४७–५१।

६. प्रथम काण्ड में २० सन्धियाँ, दूसरे में २२, तीसरे में १४, चौथे में २१, पाँचवें में १३। सन्धि ८३–९० की रचना स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन ने की, जैसा कि संधियों की पुष्पिकाओं में उनके नामोल्लेख से स्पष्ट है।

स्वयंभू की कृति भी राम-कथा के संबंध में प्रचलित भ्रान्तियों को दूर करने के लिए लिखी गई है। गोतम स्वामी से मगधराज श्रेणिक प्रश्न करता है—'परमेश्वर! अन्य मतों द्वारा विपरीत कथा सुनाई पड़ती है, बताइए जिन मतानुसार राघव-कथा का स्वरूप क्या है? जगत् में हठवादियों ने भ्रान्तियाँ फैलाई हैं। यदि कूर्म धरती को पीठ पर रखे हुए है तो उस कूर्म को गिरने से कौन रोकता है? यदि राम के उदर में तीनों लोक समा जाते हैं तो रावण उनकी स्त्री को कहाँ ले जाता है? तथा खरदूषण से प्रभु युद्ध करते हैं तो भृत्य कैसे सुधरे? स्त्री के लिए बालि-सहोदर कपिवर के द्वारा क्यों मारा गया? बन्दरों ने पर्वतों को ढो कर सेतु कैसे बाँधा और समुद्र पार किया? रावण के दस मुख, बीस हाथ कैसे थे, जो वह इन्द्र और लोकों को जीतने में समर्थ हुआ? आधा वर्ष कुम्भकर्ण कैसे सोता था और करोड़ों महिषों से भी तृप्त नहीं होता था? दशवदन परनारी के सेवन से समाप्त हुआ, फिर जननी के समान मंदोदरी को विभीषण ने क्यों लिया?"[1]

गोतम गणधर इसको सुन कर श्रेणिक को और अधिक न कहने का आदेश दे कथा प्रारम्भ कर देते हैं। भारत देश की स्थिति और कालादि का उल्लेख करके ऋषभ की कथा कहते हैं और विद्याधर काण्ड के रावणादि विद्याधरों की, वानर वंश, इक्ष्वाकु वंश की उत्पत्ति और वंश परम्परा की रोचक कथाएँ सुनाते हैं। रावण, कुंभकर्ण, विभीषण को विद्याधर वंशोद्भूत कहा गया है, जो जिन के परम भक्त थे। अंजना और पवनंजय के पुत्र हनुमान की भी रोचक कथा इस काण्ड में मिलती है। रावण नौ मुख वाली मणियों से जटित हार पहनता था, जिसमें एक मुँह के नौ प्रति-बिंब दिखते थे और इसी कारण उसका नाम दशानन रख दिया गया।[2] इसी प्रकार वानरवंशी लोग वानर द्वीप में रहते थे, उनकी ध्वजा पर कपि अंकित रहता था।[3] इसी वानर वंश में हनुमान का जन्म हुआ था। उसके विषय में कहा गया है कि वह चरमशरीरी था और इच्छानुसार वेश बदल सकता था। हनुरुह द्वीप में उसका जन्म हुआ था और आठ हजार कुमारियों से उसका विवाह हुआ था।[4] भरत, सगर, बालि, सुग्रीव आदि राम कथा के पात्रों के जन्म की कथा भी इसी काण्ड में मिलती है। ये सभी पात्र जिन-भक्त हैं।

वास्तव में राम-कथा अयोध्या काण्ड से प्रारम्भ होती है। सागरबुद्धि नामक एक महन्त विभीषण को बताते हैं कि राम के द्वारा रावण का वध होगा, अतः विभीषण दशरथ और जनक का वध करने का प्रयत्न करता है, किन्तु असफल होता है। राम जन्म, राम वनवास, सीता हरण प्रसंग अयोध्या काण्ड में हैं। राम और लक्ष्मण स्वभाव से बाल्मीकि रामायण से तथा अध्यात्म रामायण से यहाँ कुछ भिन्न मिलते हैं। राम और लक्ष्मण दोनों ही संगीत और कला प्रेमी हैं। राम स्त्रियों का वेश बना कर गाते हैं (संधि ३०) और लक्ष्मण भी एक अवसर पर शास्त्रीय संगीत गाते हैं

१. प० च० सन्धि १.१०।
२. वही, संधि ९.४।
३. वही, संधि ६.९–१०।
४. वही, संधि १९.७।

और सीता नाचती हैं (संधि ३२) । शेष कथा में विशेष अन्तर नहीं है। जैन रामायण के रचयिता भिन्न राम-कथा परम्पराओं की भ्रान्तियों का निराकरण करने का उद्देश्य सामने रख कर कृतियों की रचना करने बढ़े हैं, किन्तु कथा में जो अन्तर उन्होंने किए, वे बहुत स्वाभाविक नहीं लगते। स्वयंभू की कृति में राजवंशों की लंबी-लंबी सूचियाँ[1], इन्द्रजाल और विद्या-युद्ध[2], व्यंतरो की माया चरम शरीरी लोगों के आश्चर्यजनक कृत्य उनकी कृति को पुराण का रूप देने में अवश्य सहायक हुए हैं, काव्य के प्रवाह में तो वे बाधक ही प्रतीत होते हैं। लेकिन फिर भी स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती जैन राम साहित्य के कई प्रसंगों को छोड़ दिया है या संक्षिप्त कर दिया है और कुछ प्रसंगों का वर्णन बढ़ा दिया है।[3] परम्परा से बँधी हुई कथा को स्वीकार करते हुए भी स्वयंभू ने मौलिक कवि-प्रतिभा का अनेक स्थलों पर परिचय दिया है।

'पउमचरिउ' में अनेक वर्णन हैं, जिनमें स्वयंभू की कवित्व-शक्ति पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई दीखती है। रात्रि वर्णन (संधि १३; १२; १९; २६;), प्रभात वर्णन (१४, १), वसन्त वर्णन (१४; २), रेवा नदी का वर्णन (१४, ३-४), जलक्रीड़ा वर्णन (१४; ६-७; २६-१५-१७),[4] अन्त:पुर वर्णन (१४, १२), युद्ध वर्णन (१७, ५-७; तथा २०, ६; २५, १६-१७ आदि), कंचुकी का वर्णन (२२, १-२), लक्षण-नल कथा, (कल्याणमाला वर्णन (२६-९-१४) आदि। स्वयंभू के वर्णन अलंकृत शैली में हैं। वर्णन करते समय स्वयंभू अलंकारों की झड़ी लगा देते हैं। परिणाम-स्वरूप कहीं-कहीं अलंकार प्रदर्शन ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है; यथा, श्रेणिक का वर्णन करते समय प्रतीप का चमत्कार दिखाने के लिए कवि ने शिव, चन्द्र, सूर्य, सिंह, हाथी, पर्वत, सागर, कामदेव, शेष, पवन, विष्णु, इंद्र को ला कर उपस्थित किया है (संधि १, ६)। यमक द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कवि ने कभी-कभी एक ही शब्द की लगातार कई बार आवृत्ति की है; यथा, जइमहुं (जम१६, ४) शब्द नौ बार, कोवि (१७, १२), कल्थइ (१७, १३), पसरइ (२८, १), मंच (२६, ७) अण्णोण्णेण (२५, १३), हटो हन्ते (४९, १३) इत्यादि। स्वयंभू उक्ति-चमत्कार तथा अलंकार-प्रदर्शन को महत्त्व देते हैं, इसकी ध्वनि कई उल्लेखों से निकलती है।[5] जैसा संकेत किया जा चुका है, 'पउमचरिउ' में अनेक वर्णन स्वयंभू की अत्यन्त क्षमतापूर्ण

---

१. देखिए पउमचरिउ की सन्धि पाँच तथा छः में राक्षस तथा वानर वंशों की उत्पत्ति और विस्तार का उल्लेख किया गया है।

२. वही, सन्धि ८ आदि।

३. दे० ऐसे प्रसंगों की सूची के लिए भायाणी की भूमिका, पृ० ४७ और आगे।

४. संधि १४ के अन्त में एक पद्य मिलता है जिसमें कहा गया है कि जल-क्रीड़ा वर्णन में स्वयंभू की कोई समता नहीं कर सकता :—

जल-कीलाए सयम्भू चउमुहएवं च गोग्गह-कहाए।

स्वयंभू के सुन्दर जलक्रीडा-वर्णन की यह प्रशंसा उचित ही है

५. यथा—णिय-णिय-थाणेंहि णिबद्ध मञ्च। महाकवि-कव्वालाप व सु-सञ्च। ७.२

कवि प्रतिभा का परिचय देते हैं। कवि की बहुज्ञता का परिचय उनके द्वारा प्रस्तुत अनेक नामावलियों से मिलता है।[१] थोड़े से शब्दों के द्वारा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता के अनेक उदाहरण कृति में भरे पड़े हैं।[२]

'रिट्ठणेमिचरिउ' (अरिष्टनेमि चरित)[३] या 'हरिवंशपुराण' में स्वयंभू ने जैन परम्परा के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि तथा कृष्ण और कौरव-पाण्डवों की कथा को 'पउमचरिउ' के समान ही अपभ्रंश भाषा और छंदों में प्रस्तुत किया है। 'रिट्ठणेमिचरिउ' के १९३७ कडवक ११२ संधियों में विभक्त हैं। कृति राम-कथा के समान चार काण्डों में विभक्त की गई है–जादव काण्ड (यादव-१३ संधि), कुरु काण्ड (१९ संधि), जुज्झ (युद्ध काण्ड ६० संधि), उत्तर काण्ड (२० संधि)।[४] हरिवंश की रचना भी श्रेणिक की शंकाओं का समाधान करने के लिए हुई है। श्रेणिक जिन-शासन के अनुसार हरिवंश सुनने की इच्छा प्रकट करते हुए शंकाएँ उठाता है–आज भी मन की भ्रान्ति नष्ट नहीं होती, सब लोगों को विपरीत ही कहते सुनता हूं। नारायण नर की सेवा करता है, रथ चलाता है और घोड़ों को सम्हालता है। धृतराष्ट्र और पाण्डु को दूसरे (पिता) ने उत्पन्न किया और कुंती के पाँच पति कहे गए हैं। पांचाली के पाँच पाण्डव कहे जाते हैं और सत्य कहने पर वहाँ मृत्यु होती थी (?) दुश्चरित्र लोक के भूषण बन यश-खंडन की बात नहीं सोचते। यदि भीष्म स्वच्छंद-मरण थे तो काल गति का उन्होंने क्या किया? धनुष-वाण से विजित नहीं हो सकता था तो द्रोण युद्ध में क्यों पराजित हुआ? कर्ण यदि कान से उत्पन्न हुआ तो पैदा करते

(महाकवि के कव्यालाप की तरह अपने-अपने स्थान पर मञ्च सुव्यवस्थित रूप से लगे थे।)

साहणइ मि अवरोप्परु भिडन्ति। णं सुकइ-कव्व-वयणहिं घडन्ति। ७.५

(सेनाएँ एक दूसरे से लड़ रही हैं, मानो सुकवि-काव्य-वचन गुँथे हों।)

१. यथा, प० च० ४५.४ में श्रीनगर का वर्णन; वृक्षों की नामावली ३२;४; ४९.७ इत्यादि।

२. यथा, प० च० २२.१.६–७ कंचुकी का शब्द चित्र; २७.१३ कविल ब्राह्मण के घर का चित्र।

३. कृति का संपादन प्रस्तुत लेखक कर रहा है।

४. कृति की हस्तलिखित प्रतियों में संधि ९२के पश्चात् विभाजन के सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है:—

तेरहजायवकंडे कुरुकंडे एकूणवीस संधीओ। तह साट्ठि जुज्झयंडे एव वाणउहि संधीओ।।

और उसके पश्चात् युद्ध काण्ड तक की रचना करने में लगे समय का उल्लेख किया है तथा उत्तर काण्ड के प्रारम्भ करने की तिथि दी है:—

छव्वरिसाइ तिमासा एयारसवासरा सयंभुस्स। वाणवइ संधि करणे वोलीणो इत्तिउकालो।

दियहाहिवस्सवारे दसमीदियंहमि मूलणक्खने। एयारसंमि चंदे उत्तरकंडं समादत्तं।।

समय कुंती मरी क्यों नहीं ?[1] और इन शंकाओं का उत्तर देते हुए गणधर कथा प्रारम्भ कर देते हैं।

हरिवंश की सामान्य कथावस्तु में कोई विशेष नवीनता नहीं है। कवि ने यादव काण्ड में कृष्ण की लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया है और इन वर्णनों में काव्य-सौंदर्य के अनेक स्थल हैं। कवि ने प्रारम्भ में भ्रान्तियों को दूर करने की कैसी ही प्रतिज्ञा क्यों न की हो, कृष्ण को जनार्दन, असुर-विर्मदन, कंस-निषूदन जन्म के समय से ही कहा है—

भद्दवयहो चंदणे वारहमए दिणे सुर्हिहि दितु अहिमाणसिहा।
उप्पण्णु जणद्दणु असुर विमद्दणु कंस हो मच्छासूल जिहा॥—संधि ४, ११

हरिवंश पुराण में भी रामायण के समान स्वयंभू ने कई सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किए हैं। वस्तु या स्थिति का वर्णन करते समय यमक का सहारा ले कर प्रभावोत्पत्ति करने के अनेक स्थल इस कृति में भी मिलते हैं और कहीं-कहीं यमक-श्लेष से युक्त इस प्रकार के प्रयोग काव्य की सरसता में बाधक भी बन गए हैं। उदाहरण के लिए एक प्रसंग प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें धर्म का उपदेश दिया गया है—

एक्कइ एक्केक्कइ सुगवेसइं, अवरइं एक्केक्कइं परिसेसइं।
एक्कइ विण्णि विण्णि उद्धारहिं, अवरइं विण्णि विण्णि विणिवारइं।
एक्कइं तिण्णि तिण्णि अणुमण्णहिं, अवरइं तिण्णि तिण्णि अवगण्णइं।
एक्कहिं चउहुं चउहुं दिढु होज्जहिं, अवरइं चउहुं चउहुं णासेज्जहिं।
एक्कहं पंच पंच परिपालहिं, (अवरहिं) एक्कहे छह छह रक्ख करिज्जहिं।
अवरहं छहं छहं णाउं मलेज्जहिं, एक्कहू (हिं) सत्त सत्त परिच्छहिं।
अवरइ सत्त सत्त णिण्भच्छहिं, एक्कहिं अच्छ अट्ठ पडिच्छहिं।
अवरइ अट्ठ अट्ठ पडिवज्जहिं, एक्कहिं णवणवलइ सुपसिद्धइं।
अवरइं णवणव मुए अप्पसिद्धइं, एक्कहिं दस दस अणुदिणु झायहिं।
अवरइं दस दस तूरि पमायहिं।
घत्ता—एयारह वारह तेरहं चउदह एक्कइं आयरहिं।
एयारह वारह तेरहं चउदहं अवरयं परिहरहिं॥ संधि ४९, १०॥
(जयपुर की हस्तलिखित प्रति से)

इसकी संस्कृत टीका भी दी है, जिसका अर्थ होगा, भव्य और मुक्त एक ही है, मोक्ष एक है, आत्मा एक है, परमात्मा भी एक है। इन 'एकों' को ग्रहण करना चाहिए और अभव्य और अमुक्तादि 'एकों' को त्याग देना चाहिए। धर्मध्यान शुकाध्यान दो, तपसी दो, आसन दो, गुण दो इत्यादि

---

१. रिट्ठणेमिचरिउ (जयपुर की प्रति)।

दो को ग्रहण करना चाहिए। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, राग द्वेषादि दो का त्याग करना चाहिए। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र, संवर, निर्जरा, मोक्ष, अतीत, अनागत, वर्तमान काल,. . . . . . इत्यादि तीन को ग्रहण करना चाहिए और जाति, जरा मरणादि तीन का त्याग करना चाहिए। दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, मंगल चतुष्टयादि का ग्रहण तथा चार कषायों का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार चौदह तक की संख्याओं से सूचित होने वाले गुणावगुणों को गिनाया है। 'रिट्ठणेमिचरिउ' में इस प्रकार के अनेक प्रसंग मिलते हैं। भीष्म के प्रसंग (संधि ४८-४९) में इसी प्रकार के जैन धर्म के उपदेशों की प्रधानता है।

'हरिवंश' तथा 'पउमचरिउ' में कई प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं—सरल कथा कहने की शैली, अलंकृत वर्णन की शैली और क्लिष्ट चमत्कार प्रदर्शन की शैली। देश, नगर, राजवंश आदि की कथाएँ कहने में सरल अलंकारहीन शैली के दर्शन होते हैं; उदाहरणार्थ राम-जन्म की कथा की पंक्तियाँ ली जा सकती हैं–

पभणइ सायरबुद्धि भडारउ। कुसुमाउह-सर-पसर-णिवारउ।
सुणु अक्खमि रहुवंसु पहाणउ। दसरहु अत्थि अउज्झहो राणउ॥
तासु पुत्त होसन्ति धुरन्धर। वासुएव-वलएव धणुद्धर।
तेहिँ हणेबउ रक्खु महारणे। जणय-णराहिव-तणयहे कारणे॥—प० च० २१.१।

अर्थात्, कुसुमायुध-सर-प्रसर-निवारक भट्टारक सागर बुद्धि कहते हैं। सुन, कहता हूँ . . . . इत्यादि। ऐसे कथा प्रसंग स्वयंभू की कृतियों में अनेक हैं। वर्णनों की शैली इससे भिन्न है। उसमें कवि-कल्पना तथा अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए वसंत वर्णन के प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

डोला-तोरण-वारे पईहरे। पइठु वसन्तु वसन्त-सिरी-हरे।
सररुह-वासहरेहिँ रव-णेउरु। आवासिउ महुअरि-अन्तेउरु।
कोइल कामिणीउ उज्जाणेहिँ। सुय-सामन्त लयाहर-थाणेहिँ।
पंकय-छत्त-दण्ड सर-णियरेहिँ। सिहि-साहुलउ महीहर-सिहरेहिँ॥ प० च० १४.२।

स्वयंभू ने छंद, संगीत और काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसके प्रमाण उनकी कृतियाँ तथा संगीत, काव्य विषयक उल्लेख हैं।[1] उन्होंने अनेक छंदों के प्रयोग

---

१. छन्दशास्त्र के तो स्वयंभू पण्डित थे ही जैसा कि उनकी छंद विषयक कृति से प्रकट है। संगीत तथा काव्य से सम्बन्धित अनेक उल्लेख उनकी कृतियों में मिलते है—

(१) गायइ वालाविणि मुच्छणेहिं। प० च० १.५.८,

(२) केहि मि वाइउ वज्जु मणोहरु। बारह-तालउ सोलह-अक्खरु।
केहि मि उव्वेलिउ भरहुत्तउ। णव-रस-अट्ठ-भाव-संजुत्तउ। प० च० २.४.४.५।

किए[1] और उनमें अन्त्यानुप्रास, प्रवाह का सफल निर्वाह हुआ है। उनकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है।

स्वयंभू की दोनों कृतियों में कुछ संधियाँ उनके पुत्र त्रिभुवन की रचनाएँ हैं। 'पउमचरिउ' की ८३-९० संधियाँ त्रिभुवनकृत हैं और 'रिट्ठणेमिचरिउ' की अंतिम तेरह संधियों (१००-११२) में से संधि १०९ को छोड़ कर, जो यशकीर्ति की रचना है, १२ संधियां त्रिभुवन द्वारा रचित हैं। दोनों ही कृतियों के अन्त में त्रिभुवन ने अपनी रचनाएँ क्यों जोड़ीं, इसके विषय में विद्वानों ने कई अनुमान प्रस्तुत किए हैं। कुछ इन अंशों को क्षेपक से अधिक महत्त्व नहीं देते। कुछ का कहना है कि स्वयंभू की आकस्मिक मृत्यु के कारण कृतियाँ अपूर्ण रह गई थीं, अतः त्रिभुवन ने उन्हें पूरा कर दिया। यशकीर्ति के अंश प्रक्षिप्त हैं।[2]

स्वयंभू ने अपनी छंद विषयक महत्त्वपूर्ण कृति 'स्वयंभू छंद' में प्राकृत और अपभ्रंश छंदों का विवेचन किया है और अनेक कवियों की कृतियों से उदाहरण भी दिए हैं।[3] उनकी अन्य दो कृतियों 'सुद्धयचरिय' और 'सिरिपंचमी कहा' के विषय में स्वयंभू की कृतियों में उल्लेख मिलते हैं, किन्तु अभी तक इन कृतियाँ की प्रतियां उपलब्ध नहीं हुई हैं। स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ में अपने को कविराज कहा है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि 'पउमचरिउ' की रचना के पहले वे कुछ ग्रन्थों की रचना कर चुके थे।[4]

---

(३) तं पुज्ज करेवि आढत्तु गेउ। मुच्छण-कम-कम्प-तिगाम-भेउ। प० च० १३.९-८ इत्यादि।

१. छन्दों के विवेचन के लिए दे० प० च० की भूमिका पृ० ७० और आगे। स्वयंभू ने पद्धडियबंध में कृति की रचना करने का प्रारम्भ में ही उल्लेख किया है; अतः मात्रिक छन्दों का ही प्राधान्य है। अन्य छन्दों में द्विपदी, मंजरी, बदनक, पारणक, मदनावतार, विलासिनी, प्रमाणी उल्लेखनीय हैं। छन्दों की विविधता-प्रदर्शन की रुचि स्वयंभू में नहीं दिखती। छन्दशास्त्र के वे आचार्य थे, अतः छन्दोभंगादि दोषों से छन्द मुक्त हैं।

२. दे० प० च० की भूमिका, पृ० ४३—४५।

३. 'स्वयंभू-छन्द' प्रो० वेलंकर द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो चुका है—बम्बई की रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में १९३५ तथा यूनिवर्सिटी ऑव बम्बई के जर्नल नवम्बर १९३५ में, तथा पूरी कृति जयदामन, बम्बई १९४९ में प्रकाशित।

४. पउमचरिउ की सन्धि ४५ की पुष्पिका में कहा है कि त्रिभुवन ने 'पंचमीचरिउ' की रचना की, तथा संधि ४७ की पुष्पिका में कहा है कि स्वयंभूकृत 'सिरि पंचमी' को उसने सँवारा :

जइ ण हुउ छन्द चूड़ामणिस्स तिहुयण-सयम्भु लहुतणओ।
तो पद्धडिया-कव्वं सिरि पञ्चमि को समारेउ॥

तथा रिट्ठणेमिचरिउ की संधि १०० के प्रारम्भ में स्वयंभू द्वारा 'सुद्धयचरिय' के रचे जाने का उल्लेख है :

स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' की रचना धनंजय के आश्रय में रह कर की थी और 'रिट्ठणेमिचरिउ' की धवलइया के आश्रय में।[१] इतिहास में इन सामन्तों का कोई परिचय नहीं मिलता। स्वयंभू ने अपना परिचय देते हुए कहा है कि उनकी माता पद्मिनी थीं और पिता मारुयएव (मारुतदेव)। वे हल्के और पतले थे, उनकी नाक चपटी थी और दाँत विरल।[२] स्वयंभू की दो पत्नियाँ अमियब्बा (अमृताम्बा) और आइच्चम्बा (आदित्याम्बा) थीं, जो विदुषी थीं और स्वयंभू के साहित्यिक कार्यों में हाथ बँटाती थीं। स्वयंभू का सबसे छोटा पुत्र त्रिभुवन था, जो प्रतिभाशाली कवि था और जिसने स्वयंभू की अपूर्ण कृतियों में कुछ संधियाँ जोड़ कर उन्हें पूर्ण किया।[३] स्वयंभू कहाँ के निवासी थे, इसका कोई संकेत उनकी कृतियों में नहीं मिलता। अमियब्बा, आइच्चम्बा, धवलइया जैसे नामों से लगता है कि वे कर्नाटक प्रदेश में जा बसे थे। पश्चिमी साहित्यिक अपभ्रंश में जिस अधिकारपूर्ण ढंग से स्वयंभू ने अपनी कृतियाँ लिखी हैं, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि स्वयंभू कदाचित् उत्तर भारत के मूल निवासी रहे होंगे। स्वयंभू के समय के विषय में कुछ सीमाएँ उनकी कृतियों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर निर्दिष्ट की जा सकती हैं। स्वयंभू ने रविषेण का उल्लेख किया है जिसने 'पद्मचरितम्' की रचना ६७७-६७८ ई० में की और पुष्पदन्त ने स्वयंभू का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त ने महापुराण ९५९-९६० ई० में प्रारंभ किया था। इस प्रकार ६७७ और ९६० ई० के बीच स्वयंभू का काल आता है। परन्तु ऐसे कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते जिनके आधार पर इस तीन सौ वर्षों की अवधि को और भी सीमित किया जा सके।

स्वयंभू स्वभाव से विनीत थे, बहुश्रुत विद्वान् और उदार विचारों के थे।[४] अपभ्रंश साहित्य में सभी दृष्टियों से उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

पुष्पदन्त

अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त हैं। पुष्पदन्त ने स्वयंभू की कृतियों का अध्ययन किया

काऊण पोमचरियं सुद्धयचरियं च गुण-गणग्घवियं।
हरिवंस-मोह-हरणे सरस्सई सुढिय-देह व्व।

किन्तु रिट्ठणेमिचरिउ की जयपुर की प्रति में 'सुद्धयचरिय' का उल्लेख नहीं मिलता।

१. दोनों कृतियों की पुष्पिकाओं में इन सामन्तों के उल्लेख मिलते हैं।

२. पउमचरिउ १.२.१०–११।

३. कुछ सन्धियों की पुष्पिकाओं में उसका उल्लेख मिलता है—दे० प० च० की भूमिका, परिशिष्ट १.२।

४. पउमचरिउ में वे कहते हैं 'वुद्धजनो, स्वयंभू तुमसे विनय करता है कि मेरे समान दूसरा कुकवि कोई नहीं है। व्याकरणादि मैं कुछ नहीं जानता... (सं० १.३)।' ऐसे उल्लेखों से उनके विनयशील स्वभाव का परिचय मिलता है। इसी प्रसंग में तथा अन्यत्र उन्होंने अनेक विषयों का उल्लेख किया है, जो उनके विविध शास्त्र-ज्ञान का परिचायक है।

था और निश्चय ही स्वयंभू के काव्यरूप से उन्होंने अपभ्रंश की पद्धडिया शैली में रचना करने की प्रेरणा प्राप्त की होगी।[1] 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार' (त्रिषष्टिमहापुराण गुणालंकार) या 'महापुराण', 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'जसहरचरिउ' (यशोधरचरित)[2] पुष्पदन्त की अपभ्रंश कृतियाँ हैं। १०२ संधियों के विशाल ग्रंथ 'महापुराण' में जैन सम्प्रदाय के ६३ महापुरुषों की कथाएँ हैं। प्रथम खंड या आदि पुराण की ३७ संधियों में ऋषभदेव तथा चक्रवर्ती भरत की कथाएँ हैं। प्रारम्भ में वंदना, दुर्जन और सज्जनों का स्मरण है। संधि ३८ से ६८ तक के अंश में अजितादि तीर्थंकरों की कथाएँ हैं। संधि ६९ से ७९ तक राम-कथा है। राम के पूर्व जन्मों की कथा, सीता का विद्याधर रावण और उसकी पत्नी मंदोदरी की पुत्री होना, राम-लक्ष्मण के अनेक विवाह, वाराणसी से सीता का रावण द्वारा हरण, वानर रूप आदि विद्याधरों का राम की सहायता करना, लक्ष्मण के हाथ से रावण की मृत्यु, हिंसारत लक्ष्मण का नरक में जाना और राम का जिन-भक्त होना पुष्पदन्त की राम-कथा की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। बीच में नमि (संधि ८०) की कथा के पश्चात् अगली बारह संधियों में (८१-९२) हरिवंश पुराण समाप्त हुआ है, जिसमें कौरव-पाण्डवों तथा यादवों की कथा है, कृष्ण की कथा काव्य की दृष्टि से कृति का अत्यन्त आकर्षक अंश है। अंतिम संधियों में (९३-१०२) पार्श्व, महावीर, जंबू स्वामी और प्रीतिंकर की कथाएँ हैं।

कृति में आदि पुराण, रामायण और हरिवंश स्वतंत्र कृतियाँ जैसी हैं, शेष तीर्थंकरों की कथाएँ भी अपने आप में पूर्ण हैं। कवि ने कृति को महाकाव्य[3] भी कहा है। कृति में पूर्ण रूप से कथा-श्रृंखला नहीं मिलती, पौराणिक क्रम उसमें अवश्य है। सारी कृति में पुराण और काव्य ऐसे मिल गए हैं कि उनको अलग करना कठिन है। काव्य के अनुकूल अवसर आते ही पुष्पदन्त की कल्पना काव्य-क्षेत्र में विचरण करने लगती हैं। फलस्वरूप महापुरुषों के जन्म, तपस्या, क्रीड़ा स्थानों के अत्यन्त रमणीय वर्णन उसमें भरे पड़े हैं। इन वर्णनों में कवि की समृद्ध वर्णन शक्ति, सजीव कल्पना और सरस और व्यापक अनुभूति के दर्शन होते हैं।[4] पुष्पदन्त के वर्णनों में मानव और जड़ प्रकृति के साथ उमंग से भरे महिष और वृषभादि के सहानुभूतिव्यंजक चित्र भी हैं, उनकी

---

१. महापुराण, १.९, ३८.५, ६९.१।

२. महापुराण माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में बम्बई से प्रकाशित हुआ है, संपा० डा० पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९१३–९८ वि०। नागकुमारचरित : संपा० डा० हीरालाल जैन, करंजा (बरार) १९३३ ई०। यशोधरचरित : संपा० डा० वैद्य, करंजा, १९३१ ई०।

३. महापुराण की सन्धियों की पुष्पिकाओं में पुष्पदन्त कृति को महाकाव्य कहते हैं—यथा महापुराणे......महाकाव्ये. आदि।

४. यथा, महापुराण, संधि १२.११; २०.५–६; ३८.६–८; ४१.२; ४२.२; ४३.५; ४७.२; ४८.२ इत्यादि।

दृष्टि से पूँछ उठाए चपल बछड़े भी बचे नहीं हैं।[1] मानव और प्रकृति दोनों के सौंदर्य के अनेक वर्णन कवि ने अपनी कृति में बड़े उत्साह से किए हैं।

प्रेम, युद्ध, शांति और निर्वेद सभी भावों का कवि ने निरूपण किया है, किन्तु जैन कवि का दृष्टिकोण दृश्यमान जगत् की क्षणिकता को नहीं भूल पाता। शरद् काल के क्षणजीवी मेघ या मुरझाए पुष्प संसार की क्षणिकता का ध्यान दिला देते हैं और समृद्धि तथा वैभव में लिप्त महा-पुरुष अन्त में दूसरे लोक की चिन्ता करते हुए दिखाई देते हैं।

अलंकार, भाषा और छन्दों के प्रयोगों में पुष्पदन्त अद्भुत प्रतिभासम्पन्न आचार्य हैं। छन्द-योजना, लगता है, कवि ने प्रसंग के अनुकूल रखी है।[2] अनुप्रास की छटा और संगीतात्मक लय तथा प्रवाह पुष्पदन्त को अपभ्रंश के सफलतम कवि का स्थान प्रदान करते हैं।[3] अपभ्रंश चरित-काव्यों में छन्द की इकाई कडवक है। चतुष्पदी छंदों में भी दो चरणों को ही पूर्ण छन्द के समान कहीं-कहीं माना गया है। संधि के प्रारम्भ में संधि की कथावस्तु की सूचना देने वाले ध्रुवक का प्रयोग पुष्पदन्त ने सर्वत्र किया है। वार्णिक और मात्रिक, दोनों ही प्रकार के छन्दों का 'महापुराण' में प्रयोग हुआ है, किन्तु मात्रिक छन्दों का अधिक प्रयोग होना अपभ्रंश कविता के लिए स्वाभाविक ही है।

'णायकुमारचरिउ' में श्रुतपंचमी के व्रत की व्याख्या करने के लिए मगधराज-पुत्र नागों द्वारा पालित नागकुमार की कथा नौ संधियों में कही गई है। कृति में नागकुमार के अनेक विवाहों के वर्णन, व्रत करने का प्रसंग और अन्त में तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कथा है। नख-शिख वर्णन, संयोग शृंगारादि के अनेक प्रसंग कृति में मिलते हैं, किन्तु अन्त में इन लौकिक प्रसंगों को धार्मिक तथा वैराग्यपूर्ण वातावरण ढक लेता है। काव्य की दृष्टि से रूप-वर्णन, जलक्रीड़ा वर्णन, प्रेमजनित ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग तथा कुछ अन्य वर्णन महत्त्वपूर्ण हैं। नागकुमार का सौन्दर्य वर्णन सचमुच आकर्षक है। कृति का मूल उद्देश्य व्रत-कथा कहना है, अतः 'महापुराण' जैसा कवि-कल्पना तथा काव्य-चमत्कार का रूप इस कृति में कहीं नहीं मिलता।

'जसहरचरिउ' चार सन्धियों की छोटी सी कथा-कृति है, जिसमें हिंसा के भयंकर परिणामों को स्पष्ट करने के लिए यशोधर का चरित्र प्रस्तुत किया है। यशोधर की माँ ने पुत्र की मंगल कामना के लिए आटे के कुक्कुट की बलि दी थी और इस हिंसा-प्रवृत्ति के कारण उन्हें अनेक जन्मों में भटकना पड़ा था। कृति में हिंसा की निन्दा और स्त्री-स्वभाव की कठोरता का चित्रण करना ही पुष्पदन्त का उद्देश्य है। सुगत, कोल और ब्राह्मण संप्रदायों की कवि ने भर्त्सना की है, क्योंकि वे हिंसा की पूर्ण रूप से निन्दा नहीं करते। कृति में काव्य का सौन्दर्य बहुत कम है। वर्णनों में भी

---

१. यथा—चवलुद्ध पुच्छ वच्छाउलाइं। कीलिय गोपालइं गोउलाइं। महापुराणु १.१२।

२. देश-नगरादि के वर्णनों में एक प्रकार के छन्द का प्रयोग किया है, तो युद्धादि के वर्णनों में उससे भिन्न प्रकार के छन्द का प्रयोग है।

३. विशेषकर अन्त्यानुप्रास के प्रयोगों में तो पुष्पदन्त अद्वितीय हैं।

अधिक नवीनता नहीं है, जहाँ-तहाँ कुछ उक्तियों का प्रयोग अच्छा हुआ है—गौ के सींग से दूध निकालने का प्रयत्न (१, ११), शुष्क वृक्ष को सींचना (१, २०), दूध-शकर का मेल (१, २५) आदि।

पुष्पदन्त ने अपने विषय में जो उल्लेख किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे मुग्धादेवी और केशव भट्ट के पुत्र थे। पहले वे शैव थे, पीछे जैन धर्म में दीक्षित हुए। कहीं से चल कर वे मेलपाटी नगर पहुँचे थे और कृष्णराज के अमात्य भरत के आश्रम में रह कर उन्होंने 'महापुराण' की रचना सिद्धार्थ सम्वत् (शक सं० ८८१) में की। 'महापुराण' उन्होंने क्रोधन संवत्सर (शक सं० ८८७) में समाप्त किया। 'णायकुमारचरिउ' तथा 'जसहरचरिउ' की रचना कवि ने भरत के पुत्र नण्ण के आश्रम में रह कर की थी। 'महापुराण' में उन्होंने चतुर्मुख, स्वयंभू, श्रीहर्ष, ईशान, बाण, द्रोण, धवल, रुद्रट (८००-८५० ई०) आदि अनेक पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण किया है। परवर्ती कवियों ने पुष्पदन्त के विषय में उल्लेख किए हैं, जिनमें 'धर्मपरीक्षा' के रचयिता हरिषेण (सं० १०४४ वि०) सबसे प्राचीन हैं, अतः पुष्पदन्त का काल शक सं० ८८१ और वि० सं० १०४४ (सन् ९८७ ई०) के बीच ठहरता है। वे उच्चकोटि के कवि थे और उनके अनेक विरुद—अभिमान चिह्न, अभिमान-मेरु, काव्य-रत्नाकर आदि थे। विनम्र होते हुए भी वे बड़े स्वाभिमानी थे।[1]

पद्मकीर्ति

बाईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र को पद्मकीर्ति ने अपनी कृति 'पासचरिउ' (पार्श्व-चरित) को अट्ठारह संधियों में समाप्त किया है।[2] जैन संप्रदाय में तीर्थंकरों की कथा की एक निश्चित परम्परा मिलती है। प्रायः सभी कवियों ने उसी का अनुसरण किया है। तीर्थंकर के पूर्वभवों का वर्णन, उनका जन्म, लौकिक जीवन और तपस्या, प्रायः यही क्रम रहता है। कृति के प्रारम्भ में अपभ्रंश काव्य-परम्परा के अनुकूल वंदना के पश्चात् दुर्जन, खल और निन्दकों का स्मरण किया गया है। कवि ने अपभ्रंश की कडवक-धत्ता शैली अपनाई है। लगता है, कवि ने किसी महापुराण से प्रेरणा ग्रहण की थी, यथा—

अट्ठारह संधिउ इह पुराणि—तेसट्ठि पसिद्ध महापुराणि।

---

१. दे० महापुराण संधि १.३; ३८.४ तथा नागकुमारचरित १.२; तथा ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति। नागकुमारचरित १.२.१० में पुष्पदन्त ने अपने को कव्वपिसल्ल कहा है तथा महापुराण १.३.९; १.३.१२; १.८.८ में अन्य विरुदों का उल्लेख मिलता है।

२. कृति की दो हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक ने आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में देखी थीं। दे० प्रशस्ति संग्रह, जयपुर १९५०, पृ० १२७–२९ तथा मध्यप्रदेश के हस्तलिखित ग्रंथों का कैटेलाग पृ० ६६८ तथा ७४०, संपा० डा० हीरालाल; तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३–४, पृ० ११७।

कृति के अन्त में दी हुई प्रशस्ति के अनुसार इसका रचना-काल सं० ९९२ (सन् ९३५ ई०) है। कवि ने अपने को किसी जिनसेन का शिष्य बताया है।[१]

धवल

१२२ संधियों में समाप्त 'रिट्ठणेमिचरिउ' धवल की एकमात्र बृहत्काय कृति महाभारत, हरिवंश की कथा से संबंधित है।[२] कवि ने अपने अनेक पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, जिनमें जिनसेन (७८३ ई० वर्तमान), रविषेण (६३४ वि० सं०), द्रोण, चतुर्मुख, असग (दसवीं शती ई०) मुख्य हैं।[३] कृति के प्रकाशित अंश को देखने से लगता है कि स्वयंभू की कृति हरिवंश से धवल परिचित थे। उसी कृति के समान धवल ने कडवक शैली का अनुसरण किया है। धवल के माता-पिता ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। धवल का समय दशवीं-ग्यारहवीं शती ई० होना चाहिए।[४]

धनवाल

अपभ्रंश कृतियों में धनवाल की कृति 'भविसयत्तकहा' (भविष्यदत्तकथा) को दो बार सुसंपादित होने का अवसर मिला है, याकोबी द्वारा सन् १९१८ में म्युनिख से तथा दलाल एवं गुणे द्वारा बड़ौदा से सन् १९२३ में। वैसे, कृति साधारण है। श्रुतपंचमी व्रत के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए भविष्यदत्त नामक वणिक पुत्र की कथा कहना लेखक का मुख्य उद्देश्य था। धर्म के आवरण में ढकी होने के कारण किसी लोकप्रिय प्रेम-कथा का प्रचलित रूप, जो इस कृति में अपनाया गया है, गौण हो गया है।

'भविष्यदत्तकथा' की बाईस संधियों में समाप्ति हुई है। गजपुर के राजसेठ धनपाल के दो स्त्रियाँ थीं, कमलश्री और सरूपा—और इनके पुत्र थे भविष्यदत्त और बंधुदत्त। कमलश्री और भविष्यदत्त सज्जन स्वभाव के थे तथा सरूपा और बंधुदत्त कुटिल स्वभाव के व्यक्ति थे। दोनों

---

१. कृति की प्रशस्ति में कहा है: सिरि माहवसेणु महाणुभाउ। जिणुसेणुसीसु पुणु त सु जाउ॥ पृ० १२८, प्रशस्ति संग्रह। रचना-काल एक गाथा में इस प्रकार दिया हुआ है:—

णवसयणउवाणुइए कत्तिय अमावस दिवसे।
लिहियं पासपुराणं कइणा इह पउमणामेण।

कृति की हस्तलिखित प्रतियों में एक सं० १४९४ की है। प्रशस्ति संग्रह, वही, पृ० १२९।

२. केटेलॉग ऑव् संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड बरार, संपा० हीरालाल, पृ० ७१६; ७६२–७६७ तथा भूमिका पृ० ४८–४९।

३. वही, पृ० ७६५ आदि।

४. दे० प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, बम्बई, पृ० ४२३।

भाई व्यापारार्थ समुद्र यात्रा करने जाते हैं, किन्तु मैनाक द्वीप में बंधुदत्त अपने भाई को छोड़ कर चला जाता है। भविष्यदत्त जिन की पूजा करता है, यक्ष मणिभद्र की सहायता से एक सुन्दरी भविष्यानुरूपा से विवाह करके वहाँ बारह वर्ष सुखपूर्वक बिताता है।

पुत्र की मंगल कामना के लिए कमलश्री श्रुतपंचमी व्रत करती है। भविष्यदत्त धन, पत्नी के साथ घर लौटना चाहता है कि उसी समय बंधुदत्त से फिर भेंट होती है। वह फिर उसका धन,पत्नी सब कुछ ले कर भविष्यदत्त को छोड़ कर चल देता है और उसकी पत्नी को भी प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। वह गजपुर में उत्सव मना रहा था कि यक्ष मणिभद्र की सहायता से भविष्यदत्त ठीक समय पर पहुँच जाता है और धन तथा अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करता है। बंधुदत्त और उसकी माता दंड पाते हैं। भविष्यदत्त युवराज पद प्राप्त करता है और सुखपूर्वक रह कर अंत में तपस्या कर अनशन मरण द्वारा स्वर्ग को जाता है। 'भविष्यदत्तकथा' में मनुष्य स्वभाव का बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है, सरूपा के रूप में एक कुटिल महिला तथा कमलश्री के रूप में एक कोमल-हृदय महिला का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार बंधुदत्त और भविष्यदत्त कुटिल और सज्जन स्वभाव के व्यक्तियों के प्रतीक हैं। सरूपा और कमलश्री दोनों ही वात्सल्यपूर्ण ममता से अपने पुत्रों की वृद्धि चाहती हैं, किन्तु कमलश्री उदात्त विचारों वाली धर्मपरायणा महिला है और अन्त में उसी की विजय होती है और यही दिखाना ग्रन्थकार का उद्देश्य है। कृति एक धार्मिक साहसिक प्रेम-कथा है, जिसमें साहस और अद्भुत दोनों का मिश्रण है। नगरादि के वर्णनों में कवि ने कल्पना का सहारा लिया है, अन्यथा कथा कहना ही कवि का प्रधान लक्ष्य रहा है।

कृति में मात्रा और वर्ण दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।[1] किन्तु मात्रिक छन्दों की ही प्रधानता है। वार्णिक वृत्तों का प्रयोग कृति के ३५४ कडवकों में से केवल १० में हुआ है, किन्तु वार्णिक वृत्तों में भी यमक का प्रयोग सर्वत्र किया गया है। छंद-योजना अपभ्रंश के स्वयंभू पुष्पदन्तादि कवियों के समान ही है। कृति की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। स्वयंभू जैसी अलंकृत भाषा-शैली का व्यवहार धनपाल ने नहीं किया। उनका उद्देश्य सरल शैली में सामान्य जनों के लिए व्रत-कथा कहना था।

कवि ने अपने को धर्कट वणिक जाति में उत्पन्न माएसर और धनश्री देवी का पुत्र कहा है।[2] कृति के रचना काल के विषय में कवि ने कोई संकेत नहीं किया है। भाषा के आधार पर

---

१. छन्दों के प्रयोग में जैसी विविधता तथा सुन्दरता पुष्पदन्त की कृतियों में मिलती है, वैसी यहाँ नहीं मिलती। मात्रिक छन्दों में प्रधान रूप से प्रज्झटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहट्टा, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम प्रयुक्त हुए हैं। वर्ण-वृत्तों में संखनारी, भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, चामर, मन्दार प्रधान हैं।

२. दे० भविष्यदत्तकथा, संधि २२.९.७-१०।

हेरमान्न याकोबी ने 'भविष्यदत्तकथा' का रचना-काल दशवीं शती ई० प्रस्तावित किया है।[१] कृतिकार दिगम्बर जैन थे।[२]

हरिषेण

हरिषेण की कृति 'धम्मपरिक्खा'[३] (धर्मपरीक्षा) की रचना ब्राह्मण धर्म पर व्यंग्य करने तथा जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए हुई है। कृति की ग्यारह संधियों में मनवेग और पवनवेग नाम के दो मित्रों की कथा द्वारा जैन धर्म की विजय चित्रित की गई है। मनवेग ब्राह्मण धर्म में विश्वास रखने वाले पवनवेग को ले कर ब्राह्मण शास्त्र-वेत्ताओं की सभाओं में जा कर उन्हें परास्त कर देता है, फलस्वरूप पवनवेग जैन धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित हो, जैन धर्म की दीक्षा ले लेता हैं। कृति की भाषा और शैली व्यंग्य-कृति के अनुकूल सरल और प्रसाद गुण से युक्त है। मात्रिक छन्द प्रज्झटिका तथा वार्णिक भुजंगप्रयात का अधिक प्रयोग हुआ है। छंद-योजना कडवक शैली की है।

कवि ने 'धर्मपरीक्षा' की रचना जयराम नामक किसी कवि की प्राकृत गाथाबद्ध रचना से प्रेरणा ले कर की थी।[४] जयराम या उनकी कृति के संबंध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। हरिषेण की कृति का रचना-काल वि० सं० १०४० (सन् ९८३ ई०) है।[५] कवि धर्कटवंशीय चित्तौड़ निवासी गोवर्द्धन और गुणवती का पुत्र था। उसके गुरु सिद्धसेन थे। हरिषेण ने चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त का बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।[६]

संधिबद्ध कडवक शैली में पौराणिक महापुरुषों, व्रत, धार्मिक विधि-विधानों को ले कर अनेक चरित्र-काव्यों की रचनाएँ जैन कवियों ने की हैं। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी की कथा को ले कर

---

१. याकोबी द्वारा संपादित संस्करण की भूमिका, पृ० ६। डा० गोपाणी ने स्वसंपादित ज्ञानपंचमीकथा, बम्बई, १९४९, भूमिका, पृ० १२–२४ में याकोबी के मत पर विस्तार से विचार किया है और धनवाल का समय ग्यारहवीं शती ई० का अन्तिम भाग और बारहवीं का प्रारम्भ प्रस्तावित किया है।

२. भविष्यदत्तकथा संधि ५.२०.३।

३. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में कृति की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक ने देखी हैं। दे० प्रशस्ति संग्रह, जयपुर १९५०, पृ० १०८–११०।

४. गाथा इस प्रकार है:

जा जयरामे आसि विरइय गाथ पबंधें।
साहमि धम्मपरिक्ख मा पद्धडिया बंधें।। धम्मपरिक्खा १.१।।

५. रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

विक्कम णिव परिवत्तिय कालए। गयए वरिससहस चउतालए। वही ११.२७।

६. दे० प्रशस्तिसंग्रह, पृ० १०९।

ग्यारह संधियों में **कवि वीर** ने संवत् १०७६ में 'जम्बूस्वामीचरित' की रचना की। जम्बू की प्रचलित कथा को ले कर जम्बू की संसार के प्रति वैराग्यपूर्ण भावना तथा उनको आसक्त बनाए रखने के प्रयास दोनों का चित्रण करके कृति को 'श्रृंगार-वीर' महाकाव्य कहा गया है। श्रृंगार की पुष्टि के अनुकूल युवतियों के रूप-वर्णन, ऋतुओं का परम्परानुसार वर्णन, उद्यान, जलक्रीडादि के वर्णन कृति में बिखरे पड़े हैं। जम्बू के विवाहों के समय युद्धों का वर्णन मिलता है। धार्मिक उद्देश्य और वातावरण के बीच श्रृंगार और वीर रस के चित्रण के ये प्रयास फीके साधन मात्र बन कर रह गए हैं। वैराग्य और धर्म का ही स्वर कृति में प्रधान है।

कृति में कुछ प्राकृत गाथाएँ मिलती हैं। मात्रिक तथा वर्ण-वृत्तों में प्रज्झटिका, घत्ता, दोहा, दंडक, भुजंगप्रयात, खण्डिता, दुवई, स्रग्विणी, रत्नमालिका के प्रयोग मिलते हैं।

अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु-नमस्कार (पंच नमस्कार) के महत्त्व का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए **नयनंदि** ने बारह संधियों में 'सुदर्शनचरित' की रचना वि० सं० ११०० में धारा नगरी में की। पंच नमस्कार के फलस्वरूप एक सामान्य गोपाल का श्रेष्ठ कुल में जन्म होता है और वह संसार के आकर्षणों में न पड़ कर तपस्या करके स्वर्ग प्राप्त करता है। कथा को मनोरंजक बनाने तथा धर्मरत सुदर्शन की चरित्र-दृढ़ता को निखारने के लिए अनेक संधियों में कवि ने नायिकाओं का वर्णन अनावश्यक विस्तार से किया है। इन वर्णानों में कवि ने कल्पना का अच्छा प्रयोग किया है। कृति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता विविध छन्दों के प्रयोग में मिलती है। नयनंदि ने 'सकलविधिविधान' नामक ५८ संधियों के एक और ग्रन्थ की भी रचना की है।

मुनि कनकामर ने पंच कल्याण-विधि के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए दस सन्धियों में 'करकंडुचरित' की रचना की है। सुदर्शन के समान ही करकंडु का चरित्र है, अंतर केवल इतना है कि करकंडु राजकुमार है और सुदर्शन श्रेष्ठि पुत्र। राजकुमार करकंडु के अनेक विवाह होते हैं, वह वैभव में पलता है और बड़ा होता है, किन्तु अन्त में वह विरक्त हो कर तप करता है और मोक्ष प्राप्त करता है। कृति में प्रेम के अनेक प्रसंग हैं और प्रधान कथा के अतिरिक्त अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। इतिहास और कल्पित कथा का मेल कवि ने सफलतापूर्वक किया है। 'करकंडुचरित' की शैली में काव्य-चमत्कार बहुत कम है।

कनकामर ने अपने संबंध में बताते हुए कहा है कि वे ब्राह्मण थे और दिगम्बर जैन संप्रदाय में दीक्षित हो गए थे। अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। विद्वानों ने इनका काल १०४३-१०६८ ई० के बीच अनुमित किया है।

पंचव्रत (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग) के माहात्म्य का चित्रण कवि **धाहिल** ने 'पउमसिरीचरिउ' (पद्मश्रीचरित) में चार संधियों में किया है। पद्मश्रीचरित को कवि ने धर्म-कथा नाम दिया है। कृति में पद्मश्री के पूर्वजन्मों की कथा दे कर उसे अनेक विषम परिस्थितियों में भी धर्म पर दृढ़ रहते दिखाया गया है, जिसके फलस्वरूप वह अन्त में मोक्ष प्राप्त करती है। पद्मश्रीचरित में पद्मश्री का सौन्दर्य वर्णन, प्रेम-प्रसंग, उसका परिणय, संभोग, सूर्यास्त, चंद्रोदय आदि के वर्णन ऐहिकतापरक प्रेम-कथा के स्वाभाविक अंग जैसे हैं, किन्तु वे व्रत और

धर्म के वातावरण में आच्छन्न हो गए हैं। अलंकारों, सुभाषितों, लोकोक्तियों और वर्णनों का प्रयोग करके कवि ने कृति में नीरसता नहीं आने दी है। धाहिल ने कथा की धारावाहिकता को ध्यान में रख कर कृति में पद्धडिया का ही प्रधान रूप से प्रयोग किया है।

धाहिल ने अपने को माघ कवि के वंशज में उत्पन्न कहा है तथा अपना विशेषण 'दिव्य दृष्टि' दिया है। कवि सं० ११९१ वि० के पहले अवश्य रहा होगा, क्योंकि पद्मश्री चरित की हस्तलिखित प्रति सं० ११९१ वि० की प्राप्त हुई है।

अपभ्रंश कथा-साहित्य में **श्रीचन्द** का स्थान विशेष उल्लेखनीय है।[२] तिरपन संधियों का उपदेशप्रधान कथा संग्रह 'कथाकोश' और इक्कीस संधियों में समाप्त 'रत्नकरंडशास्त्र', दोनों ही महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'रत्नकांड शास्त्र' की रचना-तिथि कवि ने सं० ११२३ वि० दी है और इस कृति के प्रारम्भ में अनेक प्राचीन कवियों का स्मरण किया है। 'कथाकोश' की रचना श्रीचन्द ने अन्हिलवाड़ा में चालुक्यराज मूलराज के समय में की थी, इन उल्लेखों के आधार पर श्रीचन्द का समय ११-१२ वीं शती ई० ठहरता है।

श्रीधर की तीन अपभ्रंश कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं—छः सन्धियों में सुकुमाल स्वामी के पूर्वभवों की कथा से संबंधित 'सुकुमालचरिउ', तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का बारह संधियों में समाप्त 'पासणाहुचरिउ' और श्रुतपंचमी व्रत को ले कर छः संधियों में समाप्त 'भविसयत्तचरिउ।' छंद-विधान, भाषा-शैली और कथा की दृष्टि से कृतियों में कोई विशेषता नहीं मिलती। कवि ने 'पासणाहुचरिउ' की रचना सं० ११८९ में, 'सुकुमालचरिउ' की सं० १२०८ वि० में और 'भविसयत्त-चरिउ' की रचना सं० १२३० में की थी। इस प्रकार कवि का समय विक्रम की बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध तथा तेरहवीं का पूर्वार्द्ध ठहरता है। कवि मध्यदेश (दिल्ली) का निवासी था।

ऋषभ के पुत्र भरत के सेनापति जयकुमार की पत्नी सुलोचना के चरित्र को ले कर अनेक जैन कवियों ने कृतियाँ लिखी हैं। धवल ने **महासेन** के सुलोचना-चरित्र का उल्लेख किया है। **देवसेनगणि** ने पद्धडिया आदि छंदों का प्रयोग करते हुए कडवक शैली में २८ संधियों में 'सुलोचना चरिउ' की रचना की। उस ने अनेक कवियों का स्मरण किया है और कुंदकुंद की गाथाबद्ध कृति को आधार मान कर अपनी कृति की रचना की है। कृतिकार बारहवीं-तेरहवीं शती के आस-पास रहा होगा।

इसी प्रकार की कृति प्रद्युम्न (जैन संप्रदाय के २१ वें कामदेव) की कथा को ले कर **कवि सिंह** या **सिद्ध** ने 'पज्जुण्णकहा' की रचना बारहवीं शती वि० में की।

हरिभद्र की प्राकृत कृति 'मल्लिनाथचरित' तथा अपभ्रंश रचना 'नेमिनाथचरित' प्राप्त हुई हैं, जिनमें से अपभ्रंश कृति का एक अंश 'सनत्कुमारचरित' याकोबी द्वारा संपादित हो कर प्रकाशित हुआ है। कृति में नगरादि के अलंकृत वर्णन हैं। सनत्कुमार के जीवन की विविध अवस्थाओं के स्वाभाविक चित्रण और अन्त में तपस्या करके स्वर्ग-प्राप्ति तक का वर्णन है। धर्म-पर्यवसायी होने पर भी 'सनत्कुमारचरित' लौकिक प्रेम-काव्य के अधिक निकट है, प्रेम-प्रसंग, मद-नोत्सव, ऋतु-वर्णन, संयोग-वियोगादि की योजनाएँ बहुत ही सजीव और काव्यमय हैं। कृति की

एक विशेषता कड़वक शैली से भिन्न उसका रड्डा छंदबद्ध होना भी है। कृति की भाषा पश्चिमी शौरसेनी है जिसमें प्राचीन गुजराती की कुछ विशेषताएँ मिलती हैं।

हरिभद्र श्वेताम्बर जैन थे और 'नेमिनाथचरित' की रचना अन्हिलवाड़ा में वि० सं० १२१६ में हुई थी। उनके आश्रयदाता चौलुक्यवंशी कुमारपाल के आमात्य पृथ्वीपाल थे।

श्रावकों (गृहस्थों) के छः मुख्य कर्तव्य-कर्मों—देव-गुरु पूजा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—के पालन का उपदेश देने के लिए **अमरकीर्ति** ने तेरह सन्धियों में 'छकम्मोवएस' की रचना की है। अत्यन्त सरल शैली में अनेक कथाओं द्वारा उपदेश दिया गया है। अमरकीर्ति ने सं० १२४७ वि० में गुजरात-स्थित गोदहय में कृति की रचना की थी। कवि ने अन्य अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है किन्तु कोई कृति प्राप्त नहीं हुई है।

सोमप्रभाचार्य की प्राकृत कृति 'कुमारपालप्रतिबोध' में अपभ्रंश के अनेक बड़े-छोटे प्रसंग बिखरे हुए मिलते हैं—जीव-मनःकरण-संलाप रूपक कथा, स्थूलिभद्रकथा, द्वादशभावनास्वरूप, पार्श्वस्तोत्र, वसंत, शिशिर, मधु समय, ग्रीष्म के वर्णन तथा कुछ स्फुट प्रसंग बिखरे हुए प्राप्त होते हैं। सभी प्रसंग छंदबद्ध हैं जिनमें रड्डा, पद्धडिया, घत्ता, छप्पय, दोहा छंदों का प्रयोग हुआ है। सभी पद्य सोमप्रभाचार्य के ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऋतु-वर्णन सुन्दर है और स्फुट पद्यों में भी प्रेम, उपदेश, सभा-चातुर्य आदि प्रसंगों से सम्बन्धित सुन्दर सुभाषित हैं। सोमप्रभाचार्य की भाषा साहित्यिक है, यद्यपि उनका समय विक्रम की तेरहवीं शती है जब कि अपभ्रंश का स्थान आधुनिक आर्यभाषाएँ ले चुकी थीं।

अपभ्रंश चरित-काव्य धारा बहुत काल तक प्रवाहित होती रही। जैन कवि कदाचित् धार्मिक आग्रह के कारण अपभ्रंश में व्याकरण के सहारे उस समय भी काव्य-रचना करते रहे जब कि उसका स्थान बोली तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था। इस प्रकार की कृतियों में ग्यारह संधियों में समाप्त **लाखू** का 'जिनदत्तचरिउ' (रचना-काल सं० १२७५ वि० = १२१८ ई०), **लक्खण** का आठ सन्धियों में समाप्त 'अणुवइरयणपईउ' (अणुव्रतरत्न प्रदीप, रचना-काल सं० १३१३ वि० = १२५६ ई०), **लक्खमदेव** का चार संधियों का 'णेमिणाह चरिउ' (रचना-काल अज्ञात), **धनवाल** का अट्ठारह संधियों में समाप्त 'बाहुबलिचरिउ'[1] (रचना-काल सं० १४५४ वि० = सन् १३४७ ई०)। परवर्ती अपभ्रंश युग के अन्तिम प्रतिनिधि कवि यशकीर्ति और रयधू कहे जा सकते हैं जिन्होंने अनेक चरित-काव्यों की रचना की है। एक **यशकीर्ति** की कृतियों में तेरह सन्धियों में समाप्त 'हरिवंशपुराण' तथा **दूसरे यशकीर्ति** की ग्यारह संधियों में समाप्त 'चंदप्पहचरिउ' (चन्द्रप्रभचरित) प्राप्त हुई हैं। हरिवंशपुराण की रचना सं० १५०० वि० (सन् १४४३ ई०) में हुई। चंद्रप्रभचरित के रचयिता ने कृति का रचना-काल नहीं दिया है।

---

१. दे० प्रशस्तिसंग्रह, (जयपुर १९५०ई०), पृ० १३८–१४७; ग्रंथ में अनेक ऐसी कृतियों का उल्लेख किया है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं, इनमें से कुछ कृतियाँ अपभ्रंश भाषानिबद्ध भी हो सकती हैं, जैसे, महासेन का सुलोचनाचरिउ, जडिल का नवरंगचरिउ इत्यादि, पृ० १४२।

कवि ने आश्रयदाता सिद्धिपाल को गुर्जर प्रान्त का निवासी बताया है। एक **तीसरे यशकीर्ति** गोपाचलगिरि पर रहते थे। ये गुणकीर्ति के शिष्य थे और रयधू के गुरु थे। इन्होंने स्वयंभू के 'हरिवंशपुराण' में अन्तिम दस सन्धियाँ (संधि १०३-११२) रच कर जोड़ दी थीं। इनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती का होना चाहिए, क्योंकि 'हरिवंशपुराण' की संधियों का रचना-काल १५०० वि० दिया है। सं० १५९७ वि० में रचित चौंतीस संधियों में समाप्त 'पाण्डवपुराण' नामक एक अन्य कृति यशकीर्ति की मिलती है।

रयधू की अनेक रचनाओं में से चार संधियों में समाप्त 'सुकौशलचरित' (सं० १४९६ वि० =सन् १३३९ ई०), दस संधियों में समाप्त 'सन्मतिनाथचरित' (रचना-काल सं० १४९६ = सन् १३३९ ई०) के आस-पास ग्यारह संधियों में समाप्त 'बलभद्र पुराण' (रचना-काल सं० १४९६ वि० = १३३९ ई० से पूर्व), प्रमुख अपभ्रंश कृतियाँ हैं। रयधू ने संस्कृत और प्राकृत में भी ग्रन्थ-रचना की। उनकी रचनाओं में प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात होता है कि रयधू बहुत दिन तक ग्वालियर के तोमर वंशीय राजाओं के आश्रय में रहे। पुष्पिकाओं में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर उनका काल सं० १४९० वि० से १५२१ वि० (सन् १४३३ ई० से १४६४ ई०) तक माना जा सकता है। ये यशकीर्ति के शिष्य थे।

रयधू के बाद भी जैन कवि अपभ्रंश में सन्धिबद्ध रचना करते रहे, किन्तु यह कहना कठिन है कि इन कृतियों को सरलता से समझने वाला कोई पाठक-समाज था, क्योंकि अपभ्रंश का स्थान आधुनिक बोलियों ने ले लिया था। श्रोता या सामान्य पाठक-समाज की चिन्ता न कर जैन कवि परम्परा-पालन के लिए ही रचना करते रहे होंगे। इस संधिबद्ध जैन साहित्य में कथा की एकरसता, वर्णनों की एकरूपता है और काव्य-रसिक के लिए बहुत ही कम मनोरंजक तत्त्व मिलते हैं।

मुक्तक काव्यधारा

जैनों द्वारा लिखित मुक्तक रचनाओं में दो प्रकार की भावधाराओं के दर्शन होते हैं। एक प्रकार की रचनाएँ प्रधान रूप से देह में बसने वाले देव का ध्यान करने वाले साधकों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं और परम समाधि द्वारा उस देव की अनुभूति से प्राप्त परम सुख का इन रचनाओं में उल्लेख किया गया है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ श्रावकों (जैन गृहस्थों) को संबोधित करके लिखी गई हैं और इन रचनाओं में तीर्थ, व्रत, उपवास तथा अन्य कर्मों के पालन का उपदेश दिया गया है। इस साहित्य में काव्य-रस का एक प्रकार से पूर्ण अभाव है। पद्यबद्ध होने के कारण ही प्रधान रूप से इसे काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। रस, ध्वनि, अलंकार या काव्य के अन्य उपकरणों को इस साहित्य में ढूँढ़ने का प्रयास करना व्यर्थ है। अपनी बात को समझाने के लिए कहीं-कहीं अत्यन्त सरल कल्पना का सहारा लिया गया है, अलंकारों में दृष्टान्तादि का प्रयोग वस्तु को बोधगम्य बनाने के लिए हुआ है।

जैनों की रहस्यवादी धारा में योगीन्द्र (लगभग दसवीं शती ई०), मुनि रामसिंह (लगभग ग्यारहवीं शती ई०), सुप्रभाचार्य (१०००-११०० ई० के आस-पास) की कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन और ब्राह्मण संप्रदायों के गूढ़वाद में तात्विक अन्तर होते हुए भी बहुत समानता है। जैन साधक अन्त में सम्यक् ज्ञान, चरित्र और दर्शन द्वारा 'जिन' हो जाता है और ब्राह्मण संप्रदाय का अनुयायी साधक ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करके अन्त में उसी में विलीन हो जाता है।

योगीन्द्र की 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार'[1] कृतियों के नाम भी अर्थपूर्ण हैं। योगीन्द्र की कृतियों में व्यक्त भावधारा व्यापक और उदार है। परमात्मा ज्ञानमय, नित्य, निरंजन स्वरूप है, योग, वेद, शास्त्रों से वह अनादि परमात्मा नहीं जाना जा सकता, निर्मल ध्यान द्वारा उसकी अनुभूति की जा सकती है (पर० पद्य ११-२४)। ब्रह्म, मन, इन्द्रियादि के व्यापारों से भिन्न होते हुए भी देह में ही निवास करता है और समस्त जगत् में भी वह व्याप्त है (वही, पद्य २५-४९)। आत्मा सर्वगत है, जड़, चरम शरीरी और शून्य है, जीव और कर्म अनादि हैं। जीव के कर्मों से ही दुःख-सुख, बन्धन, मोक्ष उत्पन्न होते हैं। आत्मा देह से भिन्न अजर-अमर, ब्रह्मस्वरूप है, शाश्वत, मोक्ष-पद है। आत्म-ज्ञान से मिथ्या दृष्टि दूर हो जाती है और परम पद की प्राप्ति होती है। इस आत्म-ज्ञान, परम ब्रह्म में मन लगाने से निरंजन के दर्शन होते हैं। यह परम सुख रूप शुद्धात्मा देवालय, मूर्ति, चित्र में नहीं मिल सकता, वह योगियों के मन में रमता है। उसी के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है (वही, पद्य ५०-१२३)।

आत्मा और परमात्मा में योगीन्द्र भेद नहीं मानते। कर्मों के कारण आत्मा पराधीन रहता है और अपने स्वरूप को जान लेने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है। देह से आत्मा का कोई संबंध नहीं है, वह स्वभाव से ही निर्मल है (वही द्वितीय महाधिकार, पद्य १५४-१८७)।

कर्मों के क्षीण हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष सर्वोत्तम सुख है तथा तीनों लोकों से परे है, हरि-हर , ब्रह्म, जिनादि परम निरंजन का ध्यान करते हुए मोक्ष का चिन्तन करते हैं (वही २. १-१०)। मन की शुद्धता तथा ज्ञान को भी योगीन्द्र साधना के लिए महत्त्वपूर्ण बताते हैं, किन्तु देह में बसने वाले परमात्मा के ज्ञान से रहित ज्ञान को तथा तीर्थादि भ्रमण को वे व्यर्थ बताते हैं (वही २. ११-८५)। जीवों में भेद बुद्धि रखने वाला ज्ञानी मूढ़ है। ज्ञानी को सम दृष्टि रखनी चाहिए। संसार के सभी पदार्थ नाशवान् हैं। संसार के विषय-सुख, तृष्णा और चिन्ता से मुक्त होने पर ही मोक्ष मिल सकता है (वही २.८६-१५३)।

समस्त विकल्पों का विलय होना परम समाधि है और परम समाधि की प्राप्ति से संसार के अशुभ कर्मों का क्षय हो जाता है, सब शुभाशुभ भावों से मुक्ति मिल जाती है। परम समाधि के बिना गहन शास्त्र-ज्ञान और घोर तप के द्वारा भी शिव और शान्ति पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। परम समाधि के द्वारा परम ब्रह्म के ज्ञान से समस्त कर्मों का नाश हो जाता है और जीव मोक्ष-पद

---

१. परमश्रुत प्रभावक मंडल बंबई, १९९३ वि०, संपादक डा० आ० ने० उपाध्ये। योगसार का एक संस्करण सूरत से १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ था। दे०डा० उपाध्ये का लेख जोइंदु एण्ड हिज अपभ्रंश वर्क्स, एनाल्स, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट भाग १२, अंक २, पृ० १३२-६३।

की प्राप्ति करता हुआ अर्हत् हो जाता है और परमानन्दमय हो जाता है और यह परमानन्द स्वभाव-रूप जीव ही परमात्मा है (वही २.१८८-१९७)। इसी प्रकार के भाव 'योगसार' में भी व्यक्त हुए हैं।

कृतियों में योगियों को संबोधित किया गया है, अतः गृह-वास को पाप-निवास (प० प्र० १.८३, २.१११, ११५) भी कहा है, किन्तु ऐसे कुछ उल्लेखों को छोड़ कर योगीन्द्र के पद्यों में किसी संप्रदाय या वर्ग के प्रति कटुता का आभास नहीं मिलता और न जैन संप्रदाय के प्रति ही विशेष आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है।

योगीन्द्र की कृतियों में प्रधान रूप से दोहा छंद का प्रयोग हुआ है।[१] योगीन्द्र की भाषा सरल शौरसेनी अपभ्रंश है, जो कवि कल्पना और कृत्रिमता से दूर है। वक्तव्य विषय को समझाने के लिए दर्पण, पंगु, ऊँट (प० प्र० २.१३६) जैसे परिचित अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। योगीन्द्र ने न तो अपने विषय में अपनी कृतियों में किसी प्रकार का परिचय दिया है और न उनके विषय में अन्यत्र कोई उल्लेख मिलते हैं। भट्ट प्रभाकर उनके कोई शिष्य रहे होंगे जिनके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए 'परमात्मप्रकाश' की रचना हुई। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट है वे अत्यन्त विनम्र, संयत और उदार मन वाले साधक रहे होंगे।

मुनि रामसिंह के 'पाहुड दोहा'[२] (दोहों का उपहार) का स्वर भी आध्यात्मिक है। आत्मा और देह के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि आत्मा अजरामर, ज्ञानमय, संत, निरंजन और शिव, जिनदेव और सर्वव्यापी है, उसको जान लेने पर और कुछ जानने को नहीं रहता, वह देह में बसता है—

बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झहु हलि अण्णु।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु॥४०॥

अर्थात्, देह से भिन्न ज्ञानमय आत्मा को समझ लिया तो अन्य जानने को क्या रहा ? जिन कहते हैं, उसे समझो, समझो !

जरा, मरण, रंग, वर्ण, कारण-कार्य, अवस्थादि भेदों से आत्मा परे है (पद्य २३.४१, ५४-५९ इत्यादि)—

देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि॥३३॥

---

१. परमात्मप्रकाश में कुछ प्राकृत गाथाएँ हैं १.६५.१, २.६०., २.१११.२-३ तथा २.११७ तथा स्रग्धरा और मालिनी वृत्तों में भी दो प्राकृत पद्य हैं—२.२१३-२१४। योगसार में पद्य ३९.४७सोरठा तथा पद्य ४० प्रज्झटिका छंद में हैं।

२. संपादक डा० हीरालाल जैन, कारंजा १९९० वि०। कृति के २२२ पद्यों में से १२ प्राकृत में हैं। १६ पद्य द्विपदी, सोरठा, प्रज्झटिका छंदों में है। शेष दोहा छंद में हैं।

अर्थात्, देह का जरा-मरण देख कर, हे जीव ! भयभीत मत हो। जो अजरामर परम ब्रह्म है, उसे ही अपना मान।

आत्म-सुख को मुनि ने सर्वश्रेष्ठ कहा है, विषय सुखों से निर्लिप्त रहने वाले ही शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं—

जं सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु ।।३।।

अर्थात्, विषयों से पराङमुख हो कर अपनी आत्मा के ध्यान में जो सुख है, वह कोटि देवियों के रमण करने वाले इन्द्र को भी नहीं प्राप्त होता।

इन्द्रिय-सुख और मोक्ष एक साथ नहीं रह सकते (पद्य २१३)। 'पाहुड दोहा' में उपदेश का स्वर भी कुछ अधिक स्पष्ट है, योगीन्द्र की कृतियों में ऐसी अक्खड़ता नहीं मिलती। घर-वास, स्त्री-संग, सम्यकत्व रहित व्यक्तियों के संग छोड़ने के संबंध में तथा चंचल चित्त वाले सिर मुड़ाने वाले लोगों को लक्ष्य करके पर्याप्त तीखी उक्तियाँ मिलती हैं—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ ।।१३५।।

अर्थात्, अरे मुंडी ! सिर मुँड़ाया किन्तु चित्त नहीं मुँड़ाया, जिन्होंने चित्त को मुँड़ाया, उन्होंने संसार का खण्डन कर डाला।

दुष्ट-संग की निन्दा (पद्य १४८), अहिंसा-पालन (१४४), देवालय, तीर्थ, भ्रमण की निस्सारता (१६१-१६४), देह-देवालय में शिव को ढूँढ़ना (१८६-१८७) आदि उपदेश साधकों के लिए हैं। कहीं-कहीं कुछ पद्यों में उपदेश का रूप इतना प्रखर है कि अश्लीलता से भी मुनि नहीं बच सके (पद्य १९५-१९६)।

गुरु को साधना के लिए आवश्यक बताया गया है। आत्मा और परमात्मा के भेद को स्पष्ट करने वाला होने के कारण गुरु सूर्य-चन्द्र के समान है (पद्य, १, ८०-८१, १६६)।

समरसी भाव या परम समाधि की अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। जिस प्रकार लवण पानी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार चित्त परमात्मा में विलीन हो कर समरस हो जाता है—

जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समांहि करिज्ज ।।१७६।।

इस अवस्था में योगी राग-द्वेष तथा मन के व्यापारों से मुक्त हो जाता है (२०४, २०६); शुभ-अशुभ सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं और जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है।

कोरे शास्त्र-ज्ञान, तीर्थ, मूर्ति-पूजा का मुनि रामसिंह ने खण्डन किया है (१७६, १८० आदि)। जैन धर्म पालन के उपदेश (पद्य २०, ३९-४० आदि) योग-मार्ग की शब्दावली का

प्रयोग—अनाहतनाद (२६८), ब्रह्मरंध्र (१८१) इडा, पिंगलादि (१८१-१८२)— स्त्री-परक रूपकों के सहारे मोक्षादि का वर्णन (४२, ४५, ६४, १००) 'पाहुड दोहा' की अन्य उल्लेख योग्य विशेषताएँ हैं।

'पाहुड दोहा' संग्रह-ग्रन्थ जैसा लगता है। विषय का क्रमबद्ध विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि कृति के पद्यों में एक सुनिश्चित साधन-मार्ग अवश्य प्रतिपादित हुआ है। कृति के कुछ पद्य हेमचन्द्र ने उद्धृत किए हैं (पा० दो० भूमिका, पृ० २२-२३), अतः दोहे निश्चित रूप से हेमचन्द्र के पहले के हैं। योगीन्द्र और रामसिंह की कृतियों के पद्यों में बहुत भाव-साम्य है। संभव है, इसी कारण कदाचित् कृति की कुछ प्रतियों में रचयिता के रूप में योगीन्द्र का नाम मिलता है। 'पाहुड दोहा' के एक पद्य में रचयिता के रूप में रामसिंह का नाम भी मिलता है (२११)। योगीन्द्र के कुछ पद्य 'पाहुड दोहा' में मिलते हैं (वही, भूमिका, पृ० २१)। संभव है, स्वयं मुनि ने पद्य इधर-उधर से संग्रह किए हों या पीछे किसी ने संग्रह कर दिए हों। कुछ पद्य देवसेन की कृति में भी मिलते हैं। निश्चयपूर्वक इस आदान-प्रदान के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हेमचन्द्र के पूर्व रामसिंह का समय माना जा सकता है। मुनि जैन थे, इसके पर्याप्त उल्लेख उनकी कृति में मिलते हैं।

सुप्रभाचार्य ने 'वैराग्यसार'[1] के ७७ पद्यों में संसार के दुःखों, ऐश्वर्य-वैभव, देह की क्षणिकता, संसार का मिथ्यात्व, मन और काया से आत्मा की रक्षा, धर्म और दान की प्रशंसा, आत्म-ज्ञान से निर्वाण की प्राप्ति, भाव और ज्ञान द्वारा समरस ज्ञान प्राप्त करना जैसे विषयों का उल्लेख किया है। गृहस्थाश्रम को सुप्रभ साधना के लिए बाधक नहीं समझते। किसी विशेष संप्रदाय के प्रति आग्रह न हो कर इन पद्यों में एक उदार उपदेश-प्रधान धारा के दर्शन होते हैं। पद्यों की भाषा सरल और कहने का ढंग सुबोध है। मन के लिए चोर, माया के लिए रात्रि के अंधकार, मोह के लिए नट जैसे परिचित उपमानों का प्रयोग किया है। जीवों को संसार के दुखों से मुक्त कराने के लिए सुप्रभ आकुल दिखाई देते हैं—

रोवंतउ सुप्पउ भणइ रे जीव दुःख कि जाइ ॥५८॥

सुप्रभाचार्य के पाँच पद्य (१, ६८-७०, ७७) क्रमशः द्विपदी, प्रज्झटिका छंद में है, अन्य दोहाबद्ध हैं, किन्तु अनेक दोहों में मात्रा-संख्या न्यूनाधिक है। संभव है लिपिकारों का प्रमाद इसका कारण हो। सुप्रभाचार्य के काल और देश के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। पद्यों में सुप्पउ (सुप्रभु) नाम मिलता है तथा प्रतियों की पुष्पिकाओं में भी सुप्रभाचार्य नाम रचयिता के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैन संप्रदाय से सम्बन्धित उल्लेखों के आधार पर सुप्रभाचार्य दिगम्बर जैन प्रतीत होते हैं। भाषा के परिवर्तनकालीन रूप और भावधारा के आधार पर उनका काल दसवीं से बारहवीं शती के बीच माना जा सकता है।

---

१. प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित, एनाल्स, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टि-ट्यूट भाग ९, पृ० २७२-२८० प्रकाशित में।

जैन ग्रंथ भण्डारों में इस भावधारा की और भी अनेक कृतियाँ मिल सकती हैं। जयपुर के आमेर शास्त्र-भण्डार में **महानंदि** के ४३ पद्यों के 'आनंदास्तोत्र'[1] तथा **महचन्द** के ३३३ दोहों के 'दोहा पाहुड'[2] में इसी प्रकार की विचारधारा मिलती है। देह में बसने वाले ब्रह्म की आराधना करने का उपदेश, तीर्थ, बाह्याचारों की व्यर्थता, सद्गुरु का महत्त्व 'आनंदास्तोत्र' के पद्यों का प्रतिपादित विषय है—गुरु की महिमा एक पद्य में इस प्रकार बताई गई है—

> **गुरु जिणवरु गुरु सिद्धसिउ, गुरु रयणत्तय सारु।**
> **सो दरिसावइ अप्पपरु, आणंदा, भव जल पावइ पारु ।।३६।।**

अर्थात् 'गुरु जिनवर है, गुरु सिद्ध है, शिव है और रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान, चरित्र) का सार हैं। आत्मा और पर के भेद को वह प्रकट करता है। उसकी कृपा से भवसागर पार जा सकते हैं।' इन कृतियों के रचयिताओं के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनकी भाषा अवश्य योगीन्द्र की रचनाओं से अधिक विकसित है। महचंद की कृति की हस्तलिखित प्रति सं० १६०२ (सन् १५४५ ई०) की लिखी हुई है, अतः कृति का रचना-काल इससे पहले होना चाहिए।

जैन रहस्यवादी धारा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ये कतिपय कृतियाँ पर्याप्त हैं। अन्य गूढ़वादियों के समान जैन साधक भी सांप्रदायिक भावना से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। सभी प्रकार की संकीर्णताओं, रूढ़ियों के वे विरोधी हैं। चारित्रिक शुद्धता पर ये बल देते हैं। गृहस्थाश्रम साधना के लिए बाधक है, यह समझ कर वे उसकी निन्दा करते हैं। सभी साधक देह-देवालय में ही परब्रह्म की स्थिति बताते हैं। आत्मानुभूति को ही इन साधकों ने परम समाधि, समरसी भाव सहजानंदादि नाम दिए हैं। अपने साधना-मार्ग को बड़ी ही आडम्बरहीन, अनलंकृत भाषा-शैली द्वारा स्पष्ट किया है। मध्ययुगीन अत्यन्त व्यापक गूढ़वादी धारा की एक स्पष्ट झलक इन साधकों की वाणियों में मिलती है। इस तथा इसी प्रकार की अन्य विचारधाराओं का सम्मिलित परिवर्तित रूप नाथपन्थ, सिद्ध पंथ, निरंजनी, कबीरपन्थी धाराओं में मिलता है, जो अत्यन्त सरल भाव से देह-देवालय में बसने वाले देव को पहचानने के लिए उपदेश देते हैं। काव्य रूप की दृष्टि से 'साखी' परम्परा का पूर्व रूप इस साहित्य में मिलता है।

धर्मोपदेश धारा

जैन अपभ्रंश साहित्य में तीर्थ, व्रत, साधु-महात्माओं के जीवनों को केन्द्रित करके गृहस्थों को उपदेश देने के लिए अनेक पद्यबद्ध लघु रचनाएँ मिलती हैं। कुछ रचनाएँ ऐसी मिलती हैं, जिनमें उपदेश-प्रधान स्फुट पद्य संकलित कर दिए गए हैं। ऐसी संग्रह रचनाओं का अच्छा प्रतिनिधि

---

१. आमेर ग्रंथ भाण्डार की ग्रंथ सूची में कृति का नाम 'आनंदास्तोत्र' दिया है।
२. आमेर ग्रंथ भाण्डार की ग्रंथ सूची में कृति का नाम 'दोहा पाहुड' दिया है।

उदाहरण **देवसेन** का 'सावयधम्म दोहा' (श्रावक धर्म दोहा)[1] है जिसके प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा दुर्जन-स्मरण, मनुष्य-जन्म की दुर्लभता तथा जैन धर्म की श्रेष्ठता का उल्लेख है। श्रावक धर्म के भेदों और सम्यकत्व प्राप्ति के उपायों में रात्रि भोजनादि अनेक दोषों का त्याग, जिन-पूजा, अहिंसा व्रत पालन को आवश्यक बताया है (पद्य ६-७६)। धर्म के अन्य अनेक कार्यों की चर्चा करते हुए कहा है कि किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए, विपरीत बुद्धि छोड़नी चाहिए (७७-१०७)। ध्यान, कीर्तन में मन लगाने तथा क्रोधादि के त्याग को, पौरुष, कवित्व और मौन भोजन के नियम के पालन को समृद्धि के लिए आवश्यक बताया है (१०८-१४३)। श्रद्धा को उचित महत्त्व दिया है और सभी पापों से बचने की बार-बार चेतावनी दी है। देवसेन ने पाप और पुण्य दोनों को ही बंधन बताया है। पंच नमस्कार, मंत्र जप की श्रेष्ठता आदि का उल्लेख करते हुए सबके सुख की मंगल कामना करते हुए कृति समाप्त हुई है।

एक आदर्श गृहस्थ के लिए सभी करणीय कार्यों का देवसेन ने उल्लेख किया है और सामाजिक व्यवस्था का उच्चादर्श सामने रखते हुए गृहस्थ अपने धर्म का पालन करते हुए किस प्रकार समभाव को प्राप्त कर सकता है, यही सरल भाषा में सहज ढंग से देवसेन ने अपने दोहों में व्यक्त किया है। ऐसी कृति में कविता के तत्त्वों को ढूँढ़ना व्यर्थ होगा। भारतीय गृहस्थ के चिर परिचित हल, बैल, जुआ, खारी जल, धतूरादि का अप्रस्तुतों के रूप में प्रयोग करके देवसेन ने धर्म के तत्त्वों को समझाया है।

देवसेन ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कृतियाँ लिखीं। वे दिगम्बर जैन थे। जिस प्रकार की रचनाएँ उन्होंने की हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अत्यन्त संयमी, साधु चरित, सब की मंगल कामना करने वाले चिंतनशील व्यक्ति रहे होंगे। उनका समय विक्रम की दसवीं शती था, क्योंकि अपनी एक कृति, दर्शनसार' का रचना-काल सं० ९९० दिया है।[2]

जिनदत्त सूरि की कृति 'उपदेशरसायन रास'[3] ८० प्रज्झटिका पद्यों में भी मानव-जन्म के महत्त्व और मनुष्य के उद्धार का मार्ग बताया गया है और इसके लिए सुगुरु को आवश्यक बताया है। उपासक और श्रावक दोनों के ही लक्ष्यों का कृति में उल्लेख किया गया है। कृति में कौटुम्बिक आदर्श का उल्लेख करते हुए सूरि ने कहा है कि परिवार में ज्येष्ठ व्यक्ति का समादर होना चाहिए; माता-पिता अन्य धर्मावलंबी हों तो भी उनका आदर करना चाहिए। कृति के पाठ से मोक्षादि का

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित—कारंजा से प्रकाशित, १९३९ ई०।

२. दे० वही, भूमिका, पृ० १६ और आगे। उनकी एक अन्य कृति 'भाव संग्रह' में तीन अपभ्रंश छंद मिलते हैं—पद्य संख्या २१६, २५४, २५५। एक का विषय स्त्री-निंदा तथा दो में ब्राह्मण धर्म के देवताओं का खण्डन है।

३. 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के नाम से गायकवाड्स ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित, १९२७ ई०, संपा० ल० भ० गाँधी। कृति के नाम के साथ 'रास' जुड़ा हुआ है। संभव है 'उपदेश-रसायन' गाने के लिए रचा गया हो।

लालच न दे कर सूरि ने श्रोताओं के अजरामर होने की शुभ कामना की है। उपदेश बहुत ही क्रमबद्ध और रोचक शैली में दिया गया है। जिनदत्त सूरि की अन्य कृति ४७ वस्तु छंदों में समाप्त **चर्चरी**[1] है, जिसमें उन्होंने अपने गुरु जिनवल्लभ सूरि का भक्ति-भाव से स्मरण किया है। 'कालस्वरूप कुलक'[2] में एक भयंकर दुष्काल तथा मनुष्यों की धर्म-विरोधी कृति का उल्लेख करके सुगुरु और कुगुरु के भेदों की चर्चा की है और इसके साथ ही गृहस्थों के पालन करने योग्य कर्तव्यों को गिनाया है। जिनदत्त सूरि की कृतियों में विषय का विवेचन पुनरावृत्ति से रहित तथा क्रमबद्ध है। छंदों के प्रयोग में विविधता तथा उनका निर्दोष होना भी उनके सावधान कवि होने का लक्षण है। भाषा भी परिष्कृत है। उनके संबंध में किए गए अनेक उल्लेखों के आधार पर उनका काल सं० ११३२-१२१० वि० है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के खरतरगच्छ के वे अत्यन्त प्रसिद्ध युग-प्रधान आचार्य थे। अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत में उन्होंने अनेक कृतियाँ लिखीं।[3]

संयम के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए, उसे मोक्ष का द्वार तथा उसके अनेक भेदादि का विवेचन **महेश्वर सूरि** ने अपनी दोहाबद्ध कृति 'संयममंजरी'[4] के ३५ दोहों में किया है। शास्त्रीय शुष्कता से यद्यपि सूरि ने अपनी कृति को बचाने का प्रयत्न किया है, किन्तु उसमें काव्य-रस नहीं है। दोहों की भाषा सरल, बोधगम्य पश्चिमी अपभ्रंश है। महेश्वर सूरि की कृति की हस्तलिखित प्रति सं० १५६१ वि० की लिखी मिली है, अतः उसके पूर्व उनका होना निश्चित है। 'सावयधम्म दोहा' जैसी कृतियों से विषय तथा भाषा का साम्य होने से बारहवीं शती के आस-पास उनका समय माना जा सकता है। सूरि उपाधि उनके श्वेताम्बर संप्रदाय से संबंधित होने की द्योतक है।

अपभ्रंश में जैनाचार्यों ने अनेक स्तवन, स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें संस्कृत प्राकृत की स्तोत्र शैली का अनुकरण मिलता है। **विनयप्रभ सूरि** (१४वीं शती विक्रम) के 'सीमंधरस्वामि-स्तवन'[5] का एक पद्य इस प्रकार के स्तोत्रों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा—

---

१. चर्चरी नाम भी रास के समान ही एक प्रकार के नृत्य गीत के लिए प्रयुक्त होता था—विक्रमोर्वशीयम् तथा रत्नावली नाटिका में इसी अर्थ में चर्चरी का प्रयोग मिलता है। हेमचंद्र ने चर्चरी नामक एक छंद का भी उल्लेख किया है—छंदोऽनुशासन ७.४७। चर्चरी के उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं—जैसे, समराइच्चकहा, संगीतमकरंद।

२. कुलक एक क्रिया से जुड़े, एक ही विषय से संबंधित अनेक पद्यों के समूह को कहते हैं। प्रस्तुत कृति में यह बात नहीं मिलती।

३. अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ५३ तथा परिशिष्ट २।

४. एनाल्स, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट भाग १, पृ० १५७-१६६ में प्रकाशित तथा भविसयत्तकहा, बड़ौदा, १९२३ ई०, भूमिका ३७-४१; तथा पत्तन कैटेलाग, बड़ौदा १९३७ ई०, पृ० ६८-६९।

५. डा० चारलोन्ते क्राउसे सं०, एन्शिएंट जैन हिम्ज, पृ० १२०-१२४, उज्जैन, १९५२।

मोह-भर-बहुल-जल-पूर-संपूरिए विषय-घण-कम्म-वणराजि-संराजिए।
भव-जलहि-मज्झि निवडंत-जंतू-कए सामि सीमंधरो पोअ जिम सोहए ॥४॥

ब्राह्मण और जैन स्तवन, स्तोत्रों की भावधारा प्रायः एक सी है, केवल आराध्य देव का अन्तर है। अपभ्रंश की दोहाबद्ध रचनाओं से इन रचनाओं का वातावरण थोड़ा भिन्न है, किन्तु छंद प्रायः अपभ्रंश के हैं। भाषा में परिवर्तनकालीन प्रवृत्तियाँ मिलने लगती हैं।

संसार के मिथ्या रूप का स्मरण करते हुए और जिनवर द्वारा प्रतिपादित धर्म का पालन करने से दुःखों से छूट जाने का आश्वासन देते हुए तथा अनेक नैतिक, धार्मिक उपदेशों को दुहराते हुए कडवकबद्ध ६२ पद्यों की **जयदेव मुनि** (१२ वीं शती वि०) की लघु कृति 'भावनासंधि प्रकरण'[१] है। कृति में दृष्टान्त के रूप में मालव नरेन्द्र, पृथ्वीचन्द्र, अंगारदाह, शालिभद्र, भरतादि अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के उल्लेख मिलते हैं तथा सुभाषितों के प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं। कडवकवद्ध कृतियों की भाषा प्रायः व्याकरणसम्मत मिलती है।

इस प्रकार की कडवकबद्ध संधियाँ (=अध्याय) दृष्टान्तों के रूप में जैन कथा ग्रन्थों में बहुत मिलती हैं। **धर्मदास गणि** की प्राकृत भाषा-निबद्ध 'उपदेशमाला'[२] की गाथाओं पर एकाधिक संस्कृत, प्राकृत टीकाएँ मिलती हैं। बीच-बीच में इन टीकाओं में अपभ्रंश में उपदेशप्रद पद्यबद्ध कथाएँ मिलती हैं। **रत्नप्रभ सूरि** की 'दोघट्टी' नामक कृति में (रचना-काल वि० सं० १२३८= सन् ११८१ ई०) निम्नलिखित उपदेश-प्रधान कथाएँ मिलती हैं: **ऋषभदेव की कथा** (पृ० ३३-३८), **महावीर की कथा** (पृ० ३८-४४), गज सुकुमाल कथा (पृ० २२८-२३३), **शालिभद्र कथा** (पृ० २५५-२६१), **अवंति सुकुमाल कथा** (पृ० २६२-२६५), **पूरण कथा** (पृ० २९८-३०२); इनके अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश पद्य कृति में बिखरे मिलते हैं। उपदेश-प्रधान कथाओं में छंदों की विविधता, कहानी की मनोरंजकता तथा भाषा का परिष्कृत रूप मिलता है।

धर्म, नीति, उपदेश, स्तुति, स्तवन की धारा की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त करने के लिए ये कतिपय कृतियाँ पर्याप्त हैं। समाज को स्वस्थ रखने के लिए तथा प्रवृत्ति मार्ग द्वारा ही जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कराना इन उपदेशकों का प्रधान उद्देश्य था, कविता करना गौण उद्देश्य था। इसी कारण इस साहित्य में शांत रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस के स्थल नहीं मिलते। छंदों की विविधता भी नहीं है। प्रकृति, नगरादि के वर्णनों का न अवसर था, न इन कवियों ने ऐसे स्थल खोजने का ही यत्न किया। वास्तव में उपदेश-भक्ति-प्रधान इस धारा में कवित्व प्रायः है ही नहीं, पद्यबद्ध है अतः शास्त्रीय शुष्कता कम है। हिन्दी के नाथपंथी तथा संत साहित्य के समान ही इसका महत्त्व भी भावधारा, भाषा एवं छंदों की दृष्टि से ही विशेष है, साहित्यिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। समाज की

---

१. एनाल्स, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इं० भाग ११, खण्ड १, पृ० १-३१, एम० सी० मोदी द्वारा संपादित।

२. उपदेशमाल, रत्नप्रभ सूरि की टीका सहित, बंबई १९५८।

जाति-वर्ग विषयक संकीर्णताओं का खण्डन, कौटुम्बिक व्यवस्था में आस्था, सभी धर्मों के सामान्य तत्त्वों की प्रशंसा महत्त्वपूर्ण बातें हैं और इन आधारभूत विषयों को सरल ढंग से समाज के सामान्यतम स्तर तक पहुँचाना ऐसा कार्य है, जिसके महत्त्व को उचित प्रशंसा मिलनी चाहिए।

बौद्ध साहित्य

जैनों ने मध्य और पश्चिमी भारत में अपभ्रंश में कृतियाँ लिखीं। प्राय: उसी समय पूर्वी भारत में बौद्ध सिद्धों ने अपभ्रंश गीति और दोहे लिखे। महायानी सिद्धों की रचनाएँ यद्यपि मात्रा में बहुत कम प्राप्त हुई हैं, किन्तु उनका अध्ययन बहुत उत्साह से हुआ है। महामहो० पं० हरप्रसाद शास्त्री को ये रचनाएँ नेपाल दरबार पुस्तकालय में प्राप्त हुईं और सन् १९१६ में बंगीय साहित्य परिषद् से मूल रचनाओं को अद्वयवज्र की संस्कृत टीका के साथ बंगाक्षरों में प्रकाशित किया। तब से डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इन रचनाओं की भाषा पर विचार किया और फिर डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर पाठ में कुछ सुधार करके और डॉ० सुकुमार सेन ने अनुमान के आधार पर पाठ शुद्ध करके तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इन अनेक रचनाओं के कई संस्करण निकाले हैं।[1]

---

१. संस्करण ये हैं :

१. ह० प्र० शास्त्री : हाजार बछरेर पुरान बाँगाल भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा; प्रथम संस्करण, १९१६, द्वि० सं० १९५१।

२. शहीदुल्ला : ले शाँ मिस्तीक, द कान्ह ए द सरह, ले दोहाकोष, ए ले चर्या, पेरिस १९२८ ई०। डा० शहीदुल्ला का यह अध्ययन अनेक भूलों से युक्त है। नाथ और बौद्ध सिद्धों का भेद वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं, दे० पृ० २०।

३. डा० प्रबोधचन्द्र बागची : दोहा कोश, जर्नल अव् द डिपार्टमेंट अव् लैटर्ज़, भाग २८, कल० यूनी० १९३५।

४. बागची : मैटेरियल फ़ॉर द क्रिटिकल एडीशन अव् द चर्याज, वही भाग ३०, १९३९ ई० मूल पाठ बंगाक्षरों में है तथा तिब्बती अनुवाद रोमन लिपि में है। मूल और तिब्बती अनुवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

५. डा० मुहम्मद शहीदुल्ला : बुद्धिस्ट मिस्टिक सांग्ज़, ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज़, ढाका, १९४०।

६. मुनीन्द्र मोहन वसु ने बंगाक्षरों में बंगला अनुवाद सहित 'चर्यागीति' प्रकाशित कराया है, कलकत्ता, १९४३ ई०।

७. डा० सुकुमार सेन : इण्डैक्स वेरबोरुम अव् द ओल्ड बेंगाली चर्या सॉग्ज़ एण्ड फ्रेगमेंट्स, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, भाग ९, कलकत्ता १९४७।

हिन्दी में सिद्ध अपभ्रंश साहित्य का परिचय पहले-पहल महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[1] ने दिया।

सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ वज्रयान संप्रदाय की भावधारा तथा भाषा की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं, किन्तु संप्रदाय के सिद्धान्तों का क्रमपूर्वक विवेचन चर्यागीतों में नहीं मिलता। टीकाकार मुनिदत्त ने अवश्य चर्यागीतों के आधार पर एक सुसंबद्ध निश्चित विचारधारा का प्रतिपादन किया है। अभी तक तेईस सिद्धों की सैंतालीस अपभ्रंश चर्यागीति तथा तिलोपाद, कान्हूपाद, और सरहपाद[2] के कुछ दोहे मिले हैं। सिद्धों की कुछ वाणियाँ संस्कृत महायानी ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं।[3] सिद्धों में से सभी ने अपभ्रंश में रचना की होगी या उनकी सब कृतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता और सभी एक ही विचारधारा— वज्र, मंत्र, तंत्र या कालचक्र यान के अनुयायी थे, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।[4] चर्यापदों में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जिनमें

---

८. डा० सुकुमार सेन : ओल्ड बेंगाली टेक्स्ट्स ऑर चर्यागीतिकोश, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, भाग १०, कलकत्ता १९४८। मूल कृति का पाठ बंगाक्षरों में है, अंग्रेजी में पद्यानुवाद दिया है। धर्मदास की प्रहेलिकाएँ भी दी हैं।

९. डा० सुकुमार सेन: चर्यागीति-पदावली, साहित्य सभा, वर्धमान, १९५६, बंगाक्षरों में, भूमिका तथा शब्दार्थ सहित।

१०. प्रबोध चंद्र बागची और शांतिभिक्षु शास्त्री : चर्यागीति तथा दोहाकोश, विश्व-भारती, १९५६; चर्यागीति, उनकी संस्कृत छाया तथा अद्वयवज्र की टीका देवनागरी अक्षरों में है। साथ में डा० बागची की अंग्रेजी भूमिका है। कहीं-कहीं तिब्बती अनुवाद के सहारे अर्थ भी दिया है। विशेषता कुछ नहीं है।

१. (क) राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों की रचनाओं का परिचय 'गंगा' पत्रिका के पुरातत्त्वांक में दिया था, पीछे वही पुरातत्त्व निबंधावली में 'हिंदी के प्राचीनतम कवि' शीर्षक से छपा—प्रयाग १९३७।

(ख) सरह का दोहाकोश : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५७ ई०। सरह की भावधारा समझने के लिए कृति उपादेय है।

२. सिद्धों की रचनाओं का ब्यौरा इस प्रकार है : कान्हूपाद की १३ चर्यागीति तथा ३२ दोहे। भूसुक की ८ चर्यागीति, सरह की ४ चर्या तथा दोहे; कुक्कुर की ३ चर्या; लूइपा, शबरपा, शान्तिपा, प्रत्येक की दो-दो चर्याएँ; विरूपा, गुण्डरीपा, चाढिलपा, डोम्बीपा, आर्यदेव, कंकणपा, कमलाम्बरपा, जयनंदीपा, ढेण्ढणपा, तंत्रीपा, ताडकपा, दारिकपा, धामपा, भादेपा, महीधरपा, वीणापा, प्रत्येक की एक-एक चर्या।

३. दे० सेकोद्देश टीका, बड़ौदा १९४१ ई०, पृ० ४८/१, ४८/२, ४८/३ ४८/४, और ६३। डा० सुकुमार सेन के संस्करण में इस प्रकार के अन्यत्र प्राप्त पद्यों को भी संकलित कर दिया गया है।

४. सिद्धों की संख्या तिब्बती परंपरा के अनुसार ८४ है, वर्णन रत्नाकर (कलकत्ता

कहा गया है कि उनमें ऐसी गूढ़ बातें आई हैं, जिनको साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता, यथा—

अइसन चर्या कुक्कुरी पाएँ गाइड़।
कोड़ि माझें एकु हिअहिं समाइड़॥ चर्या २

और इसके साथ ही अन्य मार्गों को टेढ़ा बताते हुए सरहपाद अपने मार्ग को सीधा बताते हैं—

उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे वंक, निअड़ि बोहि मा जाहु रे लंक। चर्या ३२

अर्थात्, 'अरे! सीधे को छोड़ कर टेढ़े को मत ग्रहण करो। बोधि समीप है, दूर मत जाओ।' गुरु की सहायता से ही यह सहजानन्द प्राप्त किया जा सकता है। सहजानंद और निर्वाण करुणा और शून्य दोनों के मेल से प्राप्त होता है (सरह दोहा १०८)। कई सिद्धों ने योग की शब्दावली का प्रयोग करते हुए परम निर्वाण का स्वरूप कथन किया है (चर्या ३९)। चित्त और शरीर की वृत्तियों का शमन साधना के लिए आवश्यक है, किन्तु विषयों में रमते हुए यदि उनमें लिप्त न हो तो ऐसा विषयोपभोग निंद्य नहीं है—

विसअ रमन्त ण विसअँ विलिप्पइ। ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ।
समए जोइ मूल सरन्तो। विसहि ण बाहइ विसअ रमन्तो॥—सरह, ६४।

सिद्धों ने बार-बार शास्त्र ज्ञान को थोथा बताया है,[1] ईश्वर को बाहर खोजने की व्यर्थता का बार-बार उल्लेख करके देह के भीतर बसते हुए बुद्ध को पहचानने का उपदेश दिया है—

पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ। देहहिं बुद्ध वसन्त ण णाणइ। —सरह, ६८

चर्यापदों में सिद्धों ने अनेक प्रकार के रूपकों द्वारा परमात्मानुभूति, सहज सुख की प्राप्ति का वर्णन किया है (कान्हूपा, दोहा २५, ३२ इत्यादि) और उसे अनिर्वचनीय, वाक्पथातीत (चर्या ३७—) तथा विचित्र रस कह कर स्पष्ट किया है (सरह, दोहा ५२)। उस अवस्था में चेतना, वेदना सब विलीन हो जाते हैं (चर्या ३६ कृष्णाया), संसार के दुःख नष्ट हो जाते हैं, ज्ञान-प्रकाश का उदय होता है (सरह, दोहा २७)। सरह के पद्यों में कहीं-कहीं लोकोपकार की भावना

१९४०) में सिद्धों की संख्या ८४ बताई गई है, किन्तु ७८ सिद्धों के ही नाम दिए हैं। दे० पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १४४ आदि।

१. यथा—गुरु उवएसें अमिअ रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिँ तिसिए मरिअउ तेहि॥ सरह ५६ तथा कान्हूपा दोहा १, २।

सरह मन्त्र, तन्त्र को भी व्यर्थ मानते हैं—मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण।
सब्बवि रे बढ़ विब्भम कारण॥—वही २३।

भी मिलती है—यदि अर्थी जन निराश चले जाएँ तो उस गृह-वास से भिक्षा माँगना अच्छा है, परोपकार तथा दान न देने वालों का जीवन वे व्यर्थ बताते हैं—

परऊआर ण किअऊ अत्थि ण दीअऊ दाण।
एहु संसारे कवणु फलु वरु छड्डहु अप्पाण॥ —सरह, दोहा ११२।

जहाँ रूपकों का सहारा लिया है, वहाँ सिद्धों की वाणियों में दुरूहता आ गई है और इसका उल्लेख स्वयं सिद्धों ने किया है[1]—ढेण्ढणपाएर गीत विरले बूझइ—चर्या४१। गंगा, यमुना, रवि-शशि, कमल-कुलिश जैसे शब्द तो सिद्धों की साधना-पद्धति के प्रचलित शब्द हो सकते हैं, किन्तु नौका का रूपक (चर्या १३, १४,), चूहे का रूपक (चर्या २०), वीणा का रूपक (चर्या १७), हरिण का रूपक (चर्या ६), रुई धुनने का रूपक (चर्या २६) आदि गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। संभोग श्रृंगार के प्रेमपरक विवाह के रूपक (चर्या, १०, १९,) द्रष्टव्य हैं; सिद्धों की रचनाओं में तत्कालीन समाज के कई पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है—मदिरा की दुकान, बनाने की विविध (चर्या ६, २३), कापालिकों तथा डोम्बी के उल्लेख (११, १२), विवाह में दहेज लेने की प्रथा (१९), नौकाओं के नामादि (१४), रुई धुनने की चर्चा (२६), सास, ससुर, ननद, बहू के उल्लेख तथा वीणादि वाद्य यंत्रों के उल्लेख एवं अनेक सामान्य वस्तुओं के उल्लेख सिद्धों के समाज से संपर्क रखने का प्रभाव प्रस्तुत करते हैं।

चर्यापद कदाचित् गाए जाते होंगे, क्योंकि प्रत्येक के प्रारंभ में राग का उल्लेख मिलता है[2], अतः चर्याओं के छंद ताल-गेय मात्रिक कहे जा सकते हैं। दोहाकोश में प्रधान छंद दोहा प्रयुक्त हुआ है, किन्तु सोरठा, पादाकुलक के प्रयोग भी मिलते हैं।

सिद्धों की भाषा के दो रूप मिलते हैं: चर्या गीतों में पूर्वी अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु दोहाकोशों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है।[3]

सिद्धों का काल पूर्ण रूप से निश्चित करना कठिन है। सभी सिद्ध एक समय में नहीं हुए। अनेक गुरु-शिष्य थे। भावधारा और भाषा के आधार पर भी निश्चित रूप से काल-निर्णय नहीं किया जा सकता। सिद्धों की रचनाओं का तिब्बती अनुवाद पीछे का है। विद्वानों ने ८००

---

१. इसी दुरूहता के कारण सिद्धों की भाषा को संस्कृत टीकाकार ने 'संध्या भाषा' कहा है, दे० चर्या ६ की टीका।

२. निम्न रागों का उल्लेख मिलता है: पटमंजरी, माराटी, भैरवी, कामोद, गवड़ा, देशाख, रामक्री, वराडी, गुंजरी, गुर्जरी, अरु, देवक्री, धनसी, वड़ारी (वराडी), इंद्रताल (?), शबरी, वल्लाडि, मालसी, बंगाल, पटल।

३. भाषा का डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने अच्छा विवेचन किया है—ओ० डि० बें० लैं०, पृ० १११-११२ तथा ले शाँ मिस्तीक, पृ० ३३ आदि।

से १२०० ई० के बीच विभिन्न सिद्धों का समय अनुमित किया है।[1] सिद्धों की रचनाओं में अनेक ऐसे तत्त्व मिलते हैं जिनका प्रभाव या परवर्ती रूप हिन्दी संत साहित्य में पाया जाता है।

बौद्ध तंत्र से संबंधित एक अपभ्रंश कृति **डाकार्णव** है[2] जिसमें बौद्ध दर्शन के योगाचार और वज्रयान का विवेचन है। इस साधना में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। पूर्वी प्रभावों से युक्त शौरसेनी अपभ्रंश में कृति लिखी गई है, मात्रिक छंदों का ही प्रयोग हुआ है। छंदबद्ध होने के अतिरिक्त काव्य का और कोई तत्त्व कृति में नहीं मिलता। रचना-काल १२वीं शती ई० अनुमित किया जाता है।

सिद्ध साहित्य का महत्त्व काव्यरूप तथा भावधारा की दृष्टि से बहुत है। तंत्रयान की कृतियाँ अपभ्रंश में क्यों लिखी गईं, यह विचारणीय है। चर्यागीति बोल-चाल की भाषा में लिखे गए हैं, किन्तु केवल दीक्षित शिष्य ही गुरु की सहायता से उनका अर्थ समझ सकता है। ऐसा लगता है कि महायान के विकास के साथ संस्कृत के अतिरिक्त लोक भाषा को पवित्र भाषा माना जाने लगा था। 'शिक्षासमुच्चय' जैसी संस्कृत कृतियों में मंत्रों के बोल-चाल की बोली होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है।[3] संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त तथा अन्य ग्रन्थकार जिस श्रद्धा से सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं को तथ्यों की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं, उससे भी यही झलकता है। सिद्धों के समान ही उपदेशों का स्वर नाथ और संत मत की रचनाओं में मिलता है। पदों या गेय छंदों तथा दोहादि का प्रयोग हिन्दी में ज्यों का त्यों चलता रहा।

शैव साहित्य

काश्मीरी अद्वैत या त्रिक् शैव सम्प्रदाय की कुछ रचनाओं में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। 'तंत्रसार'[4] अभिनव गुप्त की बृहत् कृति 'तन्त्रालोक' का संक्षिप्त संस्करण है। कृति संस्कृत गद्य में है, किन्तु आह्निकों के अंत में कहीं-कहीं प्राकृत तथा अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। लगता है, जैसे प्रत्येक आह्निक के विषय का सारांश इन में दे दिया हो। कदाचित् प्राकृतापभ्रंश संप्रदाय की भाषा थी, इसीलिए अपभ्रंश में सार दिया गया है। 'तंत्रसार'[5] की अपभ्रंश पर प्राकृत का पर्याप्त प्रभाव है, पद्यों का विषय आध्यात्मिक है और वे दोहा, पादाकुलक, पद्धडिया, महानुभाव,

---

१. पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १६०-२४०; तथा डा० सु० कु० चटर्जी, वही, पृ० १२२।

२. डा० नगेन्द्रनारायण चौधुरी द्वारा संपादित, कलकत्ता १९३५ ई०।

३. दे० वेण्डल : शिक्षा समुच्चय : भूमिका में भाषा पर विचार।

४. काश्मीर सीरीज अव् टेक्टस्, श्रीनगर, १९१८ ई०।

५. तंत्रसार में १६ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं : आह्निक १ के अंत में एक पादाकुलक, २ में एक पादाकुलक, ३ में एक दोहा तथा एक अन्य छंद, ४ में एक दोहा, ६ में एक पद्य, ७ में एक महानुभाव छंद, ९ में दो दोहे, १२ में एक दोहा, १३ में एक दोहा और एक सोरठा, १४ में एक पादाकुलक, १९ में एक पद्धडिया, २० में एक दोहा और एक पादाकुलक।

सोरठा छंदों में है। 'तन्त्रसार' की रचना अभिनव गुप्त ने १०१४ ई० के आस-पास की थी। परम पद का स्वरूप इस में इस प्रकार बताया गया है—

सुण्णउ रवि ससि दहन सउ उस्सउ एउ सवीरु।
उहि अच्छन्नउ परमपउ पावइ अचिरे वीरु ॥ —आ० ५।

इस सम्प्रदाय की एक अन्य कृति **भट्ट वामदेव माहेश्वराचार्य** कृत (११वीं शती ई०) 'जन्म-मरणविचार'[1] में परम शिव की शक्ति का विवेचन करते हुए एक अपभ्रंश पद्य दोहा (?) छंद में मिलता है,[2] जिसमें आत्मा के स्वरूप का कथन किया गया है। काश्मीरी बोली के लक्षणों से युक्त काश्मीरी अपभ्रंश में **शितिकंठाचार्य** (१५वीं शती ईसवी का उत्तरार्द्ध) ने चौदह उदयों में समाप्त 'महानयप्रकाश'[3] की रचना की। कृति में शिव के स्वरूप का वर्णन है तथा शारदा लिपि के अक्षरों की रहस्यमूलक व्याख्या भी है। शितिकंठाचार्य ने अपनी कृति की संस्कृत में टीका भी दी है। कृति में मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु छंद का नाम निर्णय करना कठिन-सा है। काश्मीरी अपभ्रंश का परिवर्तित रूप तथा काश्मीरी बोली का प्राचीनतम रूप लल्लेश्वरी के 'लल्लावाक्यानि' में मिलता है। लल्लेश्वरी (१४वीं शती ई०) के पद्यों का संग्रह पीछे हुआ, अतः भाषा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित है।

काश्मीर शैवों की अपभ्रंश रचनाओं में काव्य का पूर्णतया अभाव है। अपभ्रंश के महत्त्व तथा भावधारा की दृष्टि से इन कृतियों का स्थान उल्लेखनीय है।

ऐहिकतामूलक साहित्य

धार्मिक महत्त्व की अपभ्रंश रचनाओं की रक्षा उनके सम्प्रदायों ने की, इसलिए वे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकी हैं, किन्तु विशुद्ध काव्य कृतियाँ बहुत ही कम मिलती हैं। हेमचन्द्र जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ने अपभ्रंश के सन्धिबन्ध 'अब्धिमथन' तथा 'भीमकाव्य'[4] की तथा विश्वनाथ ने भी ऐसी कृतियों के अस्तित्व की सूचना दी है। इसके पहले दण्डी ने आसारबन्ध काव्यों का उल्लेख किया, किन्तु ऐसी कोई ऐहिकतामूलक विशुद्ध काव्य कृति अभी तक नहीं मिली है। जैनों के संधिबन्ध काव्यों में उनका रूप अवश्य मिलता है। प्रबन्धात्मक कृतियों के अतिरिक्त अपभ्रंश में प्रचुर मात्रा में मुक्तक काव्य रहा होगा, इसका आभास काव्यशास्त्र विषयक कृतियों में

---

१. काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९, श्रीनगर १९१८ ई०।

२. वही, पृ० ५।

३. काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि, २१, श्रीनगर १९१८ ई०। कृति की भाषा के विवेचन के लिए दे० ग्रियर्सन : द लैंग्वेज अव् द महानयप्रकाश, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९२९ ई०।

४. दे० काव्यानुशासन ८.६।

उद्धृत अपभ्रंश पद्यों से मिलता हैं। उक्ति-चमत्कार, वचन-विदग्धता, कल्पना आदि नाना दृष्टियों से ये पद्य महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी उत्कृष्टता के ही कारण काव्य-समीक्षकों ने इन्हें उदाहरणों के लिए चुना होगा।

मुक्तक पद्य

जो भी इधर-उधर बिखरे हुए पद्य मिलते हैं उनसे अपभ्रंश की अत्यन्त समृद्ध काव्यधारा का अनुमान लगाना सहज है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय'[1] के चतुर्थ अंक में विक्षिप्त राजा पुरुरवा के मुख से कहे कुछ अत्यन्त सुन्दर अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। वे सचमुच कालिदास कृत हैं, यह कहना कठिन है, किन्तु महाकवि कालिदास की ही कोमल, सजीव कवि-कल्पना के समान सौंदर्य इन पद्यों में मिलता है। विक्षिप्त राजा की मन:स्थिति का आवेग पूर्ण वैभव के साथ इन पद्यों में चित्रित हुआ है। पद्यों को चर्चरी, कुटिलिका, मल्लघटी, खंडिका जैसे गेय शीर्षकों के साथ उद्धृत किया है। इनके छंद लयप्रधान मात्रिक—अडिल्ला, चर्चरी, रासावलय, दोहा, विद्याधरहास, प्रज्झटिकादि हैं। प्राकृतों का प्रयोग नाटकों में मिलता है और संभव है, लोक-प्रचलित अपभ्रंश का प्रयोग स्वाभाविकता का वातावरण उत्पन्न करने के लिए हुआ हो।

वैयाकरणों में सबसे पहले चंड ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है और साथ में एक दोहा उद्धृत किया है जो योगीन्द्र की कृति 'परमातमप्रकाश' (१-८५) में भी मिलता है।[2] चंड का समय ईसा की छठी शती अनुमित किया गया है, किन्तु उद्धृत दोहा छठवीं शती का कदाचित् न हो।

आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक'[3] में एक स्वरचित पद्य उद्धृत किया है, जिसमें अहंभाव त्याग कर जनार्दन का ध्यान करने की चेतावनी दी गई है। भोज ने 'सरस्वतीकंठाभरण'[4] में अठारह पद्य तथा कुछ पद्य 'शृंगारप्रकाश'[5] में दिए हैं। शृंगार रस, ऋतु-वर्णन पद्यों का प्रधान विषय है। रुद्रट

---

१. दे० शंकर पांडुरंग पंडित द्वारा संपादित विक्रमोर्वशीय, बंबई, १९०१ ई०—अंक ४, एपेण्डिक्स १, तथा परमात्मप्रकाश—डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा लिखित भूमिका, पृ० ५६। पीशेल : माटेरियालिएन त्सुर केन्टनीज डेज़ अपभ्रंश, पृ० ५७-६४। पीशेल ने १५ पद्य उद्धृत किए हैं।

२. प्राकृत लक्षण में दोहा इस प्रकार है : कालु लहेविणु जोइया, जिम जिम मोहु गलेइ।
तिम तिम दंसणु लहइ जो, णियमें अप्पु मुणेइ।

'हे योगी! काल पा कर जैसे-जैसे मोह नष्ट होता है, वैसे-वैसे दर्शन प्राप्त करता है, नियम से आत्मा को जानता है।'

३. ध्वन्यालोक, काव्यमाला संस्करण १९३५ ई० तथा पीशेल, माटेरिया० पृ० ४५।

४. काव्यमाला, बंबई संस्करण।

५. मैसूर, १९५५ ई०, द्रष्टव्य पृ० १०२, १०३ तथा २७३।

के 'काव्यालंकार'[1] में कुछ दोहे तथा एक दोहा धनंजय के 'दशरूपक'[2] में भी मिलता है। रुद्रट के दोहे स्वरचित हैं। 'वैतालपंचविंशतिका'[3] जैसी कृतियों में भी अपभ्रंश पद्य बिखरे मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार के मुक्तक पद्यों का सबसे अच्छा रूप हेमचन्द्र के 'प्राकृतव्याकरण'[4] के अपभ्रंश भाग में मिलता है। इन पद्यों में श्रृंगारपूर्ण कोमल उक्तियाँ, वीर रस की उत्साहपूर्ण दर्पोक्तियाँ, सरल वर्णन, नीति की सूक्तियाँ, सुभाषित, अन्योक्तियाँ, भक्ति और वैराग्यपूर्ण कथन, नायिकाओं का सौंदर्य-वर्णन, ध्वनि-अलंकारों से युक्त मिलता है। हेमचन्द्र ने १७९ पद्य उद्धृत किए हैं। ये पद्य व्याकरण के रूपों को समझाने के लिए चुने गए हैं, चयन करते समय काव्य-सौंदर्य पर विशेष ध्यान हेमचन्द्र का नहीं रहा होगा, फिर भी पद्य काव्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। तत्कालीन युग की अनेक झाँकियाँ–सामाजिक और साहित्यिक–इन पद्यों में देखी जा सकती हैं। दोहा छंद की लोकप्रियता और संक्षेप में बहुत कहने की योग्यता का अच्छा उदाहरण इन पद्यों में मिलता है। विद्वानों ने अनुमान किया है कि ये पद्य सत्तसई जैसे किसी ग्रन्थ से लिए गए होंगे।[5] भाषा और विषय को देखते हुए लगता है कि विभिन्न कवियों ने इनकी रचना की होगी। हेमचन्द्र के 'छंदोनुशासन' में भी अपभ्रंश पद्य मिलते हैं किन्तु उनमें ऐसी सजीवता नहीं है। हेमचन्द्र का समय तो निश्चय ही है।

कथा या ऐतिहासिक पात्रों का संकेत करते हुए तथा कहीं-कही मुक्तक पद्य 'प्राकृत-पैंगलं'[6] में बहुत मिलते हैं। अनेक उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं, जैसे एक रंक का यह कथन कि यदि उसे एक टंक नमक मिल जाता तो वह राजा हो जाता (१-१३० कल० संस्करण)। ऋतुओं के वर्णन भी सटीक हैं (वर्षा का दृश्य २·१९५; बसंत २-१९७)। देवताओं में शिव, कृष्ण तथा सेतुबंध की कथा के संकेत हैं (१-८२, ९८, १९५, २०७ आदि) तथा राजाओं में काशिराज, दिवोदास, कर्ण, हम्मीर, चंद्रेश्वर के उल्लेख तथा सेना और युद्ध, तुर्कों और हिन्दुओं के युद्ध के संकेत महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न विषयों के पद्य हैं, जो निश्चय ही एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकते। 'प्राकृत-पैंगलं' की भाषा को कुछ विद्वानों ने अवहट्ठ कहा है। अवहट्ठ वास्तव में अपभ्रंश (अपभ्रष्ट) का पर्यायवाची है। किन्तु परवर्ती काल की अपभ्रंश के लिए अवहट्ठ का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता। 'प्राकृतपैंगलम्' के पद्यों में भाषा का रूप कुछ अग्रसरीभूत दिखता है, किन्तु वह परिनिष्ठित

---

१. काव्यालंकार ४.१५, ४.२१ तथा ५.३२।

२. दशरूपक ४.३४।

३. दे० वेताल०, लाइपजिग १८१८।

४. प्राकृतानुशासन, संपा० डा० पी० एल० वैद्य, पूना।

५. पीशेल, ग्रामाटीक देर प्राकृत, परिच्छेद ३०।

६. प्राकृत पैंगलम् के तीन संस्करण निकल चुके हैं; दो पुराने—एक बंबई से जो अप्राप्य है, दूसरा एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से १९००-२ ई० में। तीसरा अभी निकला है, प्राकृत टक्स्ट सोसाइटी से—बनारस १९५९ ई०।

अपभ्रंश है। 'प्राकृतपैंगलम्' में हम्मीर, सुलतान (१-१०८), खोरासान और उल्ला (१-४४७), तुर्क तथा हिन्दू (१-१५७) जैसे उल्लेख मिलते हैं, कृति पर प्राप्त टीकाएँ सभी सोलहवीं शती ई० के पीछे की हैं। कृति का संकलन काल चौदहवीं शती माना जा सकता है।

मेरुतुंगाचार्यरचित 'प्रबंधचिंतामणि'[1] (वि० सं० १३६ = १२०४ ई०), राजशेखर सूरि कृत 'प्रबंधकोश'[2] (वि० सं० १४०५ = १३४८ ई०) तथा 'पुरातनप्रबंधसंग्रह'[3] में अनेक प्रकार के पद्य मिलते हैं। मुंजादि राजाओं से संबंधित पद्यों के आधार पर यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि स्वतंत्र अपभ्रंश कृतियों से वे पद्य लिए गए होंगे। 'पुरातनप्रबंधसंग्रह' में कुछ पद्य ऐसे मिलते हैं, जो 'पृथ्वीराजरासो' में भी मिलते हैं।[4] मध्ययुग में भारतीय राजाओं में परस्पर कितनी ईर्ष्या, द्वेष तथा स्वार्थपरता थी, इसकी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। तैलंगाधिपति ने मुंज को बंदी बना लिया था। उसे तैलंगाधिपति की बहिन मृणालवती ने धोखा दिया था। स्त्री-जाति को धिक्कारता हुआ मुंज कहता है—

सउ चित्तह सट्ठी मणहँ बत्तीसडा हियांह।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे वीससइं तियांह—प्र० चिं०, पृ० २३।

अर्थात्, वे मूर्ख हैं जो स्त्रियों का विश्वास करते हैं, जिनके चित्त में सौ, मन में साठ और हृदय में बत्तीस आदमी बसते हैं।

रस्सी में बाँध कर भिक्षा माँगते हुए घुमाए जाते मुंज का चित्र बड़ा ही हृदयद्रावक है। अनेक प्रबंधों में ऐसे हृदयस्पर्शी अपभ्रंश पद्य हैं। पद्य दोहा, सोरठा, छप्पय छंदों में हैं। 'पुरातन-प्रबंधसंग्रह' के पद्यों की भाषा पर्याप्त विकसित कही जा सकती है। अपभ्रंश के विकसित रूप का तथा आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि के पूर्व रूपोंका आभास देने वाले संग्रह जैसे 'कान्हड़दे प्रबंध' (रचना-काल १५०२ वि० = १४४५ ई०), 'माधवानल कामकंदला (गणपतिरचित), 'राजस्थान रा दूहा', 'ढोलामारूरादूहा', 'सारंगधरपद्धति'[5] में उद्धृत कुछ मंत्रादि में यही रूप मिलता है। अपभ्रंश की यह धारा हिन्दी में प्रवाहित होती रही। बिहारी की सतसई जैसे ग्रंथ इस धारा के ही विकसित रूप कहे जा सकते हैं। मुक्तक पद्यों में समाज का बहुरंगी चित्र तथा लोक-रुचि का परिचय मिलता है। जो भी छिटफुट पद्य मिलते हैं, वे विभिन्न विचारधाराओं के अच्छे प्रतिनिधि हैं।

---

१. सिंघी जैन ग्रंथमाला, शान्तिनिकेतन, १९३३ ई०।
२. सिंघी जैन ग्रंथमाला ६, कलकत्ता, १९३५ ई०।
३. सिंघी जैन ग्रंथमाला २, कलकत्ता १९३६ ई०।
४. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० ८६ तथा आगे।
५. शार्ङ्गधरपद्धति, १८८८ बंबई, प्रकरण—५४९, ५५०, २९०१, ३०१९, ३०२२।

प्रबंधात्मक रचनाएँ

'संदेशरासक' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' के कुछ अंश इस काव्यरूप के बहुत श्रेष्ठ प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते, तो भी अपभ्रंश खण्डकाव्य के एक रूप का इन कृतियों के द्वारा अनुमान किया जा सकता है।

अब्दुलरहमान कृत 'संदेशरासक'[1] तीन प्रक्रमों में विभक्त २२३ पद्यों का संदेश काव्य है, जिसमें बीच-बीच में प्राकृत गाथाएँ भी हैं। विजयनगर की वियुक्ता नायिका खंभात जाने वाले एक पथिक के द्वारा अपने पति को संदेश भेजना चाहती है। पथिक अपने स्वामी का कोई बहुत आवश्यक संदेश ले कर दौड़ा जा रहा था, किन्तु अपरिचित और अतीव सुन्दरी रमणी का आग्रह उसे ठहरने को बाध्य करता है। वह अपने निवास और गन्तव्य का परिचय देता है। जैसे ही वह चलने को प्रस्तुत होता है, नायिका कुछ और कहना चाहती है और इस प्रकार, ऋतु-वर्णन आदि जैसे प्रसंगों की सृष्टि हुई है। दूत भी सामोरु (मुल्तान) नगर का अच्छा वर्णन करता है। पथिक जैसे ही जाता है कि नायिका का पति आता हुआ दिखाई देता है।

कवि ने वियोग शृंगार का और उसके साथ ऋतुओं, नगरों का काव्यमय वर्णन किया है। वर्णन के लिए कदाचित् वस्तुओं के नाम गिनाने की परिपाटी थी, अतः कवि ने भी वनस्पतियों की नामावली प्रस्तुत की है (पद्य ५६-६३)। उस समय के दीपावली, होली आदि उत्सवों का तथा समाज के कुछ पक्षों का कवि ने तन्मय हो कर सुन्दर वर्णन किया है। कृति में अनेक छंदों का अच्छा प्रयोग हुआ है।[2] सबसे अधिक प्रयोग रासक छंद का हुआ है। 'संदेशरासक' की रचना पश्चिमी अपभ्रंश में हुई है। अलंकारों का भी प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है, जो स्वाभाविक रूप से सहायक हुए हैं।

रचयिता ने अपने को म्लेच्छ देशोद्भूत मीरसेन जुलाहे का पुत्र बताया है। अपना नाम अद्दहमाण दिया है, जिसका रूप टीकाकार ने अब्दुलरहमान कर दिया। अपने काव्य के संबंध में कवि ने कोई सूचना नहीं दी है। कृति पर लिखी संस्कृत टीका सं० १४६५ वि० की मिलती है, अतः उसके पूर्व जब खंभात समृद्ध नगर था, कवि का समय विक्रम की तेरहवीं शती अनुमित किया जा सकता है। जिस सहानुभूति के साथ कवि ने हिन्दुओं के उत्सवादि का वर्णन किया है तथा अलंकार, छंद और भाषा का जिस अधिकार के साथ उन्होंने प्रयोग किया है, उससे उनके भारतीय साहित्य के गम्भीर परिचय का पता चलता है। संभव है, वे पहले हिन्दू रहे हों,[3] या हिन्दू हो गए हों।

---

१. डा० एच० सी० भायाणी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रंथमाला २२, बंबई २००१ वि०। उनकी हिंदी भूमिका और अनुवाद से युक्त डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी ने कृति का एक नया संस्करण प्रस्तुत किया है—हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई १९६०।

२. दे० भायाणी का संस्करण, भूमिका।

३. दे० कात्रे : 'ए मुस्लिम कान्ट्रिब्यूशन टु अपभ्रंश लिटरेचर' द कर्नाटक हिस्टारिकल रिव्यू, भाग ४, अंक ७-२, पृ० १८-१९।

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली में कृतियाँ लिखी हैं। 'कीर्तिलता'[1] में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह का शौर्य वर्णन किया है। प्रारंभिक मंगलाचरण संस्कृत में है, फिर आश्रयदाता की प्रशंसा, दुष्टों का स्मरण और अवहट्ठ (अपभ्रष्ट) में लिखने का कारण बताया है। भृंगी और भृंग के संवादों के रूप में कृति की कथा का विस्तार किया गया है। चार पल्लवों में समाप्त कृति में कीर्तिसिंह के वंश का परिचय (पल्लव १), पिता का वध करने वाले तथा राज्य छीनने वाले असलान तुरुक को जीतने के लिए जौनपुर के बादशाह से सहायतार्थ जौनपुर-यात्रा (पल्लव २) और युद्ध तथा कीर्तिसिंह की विजय और राज्याभिषेक का वर्णन है (पल्लव ३-४)। कृति में जौनपुर के मार्गों तथा अन्य दृश्यों तथा दर्पोद्धत मुसलमानों के दुर्व्यवहार और हिन्दुओं की दयनीय स्थिति के बड़े सजीव वर्णन हैं।[2] वर्णनों के अतिरिक्त 'कीर्तिलता' में काव्य की दृष्टि से और बहुत कम स्थान उल्लेख योग्य हैं। दोहा, छप्पय, अडिल्ला, भुजंगप्रयात, मनवहला, गीतिका, रड्डा आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। कीर्तिलता की भाषा पर तत्कालीन मैथिली बोली का प्रभाव है। मूल रूपरेखा शौरसेनी अपभ्रंश की है। परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न 'कीर्तिलता' की भाषा को बोलचाल की अपभ्रंश कहने पर उनकी मैथिल पदावली की भाषा को क्या कहा जाएगा? विद्यापति ने साहित्यिक अपभ्रंश में कृति की रचना की है, उस पर अपनी बोली का प्रभाव अवश्य है।

'कीर्तिपताका'[3] के भी कुछ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। प्रारंभ 'कीर्तिलता' के ही समान है। विद्यापति की कृतियों में अपभ्रंश का स्वाभाविक रूप नहीं मिलता। अब्दुलरहमान और विद्यापति दोनों ही व्याकरण के सहारे कदाचित् अपभ्रंश में लिख रहे थे, इससे उनकी भाषाओं पर समकालीन भाषा का प्रभाव मिलता है, किन्तु अपभ्रंश पर अब्दुलरहमान का विद्यापति की अपेक्षा अच्छा अधिकार था। विद्यापति का काल विक्रम की १४-१५वीं शती है।

ऐहिकतापरक साहित्य की अपभ्रंश में यही परवर्ती रचनाएँ मिलती हैं और ये रचनाएँ भी उस काल की हैं, जब अपभ्रंश का स्थान आधुनिक बोलियों ने ले लिया था, क्योंकि 'भरतेश्वर

---

१. कीर्तिलता के दो संस्करण महत्त्वपूर्ण हैं: बंगानुवाद सहित म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री का, १९२८ ई०, तथा हिंदी अनुवाद, भूमिकादि सहित डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३२ ई० तथा द्वि० सं० भी। एक तीसरा प्रयास काशी के डा० शिवप्रसाद सिंह ने किया है, भूमिका में अवहट्ठ के प्रश्न को ले कर परिनिष्ठित अपभ्रंश और अवहट्ठ पर चर्चा की है।

२. पल्लव २।

३. लेखक ने कीर्तिपताका के कुछ पृष्ठ प्रयाग में म० म० डा० उमेश मिश्र से प्राप्त किए थे। 'विद्यापतिगोष्ठी' में डा० सुकुमार सेन ने विद्यापति का एक पद उद्धृत किया है, जिसे वे कीर्तिपताका का बताते हैं—साहित्य सभा, वर्धमान, से वंग संवत् १३५४ में प्रकाशित।

वाहुबलिरास' (११४९ वि० सं०), तथा 'बीसलदेवरास'[1] (१३वीं शती वि०) निश्चित रूप से अब्दुलरहमान से पूर्व की कृतियाँ हैं। किन्तु वे अपभ्रंश काव्य-परम्परा का स्मरण दिलाती हैं।

अपभ्रंश काव्य—धार्मिक और ऐहिकतापरक—की जिन धाराओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है उनमें हिन्दी काव्यरूपों की विभिन्न धाराओं के पूर्व रूप के दर्शन होते हैं। पद शैली, दोहा-चौपाई शैली, दोहों की नीति-श्रृंगार-उपदेश शैली, चरित-कथा काव्यों की शैली——सभी का पूर्व रूप अपभ्रंश में मिलता है। इसे अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव कहने की अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि हिन्दी काव्य के विभिन्न रूपों की धाराओं के मूल स्रोत आठवीं शती विक्रम तक तो स्पष्ट मिलते हैं और तब से नाना प्रकार से परिवर्तित-संवर्द्धित होते हुए वे अठारहवीं शती तक प्रवाहित होते रहे। संस्कृत और प्राकृत साहित्यों में भारतीय संस्कृति और समाज का जो रूप मिलता है, उसे पूरा समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

---

१. कुछ लोग अनुमान के आधार पर कृति को पीछे का बताते हैं, जो संगत नहीं लगता।

अनुक्रमणिका

अंक पृष्ठ संख्या के सूचक हैं

१—ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएँ

२. प्रशस्ति तथा शिलालेख

३. ग्रंथकार तथा अन्य व्यक्ति

Mahanth Lal Pal
M.A. I HINDI
G.P.D. Tundon Rd.
Near Boy's High School
Civil Lines Alld. 211001

M. Pal